



This is a digital copy of a book that was preserved for generations on library shelves before it was carefully scanned by Google as part of a project to make the world's books discoverable online.

It has survived long enough for the copyright to expire and the book to enter the public domain. A public domain book is one that was never subject to copyright or whose legal copyright term has expired. Whether a book is in the public domain may vary country to country. Public domain books are our gateways to the past, representing a wealth of history, culture and knowledge that's often difficult to discover.

Marks, notations and other marginalia present in the original volume will appear in this file - a reminder of this book's long journey from the publisher to a library and finally to you.

Usage guidelines

Google is proud to partner with libraries to digitize public domain materials and make them widely accessible. Public domain books belong to the public and we are merely their custodians. Nevertheless, this work is expensive, so in order to keep providing this resource, we have taken steps to prevent abuse by commercial parties, including placing technical restrictions on automated querying.

We also ask that you:

- + *Make non-commercial use of the files* We designed Google Book Search for use by individuals, and we request that you use these files for personal, non-commercial purposes.
- + *Refrain from automated querying* Do not send automated queries of any sort to Google's system: If you are conducting research on machine translation, optical character recognition or other areas where access to a large amount of text is helpful, please contact us. We encourage the use of public domain materials for these purposes and may be able to help.
- + *Maintain attribution* The Google "watermark" you see on each file is essential for informing people about this project and helping them find additional materials through Google Book Search. Please do not remove it.
- + *Keep it legal* Whatever your use, remember that you are responsible for ensuring that what you are doing is legal. Do not assume that just because we believe a book is in the public domain for users in the United States, that the work is also in the public domain for users in other countries. Whether a book is still in copyright varies from country to country, and we can't offer guidance on whether any specific use of any specific book is allowed. Please do not assume that a book's appearance in Google Book Search means it can be used in any manner anywhere in the world. Copyright infringement liability can be quite severe.

About Google Book Search

Google's mission is to organize the world's information and to make it universally accessible and useful. Google Book Search helps readers discover the world's books while helping authors and publishers reach new audiences. You can search through the full text of this book on the web at <http://books.google.com/>

UC-NRLF



B 3 879 820

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[पञ्चम भाग]



भीमसेन शास्त्री
एस्. ए०, पी० एच्. डी०

11

Var

P
V

77-926423
I-San-1697

Varadarāja, 17th cent.

[Laghusiddhāntakaummudī]

Laghu-siddhānta-kaummudī / Varadarājācāryya-
praṇītā ; sa ceyam Bhīmasena-Sāstri nirmityā
bhaimīnāmnyātipariskṛtanūtana-Hindīvyākhyayā
samudbhasitā. -- 1. saṃskaraṇa. -- Dillī :
Bhīmasena Śāstrī, 1950-1991.

6 v. ; 22-25 cm. -- (Śrimadrāmacandragrantha-
mālāyāḥ prasunarūpā ; 1, 3)

Vol. 5 rec'd this month; v. 1-4, 6 acquired
earlier.

Hindi and Sanskrit.

CONTINUED ON NEXT CARD

12N91 **

uk

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[पञ्चम भाग]

(तद्धित-प्रकरणम्)

भीमसेन शास्त्री

एम० ए०, फ्री-एच्० डी०, साहित्यरत्न



भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-११०००६

प्रकाशक—

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट,
दिल्ली-११०००६



LAGHU-SIDDHANTA-KAUMUDI—BHAIMI-VYAKHYA

Part V, First Edition 1991

पञ्चम भाग, प्रथम संस्करण १९९१

BHAIMI PRAKASHAN

537, Lajpat Rai Market, Delhi-110006

© BHIM SEN SHASTRI (1920)

*All rights reserved by the author. The book, or parts thereof
may not be reproduced in any form or translated
without the written permission of the author.*

Price : Rs. Two Hundred Fifty Only.

मूल्य : दो सौ पचास रुपये केवल

अजय प्रिंटिंग एजेंसी, 3860, नली नं० 13, शान्ति मोहल्ला, गांधीनगर,
दिल्ली द्वारा कम्पोज करवा कर आजाद प्रिंटर्स, दिल्ली-31 में मुद्रित

PK

541

√33

1950

√5

MAIN

व्याकरण-प्रशस्तिः

अङ्गीकृतं कोटिमितं च शास्त्रं
नाङ्गीकृतं व्याकरणं च येन ।
न शोभते तस्य मुखारविन्दं
सिन्दूरविन्दुर्विषया-सलाटे ॥१॥

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
ब्राह्मणाः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम् ।
यस्मादतः प्रथममेतदधोत्य धीमान्
शास्त्रान्तरस्य भवति श्वषेऽधिकारी ॥२॥

व्याकरणात् पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिश्चयो भवति ।
अर्थात् तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः ॥३॥

अध्याकरणमधीतं भिन्नद्रोण्या तरङ्गिणीतरणम् ।
भेषजमप्यसहितं त्रयमिदमकृतं वरं, न कृतम् ॥४॥

लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याः

(तद्धितप्रकरणस्य विषयानुक्रमणिका)

- | | |
|--|-----------|
| (१) व्याकरणप्रशस्तिः | [३] |
| (२) आत्मनिवेदनम् | [५]-[८] |
| (३) तद्धितप्रकरणे— | |
| (१) अपत्यादिविकारान्तार्थाः साधारणप्रत्ययाः | (१—१५) |
| (२) अपत्याधिकारः | (१६—६०) |
| (३) रक्ताद्यर्थकाः | (६१—६२) |
| (४) चातुरथिकाः | (६२—१०६) |
| (५) शौषिकाः | (१०७—१६६) |
| (६) विकाराद्यर्थकाः | (१७०—१८२) |
| (७) ठगधिकारः | (१८२—२००) |
| (८) यदधिकारः | (२००—२१४) |
| (९) छ-यतोरधिकारः | (२१४—२२४) |
| (१०) ठत्रधिकारः | (२२४—२३६) |
| (११) त्व-तलोरधिकारः | (२३६—२६२) |
| (१२) भवनाद्यर्थकाः | (२६२—३००) |
| (१३) मत्वर्थीयाः | (३००—३२५) |
| (१४) प्राग्दिशीयाः | (३२५—३४८) |
| (१५) प्राग्वीयाः | (३४६—३८८) |
| (१६) स्वाथिकाः | (३८८—४१३) |
| (४) परिशिष्टे— | |
| (१) विशेष स्मरणीय पद्य वा वचन | (४१४—४१६) |
| (२) तद्धितप्रकरणान्तर्गताष्टाध्यायीसूत्रतालिका | (४१७—४२०) |
| (३) तद्धितप्रकरणान्तर्गतवार्त्तिकादितालिका | (४२०—४२२) |
| (४) मूलतद्धितप्रकरणगतोदाहरणतालिका | (४२२—४२६) |
| (५) तद्धितप्रत्ययानुक्रमणिका | (४३०—४३१) |
| (६) विशेषद्रष्टव्यस्थलतालिका | (४३१—४३२) |

✽ शुभं भूयात् ✽

आत्म-निवेदनम्

लघुसिद्धान्तकौमुदी की भैमीव्याख्या का यह तद्धितप्रकरणात्मक पाठ्यचर्चा खण्ड संस्कृतव्याकरणानुरागी जनता एवं प्रतीक्षारत छात्रों के हाथों समर्पित करते मुझे आज अपार हर्ष हो रहा है। इसलिये भी, कि इस खण्ड के साथ इस व्याख्या की समाप्ति भी हो रही है। इस व्याख्या के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा षष्ठ खण्ड पहले ही प्रकाशित हो चुके थे, केवल तद्धितप्रकरणात्मक पाठ्यचर्चा खण्ड ही शेष रहता था जो अब प्रकाशित हो रहा है। इस तरह गत पचास वर्षों से आरम्भमाण यह लघु-कौमुदीसम्बन्धी व्याख्यायज्ञ आज समापनोन्मुख हो रहा है। अपने जीवनकाल से आरम्भ यह यज्ञ अब ढलती उमर में आकर समाप्त हुआ है। लघुसिद्धान्तकौमुदी पर लगभग २७०० पृष्ठों की यह अतीव विस्तृत विपुल व्याख्या पहली बार केवल हिन्दी भाषा के माध्यम से ही प्रकाश में आई है। भारत भर के संस्कृतप्रेमी अध्यापकों, अनुसन्धान-प्रेमियों, विद्यार्थियों तथा व्याकरणजिज्ञासु साधुसन्तों ने जैसे इस व्याख्या का सम्मान वा आदर प्रकट कर मुझे उत्तरोत्तर उत्साहित किया है, मैं उन सब का हृदय से आभारी हूँ। मैं उन के इस स्नेहातिरेक को कभी भुला नहीं सकता। अस्तु।

भैमीव्याख्या का यह पाठ्यचर्चा खण्ड लघुकौमुदीस्थ तद्धितप्रकरण पर हिन्दी में लिखा विस्तृत भाष्य है। पाणिनीय तद्धितप्रकरण भारतीय स्वर्णिम इतिहास का एक सुनहरा बर्क है। कारणात्क इस में सैंकड़ों प्राचीन व्यक्तियों, राजाओं, कुलों, जनपदों नगरों, ग्रामों, नदियों, पर्वतों आदि का स्थान स्थान पर उल्लेख मिलता है। इस के अतिरिक्त इस में नानाविध भारतीय व्यवसायों, सामाजिक रीतिरिवाजों, ललित-कलाओं, शिल्पों तथा विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थों का भी पर्याप्त वर्णन पाया जाता है। भारत के प्राक्कालिक या वैदिकोत्तर इतिहास को जानने के लिये यह प्रकरण जितना उपयोगी सिद्ध होता है वैसे दूसरा कोई नहीं। इसी का आश्रय ले कर श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनिकालीन भारतवर्ष नामक अपना अपूर्व शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किया है। एवं पाश्चात्य लेखकों का भी यह प्रकरण सदा से उपजीव्य रहा है। इसी प्रकरण से सम्बद्ध गणों में आज भी ऐसे सैंकड़ों व्यक्तियों वा स्थानों का उल्लेख पाया जाता है जिन का वर्णन अन्यत्र इतिहास के किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता।

इस प्रकरण के अध्ययन और मनन से दूसरा सब से बड़ा लाभ यह होता है कि पाणिनि की शास्त्रनिर्माणविधि (Technique) को इस से भलीभांति समझा जा सकता है। उदाहरणतः एक ही प्रत्यय को विविध अनुबन्धों से सजा कर पाणिनि ने शास्त्रनिर्माणविधि में अपना अभूतपूर्व कौशल प्रदर्शित किया है। निदर्शनार्थ एक ही

तद्धितप्रत्यय 'य' को लीजिये। पाणिनि ने अपने शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये इसे अठारह प्रकार से प्रयुक्त किया है। तथाहि—

- (१) य । सख्युयः (११६१) । सख्यम् ।
- (२) यक् । पत्यन्तपुरोहिताविभ्यो यक् (११६३) । सैनापत्यम् ।
- (३) यत् । दण्डाविभ्यो यत् (११४६) । दण्डयः ।
- (४) यञ् । गर्गाविभ्यो यञ् (१००८) । गार्ग्यः ।
- (५) यन् । ब्राह्मणमाणववाडवाद् यन् (४.२.४१) । ब्राह्मण्यम् ।
- (६) यस् । कंशंभ्यां ब-भ-युस्-ति-त्-त-यस् (५.२.१३८) । कंयः । शंयः ।
- (७) यप् । द्विगोर्यप् (५.१.८१) । द्विमास्यः ।
- (८) यल् । वेशोयशाआवेर्भंगाद् यल् (४.४.१३१) । वेशोभग्यः ।
- (९) व्य । अतिषेज्यः (५.४.२६) । अतिषये इदम् आतिथ्यम् ।
- (१०) व्यङ् । वृद्धेत्कोसलाजावाद् व्यङ् (४.१.१६६) । आवन्त्यः ।
- (११) व्यट् । आयुधजीविसङ्घाड्यट् ० (५.३.११४) । क्षौद्रक्यः ।
- (१२) टघण् । सोमाद् टघण् (१०४३) । सौम्य हविः ।
- (१३) डघ । वामदेवाद् डघङ् डघी (१०३७) । वामदेव्यं साम ।
- (१४) डघत् । वामदेवाद् डघङ् डघी (१०३७) । वामदेव्यं साम ।
- (१५) डघण् । पापोनवीभ्यां डघण् (४.४.१११) । पाथ्यः । नाद्यः ।
- (१६) प्य । कुरुनाविभ्यो प्यः (१०२६) । कौरव्यः । नैषध्यः ।
- (१७) प्यत् । षष्मासाण्यञ्च (५.१.८२) । षष्मास्यः ।
- (१८) प्यञ् । वर्णद्वेषाविभ्यः प्यञ् च (११५६) । शौक्यम् ।

जहाँ जहाँ आचार्य को केवल 'य' का विधान अभीष्ट होता है वहाँ वे अनुबन्धरहित शुद्ध 'य' का प्रयोग करते हैं। यथा—सख्युयः (११६१)—सख्यम् । सभाया यः (११३६)—सभ्यः । जहाँ उन्हें 'य' के परे रहते आदिवृद्धि करनी अभीष्ट होती है वहाँ यकार के साथ ककार, षकार या जकार अनुबन्धों को भी जोड़ लेते हैं जिस से तद्धितेष्वन्धमात्रेः (६३८) या किति च (१००१) द्वारा आदिवृद्धि हो जाये। यथा—पत्यन्तपुरोहिताविभ्यो यक् (११६३)—सैनापत्यम् । गर्गाविभ्यो यञ् (१००८)—गार्ग्यः । कुरुनाविभ्यो प्यः (१०२६)—कौरव्यः, नैषध्यः । जहाँ 'य' के परे रहते टि का लोप अभीष्ट होता है वहाँ 'य' के साथ डकार अनुबन्ध को जोड़ देते हैं जिस से टेः (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप हो सके। यथा—पापोनवीभ्यां डघण् (४.४.१११)—पाथसि भवः—पाथ्यः । जहाँ स्त्रीत्व की विवक्षा में डीष् प्रत्यय लाना अभीष्ट होता है, वहाँ 'य' प्रत्यय के साथ षकार अनुबन्ध एवं जहाँ डीप् अभीष्ट होता है वहाँ टकार अनुबन्ध जोड़ देते हैं। यथा—गुणवचनब्राह्मणाविभ्यः कर्मणि च (प्यञ्) (११६०)—मङ्गुरस्य भावो माधुरी, चतुरस्य भावश्चातुरी, उचितस्य भाव औचित्यः । सोमाद् टघण् (१०४३)—सोमो देवताऽस्याः—सौमी ऋक् ।

इसी प्रकार पाणिनि ने तद्धित 'अ' प्रत्यय को सात प्रकार से (अ, अच्, अण्, अञ्, अत्, अ, इट्) स्वप्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रयुक्त किया है ।

पाणिनि ने प्रत्ययों के साथ अनुबन्ध जोड़ते समय लोकप्रचलित उदात्तादिस्वरों का भी विशेष ध्यान रखा है । जहाँ जो जो स्वरविशेष अभीष्ट होता है वहाँ तदनुसार प्रत्यय के साथ लकार, तकार, जकार, नकार, चकार आदि अनुबन्ध जोड़ देते हैं । यथा—सप्तम्यास्त्रल् (१२०४) द्वारा विहित त्रल् के लित् होने से लिति (६.१.१८७) द्वारा लित् से पूर्व उदात्त हो जाता है । इसी प्रकार तित्स्वरितम् (६.१.१७६) से तित् प्रत्यय को स्वरित हो जाता है । ङित्स्वार्भिनित्यम् (६.१.१६१) द्वारा गित् या नित् प्रत्यय के परे रहते आदि को उदात्त हो जाता है । चित् या कित् तद्धितान्त को चित् (६.१.१५७) और कित् (६.१.१५६) सूत्रों के द्वारा अन्तोदात्तस्वर हो जाता है । अनुदात्तो लुङ्गितौ (३.१.४) से पित् प्रत्यय को अनुदात्त माना गया है । इन के अतिरिक्त अन्य प्रत्यय आद्युदात्तश्च (३.१.३) के द्वारा आद्युदात्त होते हैं । ध्यान रहे कि पाणिनि के समय लोक में संस्कृतभाषा बोलचाल की भाषा थी और इस में उदात्तादि स्वरों (Accent) का विशेष ध्यान रखा जाता था । अत एव पाणिनि ने अपने व्याकरण में इस का पूरा पूरा ध्यान रखा है । यह सब उन्होंने प्रत्ययों के साथ प्रायः विशिष्ट अनुबन्ध लगा कर ही सिद्ध किया है । पाणिनि की इसी दृष्टि को लक्ष्य में रख कर इस व्याख्या में प्रत्येक प्रत्यय के साथ जुड़े अनुबन्धों का प्रयोजन सर्वत्र स्पष्ट दर्शाया गया है जिस से विद्यार्थियों को पाणिनि की सूक्ष्म शास्त्रप्रणयनशैली वा पदे पदे स्पष्टीकरण होता रहे । इस विषय में संस्कृत-व्याकरण-जगत् में हिन्दी भाषा के माध्यम से किया गया यह पहला यत्न समझना चाहिये ।

इस खण्ड में भी पूर्व खण्डों की भान्ति व्याख्या-शैली अपनाई गई है । सर्वप्रथम सूत्रों का पदच्छेद, विभक्ति, वचन, अनुवृत्ति तथा परिभ्रषादिजन्य विशेषताओं के द्वारा बना समग्र सूत्रार्थ दर्शा कर बाद में उदाहरणरूपेण प्रस्तुत प्रत्येक रूप की विस्तृत सिद्धि दी गई है । प्रकृतसूत्र का उस रूप की सिद्धि में क्या कार्यविशेष रहता है इसे विशेषरीत्या समझा समझा कर सर्वत्र स्पष्ट किया गया है । सिद्धि के साथ साथ प्रत्येक तद्धितान्त का विग्रह दे कर उस का हिन्दीभाषा में अर्थ भी सर्वत्र दे दिया गया है । शङ्कासमाधान का भी वही ढंग रखा गया है । जहाँ तक लघुकोमुदीकार के आन्तरिक रहस्यों का प्रश्न है उसे समझाने के लिये कुरेद कुरेद कर शङ्काओं का समाधान किया गया है । यह व्याख्या केवल लघुकोमुदी के मूलोक्त उदाहरणों तक ही सीमित नहीं है बल्कि अन्यान्य अनेकों उदाहरण भी विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन चुन कर यहाँ प्रदर्शित किये गये हैं । मूलोक्त लगभग पाञ्च सौ उदाहरणों के अतिरिक्त दो हजार अन्य उदाहरण भी विद्यार्थियों को विषय के आत्मसात् कराने के लिये विग्रहप्रदर्शन-पूर्वक यहाँ संकलित किये गये हैं ताकि वे कूपमण्डूक न रह कर विषय के विशेष ज्ञाता बन सकें । इसी तरह मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त तद्धितप्रकरण के लगभग पचास अन्य सरल सूत्र भी यहाँ छात्रों की ज्ञान-वृद्धि के लिये सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं ।

तद्धितप्रत्यय 'य' को लीजिये। पाणिनि ने अपने शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये इसे अठारह प्रकार से प्रयुक्त किया है। तथाहि—

- (१) य । सख्युयः (११६१) । सख्यम् ।
- (२) यक् । पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (११६३) । सैनापत्यम् ।
- (३) यत् । दण्डादिभ्यो यत् (११४६) । दण्डयः ।
- (४) यञ् । गर्गादिभ्यो यञ् (१००८) । गार्ग्यः ।
- (५) यन् । ब्राह्मणमाणववाडवाद् यन् (४.२.४१) । ब्राह्मण्यम् ।
- (६) यस् । कंशंभ्यां ब-भ-युस्-ति-तु-त-यसः (५.२.१३८) । कयः । शयः ।
- (७) यप् । द्विगोर्यप् (५.१.८१) । द्विमास्यः ।
- (८) यल् । वेशोयशआदेर्भगाद् यल् (४.४.१३१) । वेशोभग्यः ।
- (९) व्य । अतिथेऽर्यः (५.४.२६) । अतिथये इदम् आतिथ्यम् ।
- (१०) व्यङ् । वृद्धेत्कोसलाजावाद् व्यङ् (४.१.१६६) । आवन्त्यः ।
- (११) व्यट् । आयुषजोषिसङ्घाऽव्यट् ० (५.३.११४) । सौद्रक्यः ।
- (१२) टघण् । सोमाद् टघण् (१०४३) । सौम्य हविः ।
- (१३) डघ । वामदेवाद् डघङ् डघौ (१०३७) । वामदेव्यं साम ।
- (१४) डघत् । वामदेवाद् डघङ् डघौ (१०३७) । वामदेव्यं साम ।
- (१५) डघण् । पाथोनदीभ्यां डघण् (४.४.१११) । पाथ्यः । नाद्यः ।
- (१६) प्य । कुरनादिभ्यो प्यः (१०२६) । कौरव्यः । नैषध्यः ।
- (१७) प्यत् । षष्मासाण्यञ्च (५.१.८२) । षाण्मास्यः ।
- (१८) प्यञ् । वर्णद्वडादिभ्यः प्यञ् च (११५६) । शौक्यम् ।

जहाँ जहाँ आचार्य को केवल 'य' का विधान अभीष्ट होता है वहाँ वे अनुबन्धरहित शुद्ध 'य' का प्रयोग करते हैं। यथा—सख्युयः (११६१)—सख्यम् । सभाया यः (११३६)—सभ्यः । जहाँ उन्हें 'य' के परे रहते आदिवृद्धि करनी अभीष्ट होती है वहाँ यकार के साथ ककार, षकार या ञकार अनुबन्धों को भी जोड़ लेते हैं जिस से तद्धितप्रत्ययामादेः (६३८) या किति च (१००१) द्वारा आदिवृद्धि हो जाये। यथा—पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (११६३)—सैनापत्यम् । गर्गादिभ्यो यञ् (१००८)—गार्ग्यः । कुरनादिभ्यो प्यः (१०२६)—कौरव्यः, नैषध्यः । जहाँ 'य' के परे रहते टि का लोप अभीष्ट होता है वहाँ 'य' के साथ ङकार अनुबन्ध को जोड़ देते हैं जिस से टेः (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप हो सके । यथा—पाथोनदीभ्यां डघण् (४.४.१११)—पाथसि भवः—पाथ्यः । जहाँ स्त्रीत्व की विवक्षा में डीष् प्रत्यय लाना अभीष्ट होता है, वहाँ 'य' प्रत्यय के साथ षकार अनुबन्ध एवं जहाँ डीप् अभीष्ट होता है वहाँ टकार अनुबन्ध जोड़ देते हैं। यथा—गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (प्यञ्) (११६०)—मधुरस्य भावो माधुरी, चतुरस्य भावश्चातुरी, उचितस्य भाव औचित्ति । सोमाद् डघण् (१०४३)—सोमो देवताऽस्याः—सोमी ऋक् ।

इसी प्रकार पाणिनि ने तद्धित 'अ' प्रत्यय को सात प्रकार से (अ, अच्, अण्, अम्, अत्, अ, ङ्) स्वप्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रयुक्त किया है ।

पाणिनि ने प्रत्ययों के साथ अनुबन्ध जोड़ते समय लोकप्रचलित उदात्तादिस्वरों का भी विशेष ध्यान रखा है । जहां जो जो स्वरविशेष अभीष्ट होता है वहां तदनुसार प्रत्यय के साथ लकार, तकार, अकार, नकार, चकार आदि अनुबन्ध जोड़ देते हैं । यथा—सप्तम्यास्त्रल् (१२०४) द्वारा विहित त्रल् के लित् होने से लिति (६.१.१८७) द्वारा लित् से पूर्व उदात्त हो जाता है । इसी प्रकार तिस्त्वरितम् (६.१.१७६) से तित् प्रत्यय को स्वरित हो जाता है । ङिनत्यादिनित्यम् (६.१.१६१) द्वारा अित् या नित् प्रत्यय के परे रहते आदि को उदात्त हो जाता है । चित् या कित् तद्धितान्त को चितः (६.१.१५७) और कितः (६.१.१५६) सूत्रों के द्वारा अन्तोदात्तस्वर हो जाता है । अनुदात्तो ङुंषितौ (३.१.४) से पित् प्रत्यय को अनुदात्त माना गया है । इन के अतिरिक्त अन्य प्रत्यय आद्युदात्तश्च (३.१.३) के द्वारा आद्युदात्त होते हैं । ध्यान रहे कि पाणिनि के समय लोक में संस्कृतभाषा बोलचाल की भाषा थी और इस में उदात्तादि स्वरों (Accent) का विशेष ध्यान रखा जाता था । अत एव पाणिनि ने अपने व्याकरण में इस का पूरा पूरा ध्यान रखा है । यह सब उन्होंने प्रत्ययों के साथ प्रायः विशिष्ट अनुबन्ध लगा कर ही सिद्ध किया है । पाणिनि की इसी दृष्टि को लक्ष्य में रख कर इस व्याख्या में प्रत्येक प्रत्यय के साथ जुड़े अनुबन्धों का प्रयोजन सर्वत्र स्पष्ट दर्शाया गया है जिस से विद्यार्थियों को पाणिनि की सूक्ष्म शास्त्रप्रणयनशैली का पदे पदे स्पष्टीकरण होता रहे । इस विषय में संस्कृत-व्याकरण-जगत् में हिन्दी भाषा के माध्यम से किया गया यह पहला यत्न समझना चाहिये ।

इस खण्ड में भी पूर्व खण्डों की भांति व्याख्या-शैली अपनाई गई है । सर्वप्रथम सूत्रों का पदच्छेद, विभक्ति, वचन, अनुवृत्ति तथा परिभ्रषादिजन्य विशेषताओं के द्वारा बना समग्र सूत्रार्थ दर्शा कर बाद में उदाहरणरूपेण प्रस्तुत प्रत्येक रूप की विस्तृत सिद्धि दी गई है । प्रकृतसूत्र का उस रूप की सिद्धि में क्या कार्यविशेष रहता है इसे विशेषरीत्या समझा समझा कर सर्वत्र स्पष्ट किया गया है । सिद्धि के साथ साथ प्रत्येक तद्धितान्त का विग्रह दे कर उस का हिन्दीभाषा में अर्थ भी सर्वत्र दे दिया गया है । शङ्कासमाधान का भी वही ढंग रखा गया है । जहां तक लघुकौमुदीकार के आन्तरिक रहस्यों का प्रश्न है उसे समझाने के लिये कुरेद कुरेद कर शङ्काओं का समाधान किया गया है । यह व्याख्या केवल लघुकौमुदी के मूलोक्त उदाहरणों तक ही सीमित नहीं है बल्कि अन्यान्य अनेकों उदाहरण भी विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन चुन कर यहां प्रदर्शित किये गये हैं । मूलोक्त लगभग पाञ्च सौ उदाहरणों के अतिरिक्त दो हजार अन्य उदाहरण भी विद्यार्थियों को विषय के आत्मसात् कराने के लिये विग्रहप्रदर्शन-पूर्वक यहां संकलित किये गये हैं ताकि वे कूपमण्डूक न रह कर विषय के विशेष ज्ञाता बन सकें । इसी तरह मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त तद्धितप्रकरण के लगभग पचास अन्य सरल सूत्र भी यहां छात्रों की ज्ञान-वृद्धि के लिये सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं ।

तद्वितान्त उदाहरणों के साहित्यगत प्रयोगों को भी यत्र तत्र निविष्ट किया गया है । जगह जगह लोकप्रसिद्ध सुभाषितों और सूक्तियों से भी इसे मण्डित करने का पूरा पूरा प्रयास किया गया है । ग्रन्थ के अन्त में छः परिशिष्ट बड़े यत्न से संगृहीत किये गये हैं । इन में चौथा परिशिष्ट मूलोक्त उदाहरणों की अनुक्रमणिका है जो शोध-छात्रों के बड़े काम की वस्तु है । इसी तरह तद्वितप्रकरणस्थ प्रत्ययों की सूची भी अनेक दृष्टियों से बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है ।

मुझ से जो बन पड़ा सतत तीन वर्ष लगा कर इस भाग को पूरा किया । इस में सब से बड़ा सहयोग मेरे विशाल पुस्तकालय का है जो आज भी राजधानी में संस्कृतपुस्तकों का व्यक्तिगत एक बड़ा सग्रह है ।

इस बार प्रूफ पढ़ने का कार्य प्रायः स्वयं मैं ने ही किया है । साब यत्न करने पर भी मानवसुलभस्वभाव के कारण दोषराहित्य तो दुर्लभ है ही परन्तु फिर भी यह ग्रन्थ पर्याप्त शुद्ध छपा है । इस में अशुद्धियां क्वचित् ही रहो होंगी जो अनिवार्य हैं । किसी ने युक्त ही कहा है—

**अत्युजितं वस्तु चलं च चित्तमतः प्रमादः सुलभः प्रणेतुः ।
प्रमादिनौ लेखकमुद्रकौ च क्वारयन्तिकौ पुस्तक ते विद्युद्धिः ॥**

शास्त्रिसद्वनम्

६/६४४२, मुखर्जी गली
गांधीनगर, दिल्ली-११००३१
[२५.७.१९६१ (ई०)]

सुरभारती का सुन्दर समुपासक

मीमसेन शास्त्री



भैमीव्याख्याकार डा० भीमसेन शास्त्री

ॐ

श्रीवरदराजाचार्यप्रणीता

✽ लघु-सिद्धान्त-कौमुदी ✽

श्रीभीमसेनशास्त्रनिर्मितया भंमीव्याख्यायोरुद्धासिता

[पञ्चमो भागः]

—:०:—

वरेष्यं सच्चिदानन्दं साक्षिणं सर्वकर्मणाम् ।
आकाराद्यनवच्छिन्नं वन्दे वन्द्यं जगद्गुरुम् ॥१॥
प्रेरको जगतोऽध्यक्षो धियो यो नः प्रचोदयेत् ।
येन शास्त्ररहस्यं नश्चकास्तु हृदये सदा ॥२॥
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्या भंमीव्याख्याविभूषितः ।
प्रकृतः पञ्चमो भागो दीपवत्तिमिरं हरेत् ॥३॥
सुबन्तानि तिङन्तानि कृदन्त-कारकाणि च ।
सुध्याख्याय समासांश्च तद्धितान् विवृणोऽधुना ॥४॥
मामकीनं श्रमं वीक्ष्य पठकाः पाठका अपि ।
सर्वे मुदमवाप्स्यन्ति संछिन्नोत्थितसंशयाः ॥५॥

—:०:—

अथ तद्धित-प्रकरणम्

सुबन्त, तिङन्त, कृदन्त, कारक और समास इन सब उपजीव्य प्रकरणों के अनन्तर अब यहां से तद्धितप्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। जैसे धातुओं से विविध प्रत्यय लाने से अनेक प्रातिपदिकों की निष्पत्ति होती है वैसे प्रातिपदिकों से भी विविध तद्धित प्रत्यय करने पर तद्धितान्त शब्दों की निष्पत्ति होती है। संस्कृतसाहित्य का

अधिकांश भाग तद्धितान्त प्रयोगों से भरा पड़ा है। लोक से लौकिक, वेद से वैदिक, घर्म से धार्मिक, पाणिनि से पाणिनीय, व्याकरण से वैयाकरण, मीमांसा से मीमांसक, ग्राम से ग्रामीण, दशरथ से दाशरथि, मेघा से मेघाविन्, गर्ग से गार्ग्य, जन से जनता, अध्यात्म से आध्यात्मिक, भूत से भौतिक, दक्षिणा से दाक्षिणात्य, तुला से तुल्य, उपगु से औपगव, दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, मृदु से मृदुता मृदुत्व और अदिमन्, चक्षुष् से चाक्षुष, राष्ट्र से राष्ट्रिय, बुष्मद् से बुष्मदीय, अस्मद् से अस्मदीय, सभाज से सामाजिक, घनुष् से घानुष्क, ऋण से शरण्य, सभा से सभ्य, कण्ठ से कण्ठ्य, दन्त से दन्त्य, मूर्धन् से मूर्धन्य, अहन् से आह्निक, स्त्री से स्त्रैण, पुरोहित से पौरवेहित्य इत्यादि तद्धितान्तों के कुछ उदाहरण हैं।^१ इस प्रकरण में पढ़े गये प्रत्ययों की तद्धितः (६१६) सूत्र से तद्धित-सञ्ज्ञा होती है।^२ ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रकरण अत्यन्त बहुस्व का है। इस में अनेक प्राचीन स्थानों, जनपदों, नगरों आदि के उल्लेख के साथ-साथ अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों के कुल, कृति, व्यवसाय, सामाजिक रीति-रिवाज एवं भक्ष्याभक्ष्य आदि पर—बहुमुखी प्रकाश पड़ता है जो प्राचीन भारतीय इतिहास का सुनहरा पन्ना सिद्ध होता है।^३ मुनिवर पाणिनि की अष्टाध्यायी का लगभग एक चौथाई भाग इन तद्धितप्रत्ययों से भरा पड़ा है। यह प्रकरण अन्य प्रकरणों की अपेक्षा अतीव सरल है। प्रायः तीन-चार सूत्रों से ही रूपसिद्धि हो जाती है। इस प्रकरण में अर्थ का विशेष ध्यान रखना होता है।

अब सब से प्रथम तद्धितप्रकरणोपयोगी अधिकारसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(६६७) समर्थानां प्रथमाद्वा ।४।१।८२॥
इदं पदत्रयमधिक्रियते 'प्राग्दिशो विभक्तिः' (११६७) इति यावत् ॥

१. आङ्गल आदि भाषाओं में भी इसी प्रकार के प्रयोग बहुधा देखे जाते हैं। यथा—Prison से Prisoner, King से Kingdom, Crime से Criminal, City से Citizen, Civil से Civillian, Red से Reddish, Sun से Sunny, Child से Childish, Fool से Foolish, Christ से Christian, India से Indian आदि।
२. तेभ्यः (प्रयोगेभ्यः) हिताः—तद्धिताः। तद्धितप्रत्ययों को इसलिये तद्धित कहते हैं क्योंकि ये उन उन प्रयोगों की निष्पत्ति में हितकर अर्थात् सहायक होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन प्रत्ययों का उपयोग शिष्टसम्मत इष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिये ही किया जाता है मनमाने नये-नये प्रयोग बड़ने के लिये नहीं। इस विषय पर एक टिप्पण तद्धिताः (६१६) सूत्र पर समासप्रकरण में लिख चुके हैं, उसका भी यहां पुनरवलोकन कर लेना चाहिये।
३. इस विषय के लिये श्रीवासुदेवशरण-अग्रवालविरचित पाणिनिकालीन भारतवर्ष नामक ग्रन्थ का अवलोकन करें।

अर्थः—समर्थानाम्, प्रथमात् और वा—इन तीनों पदों का अधिकार किया जाता है। यह अधिकार अष्टाध्यायी में ब्राह्मिणो विभक्तिः (५.३.१) सूत्र तक जाता है।

व्याख्या—समर्थानाम् ।६।३। (निर्धारणे षष्ठी, समर्थानां मध्य इत्यर्थः)। प्रथमात् ।५।१। वा इत्यव्ययपदम् । यहाँ तीनों पदों में प्रत्येक पद पर स्वरित का चिह्न होने से स्वरितेनाधिकारः (१.३.११) द्वारा तीनों पदों का पृथक्-पृथक् रूप से अधिकार किया जा रहा है। इस से किसी एक अधिकार के निवृत्त हो जाने पर भी दूसरे की प्रवृत्ति बनी रहती है। ब्राह्मिणो विभक्तिः (११.६७) सूत्र तक तो तीनों का उपभोग होने से तीनों पदों का अधिकार चलेगा ही, परन्तु आगे स्वाधिक प्रत्ययों में अनुपपुञ्ज होने से 'समर्थानाम्' और 'प्रथमात्' की निवृत्ति हो जायेगी केवल 'वा' पद का ही यथासम्भव अधिकार रहेगा। अर्थः—(समर्थानाम्) समर्थों के मध्य जो समर्थ (प्रथमात्) प्रथम उच्चरित हो उस से परे (वा) विकल्प कर के कस्यमाण तद्धित प्रत्यय हों। ध्यान रहे कि इस प्रकरण में प्रत्ययः (१२०), परश्च (१२१), ऊष्माप्रातिषधिकात् (११६) और तद्धिताः (६१६) के अधिकार पूर्वतः आ रहे हैं।

यह अधिकारसूत्र है। अधिकारसूत्रों का उपयोग अपने स्थानों पर नहीं हुआ करता। विधिसूत्रों में उपस्थित होकर उन के साथ एकवाक्य बन कर इन की चरितार्थता हुआ करती है। यथा—तस्याऽपत्यम् (१००४) यह विधिसूत्र है। यहाँ प्रथम उच्चरित 'तस्य' पद है जो षष्ठ्यन्त का उपलक्षण है, अतः तद्बोध्य पद को ही प्रक्रियादशा में प्रथम समझा जायेगा। इस से उपगोरपत्यम् इत्यादि में 'उपगोः' आदि षष्ठ्यन्त पदों से ही तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति होगी प्रथमान्त अपत्यशब्द से नहीं। तद्धितप्रत्यय विकल्प से होते हैं। इस से पक्ष में 'उपगोरपत्यम्' आदि वाक्य तथा 'उपग्वपत्यम्' आदि समास भी हो सकते हैं।^१

यहाँ 'समर्थ' का अन्विष्टाया 'अर्थबोध कराने में समर्थ' से है। जिस में तत्तसन्धि-कार्य हो चुके हों वही पद अर्थबोध कराने में समर्थ हो सकता है अकृत-सन्धिकार्य नहीं। अतः 'समर्थ' से वहाँ कृतसन्धिकार्य (कृतं सन्धिकार्यं यस्मिन्) पद का ही ग्रहण समझा जायेगा। इस से 'सु उत्थितस्य अपत्यम्' यहाँ अत इब् (१०१४) सूत्र से इब् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि और आब् आदेश करने से 'सावृत्तिः' न बनेगा, अपितु सूत्थित शब्द

१. ननु 'उपग्वपत्यम्' इति कथं षष्ठीसमासः, तद्धितानां समासापवादत्वात्। न च तद्धितानां पाक्षिकत्वात् तदभावपक्षे षष्ठीसमासो निर्बाध इति वाच्यम्। अपवादेन मुक्ते पुनरुत्सर्गो न प्रवर्तत इति पारे मध्ये षष्ठ्या वा (२.१.१७) इति वाग्रहणेन ज्ञापितत्वाद् इति चेच्छृणु। दैवयज्ञि-शोचिद्वृक्षि-सात्यमुष्णि-काण्ठेविद्धिम्योऽन्यतरस्याम् (४.१.८१) इति पूर्वसूत्राद् 'अन्यतरस्याम्'-ग्रहणानुवृत्तेः समासोऽपि सिध्यति।

से ही इष् प्रत्यय होकर 'सौत्थितिः' बनेगा। इसी प्रकार 'वि ईक्षमाणस्य अपत्यम्' यहां 'वायिक्षमाणिः' न बनकर 'वैक्षमाणिः' ही बनेगा।^१

यहां यह विशेष ध्याताव्य है कि अत्यन्त स्वार्थिक प्रत्ययों को छोड़ कर अन्य तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति सुंबन्तों से ही हुआ करती है केवल 'उपगु' आदि शुद्ध प्रातिपदिकों से नहीं।^२ तद्धितप्रत्यय अलौकिकविग्रह में 'उपगु इस्' आदि सुंबन्तों से ही होते हैं।^३

तो इस प्रकार तद्धितविधान पदविधि है। अतः समर्थः पदविधिः (६०४) परिभाषाद्वारा समर्थपदों से ही तद्धितप्रत्ययों का विधान होगा असमर्थ पदों से नहीं। यथा—कम्बलमुपगोरपत्यं देवदत्तस्य (कम्बल तो उपगु का है, सन्तान देवदत्त की है)। यहां उपगुशब्द का कम्बल के साथ सम्बन्ध है अपत्य के साथ नहीं, अतः एकार्थीभाव-सामर्थ्य के न रहने से 'उपगोरपत्यम्' में तद्धित की उत्पत्ति नहीं होती।^४

कई लोग समर्थानां प्रथमाद्वा के स्थान पर समर्थात्प्रथमाद्वा ऐसा सूत्र पसन्द करते हैं। 'समर्थानाम्' में बहुवचन का निर्देश उन्हें उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

स्मरणीय सार—

(१) तद्धितप्रत्यय उस शब्द से होते हैं जिस में सन्धिकार्य किया जा चुका हो।

(२) तस्यापत्यम् (१००४), तेन रक्तं रागात् (१०३३), तेन प्रोक्तम् (११०८), तस्य समूहः (१०४७), तत आगतः (१०६८) इत्यादि प्रत्ययविधायकसूत्रों में तस्य, तेन, ततः आदि जो प्रथम पढ़े गये पद, तद्बोध्य शब्दों से ही तद्धितप्रत्यय हुआ करते हैं।

१. जैसाकि महाभाष्य में यहां स्पष्ट लिखा है—

किम्पुनः समर्थम् ? अर्थाभिधाने यत्समर्थम् । किं पुनस्तत् ? कृतवर्णानुपूर्वीकं पदम् । सौत्थितिः । वैक्षमाणिः ।
(महाभाष्य ४.१.८२)

२. अत एव घकालतनेषु कालनाम्नः (६.३.१६) यहां तरप् तमप् इन तद्धित प्रत्ययों के परे रहते सप्तमी के अलुक् का विधान किया गया है। यदि तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति सुंबन्त से न होकर केवल प्रातिपदिक से ही होती तो तरप्-तमप् आदि तद्धितप्रत्ययों के परे होने पर सुंप् के न होने से उस के लुक् या अलुक् का प्रश्न ही पैदा न होता। अतः इस से सुतरां सिद्ध होता है कि सुंबन्तों से ही तद्धितों की उत्पत्ति होती है।

३. तद्धितों में भी समासों की तरह लौकिक और अलौकिक दो प्रकार का विग्रह हुआ करता है। 'उपगोरपत्यम्' यह लौकिकविग्रह तथा 'उपगु इस् + अण्' यह अलौकिक विग्रह है।

४. जब पद मिल कर परस्परसम्बद्ध एक अर्थ की प्रतीति कराते हैं तो वहां एकार्थी-भावरूप सामर्थ्य होता है। समास, तद्धित आदि पदविधियों में यही सामर्थ्य पाया जाता है।

(३) तद्धितप्रत्यय विकल्प से होते हैं अतः पक्ष में वाक्य तथा यथासम्भव समास भी हो सकता है ।

(४) तद्धितप्रत्यय (अत्यन्त स्वार्थिकों को छोड़ कर) सुबन्तों से ही होते हैं केवल प्रातिपदिकों से नहीं । जहां प्रातिपदिकों से विधान कहा है वहां पर भी तत्तत्प्रकृतिक सुबन्तों से ही विधान समझना चाहिये ।

(५) तद्धितप्रत्ययों के विधान में भी समर्थपरिभाषा (समर्थः पदबन्धिः ६०४) प्रवृत्त हो जाती है । अतः समर्थ पदों से ही तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है असमर्थ पदों से नहीं । यथा—‘ऋद्धस्य उपगोरपत्यम्, कम्बलमुपगोरपत्यं देवदत्तस्य’ इत्यादियों में उपगुशब्द से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय नहीं होता ।^१

अब प्राग्दीव्यतीय तद्धितों का वर्णन करने से पूर्व कुछ साधारण (सामान्य) प्रत्ययों को दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्^२—(६६८) अश्वपत्यादिभ्यश्च ।४।१।८४॥

एभ्योऽण् स्यात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि आश्वपतम् । गाणपतम् ॥

अर्थः—अश्वपति आदि शब्दों से (भी) प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अश्वपत्यादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । अण् ।१।१। प्राग् इत्यव्यय-पदम् । दीव्यतः ।५।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् सूत्र से) । तद्धिताः यह अधिकृत है । अश्वपति-शब्द आदिर्येषां तेऽश्वपत्यादयस्तेभ्यः = अश्वपत्यादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(अश्वपत्यादिभ्यः) अश्वपति आदि शब्दों से (च) भी (तद्धितः) तद्धित संज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है (दीव्यतः) तेन दीव्यति स्ननति जयति जितम् सूत्र से (प्राक्) पूर्व के अर्थों में ।

आगे तेन दीव्यति स्ननति जयति जितम् (१११७) सूत्र आयेगा । इस सूत्र से पहले-पहले तस्यापत्यम् (उस की सन्तान), तेन रक्तं रागात् (उस से रङ्गा गया) इत्यादि जो अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं उन्हें प्राग्दीव्यतीय अर्थ कहते हैं ।^३ इन अर्थों में अश्वपति

१. समर्थः पदबन्धिः (६०४) का सामर्थ्य तथा समर्थानां प्रथमाद्वा (६६७) का सामर्थ्य परस्पर बिल्कुल भिन्न प्रकार का होता है । इस के उपर्युक्त सूक्ष्मभेद को बुद्धि में ठीक तरह से बिठा लेना चाहिये ।
२. प्राग्दीव्यतोऽर्थबोधकेषु इदमधिक्रियते इत्यादिप्रकारेण एषामप्यधिकारत्वं बोध्यम् । तेष्वयम्भवतीति विधायकत्वमेवेत्यन्ये—इति दित्यदित्यादित्यसूत्रभाष्योद्धोते नागेशः ।
३. दीव्यतः प्राक् प्राग्दीव्यत्, अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चन्या (२.१.११) इत्यव्ययीभावः । तत्र भवाः प्राग्दीव्यतीयाः । बुद्धाच्छः (१०७७) इति छः । लघुसिद्धान्तकौमुदी में मुख्यतः प्राग्दीव्यतीय अर्थ इस प्रकार से दिये गये हैं—१. तस्यापत्यम् (१०९४) ।

आदि शब्दों से अण् प्रत्यय होता है। अश्वपत्यादि एक गण है।^१

यह सूत्र आगे आने वाले बित्यबित्याबित्यपत्युत्तरपदाण्यः (६६६) सूत्रद्वारा प्राप्त 'ष्य' प्रत्यय का अपवाद है। सूत्र के उदाहरण यथा—

अश्वपतेरपत्यादि^२ अश्वपतम् (अश्वपति की सन्तान आदि)। तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति सुबन्तों से ही होती है—इस नियम के अनुसार यहां 'अश्वपति इस्' आदि से तत्त्वाऽपत्यम् (१००४, उस की सन्तान) आदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अश्वपत्याबित्यश्च (६६८) इस प्रकृतसूत्र से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर 'अश्वपति इस् + अण्' हुआ। अब कृत्तद्धितसमासाश्च (११७) से समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुंपो धातु-प्रातिपदिकयोः (७२१) सूत्रद्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुंपु (इस्) का लुक् करने से 'अश्वपति + अण्' रहा। पुनः अण् प्रत्यय के णकार की हलन्त्यम् (१) से इत्संज्ञा और तस्य लोपः (३) से उस इत् का लोप हो जाता है—अश्वपति + अ। अण् प्रत्यय के णित्त्व के कारण तद्धितेष्वचामादेः (६३८) सूत्र से 'अश्वपति' अङ्ग के आदि अकार

२. तेन रक्तं रागात् (१०३३)। ३. नक्षत्रेण युक्तः कालः (१०३४)। ४. वृष्टं साम (१०३६)। ५. परिवृतो रथः (१०३८)। ६. तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः (१०३९)। ७. संस्कृतं भक्षाः (१०४०)। ८. साऽस्य देवता (१०४१)। ९. तस्य समूहः (१०४७)। १०. तदधीते तद्वेद (१०५३)। ११. तदस्मिन्स्तीति देशे तन्नाम्नि (१०५६)। १२. तेन निबृत्तम् (१०५७)। १३. तस्य निवासः (१०५८)। १४. अद्भूतभवश्च (१०५९)। १५. शोभे (१०६८)। १६. तत्र जातः (१०८७)। १७. प्रायभवः (१०८९)। १८. सम्भूते (१०९०)। १९. तत्र भवः (१०९२)। २०. तत् आगतः (१०९८)। २१. प्रभवति (११०३)। २२. तद् गच्छति पथिभूतयोः (११०४)। २३. अभिनिष्कामति द्वारम् (११०५)। २४. अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (११०६)। २५. सोऽस्य निवासः (११०७)। २६. तेन प्रोक्तम् (११०८)। २७. तस्येदम् (११०९)। २८. तस्य विकारः (१११०)। इन के अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थों का भी अष्टाध्यायी में उल्लेख किया गया है।

१. अश्वपत्यादिगण यथा—

अश्वपति। ज्ञानपति। शतपति। धनपति। गणपति। स्थानपति। यज्ञपति। राष्ट्रपति। कुलपति। गृहपति। पशुपति। धान्यपति। धन्वपति। बन्धुपति। धर्मपति। सभापति। प्राणपति। क्षेत्रपति।

२. आदि शब्द से अन्य भी प्राग्दीव्यतीय अर्थों का यथासम्भव संग्रह कर लेना चाहिये। यथा—अश्वपतीनां समूहः। अश्वपतेर्जातः। अश्वपतेरागतः। अश्वपती भवः। अश्वपतेर्निवासः। अश्वपतेरिदम् इत्यादि। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये।

की आकार वृद्धि तथा यस्थेति च (२३६) से भसंज्ञक^१ इकार का लोप करने पर आश्वपत् + अ = 'आश्वपत्' यह तद्धितान्त शब्द निष्पन्न हुआ। तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण इस से स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। विशेष्यानुसार यहां लिङ्ग की व्यवस्था होती है। सामान्य की अपेक्षा से नपुंसक में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुं प्रत्यय ला कर अतोऽम् (२३४) से उसे अम् आदेश तथा अन्नि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'आश्वपतम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। विशेष्य के पुलिङ्ग होने पर 'आश्वपतः' एवं स्त्रीलिङ्ग होने पर टिड्ढाणम्० (१२५१) से डीप् हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'आश्वपती' बनेगा।

दूसरा उदाहरण— गणपतेरपत्यादि गाणपतम् (गणपति की सन्तान आदि)। गणपतिशब्द भी अश्वपत्यादिगण में पढ़ा गया है अतः इस से भी प्राग्दीव्यतीय अर्थों में पूर्वोक्तप्रकारेण अण् प्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुं, ब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'गाणपतम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट— कई लोग 'गणपतिदेवताऽस्य' इस विग्रह में साऽस्य देवता (१०४१) इस प्राग्दीव्यतीय अर्थ में अग्रिम दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः (६६६) सूत्र से ष्य (य) प्रत्यय कर 'गाणपत्यो मन्त्रः' (गणपतिदेवतावाला मन्त्र) इस प्रकार लिखते हैं। वह सर्वथा अपशब्द समझना चाहिये। गणपतिशब्द से समस्त प्राग्दीव्यतीय अर्थों में प्रकृतसूत्रद्वारा अण् प्रत्यय ही होगा। अतः 'गाणपतो मन्त्रः' कहना ही शुद्ध है।

यहां यह भी विशेष ध्यातव्य है कि इस प्राग्दीव्यतीयप्रकरण में प्राग्दीव्यतोऽण् [(४.१.८३) अर्थः— तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (१११७)—सूत्र से पूर्व अण् प्रत्यय का अधिकार जानना चाहिये] सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय का अधिकार किया गया है। शेष सब प्रत्यय इस के अपवाद हैं। जहां अन्य कोई विशेष प्रत्यय विधान न किया जायेगा वहां सामान्यतः अण् प्रत्यय ही होगा। अश्वपत्यादिगण में सामान्यप्राप्त अण् प्रत्यय को बाध कर दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः (६६६) इस अग्रिमसूत्रद्वारा 'ष्य' प्रत्यय प्राप्त होता था परन्तु हमें यहां अण् प्रत्यय करना ही अभीष्ट है अतः उस का पुरस्तादपवाद यह प्रकृतसूत्र समझना चाहिये।

अब सामान्यप्राप्त अण् के अपवाद 'ष्य' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (६६६)

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः । ४।१।८५॥

दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ष्यः स्यात् ।
अणोऽपवादः । दितेरपत्यं दैत्यः । अदितेरादित्यस्य वा अपत्यम्—

१. तद्धितप्रत्यय स्वादिप्रत्ययों के अन्तर्गत हैं अतः यकारादि और अजादि तद्धितों के परे होने पर बन्धि भम् (१६५) से पूर्व की भसंज्ञा तथा ह्लादियों के परे होने पर स्वादिष्वसर्वनामत्वान्ने (१६४) द्वारा पूर्व की पदसंज्ञा जाननी चाहिये।

अर्थः—दिति (दैत्यों की माता), अदिति (देवताओं की माता) और आदित्य (सूर्य) शब्दों से तथा पतिशब्द जिन का उत्तरपद हो ऐसे शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'प्य' प्रत्यय हो। यह सूत्र अण् प्रत्यय का अपवाद है।

व्याख्या—दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात् १५।१। प्यः १।१। प्राक् इत्यव्ययपदम्। दीव्यतः १५।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् इस अधिकारसूत्र से)। प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि सब पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—पतिशब्द उत्तरपदं यस्य स पत्युत्तरपदः (शब्दः), बहुव्रीहिसमासः। दितिश्च अदितिश्च आदित्यश्च पत्युत्तरपदश्च दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदम्, तस्मात् = दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात्, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(दीव्यतः) दीव्यत् से (प्राक्) पहले के अर्थों में (दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात्) दिति, अदिति और आदित्य शब्दों से एवं पतिशब्द जिन का उत्तरपद हो ऐसे समस्त शब्दों से भी परे (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (प्यः) प्य प्रत्यय हो जाता है। प्राग्दीव्यतोऽण् (४.१.८३) द्वारा अधिकृत अण् प्रत्यय का यह अपवाद है। उदाहरण यथा—

दितेरपत्यं दैत्यः (दिति की सन्तान)। यहां 'दिति इस्' इस सुबन्त प्रातिपदिक से तस्यापत्यम् (१००४) के अर्थ में प्राग्दीव्यतोऽण् (४.१.८३) इस सामान्यप्राप्त अणुप्रत्यय का बाध कर प्रकृत दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः (६६६) सूत्र से प्यप्रत्यय हो कर तद्धितान्तत्वेन समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा (११७), सुब्लुक् (७२१), चूट (१२६) से प्यप्रत्यय के आदि णकार की इत्संज्ञा एवं तस्य लोपः (३) से उस का लोप करने पर 'दिति + य' हुआ। अब तद्धित प्रत्यय के णित्त्व के कारण तद्धितेष्वचामादेः (६३८) सूत्रद्वारा अङ्ग के आदि अच् इकार को ऐकार वृद्धि तथा यस्थेति च (२३६) से भसंज्ञक अन्त्य इकार का लोप करने से 'दैत्य' शब्द बना। अब विशेष्यानुसार पुलिङ्ग में सुविभक्ति लाने पर सकार को र्त्त्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'दैत्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अदितेरपत्यम् आदित्यः (अदिति की सन्तान)। यहां भी पूर्ववत् 'अदिति इस्' से अपत्यार्थ में प्रकृतसूत्र से प्यप्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आदित्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

आदित्यस्य अपत्यम् आदित्यः (आदित्य की सन्तान)। यहां 'आदित्य इस्' इस सुबन्त से अपत्यार्थ में प्यप्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप हो कर 'आदित्य + य' हुआ। अब इस अवस्था में पूर्व यकार का वैकल्पिक लोप करने के लिये अप्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

१. पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः (जैसे बादल, जल और स्थल सब जगह एक समान वृष्टि करते हैं वे यह नहीं देखते कि जल में बरसना व्यर्थ और स्थल में उपयोगी है वैसे सूत्रों की भी प्रवृत्ति होती है) इस परिभाषा के कारण दीर्घ आकार को भी पुनः वृद्धि आदेश के द्वारा आकार आदेश हो जाता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०००) हलो यमां यमि लोपः । ८।४।६३।।

वा स्यात् । इति यलोपः । आदित्यः । प्राजापत्यः ॥

अर्थः—हल् से परे यम् वर्णों का लोप हो विकल्प से, यदि यम् वर्ण परे हो तो ।

व्याख्या—हलः । ५।१। यमाम् । ६।३। यमि । ७।१। लोपः । १।१। अन्यतरस्याम् १७।१। (अयो होऽन्यतरस्याम् से) । अर्थः—(हलः) हल् से परे (यमाम्) यम्प्रत्याह्वारान्तर्गत वर्णों का (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (लोपः) लोप हो जाता है (यमि) यम् परे हो तो । एक अवस्था में लोप कहने से दूसरी अवस्था में लोप न होगा, अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा । यम् प्रत्याहार में अन्तःस्थ तथा वर्णों के पञ्चम वर्ण आते हैं । यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (२३) परिभाषा के अनुसार यकार परे होने पर यकार का, वकार परे होने पर वकार का इत्यादि प्रकारेण लुप्यमान यम् से तादृश यम् परे होने पर ही लोप होगा ।^१

‘आदित्य + य’ यहां तकार हल् से परे ‘य’ इस यम् का प्रकृत हलो यमां यमि लोपः (१०००) सूत्र से वैकल्पिक लोप हो जायेगा क्योंकि ‘प्य’ वाला ‘य’ दूसरा यम् वर्ण परे है ही । अतः लोपपक्ष में ‘आदित्यः’ तथा लोपाभाव में ‘आदित्यः’ इस प्रकार दो रूप बनेंगे ।^२

१. अत एव ‘माहात्म्यम्, तादात्म्यम्’ इत्यादियों में मकार यम् के परे होने पर तकार यम् का लोप नहीं होता ।
२. द्विविधो हि आदित्यशब्दोऽवगन्तव्यः । एकस्तावद् अदितेरपत्यम् इत्यर्थे व्युत्पादितः । द्वितीयोऽपत्यार्थभिन्नजाताद्यर्थे ‘अदितौ जातः’ इत्यादिप्रकारेण निष्पादितः । उभयत्र अदितिशब्दाद् बिस्यदित्यादिस्य० (६६६) सूत्रेण प्यप्रत्ययो भवति । परं यदा आदित्यशब्दात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु प्यप्रत्ययः क्रियते तदा द्विविधाभ्यामपि आदित्यशब्दाभ्यां समानेऽपि प्यप्रत्यये प्रक्रियावैषम्यं भवति । तत्रादौ जाताद्यर्थे व्युत्पादितस्य आदित्यशब्दस्य प्रक्रियेत्यम्—
जाताद्यर्थे निष्पन्नाद् आदित्यशब्दाण्ये आदिवृद्धौ, यस्येति च (२३६) इति भस्याकारस्य लोपे ‘आदित्य + य’ इति स्थिते यणो मयो द्वे बाच्ये (वा०) इति पूर्वयकारस्य विकल्पेन द्वित्वे हलो यमां यमि लोपः (१०००) इति वा यलोपः । तदेवम्—

द्वित्वे सति कृते लोपे—आदित्यः ।

द्वित्वे सति लोपाभावे—आदित्य्यः ।

द्वित्वाभावे कृते लोपे—आदित्यः ।

द्वित्वाभावे, लोपाभावे—आदित्य्यः ।

इत्थम् एकयं द्वियं त्रियं चेति त्रीणि रूपाणि सिध्यन्ति । अपत्यप्रत्ययान्ताद् आदित्यशब्दाण्ये, आदिवृद्धौ, भस्याकारस्य लोपे च कृते ‘आदित्य + य’ इति स्थितौ आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति (६.४.१५१) इति पूर्वयकारस्य नित्यं लोपे ‘आदित्यः’ इत्येकयमेव रूपम् ।

यहां यह बात विशेषतः ध्यातव्य है कि हल् से परे ही यह यमोयमिलोप प्रवृत्त होता है। अन्नम्, प्रसन्नम् आदि में अच् से परे यह लोप नहीं होता।

अब पत्युत्तरपदों से ष्य का उदाहरण यथा—

प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः (प्रजापति की सन्तान)। 'प्रजापति' में षष्ठीतत्पुरुष-समास है—प्रजायाः पतिः प्रजापतिः। प्रजापतिशब्द में 'पति' शब्द उत्तरपद में है। अतः सुबन्त प्रजापतिशब्द से अपत्यार्थ में प्रकृत बित्यबित्याबित्यपत्युत्तरपदाण्यः (६६६) सूत्र से ष्यप्रत्यय, सुब्लुक् (७२१), आदिवृद्धि (६३८) तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने पर—प्राजापत् + य = 'प्राजापत्यः' प्रयोग निष्पन्न हो जाता है।

इसी प्रकार—सेनापतेरपत्यादि सैनापत्यम्। बृहस्पतेरपत्यादि बार्हस्पत्यम्। इत्यादि।

अब प्राग्दीव्यतीयप्रकरण में औत्सर्गिक अण् के अपवाद कुछ वार्तिकों का उल्लेख करते हैं—

[लघु०] वा०—(६७) देवाद् यञञौ ॥

दैव्यम्। दैवम् ॥

अर्थः—देवशब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यञ् और अञ् प्रत्यय हों।

व्याख्या—देवात् ॥१॥ यञञौ ॥१॥ यञ् च अञ् च यञञौ, इतरेतरद्वन्द्वः। यह वार्तिक तद्धिताः (६१६) के अधिकार में दित्यबित्याबित्य० (६६६) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। अतः प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ही अण् का अपवाद जानना चाहिये। अर्थः—(प्राग् दीव्यतः) दीव्यत् से पहले के अर्थों में (देवात्) देवशब्द से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (यञञौ) यञ् और अञ् प्रत्यय हो जाते हैं। यञ् और अञ् में अकार इत् है। उदाहरण यथा—

देवस्य अपत्यादि दैव्यं दैवं वा (देव की सन्तान आदि)। सुबन्त देवशब्द से अपत्य आदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में औत्सर्गिक अण् के अपवाद प्रकृत देवाद् यञञौ (वा० ६७) वार्तिक से यञ् या अञ् प्रत्यय होकर प्रातिपदिकसंज्ञा, सुब्लुक्, आदिवृद्धि से एकार को ऐकार तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर यञ्पक्ष में 'दैव्यम्' और अञ्पक्ष में 'दैवम्' प्रयोग निष्पन्न होता है।^१ अण् और अञ्

१. ध्यान रहे कि अञ्पक्ष में 'दैव' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में दिङ्ङाणञ्० (१२५१) सूत्र से डीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप करने पर 'दैवी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। परन्तु यञ्पक्ष में दैव्यशब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में यञ्श्च (१२५२) सूत्रद्वारा डीप् न हो कर अजाहृतष्टाप् (१२४६) से टाप् ही होता है—दैव्या। इस का कारण यह है कि यञ्श्च (१२५२) सूत्र में अपत्याधिकारपठित यञ् प्रत्यय का ग्रहण ही अभीष्ट है। यहां 'दैव्य' में हुआ यञ्प्रत्यय अपत्याधिकार में पढ़ा नहीं गया अपितु अपत्याधिकार से पूर्व प्राग्दीव्यतीय साधारणप्रत्ययों के प्रकरण में पढ़ा गया है। इस का विशेष विवेचन स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण में यञ्श्च (१२५२) सूत्र पर इसी व्याख्या में देखें।

प्रत्ययों में स्वर का ही अन्तर पड़ता है। यदि अण् होता तो शब्द अन्तोद्घात होता जो अनिष्ट था। अब अण् करने से आद्युदात्तस्वर होता है जो अभीष्ट है।

अब दूसरे वार्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(६८) बहिषष्टिलोपो यञ् च ॥

बाह्यः ॥

अर्थः—‘बहिस्’ शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक यञ् प्रत्यय तथा बहिस् की टि (इस्) का लोप हो जाता है।

व्याख्या—बहिषः ।५।१। टिलोपः ।१।१। यञ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । प्राक् इत्यव्ययपदम् । दीव्यतः ।५।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् से) । टेलोपः टिलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । अर्थः—(दीव्यतः) दीव्यतशब्द से (प्राक्) पहले के अर्थों में (बहिषः) बहिस् अव्यय से (यञ्) यञ् प्रत्यय (च) तथा (टिलोपः) बहिस् की टि का लोप हो जाता है। अणोऽन्त्यादि टि (३९) के अनुसार बहिस् की टि ‘इस्’ है। यञ् में वकार इत् है जो तद्धितेष्वन्त्यादेः (६३८) द्वारा आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

बहिर्भवः—बाह्यः (बाहर में होने वाला अर्थात् बाहरी)। ‘बहिस्’ यह स्वरादिगणपठित अव्यय है। ‘बहिस् डि’ इस सुंबन्त से तत्र भवः (१०६२) इस प्राग्दीव्यतीय अर्थ में औत्सर्गिक अण् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत बहिषष्टिलोपो यञ् च (वा० ६८) वार्तिक से यञ् प्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुंञ्जुक्^१, आदिवृद्धि तथा इसी वार्तिक से ‘इस्’ टि का लोप हो कर^२—बाह् + य = ‘बाह्य’ बना। अब विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में पुंलिङ्ग में ‘बाह्यः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^३ स्त्रीलिङ्ग में टाप् (१२४९) प्रत्यय ला कर ‘बाह्या’^४ तथा नपुंसकलिङ्ग में ‘बाह्यम्’ बनेगा।

१. वस्तुतः अव्ययों से सुंपु का लुक् अन्तरङ्ग होने से अव्ययाबाधसुंपुः (३७२) द्वारा सब से पहले ही हो जाता है। वह इतने काल तक प्रतीक्षा नहीं करता। अतः यहां ‘बहिस् डि’ से प्रत्ययविधान प्राथमिक विद्यार्थियों को समझाने के लिये ही किया गया है।
२. यद्यपि अव्ययानां भमात्रे टिलोपः (वा० ८५) इस वार्तिक से ही बहिस् अव्यय की टि का लोप हो सकता था पुनः यहां उस का विधान उस वार्तिक की अनित्यता का द्योतक है। इस से अव्ययों की भसंज्ञक टि का क्वचित् लोप नहीं भी होता। यथा—आराद् भवः—आरातीयः, यहां टि का लोप नहीं हुआ।
३. तानीन्द्रियाप्यविकलानि तदेव नाम सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव। अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव बाह्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ (पञ्चतन्त्र)
४. या वेदबाह्या स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ (मनु० १२.६५)

अब बहिस्विषयक एक अन्य वार्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(६६) ईकक् च ॥

अर्थः—बहिस्शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक ईकक् प्रत्यय तथा बहिस् की टि का लोप भी हो जाता है ।

व्याख्या—बहिषः ।५।१। टिलोपः ।१।१। (पूर्वोक्त वार्तिक से) । ईकक् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । दीव्यतः ।५।१। प्राक् इत्यव्ययपदम् (प्राग्दीव्यतोऽण् सूत्र से) अर्थः—(दीव्यतः प्राक्) दीव्यत् से पहले के अर्थों में (बहिषः) बहिस् अव्यय से (ईकक्) ईकक् प्रत्यय (च) तथा बहिस् की (टिलोपः) टि का लोप भी हो जाता है

ईकक् प्रत्यय का अन्त्य ककार ह्रस्वन्त्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है । 'ईक' मात्र अवशिष्ट रहता है । प्रत्यय का कित्करण आदिवृद्धि के लिये किया गया है । इसे दशानि के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००१) किति च ।७।२।११८॥

किति तद्धिते च अचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । बाहीकः ॥

अर्थः—कित् तद्धित प्रत्यय के परे होने पर भी (अङ्ग के) अचों में जो आदि अच् उस के स्थान पर वृद्धि आदेश हो ।

व्याख्या—किति ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । तद्धिते ।७।१। अचाम् इति निर्धारण-षष्ठीबहुवचनान्तम् । आदेः ।६।१। (तद्धितेष्वचामादेः सूत्र से) । अचः ।६।१। (अचो ङिति सूत्र से) । वृद्धिः ।१।१। (मृजेवृद्धिः सूत्र से) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । क् इद् यस्य स कित्, तस्मिन् = किति, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(किति तद्धिते) कित् तद्धित के परे होने पर (च) भी (अङ्गस्य) अङ्ग के (अचाम्) अचों के मध्य जो (आदेः, अचः) आदि अच्, उस के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है । कित् या णित् तद्धित के परे रहते तद्धितेष्वचामादेः (६३८) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि का विधान पहले कर चुके हैं अब कित् तद्धित के परे होने पर भी उस का विधान किया जा रहा है । अतः सूत्र में 'च' लगाया गया है । उदाहरण यथा—

बहिर्भवः—बाहीकः (बाहर में होने वाला अर्थात् बाहरी) । यहां भी बहिस् अव्यय से तत्र भवः (१०६२) इस प्राग्दीव्यतीय अर्थ में ईकक् च (वा० ६६) वार्तिक से तद्धितसंज्ञक ईकक् प्रत्यय, अन्त्य ककार अनुबन्ध का लोप, किति च (१००१) से अङ्ग के आदि अच् बकारोत्तर अकार को वृद्धि तथा इसी वार्तिक से बहिस् की टि (इस्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'बाहीकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । विशेष्य के स्त्रीलिङ्ग होने पर नञ्-स्त्रीकक्-स्थुस्तरुण-तलुनानाम्० (वा० १०१) वार्तिक से ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'बाहीकी' बनेगा । बाहीकी सेना (बाहर की सेना) ।

अब प्राग्दीव्यतीय अर्थों में एक अन्य वार्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(७०) गोरजादिप्रसङ्गे यत् ॥

गोरपत्यादि गव्यम् ॥

अर्थः—अजादि प्रत्ययों के प्रसङ्ग में गोशब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धित-संज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या— गोः १५।१। अजादिप्रसङ्गे ७७।१। यत् ११।१। दीव्यतः १५।१। प्राग् इत्यव्ययपदम् । (प्राग्दीव्यतोऽण् सूत्र से) । अच् आदिर्येषां ते = अजादयः प्रत्ययाः, बहुव्रीहिसमासः । अजादीनां (प्रत्ययानाम्) प्रसङ्गः = अजादिप्रसङ्गः, तस्मिन् = अजादि-प्रसङ्गे, षष्ठीतत्पुरुषः । अण् आदि प्रत्यय अजादि प्रत्यय हैं । अर्थः—(दीव्यतः प्राक्) दीव्यत् शब्द से पहले के अर्थों में (गोः) गोशब्द से (अजादिप्रसङ्गे) अजादिप्रत्ययों के प्राप्त होने पर (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है । तात्पर्य यह है कि यदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में गोशब्द से कोई अजादि प्रत्यय प्राप्त होता हो तो वह न हो कर यत् प्रत्यय हो जाये । यत् प्रत्यय का अन्त्य तकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है । तकार अनुबन्ध स्वरितस्वर के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

गोरपत्यम्, गवि भवम्, गोभ्य आगतम्, गौर्देवताऽस्य, गोरिदम्—गव्यम् (गौ की सन्तान, गौ में होने वाला, गौओं से आया हुआ, गौ देवता वाला, गौ का यह इत्यादि) । यथायोग्य सुबन्त गोशब्द से अपत्य आदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में सामान्यतः प्राग्दीव्यतोऽण् (४.१.८३) से अण् प्रत्यय प्राप्त होता है । अण् अजादि प्रत्यय है अतः प्राग्दीव्यतीय तत्तद् अर्थों में प्रकृत गोरजादिप्रसङ्गे यत् (वा० ७०) धात्तिक से उसे बाध कर यत् प्रत्यय हो कर सुब्लुक् तथा बान्तो यि प्रत्यये (२४) से ओकार के स्थान पर अच् आदेश करने से ग् अच् + य = 'गव्य' बना । अब सामान्ये नपुंसकम् (वा० ६४) के अनुसार नपुंसक मान कर विभक्तिकार्य करने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'अजादिप्रसङ्गे' कथन के कारण 'गोभ्यो हेतुभ्य आगतं गोरूप्यं गोभयं वा' इत्यादि हलादि प्रत्ययों के प्रसङ्ग में यत् न होगा । इन में तत् आगतः (१०६८) के अर्थ में हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः (११०१) सूत्र से रूप्यप्रत्यय तथा मयट् च (११०२) सूत्र से मयट् प्रत्यय क्रिया गया है ।

अब औत्सर्गिक अण् के अपवाद एक अन्य सूत्र का भी यहां अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००२) उत्सादिभ्योऽम् १४।१।८६॥

(प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु) । औत्सः ॥

अर्थः—उत्स आदि गणपठित शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या— उत्सादिभ्यः १५।३। अण् ११।१। प्राग् इत्यव्ययपदम् । दीव्यतः १५।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । उत्सः (उत्सशब्दः) आदिर्येषान्ते उत्सादयः, तेभ्यः = उत्सादिभ्यः । तद्गुण-संविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(प्राग्दीव्यतः) दीव्यत् से पहले के अर्थों में (उत्सादिभ्यः) उत्स आदि प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है । उत्सादि

एक गण है जो पाणिनीयगणपाठ में पढ़ा गया है। यह सूत्र औत्सर्गिक अण् तथा अण् के अपवाद इम् आदि प्रत्ययो का भी अपवाद है। अम् का 'अ' ही शेष रहता है। अण् और अम् प्रत्ययों से रूपसिद्धि में केवल स्वर का ही अन्तर पड़ता है। अण्प्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त तथा अम्प्रत्ययान्त आद्युदात्त होते हैं। सुम् का उदाहरण यथा—

उत्से भव औत्सः (उत्स अर्थात् ज़रने में होने वाला मण्डूक आदि)। यहाँ 'उत्सङ्' इस सुबन्त प्रातिपदिक से प्राग्गीढ्यतीय तत्र अच्ः (१०६२) के अर्च में औत्सर्गिक अण् प्रत्यय प्राप्त होता है परन्तु उत्सशब्द उत्साहियों में परिगणित है। अतः औत्सर्गिक अण् का बाध कर प्रकृत उत्साहियोंऽम् (१००२) सूत्र से अम् प्रत्यय, लङ्घितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुम्बुक्, अम् के विस्य के कारण लङ्घितेष्वचान्नादेः (६३८) से अङ्ग के आदि अच् उकार को वीकार वृद्धि तथा ऋस्वेति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य कर पल्लिङ्ग प्रथमा के एकवचन में 'औत्सः' प्रयोग सिद्ध होता है।^१

इसीप्रकार—

महानसे भवः—महानसोऽग्निः (रसोईधर में होने वाली अग्नि)।

श्रीष्मे भवम्—श्रीष्ममहः (श्रीष्मर्तु में होने वाला दिन)।

उदपाने^३ भवः—औदपानः (कूप में होने वाला मण्डूक आदि)।

भरतस्यापत्यम्—भारतः (भरत की सन्तान)।

उशीनरस्यापत्यम्—औशीनरः (उशीनर की सन्तान)।

जनपदे भवः—जानपदः (जनपद में होने वाला)।

जनपदादागतः—जानपदः (जनपद से आया हुआ)।

१. उत्सादिगण यथा—

उत्स । उदपान । विकर । विनद । महानद । महानस । महाप्राण । तरुष । तुलन । बष्कय असे (ग० सूत्र० असे=असमासे) । घेनु । पृथिवी । पङ्क्ति । जगता । त्रिष्टुम् । अनुष्टुम् । जनपद । भरत । उशीनर । श्रीष्म । पीलु । कुल । उदस्थान देशे (ग० सूत्र०) । वृष बंशे (ग० सूत्र०) । भल्लकीय । रथन्तर । मध्यन्दिन । बृहत् । महत् । सत्त्वत् । कुरू । पञ्चाल । इन्द्रावसान । उष्णिह् । ककुम् । सुवर्ण । सुपर्ण । देव । श्रीष्मावच्छन्दसि (ग० सूत्र०)।

[इस गण के अनेक शब्द विचारणीय वा शोघनीय हैं।]

२. स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में टिड्ढाणम्० (१२५१) सूत्र से डीप् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक ऋकार का लोप करने से 'औत्सी' बनेगा। एतद्विषयक एक टिप्पण आगे टिड्ढाणम्० (१२५१) सूत्र पर इस व्याख्या में देखें।

३. पुंस्येऽन्तुः प्रङ्घिः कूप उदपानं च पुंसि वा इत्यमरः।

अभ्यास [१]

- (१) तद्धित-नामकरण का क्या कारण है ? इसे बहुवचन से क्यों निर्दिष्ट किया गया है । क्या संस्कृतेतर अन्य भाषाओं में भी ये उपलब्ध होते हैं ? सोदाहरण विवेचन करें ।
- (२) किन तद्धितप्रत्ययों के परे रहते आदि अच् को वृद्धि हो जाती है ?
- (३) सूत्रनिर्देशपूर्वक निम्नस्थ रूपों की सिद्धि करें—
१. औत्सः । २. आदित्यः । ३. गाणपतन् । ४. गव्यम् । ५. बाहीकः ।
६. बाह्यः । ७. प्राजापत्यः । ८. ग्रैष्मम् ।
- (४) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्तरूप सिद्ध करें—
१. जनपदादागतः । २. दितेरपत्यम् । ३. महानसे भवः । ४. अश्वपतेर-
पत्यादि । ५. देवस्यापत्यादि । ६. आदित्यस्यापत्यम् ।
- (५) निम्नस्थ सूत्रों वा वार्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. हलो यमां यमि लोपः । २. समर्थानां प्रथमाद्वा । ३. दित्यदित्यादित्य-
पत्युत्तरपदाण्यः । ४. प्राग्दीव्यतोऽण् । ५. गोरजादिप्रसङ्गे यत् ।
६. बहिषष्टिलोपो यञ् च । ७. अश्वपत्यादिभ्यश्च । ८. किति च ।
- (६) समुचित टिप्पण करें—
[क] अण् और अञ् प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाला अन्तर ।
[ख] प्राग्दीव्यतीय अर्थ ।
[ग] सुबन्त से ही तद्धितोत्पत्ति ।
[घ] समर्थानां प्रथमाद्वा तथा समर्थः पदविधिः के सामर्थ्यों में भेद ।
[ङ] तद्धितप्रत्ययों की विकल्पता ।
[च] 'गाणपत्यो मन्त्रः' का असाधुत्व ।
[छ] तद्धितों के परे रहते भसंज्ञा तथा पदसंज्ञा ।
- (७) निम्नस्थ तद्धितान्तों के स्त्रीलिङ्ग रूप लिखें—
१. बाहीक । २. बाह्य । ३. दैव । ४. औत्स । ५. दैव्य । ६. आश्वपत ।
- (८) 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' से सिद्ध होने पर भी बहिषष्टिलोपो यञ् च वार्तिकद्वारा टिलोप का पुनर्विधान क्यों किया गया है ?
- (९) अधोलिखित प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—
[क] गोरूप्यम् में गोरजादि० द्वारा यत् क्यों नहीं होता ?
[ख] तद्धितों के अलौकिकविग्रह में सुंप् का लुक् कैसे हो जाता है ?
[ग] तादात्म्यम् और अन्नम् में यमोयमिलोप क्यों नहीं होता ?

[लघु०] इत्यपत्यादिविकारान्तार्थाः साधारणप्रत्ययाः ॥

[अपत्यार्थ से लेकर विकारार्थ तक अर्थात् प्राग्दीव्यतीय अर्थों के साधारण प्रत्ययों का विवेचन यहां समाप्त होता है ।]

अथाऽपत्याधिकारः

अब तद्धितप्रकरण के अन्तर्गत अष्टाध्यायीक्रमानुसार सर्वप्रथम अपत्यप्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(१००३)

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्मञौ भवनात् । ४। १। ८७।।

धान्यानां भवने० (११६४) इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमाद् नञ्-स्नञौ स्तः । स्त्रैणः । पौंसः ॥

अर्थः—धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (११६४) इस सूत्र से पूर्व के अर्थों में स्त्री और पुंस् प्रातिपदिकों से तद्धितसंज्ञक क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्यय हों ।

व्याख्या—स्त्रीपुंसाभ्याम् । ५। २। नञ्-स्नञौ । १। २। भवनात् । ५। १। प्राग् इत्यव्ययपदम् (प्राग्दीव्यतोऽण् से) । प्रत्ययः, परश्च, इषाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । स्त्री च पुमान् च स्त्रीपुंसौ, ताभ्याम् = स्त्रीपुंसाभ्याम् । इतरेतरद्वन्द्वः । अक्षतुर-बिच्चतुर-स्त्रीपुंस० (५.४.७७) इति अच् समासान्तः । यह अधिकारसूत्र है । इस की अवधि के लिये 'भवनात्' कहा गया है । धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (११६४) यह सूत्र आगे प्राग्दीव्यतीयों के भी बाद आता है । उस के भवनशब्द को यहां 'भवनात्' कह कर अवधित्वेन ग्रहण किया गया है ।^१ अर्थः—(भवनात् प्राक्) यहां से ले कर धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् सूत्र से पहले के अर्थों में (स्त्रीपुंसाभ्याम्) स्त्री और पुंस् प्रातिपदिकों से परे (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक (नञ्स्नञौ) नञ् और स्नञ् प्रत्यय हो जाते हैं । यथासंख्यमनुवेशः समानाम् (२३) परिभाषा के अनुसार क्रमशः अर्थात् स्त्रीप्रातिपदिक से नञ् एवं पुंस्प्रातिपदिक से स्नञ् प्रत्यय होगा । नञ् और स्नञ् प्रत्ययों का अन्त्य ञ्कार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'न' और 'स्न' मात्र अवशिष्ट रहते हैं । ञ्कार अनुबन्ध आदि-वृद्धि आदि के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

स्त्रिया अपत्यम्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः, स्त्रीभ्य आगतः, स्त्रीभ्यो हितः, स्त्रीणाम् अयम् वा—स्त्रैणः (स्त्री की सन्तान, स्त्रियों में होने वाला, स्त्रियों का समूह, स्त्रियों से आया हुआ, स्त्रियों के लिये हितकारी, स्त्रीसम्बन्धी इत्यादि) । यहां पर तत्तदर्थों में तत्तत्सुबन्त स्त्रीशब्द से स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् (१००३) इस प्रकृत अधिकारसूत्र के कारण तस्यापत्यम् (१००४) आदि तत्तत्सूत्रों द्वारा नञ्

१. इस प्रकार इस अधिकार की व्याप्ति सब प्राग्दीव्यतीय अर्थों तथा उस से आगे के दो पादों (चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद तथा पञ्चमाध्याय के प्रथमपाद) के अर्थों में भी समझनी चाहिये ।

प्रत्यय, अकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा के कारण सुंब्लुक, प्रत्यय के वित्त्व के कारण तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से अङ्ग के आदि अच् ईकार को ऐकार वृद्धि तथा अटकुप्वाङ्मुम्ब्यबायेऽपि (१३८) से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'स्त्रैणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^१

पुंसोऽपत्यम्, पुंसु भवः, पुंसां समूहः, पुंभ्य आगतः, पुंभ्यो हितः, पुंसामयं वा पौंसः (पुरुष की सन्तान, पुरुषों में होने वाला, पुरुषों का समूह, पुरुषों से आया हुआ, पुरुषों के लिये हितकारी, पुरुषों का यह इत्यादि)। यहां भी पूर्ववत् तत्तदर्थी में तत्तत्सुंबन्त पुंसप्रातिपदिक^१ से स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञ्चौ भवनात् (१००३) इस अधिकार-सूत्र के कारण तस्याऽपत्यम् (१००४) आदि तत्तत्सूत्रों से स्नञ्प्रत्यय, अकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण सुंब्लुक तथा तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से आदि अच् उकार को औकार वृद्धि करने से 'पौंस् + स्न' इस स्थिति में स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) सूत्रद्वारा पदसंज्ञा के कारण संयोगान्तस्य लोपः (२०) से पौंस् के संयोगान्त सकार का लोप, निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः परिभाषा के अनुसार अनुस्वार को मकार तथा नश्चापदान्तस्य झलि (७८) से मकार को पुनः अनुस्वार हो कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से पुलिङ्ग में 'पौंसः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

स्त्रैण और पौंस शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में नञ्स्नञ्चौकक्ष्युंस्तरुण-तलुनानामुपसंख्यानम् (वा० १०१) वार्तिक से डीप् प्रत्यय हो कर भसञ्जक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'स्त्रैणी, पौंस्नी' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।^३

१. स्त्रैणशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

पूषा वसिष्ठः कुशिकात्मजोऽयं त्रयस्त एते गुरवो रघूणाम् ।

महामुनेरस्य गिरा कृतोऽपि स्त्रैणो बधो मां न सुखाकरोति ॥

(अनर्घराघव २.६७)

स्त्रैणः स्त्रीसम्बन्धी बध इत्यर्थः ।

२. पूम् पवने (ऋधा० उभय०) धातु से पूञो डुम्सुंन् (उणादि० ६१८) सूत्रद्वारा डुम्सुंन् प्रत्यय करने पर डित्त्व के कारण टि का लोप कर 'प् + उम्स् = पुम्स्' इस अवस्था में नश्चाऽपदान्तस्य झलि (७८) से अपदान्त मकार को अनुस्वार हो कर 'पुंस्' शब्द निष्पन्न होता है। इस की विस्तृत निष्पत्ति पुंसोऽङ् (३५४) सूत्र पर इस व्याख्या में दर्शा चुके हैं उसे यहां पुनः बुद्धिस्थ कर लेना चाहिये।

३. साहित्यगत प्रयोग यथा—

संगच्छ पौंसि ! स्त्रैणं मां युवानं तरुणी शुभे ।

राघवः प्रोष्य पापीयान् जहीहि तमकिञ्चनम् ॥ (भट्टि० ५.६१)

पुंसे हिता पौंस्नी, तस्याः सम्बुद्धौ 'पौंसि' इति ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि स्त्री पुंवच्च (१.२.६६), स्त्रियाः पुंवच् भाषितपुंस्कादनु० (६६६) इत्यादि सूत्रों के निर्देश से नञ् और स्नञ् प्रत्ययों की प्रवृत्ति वर्तिप्रत्यय के विषय में नहीं होती। अतः 'स्त्रिया तुल्यमिति स्त्रीवत् प्रवर्तते, पंसा तुल्यमिति पुंवत् प्रवर्तते' इन स्थानों पर तेन तुल्यं क्रिया चेद्वृत्तिः (११५१) द्वारा वर्तिप्रत्यय ही होता है नञ् और स्नञ् नहीं।

'स्त्रैणम्' के साथ 'स्त्रीत्वम्, स्त्रीता' प्रयोगों के तथा 'पौंस्त्वम्' के साथ 'पुंस्त्वम् पंस्ता' प्रयोगों के समावेश के लिये सूत्रकार ने आ च त्वात् (११५४) सूत्र में 'च' का ग्रहण किया है। यह सब आगे उसी सूत्र पर मूल में ही स्पष्ट किया गया है।

अब तद्धितों के अर्थनिर्देश के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम अपत्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००४) तस्याऽपत्यम् ।४।१।६२॥

षष्ठ्यन्तात् कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः ॥

अर्थः—जिस में सन्धिकार्य किया जा चुका हो ऐसे षष्ठ्यन्त समर्थ पद से अपत्य (सन्तान) अर्थ में पूर्वोक्त और आगे कहे जाने वाले प्रत्यय हों।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (यहां षष्ठ्यन्त तद्शब्द से पञ्चमी विभक्ति का लुक् समझना चाहिये)। 'तस्य' शब्द 'उपगोरपत्यम्' आदि में षष्ठ्यन्त पदों का उपलक्षण या अनुकरण है। समर्थात् ।५।१। (समर्थानां प्रथमाद्वा सूत्र से)। समर्थात् ।५।१। (तद्धितोत्पत्ति सुबन्त से ही होती है अतः तद्धितविधान के पदविधि होने के कारण समर्थः पदविधिः परिभाषा से 'समर्थात्' पद उपलब्ध हो जाता है)। अपत्यम् ।७।१। (यह भी उपगोरपत्यम् आदि विग्रहवाक्यों के 'अपत्यम्' आदि का उपलक्षण या अनुकरण है। इस से परे सप्तमीविभक्ति का लुक् समझना चाहिये)। प्रत्ययः, परश्च, इचाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(समर्थात्) जिस में सन्धिकार्य किया जा चुका हो ऐसे (समर्थात्) एकार्थीभाव-सामर्थ्ययुक्त (तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से (अपत्यम् इत्यर्थे) सन्तान अर्थ में (तद्धिताः) तद्धितसंज्ञक प्रत्यय (वा) विकल्प से होते हैं।

इस सूत्र में केवल अर्थ का ही निर्देश है। प्रत्यय तो पीछे या आगे कहे जाने वाले तत्तत्सूत्रों से ही होगा। प्रत्ययविधायकसूत्रों की अर्थविधायकसूत्रों के साथ एक-वाक्यता हो जाती है। उदाहरण यथा—

१. समर्थानां प्रथमाद्वा (६६७) सूत्रद्वारा 'प्रथमात्' का अधिकार किया गया है। तस्याऽपत्यम् (१००४) आदि लक्षणसूत्रों में प्रथम निर्दिष्ट (पहले कहे हुए) 'तस्य' आदि के बोध्य से ही प्रत्ययविधान अभीष्ट है, 'अपत्यम्' आदि से नहीं। जब 'तस्य' से प्रत्ययविधान होगा तो उस से लुप्तपञ्चमी की कल्पना सुतरां करनी ही पड़ेगी। इस प्रकार 'प्रथमात्' का अधिकार भी संगृहीत हो जाता है।

उपगोरपत्यम् औपगवः (उपगु नामक व्यक्ति की सन्तान) । यहां अलौकिक-विग्रह में 'उपगु इस्' यह कृतसन्धिकार्य^१षष्ठ्यन्त समर्थ अर्थात् एकार्थीभावसामर्थ्य से युक्त पद है । इस से तस्याऽपत्यम् (१००४) इस प्रकृतसूत्र के अपत्यार्थ में विकल्प से तद्धितसंज्ञक प्रत्यय करना है । यहां प्राग्बीष्यतोऽण् (४.१.८३) इस अधिकारसूत्र के कारण तद्धित अण् प्रत्यय प्राप्त होता है । अण् प्रत्यय करने पर णकार की इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप हो जाता है—उपगु इस् + अ । पुनः तद्धितान्त होने से समग्र समुदाय की कृतद्वितसमासाश्च (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुंपो धातु-प्रातिपदिकयोः (७२१) द्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (इस्) का लुक् कर देने से—उपगु + अ । अण् के णित्व के कारण तद्धितेष्वचामादेः (६३८) सूत्र से अङ्ग (उपगु) के आदि अच् उकार को ओकार वृद्धि हो कर 'औपगु + अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है— [लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००५) ओर्गुष्ः । ६।४।१४६।।

उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते । उपगोरपत्यम् औपगवः । आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौस्नः ॥

अर्थः—तद्धित प्रत्यय परे होने पर उवर्णान्त भसंज्ञक (अङ्ग) के स्थान पर गुण आदेश हो ।

व्याख्या—ओः । ६।१। गुणः । १।१। भस्य । ६।१। अङ्गस्य । ६।१। (दोनों अधिकृत हैं) । तद्धिते । ७।१। (नस्तद्धिते सूत्र से) । 'ओः' यह 'उ' शब्द की षष्ठी का एकवचन है और 'भस्य अङ्गस्य' का विशेषण है । अतः येन विधिस्तद्धितस्य (१.१.७१) द्वारा विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उवर्णान्तस्य भस्याङ्गस्य' बन जायेगा । अर्थः—(ओः = उवर्णान्तस्य) उवर्णान्त (भस्य) भसंज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे हो तो । यह गुण अन्तोऽन्त्यस्य (२१) परिभाषाद्वारा भसंज्ञक अङ्ग के अन्त्य अल् = उवर्ण के स्थान पर ही होता है ।

'औपगु + अ' यहां यच्चि भम् (१६५) द्वारा उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग है—औपगु । इस से परे 'अ' यह तद्धितप्रत्यय विद्यमान है ही, अतः प्रकृत ओर्गुष्ः (१००५) सूत्र से इस अङ्ग के अन्त्य अल् उकार को गुण ओकार हो कर एचोऽयबायावः (२२) से उसे अच् आदेश करने पर 'औपगव' बना ।^२ तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण

१. ध्यान रहे कि कृतसन्धिकार्य केवल प्रातिपदिक ही होना चाहिये न कि सुब्विशिष्ट शब्द । अत एव शब्दकौस्तुभ में स्पष्ट लिखा है—

परिनिष्ठितत्वं च ङ्घाप्रतिपदिकांश एव न तु सुब्विशिष्ट इत्यवधेयम् ।

२. यहां तद्धितप्रकरण में प्रक्रियासम्बन्धी एक बात विशेष ध्यातव्य है कि अचो ङिति (१८२) से होने वाली अजन्तवृद्धि तथा अत उपधायाः (४५५) से की जाने वाली उपधावृद्धि इन दोनों की अपेक्षा तद्धितेष्वचामादेः (६३८) द्वारा की जाने वाली आदिवृद्धि अधिक बलवान् है । अतः जब आदिवृद्धि का विषय हो अथवा उस की प्रवृत्ति हो चुकी हो तो वहां अचो ङिति (१८२) या अत उपधायाः

अब इस से विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में पुलिङ्ग के प्रथमैकवचन की विवक्षा में सुं प्रत्यय ला कर सकार को हँव तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'औपगवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। औपगवः, औपगवौ, औपगवाः इत्यादिप्रकारेण रामशब्दवत् रूपमाला चलेगी। स्त्रीत्व की विवक्षा में जातेरस्त्रीविषयाद्योपघात् (१२६६) सूत्र से डीष् प्रत्यय करने पर औपगवी ।' नदीवत् रूपमाला चलेगी ।

अश्वपतेरपत्यम् आश्वपतः । दितेरपत्यं दैत्यः । उत्सस्यापत्यम् औत्सः । स्त्रिया अपत्यं स्त्रैणः । पुंसोऽपत्यम् पौस्नः । इन सब की सिद्धि पीछे दर्शाई जा चुकी है ।

अब अपत्याधिकार में अत्युपयोगिनी गोत्रसंज्ञा का विधान दर्शित है—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१००६)

अपर्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् । ४।१।१६२।।

अपत्यत्वेन त्रिवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—जब पौत्र आदि को अपत्य अर्थात् सन्तान कहना अभीष्ट हो तो उस की गोत्रसंज्ञा हो ।

व्याख्या—अपत्यम् । १।१। पौत्रप्रभृति । १।१। गोत्रम् । १।१। अपत्यम् इत्यनुवर्तमाने पुनरपत्यग्रहणं पौत्रादीनामपत्यविवक्षायामेव गोत्रत्वबोधनार्थम् । यदि पौत्रादीनां

(४५५) सूत्रों की प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं होती। यथा—'उपगु + अण्' में अण् के णित्त्व के कारण अजन्तवृद्धि नहीं होती। इसीप्रकार ओर्गुणः (१००५) द्वारा गुण कर अच् आदेश करने के बाद 'औपगव् + अ' इस स्थिति में अत उपघायाः (४५५) से प्राप्त उपघावृद्धि भी नहीं होती। ऐसा मानने में ज्ञापक है अनुशतिकादिगण में उभयपदवृद्धि के लिये किया गया पुष्करसद् शब्द का पाठ। पुष्करसद् शब्द से बाह्यादिस्यश्च (१०१५) सूत्रद्वारा इव् प्रत्यय करने पर 'पौष्करसादिः' बनता है। यहां आदिवृद्धि एवम् उपघावृद्धि से जब काम चल सकता है तो पुनः उभयपदवृद्धिद्वारा इसे सिद्ध करने के लिये अनुशतिकादियों में पढ़ने की क्या आवश्यकता? इस से यही ज्ञापित होता है कि आदिवृद्धि के विषय में उपघावृद्धि तथा अजन्तवृद्धि प्रवृत्त नहीं होती। इस से त्वष्टुरिदम्—त्वष्टृ + अण् = त्वाष्टृ + अ = त्वाष्ट्रम्; जगत इदम्—जगत् + अण् = जागत् + अ = जागतम् आदियों में आदिवृद्धि के विषय में क्रमशः अजन्तवृद्धि तथा उपघावृद्धि की प्रवृत्ति नहीं होती। विस्तार के लिये काशिका में तद्धितेष्वच्चाभादेः सूत्र पर न्यास-पदमञ्जरी का अथवा सिद्धान्तकौमुदी के तस्याऽपत्यम् सूत्र पर तत्त्वबोधिनी तथा बालमनोरमा आदि टीकाग्रन्थों का अवलोकन करें।

३. औपगवशब्द, गोत्रप्रत्ययान्त होने से जातिवाचक है अतः टिड्ढाणञ्० (१२५१) द्वारा प्राप्त डीष् का बाध कर जातिलक्षण डीष् हो जाता है। विस्तार के लिये (१२६६) सूत्र की व्याख्या का अवलोकन करें।

पौत्रत्वादिना एव विवक्षा तदा न भवति गोत्रसंज्ञेति बोध्यम् । समासः—पौत्रः प्रभृतिर् (आदिर्) यस्य तत् पौत्रप्रभृति, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(अपत्यम्) अपत्यरूप से विवक्षित (पौत्रप्रभृति) पौत्र, प्रपौत्र आदि (गोत्रम्) गोत्रसंज्ञक होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि यदि पौत्र, प्रपौत्र आदि पीढ़ियों को भी अपत्यरूपेण (सन्तान-रूपेण) कहना अभीष्ट हो तो उन की गोत्रसंज्ञा हो जाती है ।

अब गोत्रसंज्ञा का फल दशति है—

[लघु०] नियमसूत्रम्—(१००७) एको गोत्रे ।४।१।६३॥

गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यम् औपगवः ॥

अर्थः—गोत्र में एक ही अपत्यप्रत्यय हो ।

व्याख्या—एकः ।१।१। गोत्रे ।७।१। अपत्यप्रत्ययः ।१।१। (अपत्याधिकार एवंप्रत्ययाधिकार के कारण उपलब्ध हो जाता है) । 'एकः' शब्द के कथन से अन्य संख्याओं का व्यवच्छेद हो कर 'एक एव' यह नियम उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(गोत्रे) गोत्र की वाच्यता में (एक एव) एक ही (अपत्यप्रत्ययः) अपत्यप्रत्यय होता है ।

तात्पर्य यह है कि उपगोत्रापत्यम् औपगवः, तस्य औपगवस्यापि अपत्यम् औपगवः, तस्याप्यपत्यम् औपगवः, एवमज्ञेऽपि । इस प्रकार एक ही अपत्यप्रत्यय (अण्) से, जो मूलपुरुष से किया जाता है सब पीढ़ियों का बोध होता है, चाहे तीसरी चौथी पाञ्चवीं या सौवी पीढ़ी भी क्यों न हो । प्रतिपीढ़ी नया अपत्यप्रत्यय नहीं होता । उपगु की सन्तान 'औपगव' कहायेगी तो उस औपगव की सन्तान भी 'औपगव' ही होगी । इस प्रकार पोता, परपोता आदि सब पीढ़ियों का बोध एक ही अपत्यप्रत्यय से हो कर 'औपगव' ही कहायेगा ।

उपगोर्गोत्रापत्यम् यह विग्रह पौत्रप्रभृति गोत्रापत्य में हुआ करता है । गोत्रसंज्ञा पौत्र से शुरु हो कर आगे की सब पीढ़ियों में चली जाती है । पुत्र अर्थात् दूसरी पीढ़ी की गोत्रसंज्ञा नहीं होती ।

अब गोत्रापत्य में प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००८) गर्गादिभ्यो यञ् ।४।१।१०५॥

गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः ॥

अर्थः—गर्गआदिगणपठित शब्दों से गोत्रापत्य में तद्धितसंज्ञक यञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गर्गादिभ्यः ।५।३। यञ् ।१।१। गोत्रे ।७।१। (गोत्रे कुञ्जादिभ्य-श्कञ् सूत्र से) । अपत्ये ।७।१। (तस्याऽपत्यम् सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा इत्यादि सब पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—गर्गशब्द आदिर्येषाम्ने गर्गादयः, तेभ्यः = गर्गादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(गर्गादिभ्यः) गर्ग आदिगण में पठित प्रातिपदिकों से (गोत्रेऽपत्ये) गोत्रापत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यञ्) यञ् प्रत्यय होता है । यञ् का अकार इत् है, 'य' मात्र शेष रहता है ।

गर्गादि एक गण है ।^१ गोत्रापत्य पौत्र से आरम्भ हो कर अगली असंख्य पीढ़ियों तक चला जाता है । उदाहरण यथा—

गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः (गर्ग का गोत्रापत्य अर्थात् पौत्र आदि सन्तान) । यहाँ 'गर्ग इस्' इस संबन्ध से गोत्रापत्य अर्थ में प्रकृत गर्गादिभ्यो यञ् (१००८) सूत्र से तद्धितसंज्ञक यञ् प्रत्यय, अकार का लोप, तद्धितान्त समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा (११७), प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (इस्) का लुक् (७२१), प्रत्यय के निर्वृत्त के कारण तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से आदि अच् को वृद्धि एवं यस्येति च (२३६) सूत्र से तद्धित के परे रहते भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर—गार्ग्यं + अ = 'गार्ग्यं' प्रातिपदिक निष्पन्न हुआ । अब विशेष्यानुसार पुंलिङ्ग के प्रथमैकवचन में 'सुं' विभक्ति ला कर सकार को हँ आदेश (१०५) तथा अवसान में रेफ को विसर्ग आदेश (६३) करने से 'गार्ग्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—वत्सस्य गोत्रापत्यं वात्स्यः (वत्सनामक व्यक्ति का गोत्रापत्य अर्थात् पौत्र आदि सन्तान) । यहाँ 'वत्स इस्' से गोत्रापत्य अर्थ में यञ्, सुंभ्लुक्, आदि-वृद्धि तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'वात्स्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । वत्सशब्द भी गर्गादियों में पढ़ा गया है ।

गर्गादियों से गोत्रापत्य में यञ् के कुछ अन्य उदाहरण—

- (१) पुलस्तेर्गोत्रापत्यं पौलस्त्यः ।
- (२) धूमस्य गोत्रापत्यं धौम्यः ।
- (३) शकलस्य गोत्रापत्यं शाकल्यः ।

१. गर्गादिगण यथा—

गर्ग । वत्स । बाजाऽस्ते (गणसूत्रम् । असे = असमासे) । सङ्कृति । अज । व्याघ्र-पाद् । विदभृत् । प्राचीनयोग । अगस्ति । पुलस्ति । रेभ । अग्निवेश । शङ्ख । शठ (शट) । एक । धूम । अवट । चमस । धनञ्जय । मनस । वृक्ष । विशवावसु । जनमान (जरमाण) । लोहित । संशित । बभ्रु । वल्गु । मण्डु । गण्डु । मक्षु (मङ्क्षु) । अलिगु । शङ्कु । लिगु । गुलु (गुहलु) । मन्तु । जिगीषु । मनु । तन्तु । मनायी । भृत् । कथक । कष । तण्ड । वतण्ड । कपि । कत । कुरुकत । अनडुह् । कण्व । शकल । गोकक्ष । अगस्त्य । कुण्डिन । यज्ञवल्क । उभय । जात (उभयजात) । विरोहित । वृषगण । रहूगण । शण्डिल । वण (पणक) । कुचुलुक । मुद्गल । मुसल । पराशर । जतूकर्ण । महित । मन्त्रित । संहित । अश्मरथ । शर्कराक्ष । पूतिमाष । स्थूण (स्थूरा) । अररक । पिङ्गल । कृष्ण । गोलुन्द । उलूक । तितिक्ष । भिषज् । मडित । मण्डित । दल्भ । चिकित । देवहू । चिकित्सित । इन्द्रहू । एकलू । पिप्पलू । बृहदग्नि । जमदग्नि । सुलाभिन् । उक्तथ (उक्थ) । कुटीगु । रुक्ष । तरुक्ष । तलुक्ष । प्रचूल । विलम्ब । विष्णुज । पथ । कन्थु । श्रुव । सूनु (सून) । कर्कटक (पर्णवल्क) ॥

- (४) अगस्तेर्गोत्रापत्यम् आगस्त्यः ।
 (५) शाण्डिलस्य गोत्रापत्यं शाण्डिल्यः ।
 (६) मुद्गलस्य गोत्रापत्यं मौद्गल्यः ।
 (७) यज्ञवल्कस्य गोत्रापत्यं याज्ञवल्क्यः ।
 (८) जिगीषोर्गोत्रापत्यं जैगीषव्यः [ओर्गुणः, बान्तो यि प्रत्यये] ।
 (९) मण्डोर्गोत्रापत्यं माण्डव्यः [ओर्गुणः, बान्तो यि प्रत्यये] ।

प्रकृतसूत्र गोत्रापत्य में ही प्रत्यय का विधान करता है, अनन्तरापत्य अर्थात् पुत्र अर्थ में नहीं। गर्गस्य अपत्यं गार्गिः (गर्ग का पुत्र), यहां अत इञ् (१०१४) इस वक्ष्यमाणसूत्र से इञ् प्रत्यय ही होगा, यञ् नहीं।^१

अब बहुवचन में गोत्रापत्य अर्थ में हुए यञ्प्रत्यय का वैशिष्ट्य प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००९) यञ्जोश्च ।२।४।६४॥

गोत्रे यद् यञन्तम् अञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात्, तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः ॥

अर्थः—गोत्र अर्थ में जो यञन्त और अञन्त शब्द, उन के अवयव यञ् और अञ् प्रत्ययों का लुक् हो जाता है यदि उन प्रत्ययों के अर्थ का बहुत्व बताना अभीष्ट हो। परन्तु स्त्रीलिङ्ग में यह लुक् प्रवृत्त नहीं होता।

व्याख्या—यञ्जोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम् । लुक् ।१।१। (ष्यभस्त्रियाष्विज्ञितो यूनि लुगणिजोः सूत्र से) । गोत्रे ।७।१। (यस्कादिभ्यो गोत्रे सूत्र से) । बहुषु ।७।३। तेन ।३।१। एव इत्यव्ययपदम् । अस्त्रियाम् ।७।१। (तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम् सूत्र से) समासः—यञ् च अञ् च यञ्जो, तयोः = यञ्जोः । इतरैतरद्वन्द्वसमासः । अर्थः—(गोत्रे) गोत्र अर्थ में (यञ्जोः) जो यञ् और अञ् प्रत्यय उन का (लुक्) लुक् हो जाता है (तेन एव बहुषु) उस गोत्रप्रत्ययद्वारा ही बहुत्व कहने में। परन्तु यह लुक् (अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता।^२

तात्पर्य यह है कि बहुवचन में गोत्रापत्य अर्थ में हुए यञ् और अञ् प्रत्ययों का

१. रामो जामदग्न्यः (जमदग्नि का पुत्र राम = परशुराम), व्यासः पाराशर्यः (पराशर का पुत्र व्यास)—इन दोनों स्थानों पर अनन्तरापत्य में भी यञ् का प्रयोग देखा जाता है। शायद जमदग्नि तथा पराशर की वृद्धावस्था में सन्तति होने से उसे पौत्रतुल्य मान कर गोत्रप्रत्यय यञ् किया जाने लगा हो।
२. लघुकौमुदी की वृत्ति में प्रत्ययग्रहणपरिभाषाद्वारा प्रत्ययों से तदन्तविधि कर उन के अवयव यञ् और अञ् का लुक् कहा गया है। प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः (१८९) से समस्त प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक्सञ्ज्ञा की गई है अतः यहां अलोऽन्त्य-परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

लुक् ही जाता है। परन्तु यह लुक् तभी होता है जब वह बहुवचन गोत्रापत्य के बहुत्व को ही बताता हो। किञ्च स्त्रीलिङ्ग में यह लुक् प्रवृत्त नहीं होता। उदाहरण यथा—

गर्गस्य गोत्रापत्यानि गर्गाः (गर्ग के बहुत गोत्रापत्य)। 'गार्ग्य' में गोत्रापत्य अर्थ में गर्गादिभ्यो यञ् (१००८) से यञ् किया गया है। इस यञन्त शब्द से प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में जस् प्रत्यय लाने पर प्रकृत यञ्जोश्च (१००९) सूत्र से यञ् प्रत्यय का लुक् होकर निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः इस न्याय के अनुसार उस के आदिवृद्धि आदि कार्यों के भी निवृत्त हो जाने से शुद्ध गर्गशब्द रह जाता है—गर्ग + जस्। अब रामशब्दवत् प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ कर सकार को स्तंत्व-विसर्ग करने से 'गर्गाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार अन्य बहुवचन-विभक्तियों में भी जानना चाहिये।

गार्ग्य (गर्ग का गोत्रापत्य) शब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	गार्ग्यः	गार्ग्यौ	गर्गाः†
द्वितीया	गार्ग्यम्	”	गर्गानां
तृतीया	गार्ग्येण	गार्ग्याभ्याम्	गर्गाः†
चतुर्थी	गार्ग्याय	”	गर्ग्यभ्यः†
पञ्चमी	गार्ग्यात्	”	गर्ग्यभ्यः†
षष्ठी	गार्ग्यस्य	गार्ग्ययोः	गर्गिणाम्†
सप्तमी	गार्ग्ये	”	गर्गेषु†
सम्बोधन	हे गार्ग्य!	हे गार्ग्यौ!	हे गर्गाः!†

†इन सब स्थानों पर यञ्जोश्च (१००९) सूत्रद्वारा यञ् का लुक् हुआ है।

इसीप्रकार—वत्सस्य गोत्रापत्यानि वत्साः। वत्सशब्द से भी गोत्रापत्य अर्थ में गर्गादिभ्यो यञ् (१००८) द्वारा यञ् प्रत्यय करने से 'वात्स्य' शब्द निष्पन्न होता है। इस से भी बहुवचन में यञ् का यञ्जोश्च (१००९) से लुक् हो कर 'वत्साः' प्रयोग सिद्ध होता है। वात्स्यः, वात्स्यौ, वत्साः इत्यादि।

यहां यञ् के उदाहरण दिये गये हैं। गोत्रापत्य में अञ् के उदाहरण आगे अनुष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् (१०१६) सूत्र पर 'बिदाः' आदि आयेंगे।

तेनैव बहुद्वे कथन का यह अभिप्राय है कि बहुवचन द्वारा गोत्रापत्य के बहुत्व को बताना आवश्यक है। यदि किसी अन्य का बहुत्व बताया जायेगा तो गोत्रापत्यप्रत्यय का लुक् न होगा। यथा—प्रियगार्ग्याः। यहां 'प्रियो गार्ग्यो येषां ते प्रियगार्ग्याः' इस प्रकार बहुव्रीहिसमास है। इस में बहुवचन तो अन्यपदार्थ के बहुत्व को बतलाने के लिये प्रयुक्त हुआ है, गार्ग्य तो एक ही है, अतः यञ् का लुक् न होगा।

स्त्रीलिङ्ग में यञ् का लुक् नहीं होता। यथा—गर्गी, गार्ग्यौ, गार्ग्यः। स्त्रीत्व की विवक्षा में गार्ग्यशब्द से यञ्जोश्च (१२५२) सूत्रद्वारा डीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप हो जाता है—गार्ग्य् + ई। अब हलस्तद्धितस्य

(१२५३)^१ से यकार का भी लोप कर देने से 'गार्गी' शब्द निष्पन्न होता है। इस की रूपमाला नदीशब्द की तरह होती है।

अब गोत्रसंज्ञा की अपवाद युवसंज्ञा का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१०१०)

जीवति तु वंश्ये युवा ।४।१।१६३ ॥

वंश्ये पित्रादौ जीवति (सति) पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद् युव-संज्ञमेव स्यात् ॥

अर्थः—वंश में होने वाले पिता, पितामह आदि के जीवित रहते जो पौत्र आदि का अपत्य चतुर्थ आदि पीढ़ी से स्थित हो वह 'युवन्' संज्ञक ही हो (गोत्रसंज्ञक नहीं)।

व्याख्या—जीवति—इति सप्तम्येकवचनान्तं शत्रन्तम् । तु इत्यव्ययपदम् । वंश्ये ।७।१। युवा ।१।१। पौत्रप्रभृतेः ।६।१। (अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । अपत्यम् ।१।१। (तस्यापत्यम् सूत्र से) । वंशे भवो वंश्यः, पितृपितामहादिः । अर्थः—(वंश्ये) वंश में होने वाले पिता, पितामह या प्रपितामह के (जीवति) जीवित रहते (पौत्रप्रभृतेः) पौत्र आदि की (अपत्यम्) सन्तान (युवा) 'युवन्' संज्ञक (तु) ही^२ होती है।

मूलपुरुष (पीढ़ीप्रवर्त्तक या प्रथम पीढ़ी) का पुत्र दूसरी पीढ़ी, पौत्र तीसरी पीढ़ी और प्रपौत्र चौथी पीढ़ी होता है। यदि पिता (तीसरी पीढ़ी), पितामह (दूसरी पीढ़ी) या प्रपितामह (पहली पीढ़ी) जीवित हों तो चौथी पीढ़ी से ले कर आगे की सब पीढ़ियों की 'युवन्' संज्ञा ही होती है, गोत्रसंज्ञा नहीं। यह गोत्रसंज्ञा का अपवाद है। अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (१००६) के अनुसार गोत्रसंज्ञा तीसरी पीढ़ी से आरम्भ होती है और उत्तरोत्तर सब पीढ़ियों में चली जाती है। युवसंज्ञा चतुर्थ पीढ़ी से आरम्भ हो कर अगली सब पीढ़ियों तक चली जाती है परन्तु इस के लिये आवश्यक है कि युवसंज्ञक के वंश में पिता, पितामह आदि पूर्वजों में कोई एक या अनेक जीवित हों। यदि पिता, पितामह आदि में कोई जीवित नहीं होगा तो गोत्रसंज्ञा ही रहेगी युवसंज्ञा नहीं।

अपत्यशब्द लोक में पुत्र अर्थ में प्रसिद्ध है परन्तु यहां शास्त्र में पुत्र, पौत्र आदि पीढ़ी के अर्थ में आता है।^३ इस शास्त्र में अपत्य तीन प्रकार से प्रयुक्त होता है—

१. हलस्तद्धितस्य (१२५३) । अर्थः—हलः परस्य तद्धितयकारस्य उपधाभूतस्य लोप ईकारे परे ।
२. तुरवधारणे । तेन एकसंज्ञाधिकारं विनापि युवसंज्ञैव न गोत्रसञ्ज्ञेति लभ्यते ।
३. न पतन्ति पितरो येन तद् अपत्यम्—अर्थात् जो पितृ-पितामह आदि को पतन से बचाता है वह 'अपत्य' होता है। अपतनाद् अपत्यम् इति भाष्ये (५.१.५६) ।

(१) अनन्तरापत्य

अनन्तरापत्य केवल पुत्र^१ अर्थात् दूसरी पीढ़ी को ही कहते हैं। इस का विग्रह केवल 'अपत्यम्' लगा कर ही किया जाता है। यथा—गर्गस्यापत्यं गर्गिः [अत इञ् (१०१४) इति इञ्], दक्षस्यापत्यं दाक्षिः [इञ्], उपगोरपत्यम् औपगवः [अण्] इत्यादि।

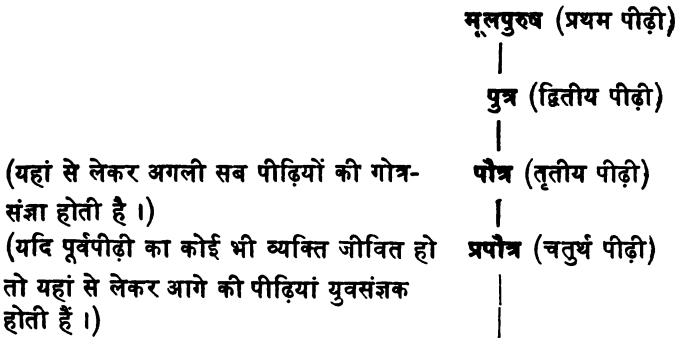
(२) गोत्रापत्य

गोत्रापत्य पुत्र के पुत्र अर्थात् तीसरी पीढ़ी से आरम्भ होता है और आगे की सब पीढ़ियों में चला जाता है। इस का विग्रह 'गोत्रापत्यम्' शब्द लगा कर ही किया जाता है। यथा—गर्गस्य गोत्रापत्यं गर्ग्यः [गर्गादिभ्यो यञ् (१००८)], उपगोर्गोत्रापत्यम् औपगवः (अण्), दक्षस्य गोत्रापत्यं दाक्षिः (इञ्)। इत्यादि।

(३) युवापत्य

यदि बाप-दादा आदि जीवित हों तो प्रपौत्र अर्थात् चतुर्थ पीढ़ी से लेकर आगे 'युवन्' संज्ञा हो जाती है, तब गोत्रसंज्ञा नहीं रहती। इस का विग्रह 'गर्गस्य गोत्रापत्यं युवा' या 'गर्गस्य युवापत्यम्' इस प्रकार किया जाता है। गार्ग्यायणः, दाक्षायणः इत्यादि इस के उदाहरण हैं। इन की सिद्धि आगे देखें।

विद्यार्थियों को निम्नस्थ वंशवृक्ष का सदा ध्यान रखना चाहिये—



इसी प्रकार आगे भी

अब युवसंज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] नियमसूत्रम्—(१०११) गोत्राद् यून्यस्त्रियाम् ।।४।।१६४।।

यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युवसंज्ञा ।।

अर्थः—युवापत्य विवक्षित होने पर गोत्रप्रत्ययान्त से ही प्रत्यय हो परन्तु स्त्रीलिङ्ग में युवसंज्ञा नहीं होती।

१. ध्यान रहे कि इस अपत्याधिकार में लिङ्ग और वचन अविवक्षित होते हैं अतः पुत्र से पुत्री एवम् एकवचन से द्विवचन और बहुवचन का भी ग्रहण होता है।

व्याख्या—गोत्रात् १५।१। यूनि १७।१। अस्त्रियाम् १७।१। प्रत्ययः ११।१। (यह अधिकृत है) । अर्थः—(गोत्रात् = गोत्रप्रत्ययान्तात्) गोत्रप्रत्ययान्त से ही (यूनि) युवापत्य अर्थ में (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है । (अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में युवसंज्ञा नहीं होती ।^१

यह नियमसूत्र है ।^२ यदि युवापत्य अर्थ में प्रत्यय करना हो तो वह गोत्रप्रत्ययान्त से ही हो, मूलप्रकृति से अनन्तरापत्य से या युवप्रत्ययान्त से न हो । उदाहरण यथा—

उपगोरपत्यं युवा औपगविः । यहां प्रथम 'उपगु इस्' से गोत्रापत्य अर्थ में तस्याऽपत्यम् (१००४) द्वारा औत्सर्गिक अण् प्रत्यय कर 'औपगव' शब्द बना लेना चाहिये । अब इस से युवापत्य अर्थ में अत इञ् (१०१४) सूत्र से इञ्प्रत्यय तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'औपगविः' प्रयोग सिद्ध करना चाहिये ।

नोट—तस्यापत्यम् (१००४) आदि सूत्रोंद्वारा तीनों प्रकार के अपत्यार्थों में सामान्यतः अण् आदि प्रत्यय होते हैं । विशेष विशेष सूत्रोंद्वारा अपत्यविशेष में भी प्रत्यय विधान किये गये हैं । यथा—गर्गादिभ्यो यञ् (१००८) से केवल गोत्रापत्य अर्थ में ही यञ् प्रत्यय होता है । इसी प्रकार कुछ सूत्रों से केवल युवापत्य में ही प्रत्यय होता है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा केवल युवापत्य में ही प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१२) यञिञोश्च १४।१।१०१ ॥^३

गोत्रे यौ यञिञौ, तदन्तात् फक् स्यात् ॥

अर्थः—गोत्र में जो यञ् या इञ् प्रत्यय, तदन्त से युवापत्य में तद्धितसञ्ज्ञक फक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गोत्रे १७।१। (गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्चफक् सूत्र से) । यञिञोः १६।२। च इत्यव्ययपदम् । फक् ११।१। (नडादिभ्यः फक् सूत्र से) । यञ् और इञ् प्रत्यय हैं अतः प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् परिभाषा के अनुसार तदन्तविधि हो जाती है । यहां षष्ठी

१. अत्र 'अस्त्रियाम्' इति योगं विभज्य 'यूनि' इत्यनुवर्त्य उभयत्र प्रथमया विपरिणामः क्रियते, तेन 'स्त्री युवा न' इति लभ्यते । स्त्रियां तु गोत्रत्वादेक एव प्रत्ययः—गार्गी ।
२. इस का नियमसूत्र होना व्याकरण के उच्चग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया है । यहां प्राथमिक जिज्ञासुओं के आगे वह सब प्रस्तुत करना अनावश्यक प्रतीत होता है । विशेषजिज्ञासु आकरग्रन्थों का अवलोकन करें ।
३. पूर्वपठित यञ्जोश्च (१००६) सूत्र और इस यञिञोश्च (१०१२) सूत्र के अन्तर को भलीभांति हृदयङ्गम कर लेना चाहिये । पूर्वपठित जहां यञ् और अञ् का लुक् करता है वहां यह यञन्त और इञन्त से फक् का विधान करता है ।

को पञ्चमी में परिणत कर लेना चाहिये । गोत्रप्रत्ययान्त से गोत्रप्रत्यय तो हो नहीं सकता, क्योंकि एको गोत्रे (१००७) के नियमानुसार गोत्र में दूसरा प्रत्यय वर्जित है । अतः सामर्थ्य से युवापत्य में ही यह प्रत्यय समझा जायेगा । अर्थः—(गोत्रे) गोत्र में हुए जो (यन्निभोः = यन्निभ्याम् = यन्निभन्ताभ्याम्) यञ् और इञ् प्रत्यय, तदन्तो से (यूनि) युवापत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (फक्) फक् प्रत्यय हो जाता है । फक् का ककार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'फ' मात्र शेष रहता है ।

'गर्गस्य गोत्रापत्यम्' इस विग्रह में 'गर्ग इस्' इस सुबन्त से प्रथम गर्गादिभ्यो यञ् (१००८) द्वारा गोत्रापत्य में यञ् प्रत्यय करने से 'गार्ग्यं' बना लेना चाहिये । तब गोत्राद् यून्यस्त्रियाम् (१०११) के नियमानुसार युवापत्य में प्रकृत यन्निभोश्च (१०१२) सूत्र से फक् प्रत्यय कर 'गार्ग्यं + फ' हुआ अब अन्निमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१३)

आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम् । ७।१।२॥

प्रत्ययादेः—फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् स्युः । गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः । दाक्षायणः ।।

अर्थः—प्रत्यय के आदि में स्थित—फ् को आयन्, ढ् को एय्, ख् को ईन्, छ् को ईय् तथा घ् को इय् आदेश हो जाये ।

व्याख्या—आयनेयीनीयियः । १।३। फ-ढ-ख-छ-घाम् । ६।३। प्रत्ययादीनाम् । ६।३। समासः—आयन् च एय् च ईन् च ईय् च इय् च आयनेयीनीयियः, इतरेतरद्वन्द्वः । फश्च ढश्च खश्च छश्च घ् च फढखछघः, तेषाम् = फ-ढ-ख-छ-घाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । फादिष्वकार उच्चारणार्थः, घकारस्तु शुद्ध एव पठितः । प्रत्ययस्य आदिः प्रत्ययादिः, तेषाम् = प्रत्ययादीनाम्, षष्ठीतत्पुरुषः । अर्थः—(प्रत्ययादीनाम्) प्रत्यय के आदि (फ-ढ-ख-छ-घाम्) फ्, ढ्, ख्, छ् और घ् वर्णों के स्थान पर (आयनेयीनीयियः) आयन्, एय्, ईन्, ईय् और इय् आदेश हो जाते हैं ।^१

१. इन के संक्षिप्त उदाहरण यथा—

फ् को आयन्—गार्ग्यायणः [यन्निभोश्च (१०१२) इति फक्] ।

ढ् को एय्—वैनतेयः, सोपर्णयः [स्त्रीभ्यो ढक् (१०२०)] ।

ख् को ईन्—ग्रामीणः [ग्रामाद् यत्नौ (१०७०) इति खञ्] ।

छ् को ईय्—शालीयः, मालीयः [वृद्धाच्छः (१०७७) इति छः] ।

घ् को इय्—क्षत्रियः [क्षत्राद् घः (१०२५) इति घः] ।

[इन सब उदाहरणों की सिद्धि तत्तत्सूत्रों पर देखें] ।

प्रकृतसूत्र में 'प्रत्यय' इसलिये कहा है कि धातुओं के आदि में फ् आदि वर्णों का आयन् आदि आदेश न हो जायें । यथा—फक्कति, ढीकते, खनति, छायति, घूर्णते इत्यादि । 'आदि' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि प्रत्यय के मध्य में ये आदेश नहीं होते । यथा—'ऊरुदघ्नम्' में दघ्नच् प्रत्यय के मध्यवर्ती घ् को इय् आदेश नहीं होता ।

यथासंख्यपरिभाषा के अनुसार ये आदेश क्रमशः होते हैं । यथा—फ् को आयन्, ढ् को एय्, ख् को ईन्, छ् को ईय् तथा घ् को इय् हो जाता है । आयन् आदि आदेशों के अन्त्य हल् की उच्चारणसामर्थ्य से हलन्त्यम् (१) सूत्र द्वारा इत्संज्ञा नहीं होती ।^१

‘गार्ग्यं + फ’ यहां आयनेयीनीयियः० (१०१३) इस प्रकृतसूत्र से प्रत्यय के आदि फ् को आयन् आदेश हो जाता है—गार्ग्यं + आयन् अ = गार्ग्यं + आयन । अब स्थानि-वद्भाव से या एकदेशविह्वलभनन्यबत् न्याय से ‘आयन’ इस समुदाय को तद्धित मान कर उस के परे रहते यस्येति च (२३६) द्वारा भसञ्जक अकार का लोप तथा अदकुप्वाङ्० (१३८) सूत्र से नकार को णकार आदेश कर विभक्ति लाने से ‘गार्ग्यायणः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

दक्षस्यापत्यं युवा दाक्षायणः (दक्ष का युवापत्य) । ‘दक्ष इस्’ से प्रथम गोत्रापत्य में अत इम् (१०१४) द्वारा इन् प्रत्यय, सुंञ्जुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्जक अकार का लोप करने पर ‘दाक्षि’ बन जाता है । अब गोत्राद् यून्यस्त्रियाम् (१०११) के नियमानुसार युवापत्य में यन्निब्रोश्च (१०१२) सूत्रद्वारा फक् प्रत्यय, प्रत्यय के आदि फ् को आयन् आदेश, भसञ्जक इकार का लोप तथा नकार को णकार करने पर ‘दाक्षायणः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

‘गार्ग्यायणः’ और ‘दाक्षायणः’ का अर्थ है—गर्गं या दक्ष की चतुर्थ आदि पीढ़ी वाली सन्तान । इसी को युवापत्य कहा जायेगा । ध्यान रहे कि यदि पिता, पितामह आदि पूर्वजों में से कोई एक या अनेक जीवित होंगे तो तभी ‘गार्ग्यायणः’ या ‘दाक्षायणः’ कहा जायेगा । यदि वे मर चुके होंगे तो केवल गोत्रसंज्ञा ही हो कर ‘गार्ग्यः’ एवं ‘दाक्षिः’ ही बनेगा ।

अब यहां विद्याधियों के अभ्यास के लिये कुछेक शब्दों के तीनों प्रकार के अपत्यरूप दर्शा रहे हैं—

शब्द	अनन्तरापत्य	गोत्रापत्य	युवापत्य
(१) उपगु	औपगवः (अण्)	औपगवः (अण्)	औपगविः (अण् + इञ्)
(२) गर्गं	गार्गिः (इञ्)	गार्ग्यः (यञ्)	गार्ग्यायणः (यञ् + फक्)
(३) दक्ष	दाक्षिः (इञ्)	दाक्षिः (इञ्)	दाक्षायणः (इञ् + फक्)
(४) अश्वपति	आश्वपतः (अण्)	आश्वपतः (अण्)	आश्वपतिः (अण् + इञ्)
(५) वात्स	वात्सिः (इञ्)	वात्स्यः (यञ्)	वात्स्यायनः (यञ् + फक्)
(६) बाहु	बाह्विः (इञ्)	बाह्विः (इञ्)	बाह्वायनः (इञ् + फक्)
(७) औडुलोमन्	औडुलोमिः (इञ्)	औडुलोमिः (इञ्)	औडुलोमायनः (इञ् + फक्)
(८) दाशरथ	दाशरथिः (इञ्)	दाशरथिः (इञ्)	दाशरथायनः (इञ् + फक्)
(९) शिव	शैवः (अण्)	शैवः (अण्)	शैविः (अण् + इञ्)
(१०) विनता	वैनतेयः (ढक्)	वैनतेयः (ढक्)	वैनतेयिः (ढक् + इञ्)

१. प्राचामबुद्धात् फिन् बहुलम् (४.१.१६०) सूत्र से अपत्यार्थ में फिन् प्रत्यय विधान

अब अपत्य अर्थ में इन्प्रत्ययविधायक प्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघू०] विधि-सूत्रम्—(१०१४) अत इञ् १४।१।६५॥

अपत्येऽर्थे । दाक्षिः ॥

अर्थः—कृतसन्धिकार्य अदन्तप्रातिपदिकप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ पद से अपत्य अर्थ में विकल्प कर के तद्धितसंज्ञक इञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अतः १५।१। इञ् ११। 'तस्यापत्यम्' पदों की तस्यापत्यम् सूत्र से अनुवृत्ति आती है । प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समर्थः पदविधिः (६०४) परिभाषा का भी यह विषय है । 'अतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है । 'तस्य' अर्थात् 'षष्ठ्यन्तात्' के साथ 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' का सम्बन्ध कैसे जोड़ें ? क्योंकि जो षष्ठ्यन्त है वह प्रातिपदिक नहीं और जो प्रातिपदिक है वह षष्ठ्यन्त नहीं । इस के लिये यहां 'अदन्तप्रातिपदिकप्रकृतिक-षष्ठ्यन्तात्' ऐसा अभिप्राय निकाला जाता है । इस से पदों का समन्वय ठीक हो जाता है । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये, इसे बार बार नहीं लिखेंगे । अर्थः—(समर्थात्) जिस में सन्धिकार्य हो चुका हो ऐसे (अतः = अदन्तात् प्रातिपदिकात्) अदन्तप्रातिपदिकप्रकृतिक (समर्थात्) एकार्थीभावसामर्थ्ययुक्त (तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त से परे (अपत्यम् इत्यर्थे) सन्तान अर्थ में (वा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक (इञ्) इञ् प्रत्यय हो । यह औत्सर्गिक अण् प्रत्यय का अपवाद है ।

कृतसन्धिकार्य आदि का अभिप्राय पीछे स्पष्ट कर चुके हैं । इस सूत्र का सरल अभिप्राय यह है कि अपत्य अर्थ में अदन्त प्रातिपदिक से विकल्प कर के इञ् प्रत्यय हो । यदि किसी अन्यसूत्र से विशेष प्रत्यय प्राप्त होगा तो वही होगा तब इञ् न होगा । यथा—उत्सादिभ्योऽञ् (१००२) सूत्रद्वारा उत्स आदियों से अञ् प्रत्यय कहा गया है तो यह इञ् का बाधक होगा । परन्तु बाधक के अभाव में अदन्त प्रातिपदिकों से सर्वत्र इञ् ही होगा । इञ् में अकार इत् है अतः इस के परे रहते तद्धितेष्वचामादेः (६३८) द्वारा आदिवृद्धि हो जाती है । उदाहरण यथा—

दक्षस्यापत्यं दाक्षिः (दक्ष की सन्तान) । 'दक्ष' यह अदन्त प्रातिपदिक है । अतः 'दक्ष ङ्स्' इस षष्ठ्यन्त सुबन्त से अपत्य अर्थ में प्रकृत अत इञ् (१०१४) सूत्र से इञ् प्रत्यय

किया गया है । फिन् के आदि फ् वर्ण को आयन् आदेश हो जाता है । फिन् का नकार इत् है और वह नित्कार्य स्वरविशेष के लिये जोड़ा गया है—ग्लुचुकस्यापत्यं ग्लौचुकायनिः । अब यहां विचार उपस्थित होता है कि यदि फ् के स्थान पर होने वाला आयन् नित् होता तो फिन् को नित् करने की आवश्यकता न होती क्योंकि नित्कार्य तो तब भी हो जाते । अतः इस से ज्ञापित होता है कि आयन् आदेश का नकार इत् नहीं होता । ज्ञापक को सामान्यापेक्ष मानने से एम् अर्धियों में यकार आदि की भी इत्संज्ञा नहीं होती ।

हो कर अनुबन्धलोप, तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुंञ्जुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दाक्षिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्रत्यय विकल्प से होता है अतः पक्ष में वाक्य या समास का प्रयोग हो सकता है।^१

इसी प्रकार —

- (१) गर्गस्यापत्यं गागिः (गर्ग की सन्तान)।
- (२) उत्तानपादस्यापत्यम् औत्तानपादिः (उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव)।
- (३) दुष्यन्तस्यापत्यम् दौष्यन्तिः (दुष्यन्त का पुत्र भरत)।
- (४) वसुकस्यापत्यं वासुकिः (वसुक की सन्तान)।
- (५) दशरथस्यापत्यं दाशरथिः (दशरथ की सन्तान, राम)।^१

सूत्र में 'अतः' कहा गया है अतः 'विश्वपा' आदि आकारान्तों से इञ् न होगा। यथा— विश्वपोऽपत्यं वैश्वपः (विश्वपा की सन्तान)। यहां विश्वपाशब्द से औत्सर्गिक बञ् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि तथा भसञ्जक आकार का लोप करने से रूप निष्पन्न होता है।

अब एक अन्य सूत्र के द्वारा इञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

१. इञ् प्रत्यय विकल्प से हुआ है अतः इञ् के अभाव में औत्सर्गिक अण् भी हो जाये— ऐसा समझना भूल है। क्योंकि यहां समर्चानां प्रथमाद्वा (६६७) अधिकार के कारण 'वा' की प्राप्ति हुई है। यह विकल्पाधिकार प्रत्यय के अभाव में वाक्य आदि के लिये है न कि प्रत्ययों के विकल्पार्थ। जहां प्रत्यय का विकल्प अभीष्ट होता है वहां सूत्रकार नये सिरे से 'वा' या 'अन्यतरस्याम्' आदि का प्रयोग करते हैं। यथा— युष्मद्वस्मदोरन्यतरस्यां ऋञ्च (१०७६), हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः (११०१) इत्यादि। यहां यह भी ध्यातव्य है कि आगे आने वाले सूत्रों के अर्थ करते समय इस अधिकृत 'वा' का बार बार उल्लेख नहीं किया जायेगा, अनुक्त होने पर भी विद्यार्थियों को यह स्वयं समझ लेना होगा।

२. सैब दाशरथी रामः सैब राजा युधिष्ठिरः।

सैब कर्णो महात्यागी सैब भीमो महाबलः॥

साहित्य में क्वचित् 'दाशरथि' के स्थान पर अण्प्रत्ययान्त 'दाशरथ' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—

त्यजस्व कोपं कुलकीर्तिनाशनं भजस्व धर्मं कुलकीर्त्तिवर्धनम्।

प्रसीद जीवेम सवान्धवा वयं प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥

(बृहद्-हैमवृत्ति ६.१.३१ में उद्धृत)

परन्तु ऐसे स्थानों पर 'दाशरथ' का विग्रह 'दशरथस्यापत्यं दाशरथः' ऐसा नहीं करना चाहिये क्योंकि तब इञ् ही निर्बाध प्राप्त होता है अण् नहीं। अतः इन स्थलों पर 'दशरथस्यायं दाशरथः' इस प्रकार का विग्रह कर तस्येवम् (११०६) से शैषिक अण् समझना चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१५) बाह्वादिभ्यश्च ।४।१।६६॥

बाह्विः । औडुलोमिः ॥

अर्थः—कृतसन्धिकार्यं बाहु आदि षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिकों से अपत्यायं में तद्धितसंज्ञक इब् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—बाह्वादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । इब् ।१।१। (अत इब् सूत्र से) । तस्यापत्यम् सूत्र का अनुवर्तनं होता है । प्रत्ययः, परश्च, इथाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । बाहुशब्द आदिर्येषान्ते बाह्वादयः, तेभ्यः = बाह्वादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । बाहु आदि एक गण है ।^१ अर्थः—(बाह्वादिभ्यः) बाहु-आदिगणपठित (तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिकों से (अपत्यम् इत्यर्थे) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (इब्) इब् प्रत्यय होता है ।

इस सूत्र से इब् का विधान अनदन्त शब्दों के लिये तथा कहीं कहीं बाघकों का बाघ करने के लिये किया गया है । उदाहरण यथा—

बाहोरपत्यं बाह्विः (बाहुनामक व्यक्ति की सन्तान) । यहां 'बाहु इब्' इस षष्ठ्यन्त सुबन्त से अपत्य अर्थ में प्रकृत बाह्वादिभ्यश्च (१०१५) सूत्र से इब् प्रत्यय, पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय से आदिवृद्धि, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक के अवयव सुंप् का लुक् एवम् और्गुणः (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण कर एचोऽयबायावः (२२) द्वारा ओकार को अच् आदेश करने से—बाह्व् + इ = बाह्वि । अब विभक्ति ला कर 'बाह्विः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि बाहुशब्द अदन्त न होकर उदन्त था इसलिये अत इब् (१०१४) से इब् प्राप्त न था अतः प्रकृतसूत्र से इब् का विधान करना पड़ा है ।

इसीप्रकार—उडुलोम्नोऽपत्यम् औडुलोमिः (उडुलोमन् नामक व्यक्ति की

१. बाह्वादिगण यथा—

बाहु । उपबाहु । उपवाकु । विवाकु (निवाकु) । शिवाकु । वटाकु । उपविन्दु । वृक (वृकला) । वृषली । चूडा । मूषिका । कुशला । बलाका । भगला । छगला । ध्रुवका । ध्रुवका । सुमित्रा । दुमित्रा । पुष्करसद् (अनुहरत) । देवशर्मन् । अग्नि-शर्मन् । कुनामन् । सुनामन् । पञ्चन् । सप्तन् । अष्टन् । अमितौजसः सलोपश्च (गणसूत्रम्) । उदञ्चु । शिरस् । शराविन् (माषशराविन्) । मरीचिन् । क्षेमवृद्धिन् । शूङ्खलातोदिन् । खरनादिन् । नगरमदिन् । प्राकारमदिन् । सोमन् । अजीगर्त्त । कृष्ण । सलक (सत्यक) । युधिष्ठिर । अर्जुन । साम्ब । गद । प्रद्युम्न । राम । उबङ्कः संज्ञायाम् (गणसूत्रम्) । सम्भूयोऽम्भसोः सलोपश्च (गणसूत्रम्) । भद्रशर्मन् । सुधावत् । आकृतिगणोऽयम् ॥

२. उडुनीव = नक्षत्राणीव लोमानि यस्य स उडुलोमा । व्युत्पत्तिमात्रप्रदर्शनमेतत् । कस्यचित्सञ्ज्ञेयम् ।

सन्तति) । उडुलोमन् शब्द बाह्वादिगण में पढ़ा गया है ।^१ अतः अपत्यार्थ में 'उडुलोमन् डस्' इस षष्ठघन्त सुबन्त से प्रकृत बाह्वादिभ्यश्च (१०१५) सूत्रद्वारा इन् प्रत्यय, सुंञ्जुक, आदिवृद्धि तथा नस्तद्धिते (९१९) से भसञ्जक टि (अन्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'औडुलोमिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि उडुलोमन् के अदन्त न होने से इन् प्राप्त न था अतः गण में इस का पाठ किया गया है ।

बाह्वादिगण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) ऊर्ध्वलोमनोऽपत्यम् और्ध्वलोमिः ।
- (२) सुमित्राया अपत्यम् सौमित्रिः (लक्ष्मणः) ।^२
- (३) पुष्करसदोऽपत्यं पौष्करसादिः ।^३
- (४) युधिष्ठिरस्यापत्यं यौधिष्ठिरिः ।^४
- (५) अर्जुनस्यापत्यम् अर्जुनिः ।
- (६) कृष्णस्यापत्यं कार्ष्णिः ।
- (७) सत्यकस्यापत्यं सात्यकिः ।
- (८) प्रद्युम्नस्यापत्यम् प्राद्युम्निः ।
- (९) देवशर्मणोऽपत्यं दैवशमिः ।
- (१०) पञ्चानामपत्यं पाञ्चिः ।
- (११) सप्तानामपत्यं साप्तिः ।
- (१२) अष्टानामपत्यम् आष्टिः ।

अब 'उडुलोमनोऽपत्यानि' इस विग्रह में बहुवचन में इन् के अपवाद 'अ' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७१) लोमनोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्षतव्यः ॥

उडुलोमाः ॥

१. वस्तुतः बाह्वादिगण में लोमन् शब्द ही पढ़ा गया है । परन्तु केवल लोमन्शब्द का अपत्ययोग सम्भव नहीं अतः तदन्तविधि से उडुलोमन्, शरलोमन्, ऊर्ध्वलोमन् आदि शब्दों का ग्रहण किया जाता है ।
२. तमाह्वयत सौमित्रिरगर्जञ्च भयङ्करम् । (भट्टि० १७.३१)
३. अनुशक्तिकादीनाञ्च (१०९५) इत्युभयपदवृद्धिः । व्याकरणस्य कस्यचिदाचार्योऽयम् । स्मृतश्चायमस्मिन् वार्तिके—
चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् । (वा० १४)
४. युधिष्ठिर और अर्जुन कुरुवंशीय एवं कृष्ण, प्रद्युम्न और सत्यक वृष्णि(यदु)-वंशीय हैं अतः इन से अपत्यार्थ में ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च (१०१८) सूत्रद्वारा अण् प्राप्त था, उस के बाध के लिये इन का यहां बाह्वादिगण में पाठ किया गया है ।

अर्थः—लोमन् से अपत्यार्थ के बहुत्व में तद्धितसंज्ञक 'अ' प्रत्यय कहना चाहिये ।

व्याख्या—लोमन्: ।५।१। अपत्येषु ।७।३। बहुषु ।७।३। अकारः ।१।१। वक्तव्यः ।१।१। अर्थः—(लोमन्ः) लोमन् शब्द से (अपत्येषु) अपत्यार्थ के (बहुषु) बहुत्व में (अकारः) 'अ' प्रत्यय (वक्तव्यः) कहना चाहिये । केवल लोमन्शब्द का अपत्यार्थ में प्रयोग सम्भव नहीं अतः तदन्त अर्थात् लोमन्शब्दान्तों से ही प्रत्यय किया जायेगा । यह बाह्वादिभ्यश्च (१०१५) द्वारा प्राप्त इब् का अपवाद है । उदाहरण यथा—

उडुलोमोऽपत्यानि उडुलोमाः (उडुलोमन् की सन्तानें) । यहां 'उडुलोमन् इस्' से अपत्यों के बहुत्व की विवक्षा में बाह्वादिभ्यश्च (१०१५) द्वारा प्राप्त इब् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत लोमोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः (वा० ७१) वार्तिक से 'अ' प्रत्यय हो कर सुंभ्लुक् एवं नस्तद्धिते (६१६) से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप करने से—उडुलोम् + अ = 'उडुलोम' यह अदन्त शब्द बना । अब एकदेशबिकृत-अनन्यवत् न्याय के अनुसार प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में जस् (अस्) विभक्ति ला कर पूर्वसवर्णदीर्घ (१२६) तथा सकार को ह्रस्व-विसर्ग करने से 'उडुलोमाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि 'अ' प्रत्यय न तो कित् है और न ही मित् वा णित्, अतः उस के परे रहते आदिवृद्धि नहीं होती ।

उडुलोमन् से अपत्यार्थ में प्रत्यय हो कर रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	औडुलोमिः	औडुलोमी	उडुलोमाः
द्वितीया	औडुलोमिम्	”	उडुलोमान्
तृतीया	औडुलोमिना	औडुलोमिभ्याम्	उडुलोमैः
चतुर्थी	औडुलोमये	”	उडुलोमेभ्यः
पञ्चमी	औडुलोमेः	”	”
षष्ठी	”	औडुलोम्योः	उडुलोमानाम्
सप्तमी	औडुलोमी	”	उडुलोमेषु
सम्बोधन	हे औडुलोमे!	हे औडुलोमी!	हे उडुलोमाः!

एकवचन और द्विवचन में इब्प्रत्ययान्त होने से औडुलोमिशब्द की रूपमाला एवं प्रक्रिया हरिशब्दवत् होती है, परन्तु बहुवचन में 'अ' प्रत्ययान्त होने से उडुलोमशब्द की रूपमाला एवं प्रक्रिया रामशब्दवत् होती है । इसीप्रकार शरलोमन्, ऊर्ध्वलोमन् प्रभृति शब्दों से अपत्यार्थ में प्रत्यय करने पर प्रक्रिया जाननी चाहिये ।

[लघु०] आकृतिगणोऽयम् ॥

अर्थः—यह बाह्वादि आकृतिगण है ।

व्याख्या—आकृत्या गण्यत इत्याकृतिगणः । अर्थात् जिन शब्दों से इब्प्रत्यय तो किया गया देखा जाये परन्तु उन से इब् का किसी सूत्र या वार्तिक से विधान न

देखा जाता हो तो उन शब्दों को भी बाह्यादिगण के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये ।^१
यथा—इन्द्रशर्मणोऽपत्यम् ऐन्द्रशर्मिः । शूरस्यापत्यं शौरिः (शूरसेन की सन्तान, वसुदेव या श्रीकृष्ण^२) ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा गोत्रापत्य तथा अनन्तरापत्य दोनों में अञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१६)

अनृष्यान्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ।४।१।१०४॥

ये त्वत्रानृषयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे । विदस्य गोत्रं बैदः । बैदौ ।
विदाः । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । पौत्रौ । पौत्राः । एवं दौहित्रादयः ॥

अर्थः—बिदादिगणपठित शब्दों से गोत्रापत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अञ् प्रत्यय होता है परन्तु इन में जो शब्द ऋषिवाचक नहीं उन से अनन्तरापत्य अर्थ में ही प्रत्यय समझना चाहिये ।

व्याख्या—अनृषि इति लुप्तपञ्चमीबहुवचनान्तं पदम् । आनन्तर्ये ॥७।१।
(चातुर्वर्ष्यदिराकृतिगणत्वात् स्वार्थे ष्यञ्) । बिदादिभ्यः ।५।३। अञ् ।१।१। गोत्रे ॥७।१।
(गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्चकञ् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घात्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः,
तस्यापत्यम् इत्यादि पूर्वतः आ रहे हैं । समासः—न ऋषिः=अनृषिः, तेभ्यः=
अनृषिभ्यः, नञ्त्तपुरुषः । बिदशब्द आदिर्येषान्ते बिदादयः, तेभ्यः=बिदादिभ्यः,
तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । अनन्तरमेव आनन्तर्यम् (अपत्यम्); तस्मिन्=आनन्तर्ये ।
अर्थः—(बिदादिभ्यः) बिद आदि षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से (गोत्रे अपत्ये) गोत्रापत्य
अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अञ्) अञ् प्रत्यय होता है परन्तु (अनृषि=अनृषिभ्यः)
इन में जो ऋषिवाचक नहीं उन से (आनन्तर्ये=अनन्तरापत्ये) अनन्तरापत्य अर्थ में
ही प्रत्यय होता है । दूसरी पीढ़ी अर्थात् पुत्र ही अनन्तरापत्य होता है यह पीछे स्पष्ट
कर चुके हैं ।

बिदादि एक गण है ।^३ इस में कुछ ऋषियों के नाम और साथ ही पुत्र, दुहितृ

१. बाह्यादिभ्यश्च (१०१५) इति सूत्रे चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेनास्य गणस्या-
कृतिगणत्वं व्यज्यते । अत आकृतिगणोऽयमिति वचनं सुत्रोक्तचकारस्यैव
व्याख्यानम् । उक्तं च—

सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके ।

सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम् ॥

२. तत्राबिरभूच्छौरिः स्मयमानमुस्ताम्बुजः (भागवत० १०.३२.२) ।

अस्मार्थोऽञ्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः (माघ० ८.६४) ।

३. बिदादिगण यथा—

बिद । उर्व । कश्यप । कुशिक । भरद्वाज । उपमन्यु । किलात (किलालप) ।

आदि कुछ ऐसे प्रातिपदिक भी पढ़े गये हैं जो ऋषिवाचक नहीं । प्रकृतसूत्र से बिदादि-गणपठित ऋषिवाचकों से गोत्रापत्य अर्थ में तथा अन्यो (अनृषिवाचकों) से अनन्तरापत्य अर्थ में अम् प्रत्यय का विधान किया जाता है । अण् और अम् प्रत्ययों से रूप तो एक जैसे बनते हैं पर स्वर का अन्तर पड़ता है यह पीछे बताया जा चुका है । सूत्र के उदाहरण यथा—

बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः (बिदनामक ऋषि की पौत्र आदि सन्तति) । 'बिद' एक ऋषि का नाम है अतः 'बिद इस्' से गोत्रापत्य अर्थ में प्रकृत अनृष्यानन्तर्ये बिदा-बिन्धोऽम् (१०१६) सूत्रद्वारा अम् प्रत्यय हो कर सुन्नुक्, आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से प्रथमा के एकवचन में 'बैदः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । द्विवचन में—बैदौ । बहुवचन में यज्जबोश्च (१००६) द्वारा अम् प्रत्यय का लुक् हो कर पुनः पूर्वावस्था को प्राप्त 'बिद' से बहुवचन में जस् ला कर विभक्तिकार्य करने से 'बिदाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी तरह द्वितीया आदि विभक्तियों के बहुवचनों में समझ लेना चाहिये । गोत्रप्रत्ययान्त 'बिद' की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	बैदः	बैदौ	बिदाः
द्वितीया	बैदम्	"	बिदान्
तृतीया	बैदेन	बैदाभ्याम्	बिदैः
चतुर्थी	बैदाय	"	बिदेभ्यः
पञ्चमी	बैदात्	"	"
षष्ठी	बैदस्य	बैदयोः	बिदानाम्
सप्तमी	बैदे	"	बिदेषु
सम्बोधन	हे बैद!	हे बैदौ!	हे बिदाः!

इसी तरह—

- (१) कश्यपस्य गोत्रापत्यं काश्यपः । काश्यपी । कश्यपाः ।
- (२) कुशिकस्य गोत्रापत्यं कौशिकः । कौशिकी । कुशिकाः ।
- (३) भरद्वाजस्य गोत्रापत्यं भारद्वाजः । भारद्वाजौ । भरद्वाजाः ।

किन्दर्भ । विश्वानर । ऋष्टिषेण । ऋतभाग । हर्यश्व । प्रियक । आपस्तम्ब । कूचवार । शरद्वत् । शुनक । घेनु । गोपवन । शिग्रह । बिन्दु । भाजन । अश्ववातान । श्यामाक । श्यामाक (श्यामक) । श्यापर्ण । हरित । किन्दास । बह्मस्क । अकंलूष । बध्योष (बध्योग) । विष्णुवृद्ध । प्रतिबोध । रथन्तर । रथीतर । गविष्ठिर । निषाद । मठर । मृद (मृदु) । पुनर्भू । पुत्र । दुहितृ । ननान्दु । परस्त्री परशु च (गणसूत्रम्) । सृदाकु । पृदाकु । शबर । सम्बक । शाबली । श्यायक । अलस ॥

- (४) शुनकस्य गोत्रापत्यं शौनकः । शौनको । शुनकाः ।
 (५) उपमन्योर्गोत्रापत्यम् औपमन्यवः । औपमन्यवौ । उपमन्यवः ।
 (६) उर्वस्य गोत्रापत्यम् और्वः । और्वौ । उर्वाः । इत्यादि ।

बाह्वादियों के आकृतिगण होने के कारण उन में 'बिद' का पाठ मान लेने से अनन्तरापत्य अर्थ में बिद से ऋष्यण् (१०१८) को बाध कर बाह्वादिभ्यश्च (१०१५) द्वारा इञ् प्रत्यय हो जाता है । बिदस्यानन्तरापत्यं बैदिः । बैदी । बैदयः । बहुवचन में इञ् के लोप का विधान नहीं है ।

ऋषिभिन्न बिदादियों का अनन्तरापत्य में उदाहरण यथा—

पुत्रस्यानन्तरापत्यं पौत्रः (पुत्र की सन्तान अर्थात् पोता) । पुत्रशब्द बिदादियों में पढ़ा गया है और यह ऋषिवाचक भी नहीं । अतः 'पुत्र इस्' से अनन्तरापत्य अर्थ में प्रकृत अनुष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् (१०१६) सूत्रद्वारा अञ् प्रत्यय, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से प्रथमा के एकवचन में 'पौत्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—दुहितुरनन्तरापत्यं दौहित्रः (लड़की की सन्तान अर्थात् धेवता) । 'दुहितृ इस्' से अनन्तरापत्य अर्थ में प्रकृतसूत्र से अञ्, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि तथा इको यणचि (१५) से ऋकार को रेफ आदेश कर विभक्ति लाने से 'दौहित्रः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

ननान्दुरनन्तरापत्यं नानान्द्रः (ननन्द का पुत्र) । 'ननान्दृ इस्' से पूर्ववत् अनन्तरापत्य में अञ्, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि तथा ऋवर्ण को रेफ आदेश कर 'नानान्द्रः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

पौत्रः, पौत्री, पौत्राः । दौहित्रः, दौहित्रौ, दौहित्राः । नानान्द्रः, नानान्द्री, नानान्द्राः । यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि इन के बहुवचन में अञ् का लुक् नहीं होता, कारण कि यञ्जोश्च (१००९) सूत्र गोत्र में विहित अञ् का ही लुक् विधान करता है अनन्तरापत्य में होने वाले का नहीं ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा इञ् आदि के अपवाद अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (१०१७) शिवादिभ्योऽण् । ४।१।११२॥

अपत्ये । शैवः । गाङ्गः ॥

अर्थः—अपत्य अर्थ में शिव आदि प्रातिपदिकों से तद्धितसञ्ज्ञ अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शिवादिभ्यः । ५।३। अण् । १।१। अपत्ये । ७।१। (तस्यापत्यम् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घ्राप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । शिवशब्द आदिर्येषान्ते शिवादयः, तेभ्यः = शिवादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । तस्यापत्यम् (१००४) से 'तस्य' के अनुवर्तन के कारण षष्ठ्यन्त से ही प्रत्यय का विधान होता है । अर्थः—(अपत्ये) अपत्य अर्थ में (शिवादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः) शिव आदि षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय

होता है। यहां 'गोत्रे' का अनुवर्तन नहीं होता अतः अपत्यसामान्य में ही प्रत्यय का विधान समझना चाहिये।

शिवादि एक गण है।^१ शिवादियों से इब् आदि के अपवाद अण् प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। उदाहरण यथा—

शिवस्यापत्यं शैवः (शिव की सन्तान)। 'शिव इस्' से अपत्यार्थ में अत इब् (१०१४) द्वारा प्राप्त इब् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत शिवादिभ्योऽण् (१०१७) सूत्र से अण् प्रत्यय, अनुबन्ध णकार का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुंल्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शैवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में शैवशब्द से टिड्ढाणम्० (१२५१) सूत्र से डीप् (ई) हो कर भसंज्ञक अकार का लोप एवं विभक्तिकार्य करने से 'शैवी' प्रयोग बनेगा।

गङ्गाया अपत्यं गाङ्गाः (गङ्गा की सन्तान, भीष्म)। यहां 'गङ्गा इस्' से शिवादिभ्योऽण् (१०१७) इस प्रकृतसूत्रद्वारा अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय, सुंल्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'गाङ्गाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^२

इसीप्रकार—

१. ककुत्स्थस्यापत्यं काकुत्स्थः (ककुत्स्थ की पुत्र पौत्रादि सन्तान)।
२. यस्कस्यापत्यं यास्कः।
३. हेह्यस्यापत्यं हैहयः।
४. ऋष्टिषेणस्यापत्यम् आष्टिषेणः।

१. शिवादिगण यथा—

शिव । प्रोष्ठ । प्रौष्ठिक । चण्ड । जम्भ । मुनि । सन्धि । भूरि । दण्ड । कुठार । ककुम्भ (ककुम्भा) । अनभिम्लान । ककुत्स्थ । कोहित । कहोड । रोध । खञ्जन । कोहड । पिष्ट । हेह्य । कहूय । कपिञ्जल । परिल । वतण्ड । तृणकर्ण । क्षीरहृद । जलहृद । परिषिक । जटिलिक । गोफिलिक । बधिरिका । मञ्जीरक । वृष्णिक । रेख । आलेखन । विश्रवण । रवण । वर्तनाक्ष । पिटक । पिटाक । तृक्षाक । नभाक । ऊर्णनाभ । जरत्कार । उत्क्षिपा । रोहितिक । आर्यश्वेत । सुपिष्ट । खर्जूरकर्ण । मसूरकर्ण । तृणकर्ण । मयूरकर्ण । खडरक । तक्षन् । ऋष्टिषेण । गङ्गा । विपाशा । यस्क । लह्य । द्रुध । अयःस्थूण । भलन्दन । विरूपाक्ष । भूमि । इला । सपत्नी । द्वघचो नद्याः (गणसूत्रम्) । त्रिवेणी त्रिवर्णं च (गणसूत्रम्) । कल्लय । वडाक । [इस गण का पाठ बहुत भ्रष्ट हो चुका है]।

२. इस अर्थ में 'गाङ्गायः' (शुभ्रादिभ्यश्च ४.१.१२३ इति ढक्) और 'गाङ्गायनिः' (तिकादिभ्यः फिम् ४.१.१५४ इति फिम्) प्रयोग भी बनते हैं। जैसाकि कहा है—
शुभ्रादित्वेन गाङ्गायो गाङ्गाश्चापि शिवाद्यणि ।
गाङ्गायनिस्तिकादित्वाविति गङ्गा त्रिरूपिणी ॥

५. मयूरकर्णस्यापत्यं मायूरकर्णः ।
 ६. विरूपाक्षस्यापत्यं वैरूपाक्षः ।
 ७. इलाया अपत्यम् ऐलः (इला का पुत्र, पुरूरवाः) ।
 ८. सपत्न्या अपत्यं सापत्नः (सौत का पुत्र) ।^१
 ९. भूमेरपत्यं भूमिः (भूमि का पुत्र, मङ्गलग्रह) ।
 १०. त्रिवेण्या अपत्यं त्रैवणः ।^२
 ११. जरत्कारोरपत्यं जारत्कारवः (जरत्कार का पुत्र, आस्तीक) ।^३
 १२. विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवणो रावणो वा (विश्रवस् का पुत्र, रावण) ।^४
- अब पुनः अपत्यसामान्य में अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (१०१८)

ऋष्यन्धकवृष्णिङ्कुरुभ्यश्च ।४।१।११४॥

(ऋषिभ्योऽन्धकेभ्यो वृष्णिभ्यः कुरुभ्यश्चापत्येऽण् तद्धितः प्रत्ययः स्यात्) । ऋषिभ्यः—वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः—वासुदेवः । कुरुभ्यः—नाकुलः । साहदेवः ॥

अर्थः—ऋषिवाचकों से तथा अन्धक वृष्णि और कुरु इन तीन वंशों में उत्पन्न व्यक्तिवाचकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—ऋषि-अन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । अण् ।१।१। (शिवादिभ्योऽण् सूत्र से) । तस्यापत्यम् का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ऋष्याभ्यातिपदिक्तात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । ऋषयश्च अन्धकाश्च वृष्ण-यश्च कुरवश्च ऋष्यन्धकवृष्णिङ्कुरवः, तेभ्यः = ऋष्यन्धकवृष्णिङ्कुरुभ्यः । इतरेतर-द्वन्द्वसमासः । 'ऋषि' से यहां मन्त्रद्रष्टा ऋषियों तथा अन्धक, वृष्णि (यदुकुलोत्पन्न) और कुरु शब्दों से इन तीन वंशों में उत्पन्न व्यक्तियों का ग्रहण अभीष्ट है । अर्थः—(ऋष्यन्धकवृष्णिङ्कुरुभ्यः) ऋषिवाचकों से तथा अन्धक, वृष्णि और कुरु इन तीन वंशों में उत्पन्न व्यक्तिवाचकों से (च) भी (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है । यह सूत्र अत इम् (१०१४) द्वारा प्राप्त इम् प्रत्यय का अपवाद है । क्रमशः उदाहरण यथा—

१. आदिवृद्धि होकर यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप हो जाता है ।
२. शिवाद्यन्तर्गत त्रिवेणी त्रिवणं च इस गणसूत्र से त्रिवेणी को त्रिवणं सर्वादिश हो जाता है ।
३. ओर्गुणः (१००५) से उकार को ओकार गुण होकर अवादेश हो जाता है ।
४. न्यासकार का कथन है कि अपत्यार्थक अण् प्रत्यय के परे रहते 'विश्रवस्' इस प्रकृति के स्थान पर 'विश्रवण' अथवा 'रवण' सर्वादिश हो जाते हैं । इस का विशेष विवेचन व्याख्याकार के सुप्रसिद्ध शोधग्रन्थ न्यासपर्यालोचन में (२.३२) पर देखें । यह ग्रन्थ भैमी-प्रकाशन से प्रकाशित हो चुका है ।

(१) ऋषिवाचकों से—

वसिष्ठस्यापत्यं वासिष्ठः, विश्वामित्रस्यापत्यं वैश्वामित्रः । यहां वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम हैं अतः इन दोनों षष्ठ्यन्त सुबन्तों से प्रकृत ऋष्यन्धकवृष्णिगुरुभ्यश्च (१०१८) सूत्रद्वारा अपत्यसामान्य में अण् प्रत्यय हो कर सुंब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से उपर्युक्त रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

(२) अन्धकवंशीयों से—

श्वफल्कस्यापत्यं श्वाफल्कः (श्वफल्क की सन्तान) । श्वफल्क अन्धकवंशीय है अतः 'श्वफल्क इस्' से अपत्य अर्थ में ऋष्यन्धक० (१०१८) सूत्र से अण् प्रत्यय, सुंब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'श्वाफल्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार—रन्धसस्यापत्यं रान्धसः ।

(३) वृष्णिवंशीयों से—

वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः (वसुदेव की सन्तान, श्रीकृष्ण) । वसुदेव का वंश वृष्णि-वंश है अतः प्रकृतसूत्रद्वारा 'वसुदेव इस्' से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय, सुंब्लुक्, आदिवृद्धि, एवं भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'वासुदेवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार—अनिरुद्धस्यापत्यम् अनिरुद्धः । अनिरुद्ध भगवान् कृष्ण के पौत्र तथा प्रद्युम्न के पुत्र थे अतः यह भी वृष्णिवंशीय है ।

शूरस्यापत्यं शौरिः । शूर (शूरसेन) यद्यपि वृष्णिवंशीय है तथापि बाह्वादिगण के आकृतिगण होने से उस गण में इस का पाठ मान लेने से बाह्वादिभ्यश्च (१०१५) सूत्रद्वारा इञ् ही होता है, अण् नहीं ।

(४) कुरुवंशीयों से—

नकुलस्यापत्यं नाकुलः (नकुल की सन्तान) । सहदेवास्यापत्यं साहदेवः । नकुल और सहदेव पाण्डवों के अन्तर्गत होने से सुप्रसिद्ध कुरुवंशीय हैं अतः प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् रूप सिद्ध हो जाते हैं । इसीप्रकार—धृतराष्ट्रस्यापत्यानि धार्तराष्ट्राः । निहृत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन (गीता १.३६) ।

अर्जुन और युधिष्ठिर शब्दों का पाठ बाह्वादिगण में आया है अतः बाह्वादिभ्यश्च (१०१५) द्वारा इञ् प्रत्यय ही होता है अण् नहीं । अर्जुनस्यापत्यम् अर्जुनिः । युधिष्ठिरस्यापत्यं यौधिष्ठिरिः ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा अपत्य अर्थ में अण्विधान के साथ-साथ एक विशेष कार्य का भी विधान दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१६)

मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः ।४।१।१५॥

१. वृष्णिनामक सुप्रसिद्ध क्षत्रिय यदुकुल में उत्पन्न हुए । इन के वंश में ही श्रीकृष्ण का जन्म हुआ ।

संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः स्यादणप्रत्ययश्च (अपत्ये) ।
द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । साम्मातुरः । भद्रमातुरः ॥

अर्थः—सङ्ख्यापूर्व, सम्पूर्व तथा भद्रपूर्व मातृशब्द को अपत्य अर्थ में ह्रस्व उकार अन्तादेश हो और इस से परे तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय भी हो ।

व्याख्या—मातुः । ६।१। उत् । १।१। संख्या-सम्-भद्रपूर्वायाः । ६।१। अण् । १।१। (शिवादिभ्योऽण् सूत्र से) । तस्यापत्यम् का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । संख्या च सम् च भद्रश्च संख्यासम्भद्राः, संख्यासम्भद्राः पूर्वं यस्याः सा संख्यासम्भद्रपूर्वा, तस्याः = संख्यासम्भद्र-पूर्वायाः । द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(संख्या-सम्-भद्रपूर्वायाः) संख्यावाचक शब्द, 'सम्' शब्द या 'भद्र' शब्द जिस के पूर्व में हो ऐसे (मातुः) मातृशब्द के स्थान पर (उत्) ह्रस्व उकार आदेश हो जाता है तथा इस से परे (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय भी हो जाता है (अपत्ये) अपत्य अर्थ में ।

अलोऽन्त्यपरिभाषा से मातृशब्द के अन्त्य ऋवर्ण के स्थान पर 'उ' आदेश होगा । उरणपरः (२६) से रपर हो कर 'उर्' बन जायेगा । इस प्रकार 'मातृ' का 'मातुर्' हो जायेगा । उदाहरण यथा—

द्वैमातुरः (दो माताओं की सन्तान)¹ । 'द्वयोर्मात्रोरपत्यम्' इस विग्रह में अपत्यार्थक तद्धित (अण्) प्रत्यय की विवक्षा में सर्वप्रथम तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (६३६) सूत्रद्वारा 'द्वि ओस् + मातृ ओस्' इस अलौकिकविग्रह में तत्पुरुष (द्विगु) समास हो कर सुंब्लुक्, प्रथमानिदिष्ट होने से संख्यावाचक की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा उपसर्जन पूर्वम् (६१०) से उस का पूर्वनिपात करने से 'द्विमातृ' हुआ । अब इसे षष्ठ्यन्त बना कर अर्थात् 'द्विमातृ ओस्' से अपत्य अर्थ में मातृह्रस्वसंख्यासम्भद्रपूर्वायाः (१०१६) सूत्रद्वारा तद्धित अण् प्रत्यय तथा मातृशब्द के अन्त्य अल् ऋवर्ण को उकार आदेश, रपर, सुंब्लुक् तथा तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से आदि अच्-इकार को ऐकार वृद्धि कर— द्वैमातुर् + अ = द्वैमातुर । विभक्ति लाने से 'द्वैमातुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

संख्यापूर्व मातृशब्द का दूसरा सुप्रसिद्ध उदाहरण यथा—

षाण्मातुरः (छः माताओं की सन्तान, कार्तिकेय) । 'षण्णाम् मातृणामपत्यम्' इस विग्रह में अपत्यार्थक तद्धित (अण्) प्रत्यय की विवक्षा में सर्वप्रथम 'षष् आम् + मातृ आम्' इस अलौकिकविग्रह में तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (६३६) सूत्रद्वारा

- जिस की दो माताएं (एक अपनी तथा दूसरी विमाता) हों उसे 'द्वैमातुर' कहते हैं । गणेशजी और जरासन्ध को भी द्वैमातुर कहा जाता है—द्वैमातुरो जरासन्ध-वारणाननयोः पुमान् इति व्याख्यासुधायाम् भानुजिदीक्षितः । गणेशजी को दुर्गा और चामुण्डा दो माताओं ने पाला था (देखिये स्कन्दपुराण) । जरासन्ध के विषय में प्रसिद्ध है कि वह आधा एक माता के गर्भ से और आधा दूसरी माता के गर्भ से पैदा होकर जरानामक एक पिशाची से सन्धित किया गया था ।

द्विगुतत्पुरुष समास हो कर सुंभ्लुक्, संख्यावाचक की उपसर्जनसञ्ज्ञा और उस का पूर्व-निपात करने से—‘षष् + मातृ’ । अब अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को मान कर पदत्व के कारण पदान्त षकार को झलां जशोऽन्ते (६७) से डकार एवं यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (६८) से डकार को अनुनासिक णकार करने से ‘षष्मातृ’ बना । इसे षष्ठीबहुवचनान्त बना कर इस से अपत्य अर्थ में मातृरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः (१०१६) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय तथा मातृशब्द के ऋवर्ण को उकार आदेश, रपर, सुंभ्लुक् और अण् के णित्व के कारण तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से ‘षष्मातुरः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सम्पूर्वक मातृशब्द का उदाहरण यथा—

सम्मातुरपत्यं साम्मातुरः (भली माता का पुत्र) । समीचीना माता सम्माता । यहां ‘सम्’ और ‘मातृ सुं’ का कु-गति-प्रावयः (६४६) से नित्य प्रादिसमास हो जाता है । पुनः षष्ठ्यन्त ‘सम्मातृ इस्’ से अपत्य अर्थ में प्रकृत मातृरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः (१०१६) सूत्र से अण् प्रत्यय, मातृ के ऋकार को उकार आदेश, रपर, सुंभ्लुक् और आदिवृद्धि करने से ‘साम्मातुरः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

भद्रपूर्व मातृशब्द का उदाहरण यथा—

भद्रमातुरपत्यं भद्रमातुरः (भली माता का पुत्र) । भद्रा चासी माता भद्र-माता । यहां ‘भद्रा सुं + मातृ सुं’ इस अलौकिकविग्रह में विशेषण विशेष्येण बहुलम् (६४४) सूत्र से तत्पुरुषसमास हो कर सुंभ्लुक् तथा पुंत्वत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु (६३४१) सूत्र से पुंत्वद्भाव करने से ‘भद्रमातृ’ शब्द बन जाता है । अब ‘भद्रमातृ इस्’ से अपत्य अर्थ में प्रकृत मातृरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः (१०१६) से अण् प्रत्यय, ऋवर्ण को उर् आदेश, सुंभ्लुक् तथा अन्त में तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से ‘भद्रमातुरः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यह सूत्र उर् आदेश के लिये ही बनाया गया है, अण् प्रत्यय तो प्राग्दीव्यतोऽण् (४.१.८३) अधिकार के कारण तस्यापत्यम् (१००४) से ही सिद्ध था ।

अब अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२०) स्त्रीभ्यो ढक् ।४।१।१२०॥

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् (अपत्ये) । वैनतेयः ॥

अर्थः—स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक ढक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—स्त्रीभ्यः ।४।३। ढक् ।१।१। अपत्ये ।७।१। (तस्यापत्यम् से) । प्रत्ययः

परश्च, ङ्घाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । ‘स्त्रीभ्यः’ यहां ‘स्त्री’ शब्द से टाप्, डीप् आदि स्त्रीप्रत्ययों का ग्रहण अभीष्ट है । प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् परिभाषा से तदन्तविधि हो कर ‘स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यः’ ऐसा उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(स्त्रीभ्यः = स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यः) स्त्रीप्रत्ययान्त षष्ठ्यन्तों से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है ।

ढक् में अन्त्य ककार इत् है। प्रत्यय के कित्त्व के कारण किति च (१००१) सूत्रद्वारा अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि हो जाती है। उदाहरण यथा—

विनताया अपत्यं वैनतेयः (विनता का पुत्र, गरुड़)। विनताशब्द टाप्प्रत्ययान्त है अतः 'विनता इन्' से अपत्य अर्थ में प्रकृत स्त्रीभ्यो ढक् (१०२०) सूत्र से ढक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण सुँपो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुँप् (इस्) का लुक् हो जाता है—विनता+ढ। अब आयनेयीनीयियः फडलछर्घा प्रत्ययादीनाम् (१०१३) सूत्र से 'ढ' प्रत्यय के आदि ढकार को एय् आदेश हो कर—विनता+एय् अ= 'विनता+एय्' इस स्थिति में किति च (१००१) द्वारा आदिवृद्धि तथा यत्येति च (२३६) से भसंज्ञक आकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'वैनतेयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

सुपर्ण्या अपत्यं सौपर्ण्यैः^१ (सुपर्णी की सन्तान, गरुड़)।

युवतेरपत्यं यौवतेयः (जवान स्त्री की सन्तति)।

द्रौपद्या अपत्यं द्रौपदेयः (द्रौपदी की सन्तान)।

सरमाया अपत्यं सारमेयः (सरमा=देवशुनी की सन्तति)।

कुन्त्या अपत्यं कौन्तेयः (कुन्ती की सन्तान)।

वासवदत्ताया अपत्यं वासवदत्तैयः (वासवदत्ता की सन्तति)।

सुमित्राया अपत्यं सौमित्रिः। यहां बाह्वादिभ्यश्च (१०१५) सूत्र से इन् प्रत्यय होता है। सुमित्राशब्द बाह्वादियों में साक्षात् पढ़ा गया है। सपत्या अपत्यं सापत्नः। यहां शिवादिभ्योऽण् (१०१७) सूत्र से अण् प्रत्यय होता है। पृथाया अपत्यं पार्थः। यहां भी अपत्य अर्थ में शिवादित्वाद् अण् प्रत्यय समझना चाहिये।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा ढक् प्रत्यय का अपवाद दशति है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२१) कन्यायाः कनीन च ।४।१।११६॥

चादण् । कानीनो व्यासः कर्णश्च ॥

अर्थः—अपत्य अर्थ में कन्याशब्द के स्थान पर कनीन आदेश तथा प्रकृति से परे तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय भी हो।

व्याख्या—कन्यायाः ।६।१। कनीन इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । च इत्य-व्ययपदम् । अण् ।१।१। (शिवादिभ्योऽण् सूत्र से) । तस्यापत्यम् सूत्र का अनुवर्तन हो रहा है। प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं।

१. कुछ वैयाकरण 'सुपर्णी' के स्थान पर 'सुपर्णा' शब्द का यहां प्रयोग मानते हैं। उन के मतानुसार 'सुपर्णाया अपत्यं सौपर्ण्यैः' ऐसा विग्रह होगा (देखें हैमबृहद्वृत्ति ६.१.६७)। [शोभनानि पर्णानि अस्या यद्वा सुपर्णां गरुडः सोऽस्त्यस्या इत्यर्थे अर्शादित्वादचि गौरादित्वाङ्गीषि सुपर्णीति । केचित्तु सुपर्णशब्दस्य गौरादौ पाठाभावाद्वापि 'सुपर्णा' इत्याहुः ।]

अर्थः—(अपत्ये) अपत्य अर्थ में (कन्यायाः) कन्याशब्द के स्थान पर (कनीन) 'कनीन' आदेश (च) तथा प्रकृति से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय भी होता है। अनेकाल् होने से कनीन आदेश समग्र कन्याशब्द के स्थान पर होता है (४५)। उदाहरण यथा—

कन्याया अपत्यं कनीनः (अविवाहिता का पुत्र, कर्ण या व्यास)^१। 'कन्या इस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृत कन्यायाः कनीन च (१०२१) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय तथा कन्याशब्द के स्थान पर 'कनीन' यह सर्वदिश हो जाता है—कनीन इस् + अ। अब तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुंब्बुक् (७२१), आदिवृद्धि (६३८) तथा भसंज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'कनीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह सूत्र स्त्रीभ्यो ढक् (१०२०) द्वारा प्राप्त ढक् प्रत्यय का अपवाद है, कन्या को कनीन आदेश इस में विशेष कहा गया है।

अब अपत्यार्थ में यत् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१०२२)

राज-श्वशुराद् यत् ।४।१।१३७।।

अर्थः—राजन् और श्वशुर प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—राजश्वशुरात् ।५।१। यत् ।१।१। तस्यापत्यम् की अनुवृत्ति आ रही है। प्रत्ययः, परश्च, ङ्गाम्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। राजा च श्वशुरश्च राजश्वशुरम्, तस्मात् = राजश्वशुरात्। समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(अपत्ये) अपत्य अर्थ में (राजश्वशुरात्) राजन् और श्वशुर इन षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से परे (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय होता है।

राजन्शब्द से अपत्यार्थ में औत्सर्गिक अण् प्रत्यय तथा श्वशुरशब्द से अत इम् (१०१४) सूत्रद्वारा इन् प्रत्यय प्राप्त था उन का यह अपवाद है। यत् प्रत्यय में तकार इत् हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र अवशिष्ट रहता है। तकार अनुबन्ध तित् स्वरितम् (६.१.१७६) द्वारा स्वरितस्वर के लिये जोड़ा गया है। ध्यान रहे कि यत् के परे रहते आदिवृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं होता।

राजन्शब्द से अपत्यार्थ में यत् प्रत्यय के किये जाने पर भी इस में जाति अर्थ की विशेषता का अग्रिमवार्तिक से प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] वा०—(७२) राज्ञो जातावेवेति वाच्यम् ॥

अर्थः—राजन्शब्द से जाति के वाच्य होने पर ही यत् प्रत्यय कहना चाहिये।

१. व्यास की उत्पत्ति महाभारत आदिपर्व अध्याय (६३) में तथा कर्ण की उत्पत्ति उसी पर्व के अध्याय (१११) में देखें।

व्याख्या—राज्ञः ।५।१। जातो ।७।१। एव इत्यव्ययपदम् । इति इत्यव्ययपदम् । वाच्यम् ।१।१। यह वार्त्तिक राजश्वशुराद्यत् (१०२२) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये । अर्थ सरल है । तात्पर्य यह है कि राजन्शब्द से यत् प्रत्यय अपत्यार्थ में तभी होगा जब प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय से जाति (क्षत्रियजाति) की प्रतीति होती हो ।

अब प्रकृत सूत्र के उदाहरण में उपयोगी एक प्रक्रियासम्बन्धी सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२३) ये चाऽभावकर्मणोः ।६।४।१६८॥

यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या स्यात्, न तु भावकर्मणोः । राजन्यः । श्वशुर्यः । जातावेवेति किम् ?—

अर्थः—यकारादि तद्धित के परे रहते 'अन्' प्रकृतिभाव को प्राप्त हो परन्तु यदि तद्धित प्रत्यय भाव या कर्म अर्थ में हुआ हो तो यह प्रकृतिभाव न हो ।

व्याख्या—ये ।७।१। (यकारादकार उच्चारणार्थः) । च इत्यव्ययपदम् । अभाव-कर्मणोः ।७।२। अन् ।१।१। (अन् सूत्र से) । तद्धिते ।७।१। (आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति सूत्र से) । प्रकृत्या ।३।१। (प्रकृत्यैकाच् सूत्र से) । भावश्च कर्म च भावकर्मणी; तयोः = भावकर्मणोः । न भावकर्मणोः = अभावकर्मणोः, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः । यह सूत्र अङ्गस्य (६.४.१) अधिकार के अन्तर्गत अष्टाध्यायी में पढ़ा गया है । अतः अङ्ग के कारण 'प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है क्योंकि प्रत्यय के परे न रहते अङ्ग का होना सम्भव नहीं । 'ये' को 'प्रत्यये' का विशेषण मान तदादिविधि करने से 'यकारादौ प्रत्यये' बन जाता है । अर्थः—(ये = यकारादौ तद्धिते प्रत्यये) यकारादि तद्धित प्रत्यय के परे रहते (अन्) 'अन्' यह अक्षरसमुदाय (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् इस में परिवर्तन नहीं होता, वह वैसे का वैसा रहता है परन्तु यह प्रकृतिभाव (अभाव-कर्मणोः) भाव या कर्म अर्थ में हुए तद्धित के परे रहते नहीं होता । उदाहरण यथा—

राज्ञोऽपत्यं जातिः—राजन्यः (क्षत्रिय राजा की क्षत्रिया स्वभार्या में उत्पन्न सन्तान, क्षत्रिय जाति का पुरुष) । 'राजन् इस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में क्षत्रियजाति की वाच्यता में राज्ञो जातावेवेति वाच्यम् (वा० ७२) इस वार्त्तिक की सहायता से राजश्वशुराद्यत् (१०२२) सूत्रद्वारा यत् तद्धितप्रत्यय हो कर तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण संप्रो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव संपु (इस्) का लुक् हो जाता है—राजन् + य । अब यच्च भम् (१६५) से भसंज्ञा हो जाने पर नस्तद्धिते (६१६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक अन् का लोप प्राप्त होता है परन्तु प्रकृत ये चाऽभावकर्मणोः (१०२३) सूत्र से 'अन्' के प्रकृतिभाव को प्राप्त होने से लोप नहीं होता । तब स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'राजन्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

१. क्षत्रियात् क्षत्रियायां स्वभार्यायामुत्पन्नो राजन्य इति धर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धम् । मूर्धा-

श्वशुरशब्द से अपत्यार्थ में यत् का उदाहरण यथा—

श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः (ससुर का पुत्र, साला या देवर) । यहां 'श्वशुर इस्' से अपत्यार्थ में राजश्वशुराच्छत् (१०२२) सूत्र से यत् प्रत्यय, सुंभ्लुक् तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'श्वशुर्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । श्वशुर्यौ देवरश्यालौ इत्यमरः ।

भाव और कर्म अर्थों में यदि यकारादि तद्धित प्रत्यय हुआ हो तो अन् को प्रकृतिभाव न होगा । यथा—राज्ञः कर्म भावो वा राज्यम् । यहां भाव और कर्म अर्थों में पुरोहितादिगणान्तर्गत होने से पत्थन्त्पुरोहितादिभ्यो यक् (११६३) सूत्रद्वारा 'राजन् इस्' से यक् प्रत्यय, अनुबन्धककार का लोप एवं सुंभ्लुक् करने से—'राजन् + य' इस स्थिति में नस्तद्धिते (९१९) सूत्र से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप हो जाता है, प्रकृतसूत्र से प्रकृतिभाव नहीं होता—राज् + य = राज्यम् ।

जातावेवेति किम् ?

पूर्ववार्तिक (वा० ७२) से जाति अर्थ में ही राजन्शब्द से यत् प्रत्यय का विधान कहा गया है । यदि ऐसा न हो कर केवल अपत्य अर्थ ही विवक्षित होगा तो यत् की बजाय औत्सर्गिक अण् प्रत्यय हो कर भिन्न रूप बनेगा । इस के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२४) अन् ।६।४।१६७॥

अन् प्रकृत्या स्यादणि परे । राजनः ॥

अर्थः—अण् प्रत्यय परे होने पर 'अन्' प्रकृतिभाव से अवस्थित रहे ।

व्याख्या—अन् ।१।१। अणि ।७।१। (इनप्यनपरधे सूत्र से) । प्रकृत्या ।३।१। (प्रकृत्येकाच् सूत्र से) । अर्थः—(अणि) अण् प्रत्यय परे हो तो (अन्) अन् । (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है । यह नस्तद्धिते (९१९) सूत्र का अपवाद है । उदाहरण यथा—

राज्ञोऽपत्यं राजनः (राजा की सन्तान जो क्षत्रियजाति की नहीं)^१ । यहां 'राजन् इस्' से केवल अपत्य अर्थ में (जाति में नहीं) तस्यापत्यम् (१००४) द्वारा औत्सर्गिक अण् प्रत्यय ला कर सुंभ्लुक् करने से 'राजन् + अ' इस अवस्था में नस्तद्धिते (९१९) द्वारा प्राप्त टिलोप का बाध कर प्रकृत अन् (१०२४) सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाता है—राजन । अब विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुं प्रत्यय ला कर ह्रैव-विसर्ग करने से 'राजनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब अपत्यार्थ में 'घ' प्रत्यय का विधान करते हैं—

भिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो बिराट्—इत्यमरः । राजन्यशब्दस्य प्रयोगो यथा—राजन्यान् स्वपुरनिबृत्तयेऽनुमेने (रघु० ४.८७) ।

राजन्यदधिराम्भोधिकृतत्रिषवणो मुनिः ।

प्राप्तः परशुरामोऽयं न बिषः किं करिष्यति ॥ (अनर्षराघव ४.१७)

१. क्षत्रियाच्छूद्रायां वा तदन्यस्यां वा अनूढायामुत्पन्न इत्यर्थः ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२५) क्षत्राद् घः ।४।१।१३८॥

क्षत्रियः । जातावित्येव । क्षात्रिरन्यत्र ॥

अर्थः—क्षत्र प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'घ' प्रत्यय हो । यह प्रत्यय भी जाति अर्थ में ही समझना चाहिये ।

व्याख्या—क्षत्रात् ।५।१। घः ।१।१। अपत्ये ।७।१। (तस्यापत्यम् की अनुवृत्ति आ रही है) । प्रत्ययः, परश्च, ङष्पाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(क्षत्रात्) षष्ठ्यन्त 'क्षत्र' प्रातिपदिक से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (घः) 'घ' प्रत्यय होता है । यह प्रत्यय भी पूर्ववत् जाति की वाच्यता में ही प्रवृत्त होता है । उदाहरण यथा—

क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः (क्षत्र^१ की सन्तति, क्षत्रियजाति का व्यक्ति) । यहां षष्ठ्यन्त क्षत्र प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में जाति की वाच्यता में क्षत्राद् घः (१०२५) सूत्र से तद्धितसंज्ञक 'घ' प्रत्यय, सुंभ्लुक्, आयनेयीनीयियः फडल्लघां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) से 'घ' के आदिवर्ण घ् को इय् आदेश हो कर भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'क्षत्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यदि केवल अपत्यमात्र अर्थ ही विवक्षित होगा जाति की विवक्षा न होगी तो अत इम् (१०१४) से इब् प्रत्यय, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'क्षात्रिः' प्रयोग बनेगा । क्षत्रिय से शूद्रा आदि में उत्पन्न सन्तति 'क्षात्रि' कहाती है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा अपत्यार्थ में ठक् प्रत्यय का विधान दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२६) रेवत्यादिभ्यष्ठक् ।४।१।१४६॥

अर्थः—रेवती आदि प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—रेवत्यादिभ्यः ।५।३। ठक् ।१।१। अपत्ये ।७।१। (तस्यापत्यम् सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है) । प्रत्ययः, परश्च, ङष्पाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । रेवतीशब्द आदियेषान्ते रेवत्यादयः, तेभ्यः = रेवत्यादिभ्यः, तद्गुण-संविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(रेवत्यादिभ्यः) रेवती आदि षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है ।

रेवत्यादि एक गण है ।^१ ठक् में ककार इत् है । अतः ठक् के परे रहते किति च

१. क्षत्रिय जाति के व्यक्ति को क्षत्र कहते हैं—

क्षतात्किल त्रायत इत्युद्यमः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु ऋः । (रघु० २.५३)
असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा । (शाकुन्तल १.२१)

२. रेवत्यादिगण यथा—

रेवती । अश्वपाली । मणिपाली । द्वारपाली । वृकवञ्चिन् । वृकग्राह । कर्णग्राह । दण्डग्राह । कुक्कुटाक्ष । वृकबन्धु । चामरग्राह । ककुदाक्ष ॥

(१००१) द्वारा अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि हो जायेगी। ठक् में ठकारोत्तर अकार भी उच्चारणार्थ है।^१ सूत्र का उदाहरण यथा—

रेवत्या अपत्यं रैवतिकः (रेवती का पुत्र)। 'रेवती इस्' से अपत्य अर्थ में स्त्रीभ्यो ङक् (१०२०) से प्राप्त ङक् प्रत्यय का बाध कर रेवत्यादिभ्यो ङक् (१०२६) सूत्र से तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुप् (इस्) का लुक् तथा ठक् के अनुबन्धों का लोप करने पर—रेवती + ट्। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२७) ठस्येकः १७।३।५०॥

अङ्गात् परस्य ठस्येकादेशः स्यात्। रैवतिकः ॥

अर्थः—अङ्ग से परे ट् को 'इक' आदेश हो।

व्याख्या—ठस्य १६।१। इकः ११।१। अङ्गात् १५।१। (अङ्गस्य इस अधिकृत का पञ्चम्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है)। अर्थः—(अङ्गात्) अङ्ग से परे (ठस्य) ट् के स्थान पर (इकः) 'इक' आदेश हो जाता है। 'इक' आदेश अदन्त है।^२

'रेवती + ट्' यहां 'रेवती' अङ्ग है। इस अङ्ग से परे ट् को प्रकृत ठस्येकः (१०२७) सूत्र से अदन्त 'इक' आदेश हो कर 'रेवती + इक' हुआ। ठक् कित् था अतः स्थानिवद्भाव से 'इक' आदेश भी कित् हुआ। इस कित् को निमित्त मान कर किति च (१००१) सूत्र से अङ्ग के आदि अच् एकार को ऐकार वृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से रेवती के भसंज्ञक ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'रैवतिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

१. इस का विशेष विवेचन अग्रिमसूत्र की टिप्पण में देखें।

२. यहां महाभाष्य में दो पक्ष माने गये हैं। (१) वर्णपक्ष और (२) संघातपक्ष। वर्णपक्ष के अनुसार ठक् आदि प्रत्ययों में ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है, प्रत्यय केवल 'ट्' वर्ण ही है। संघातपक्ष के अनुसार ठक् आदि प्रत्ययों में 'ठ' इस प्रकार सस्वर प्रत्यय माना जाता है। इन दोनों पक्षों में ठस्येकः (१०२७) द्वारा 'इक' आदेश हो जाता है। वर्णपक्ष में केवल ट् को तथा संघातपक्ष में 'ठ' इस सस्वर समुदाय को इक आदेश किया जाता है। ठस्येकः (१०२७) के 'ठस्य' पद की भी वैसी ही व्याख्या की जाती है जैसे प्रत्यय का स्वरूप अभिमत होता है। वर्णपक्ष में ठस्य के ठकारोत्तर अकार को उच्चारणार्थ तथा संघातपक्ष में इसे प्रत्यय का अंश समझा जाता है। वर्णपक्ष में 'अङ्गात्' ग्रहण के कारण पठिता, पठितुम् आदि में ट् को इक आदेश नहीं होता क्योंकि वह धात्ववयव होने से अङ्ग से परे नहीं है। संघातपक्ष में—कण्ठेः (उणादि० १०३) कण्ठः, इत्यादियों में उणादयो बहुलम् (८४८) में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण 'ठ' को इक आदेश नहीं होता।

गौरव और लाघव की दृष्टि से देखा जाये तो वर्णपक्ष ही लघु रहता है अतः कौमुदीकार ने इसी पक्ष का आश्रयण किया है।

इसीप्रकार—

अश्वपाल्या अपत्यम् आश्वपालिकः (अश्वपाली की सन्तान) ।

द्वारपाल्या अपत्यं दीवारपालिकः^१ (द्वारपाली की सन्तान) ।

कुक्कुटाक्षस्यापत्यं कौक्कुटाक्षिकः (कुक्कुटाक्ष की सन्तान) ।

दण्डग्राहस्यापत्यं दण्डग्राहिकः (दण्डग्राह की सन्तान) ।

रेवती, अश्वपाली, द्वारपाली आदि से प्राप्त ङ् (१०२०) का तथा दण्डग्राह, कुक्कुटाक्ष आदि से प्राप्त इम् (१०१४) प्रत्यय का यह अपवाद है ।

अब यहां से आगे तद्राज-प्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१०२८)

जनपदशब्दात् क्षत्रियदाब् ॥४॥१॥१६६॥

जनपदक्षत्रियवाचकाच्छब्दादन् स्यादपत्ये । पाञ्चालः ॥

अर्थः—जनपदविशेष का वाचक शब्द यदि उस नाम वाले क्षत्रियविशेष का भी वाचक हो तो उस से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अम् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—जनपदशब्दात् ॥५॥१॥ क्षत्रियात् ॥५॥१॥ अम् ॥१॥१॥ अपत्ये ॥७॥१॥ (तस्यापत्यम् की अनुवृत्ति आ रही है) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घात्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । जनपदवाचकः शब्दो जनपदशब्दः, तस्मात् = जनपदशब्दात्, शाकपाथिवादित्वाद् मध्यमपदलोपितत्पुरुषः । अर्थः—(जनपदशब्दात् क्षत्रियात्) देश-वाचक शब्द जब उसी नामवाले क्षत्रिय का भी वाचक हो तो उस से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अम्) अम् प्रत्यय होता है ।^२ अम् में अकार इत् है, 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है । अकार अनुबन्ध आदिवृद्धि तथा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

'पाञ्चाल' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) पाञ्चालदेश (देश अर्थ में पाञ्चाल आदि शब्द बहुवचनान्त होते हैं), (२) एक क्षत्रियविशेष नृप । इस प्रकार 'पाञ्चालस्यापत्यम्' इस विग्रह में अपत्यार्थ में 'पाञ्चाल इस्' से प्रकृत जनपदशब्दात् क्षत्रियादाब् (१०२८) सूत्रद्वारा अम् प्रत्यय, अकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (इस्) का लुक, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पाञ्चालः' (पाञ्चाल का पुत्र) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^३ इसी प्रकार—

१. यहां द्वारादीनां च (७.३.४) सूत्र से वकार से पूर्व औकार का आगम हो जाता है ।
२. जनपदवाची सन् यः क्षत्रियवाची ततोऽपत्ये अम् । यद्यपि पाञ्चालादयो जनपदे बहुवचनान्ताः, क्षत्रिये तु एकवचनान्ताः, तथापि प्रातिपदिकस्योभयवाचित्वमक्षतमेवेति बोध्यम् ।
३. स्त्री-अपत्य की विवक्षा में टिड्ढाणञ्० (१२५१) से डीप् तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर 'पाञ्चाली' (पाञ्चाल की पुत्री) बनेगा ।

ल० प० (४)

विदेहा जनपदः, विदेहो नाम क्षत्रियः । विदेहस्यापत्यं वैदेहः । स्त्रीत्व-
विवक्षा में टिड्ढाणञ्० (१२५१) से डीप् होकर—'वैदेही' (विदेह की पुत्री) ।

इक्ष्वाकवो जनपदः, इक्ष्वाकुर्नाम क्षत्रियः । इक्ष्वाकौरपत्यम् ऐक्ष्वाकः^१ (इक्ष्वाकु
का पुत्र) ।

केकया जनपदः, केकयो नाम क्षत्रियः, केकयस्यापत्यं कैकेयः ।^१ स्त्रीत्वविवक्षायां
डीपि—कैकेयी ।

अब 'देश का राजा' इस अर्थ में भी अपत्यार्थ की तरह प्रत्यय का विधान
करते हैं—

[लघु०] वा०—(७३)

क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात् तस्य राजन्यपत्यवत् ॥

पञ्चालानां राजा पाञ्चालः ॥

अर्थः—क्षत्रियवाचक शब्द के समान जो जनपदवाचक शब्द, उस जनपदवाचक
षष्ठ्यन्त से राजा अर्थ में अपत्यार्थ के समान तद्धित प्रत्यय हो ।

व्याख्या—क्षत्रियसमानशब्दात् ॥५१॥ जनपदात् ॥५१॥ तस्य ॥५१॥ (षष्ठ्यन्त
के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । राजनि ॥७१॥ अपत्यवत्
इत्यव्ययपदम् । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घ्राप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत
हैं । क्षत्रियवचन एव शब्द उपचारेण क्षत्रिय इत्युक्तः, एवं जनपदवाचकशब्दो जनपद
इति । क्षत्रियेण (क्षत्रियवाचकशब्देन) समानः शब्दो यस्य स तथोक्तः, तस्मात् =
क्षत्रियसमानशब्दात्, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(क्षत्रियसमानशब्दात्) क्षत्रियवाचकशब्द
के समान (जनपदात्) जो जनपदवाची शब्द उस (तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त से
(राजनि) राजा अर्थ में (अपत्यवत्) अपत्यार्थ की तरह तद्धित प्रत्यय होता है ।^३

१. यहां इक्ष्वाकु + अञ्, इक्ष्वाकु + अ, आदिवृद्धि हो कर 'ऐक्ष्वाकु + अ' इस स्थिति
में दाण्डिनायन० (६.४.१७४) सूत्र से टि (उ) के लोप के निपातन से 'ऐक्ष्वाकः'
प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।
२. केकय + अञ्, केकय + अ, आदिवृद्धि होकर—कैकेय + अ । अब केकय-भिन्नयु-
प्रलयानां यादेरियः (७.३.२) सूत्र से 'य' के स्थान पर 'इय आदेश हो जाता है—
कैक इय + अ = कैकेय + अ । अन्त में यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का
लोप कर विभक्ति लाने पर 'कैकेयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।
३. जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् (१०२८) सूत्र से आरम्भ होने वाले अञ् आदि प्रत्ययों
की आगे ते तद्राजाः (१०३०) सूत्रद्वारा तद्राजसंज्ञा की जायेगी । टि, घि, घु की
तरह एकमात्रिक छोटी संज्ञा न कर इन की 'तद्राज' इतनी बड़ी संज्ञा करना
विशेष प्रयोजन के लिये है । 'तेषां राजानस्तद्राजाः' इस अन्वर्थं व्युत्पत्ति से यह सिद्ध
होता है कि ये प्रत्यय जनपदवाची शब्दों से 'उन का राजा' अर्थ में भी होते हैं ।
प्रकृत वार्तिक का यही आधार समझना चाहिये । कहा भी है—सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं
यद् वृत्तो यच्च वार्तिके ।

तात्पर्य यह है कि जो जनपदवाची शब्द उसी नाम वाले क्षत्रिय का भी वाचक हो तो उस से राजा अर्थ में अपत्यार्थ की तरह प्रत्यय होता है अर्थात् ऐसे शब्द से वही प्रत्यय हुआ करता है जो उस से अपत्यार्थ में होता है। दूसरे शब्दों में 'पञ्चालस्यापत्यम्' इस विग्रह में जो प्रत्यय होता है वही प्रत्यय 'पञ्चालानां राजा' इस विग्रह में भी होता है।

पञ्चालानां राजा पाञ्चालः (पञ्चालदेश का राजा)। यहां पञ्चालशब्द जनपदवाची है और यह उसी नाम के क्षत्रिय का भी वाचक है अतः 'पञ्चाल आम्' इस षष्ठ्यन्त से राजा अर्थ में प्रकृत क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदास्तस्य राजन्यपत्यवत् (वा० ७३) वार्त्तिक से अपत्यार्थवत् जनपदशब्दात् क्षत्रियावम् (१०२८) सूत्रद्वारा प्रतिपादित तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय करने पर सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पाञ्चालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—विदेहानां (जनपदानां) राजा वैदेहः। केकयानां (जनपदानां) राजा कैकेयः। इन की सिद्धि पूर्वोक्त अपत्यार्थप्रक्रिया की तरह समझनी चाहिये।

अब 'पूरु' शब्द से अपत्य अर्थ में तद्राज अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७४) पूरोरण् वक्तव्यः ॥

पौरवः ॥

अर्थः—पूरुशब्द से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—पूरोः १५।१। अण् ११।१। वक्तव्यः ११।१। तस्यापत्यम् का अनुवर्तन होता है। प्रत्ययः, परश्च, इषाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (पूरोः) पूरु प्रातिपदिक से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय (वक्तव्यः) कहना चाहिये। उदाहरण यथा—

पूरोरपत्यं पौरवः (पूरु की सन्तान)। 'पूरु इन्स्' से अपत्य अर्थ में पूरोरण् वक्तव्यः (वा० ७४) वार्त्तिक से अण् तद्धितप्रत्यय हो कर सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि, ओर्गुणः (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण तथा अन्त में एचोऽयवायावः (२२) से ओकार को अण् आदेश कर विभक्ति लाने से 'पौरवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^१

पूरुशब्द केवल क्षत्रियवाची है जनपदवाची नहीं, अतः पूर्वोक्त वार्त्तिक (वा० ७३) से राजा अर्थ में यह प्रत्यय नहीं होता। अपत्यार्थ में प्राग्दीव्यतीय अण् तो सामान्यतः प्राप्त था ही, इस के लिये यहां विशेष विधान क्यों किया गया है? इस का उत्तर यह है कि से तद्राजाः (१०३०) सूत्रद्वारा इस की तद्राजसंज्ञा हो सके इसलिये

१. कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि कुबिनीतानाम् ।

अयमाचरत्यथिनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥ (शाकुन्तल १.२७)

इस का यहां पुनर्विधान किया गया है। तद्राजसंज्ञा के कारण बहुवचन में 'पूरवः' बनेगा 'पौरवाः' नहीं।^१ इस का स्पष्टीकरण आगे तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम् (१०३१) सूत्र पर देखें।

अब पाण्डुशब्द से तद्राज डघण् (य) प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७५) पाण्डोर्ड्यण् ॥

पाण्डघः ॥

अर्थः—पाण्डुशब्द से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक डघण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—पाण्डोः १५।१। डघण् ११।१। अपत्ये ७।१। (तस्यापत्यम् सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है)। प्रत्ययः, परश्च, इष्वाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(पाण्डोः) षष्ठ्यन्त पाण्डुशब्द से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (डघण्) डघण् प्रत्यय होता है। यह वार्त्तिक जनपदशब्दात् क्षत्रियादम् (१०२८) के प्रसङ्ग में महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः जनपदक्षत्रियवाची पाण्डु शब्द का ग्रहण होगा। युधिष्ठिर के पिता पाण्डु का अथवा श्वेतवर्णवाची पाण्डुशब्द का ग्रहण न होगा। युधिष्ठिर का पिता पाण्डुदेश का राजा न था किन्तु कुरुदेश का राजा था।

डघण्प्रत्यय में चूट् (१२६) सूत्रद्वारा डकार तथा हलन्त्यम् (१) सूत्रद्वारा णकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'य' मात्र शेष रहता है। इस का डित्करण टेः (२४२) सूत्रद्वारा टिलोपार्थ है। णित्करण 'पाण्डघा भार्या यस्य स पाण्डघाभार्यः' आदि में स्त्रियाः पुंष्व् भाषितपुंस्कादनूङ् (६६६) सूत्रद्वारा प्राप्त पुंवद्भाव को वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्याऽरक्तविकारे (६.३.३८^३) से रोकने के लिये है। उदाहरण यथा—

पाण्डोरपत्यं पाण्डघः (पाण्डु की सन्तान)। यहां 'पाण्डु इस्' से अपत्यार्थ में पाण्डोर्ड्यण् (वा० ७५) वार्त्तिक से डघण् प्रत्यय, डकार और णकार अनुबन्धों का लोप तथा अन्तर्वर्त्ती सुप् (इस्) का लुक् करने पर 'पाण्डु + य' हुआ। अब पर्जन्यबल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय के अनुसार तद्धितेष्वचामावेः (६३८) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि तथा डघण् के डित् होने से टेः (२४२) सूत्रद्वारा पाण्डुशब्द की टि (उकार) का लोप कर विभक्ति लाने से 'पाण्डघः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'पाण्डूनां (जनपदानां) राजा' इस अर्थ में भी क्षत्रियसमानशब्दात् जनपदात्तस्य

१. जैसाकि महाभाष्य के व्याख्याता आचार्य कैयट प्रदीप में लिखते हैं—

सिद्धे प्राग्धीव्यतेऽणि तद्राजसंज्ञार्थमिदम्। पूरशब्दो न जनपदवाची। अन्यथा द्व्यध्मगध० (४.१.१६८) इत्यणः सिद्धत्वाद् वचनमनर्थकं स्यात्।

२. अर्थः—जब किसी शब्द के अन्त में रक्तार्थक या विकारार्थक से भिन्न अन्य कोई वृद्धिनिमित्तक तद्धित प्रत्यय किया गया हो तो उस स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द को पुं-वद्भाव नहीं होता। यथा—सौघ्नीभार्यः।

राजन्यप्रत्ययवत् (वा० ७३) द्वारा पाण्डोर्दघञ् (वा० ७५) वात्तिक से अपत्यवत् डघण् प्रत्यय हो कर 'पाण्डघः' (पाण्डुदेश का राजा) प्रयोग बनेगा ।^१

युधिष्ठिर के पितृवाचक 'पाण्डु' शब्द से अपत्यार्थ में प्राग्दीव्यतीय औत्सर्गिक अण् प्रत्यय होकर सुँब्लुक्, ओर्गुणः (१००५) से गुण तथा एचोऽयवायावः (२२) से आदेश करने से 'पाण्डवः' प्रयोग सिद्ध होता है ।^२

अब अग्निमसूत्रद्वारा 'प्य' प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२६) कुरु-नादिभ्यो ष्यः ।४।१।१७०॥

कौरव्यः । नैषध्यः ॥

अर्थः—कुरुशब्द या नकारादिशब्द जब जनपद और क्षत्रिय दोनों के वाचक हों तो उन से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'प्य' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कुरु-नादिभ्यः ।५।३। ष्यः ।१।१। जनपदशब्देभ्यः ।५।३। क्षत्रियेभ्यः ।५।३। (जनपदशब्दात् क्षत्रियावब् सूत्र से वचनविवरणामद्वारा) । तस्यापत्यम् सूत्र का अनुवर्तन हो रहा है । प्रत्ययः, परश्च, ङष्वाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । न् (नकारः) आदियैषान्ते नादयः, बहुव्रीहिसमासः । कुरुश्च नादयश्च कुरुनादयः, तेभ्यः = कुरुनादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(कुरुनादिभ्यः) कुरुशब्द या नकारादिशब्द यदि (जनपदशब्देभ्यः) जनपदवाची और साथ ही (क्षत्रियेभ्यः) क्षत्रियवाची भी हों तो उन षष्ठ्यन्तों से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ष्यः) 'प्य' प्रत्यय हो जाता है ।

'प्य' का नकार ष्टु (१२६) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है । आदिवृद्धि करने के लिये प्रत्यय को णित् किया गया है । कुरुशब्द से द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसावण् (४.१.१६८) सूत्रद्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का तथा नकारादियों से जनपदशब्दात् क्षत्रियावब् (१०२८) से प्राप्त अन्प्रत्यय का यह अपवाद है ।

कुरुशब्द से यथा—

कुरोरपत्यं कौरव्यः (कुरु की सन्तान) । कुरुशब्द जनपदविशेष का तथा क्षत्रिय-विशेष का भी वाचक है अतः अपत्य अर्थ में 'कुरु इस्' से प्रकृतसूत्र कुरुनादिभ्यो ष्यः (१०२६) से तद्धितसंज्ञक ष्यप्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ओर्गुणः (१००५) से उकार को ओकार गुण और अन्त में बान्तो षि प्रत्यये (२४) से यकारादि प्रत्यय के परे रहते ओकार को अच् आदेश कर विभक्ति लाने से 'कौरव्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^३

१. विशि मन्वायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।

तस्यामेव रधोः पाण्डयाः प्रतापं न बिभेहिरे ॥ (रघु० ४.४६)

२. माघवः पाण्डवश्चैव दिव्यो शंखौ प्रवचन्तुः । (गीता १.१५)

३. कौरव्यवंशवाहेऽस्मिन् क एष शलभायते । (वेणीसंहार १.१६)

कुरूणां (जनपदानां) राजा कौरव्यः (कुरुदेश का राजा) । इस अर्थ में भी क्षत्रियसमानशब्दाञ्जनपदास्य राजन्यपत्यवत् (वा० ७३) इस वार्तिक से अपत्यार्थ की तरह 'प्य' प्रत्यय हो कर उपर्युक्तप्रकार से रूप सिद्ध होगा ।

नकारादिशब्दों से यथा—

निषघस्यापत्यं नैषध्यः (निषघ की सन्तान) । निषघशब्द भी जनपदविशेष और क्षत्रियविशेष दोनों का वाचक है । अतः 'निषघ इस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृतसूत्र कुरु-नादिभ्यो ष्यः (१०२६) से तद्धित ष्यप्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि और अन्त में यस्येति च (२३६) से भ्रसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'नैषध्यः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

निषघानां (जनपदानां) राजा नैषध्यः (निषघदेश का राजा) । इस अर्थ में भी क्षत्रियसमानशब्दाञ्जनपदास्य राजन्यपत्यवत् (वा० ७३) वार्तिक से अपत्यार्थ की तरह ष्यप्रत्यय होकर उपर्युक्तप्रकारेण रूप सिद्ध होगा ।

'नैषघ' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है ।' वहां 'दाशरथः' की तरह 'निषघानां जनपदानाम् अयम्' इस प्रकार शैषिक अण् प्रत्यय के द्वारा उपपत्ति समझनी चाहिये ।

अब यहां एक अत्यन्त उपयोगी सूत्र जो लघुसिद्धान्तकौमुदी में व्याख्यात होने से छूट गया है निर्दिष्ट किया जा रहा है—

द्वेषमगध-कलिङ्ग-सूरमसावण् ।४।१।१६८॥

अर्थः—दो अच् वाले प्रातिपदिकों एवं मगध, कलिङ्ग और सूरमस प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय होता है परन्तु ये प्रातिपदिक जनपद-क्षत्रिय-वाची होने चाहियें ।

दो अचों वाले प्रातिपदिकों से यथा—

अङ्गस्यापत्यम् आङ्गः । अङ्गशब्द दो अचों वाला जनपदक्षत्रियवाची है अतः 'अङ्ग इस्' से प्रकृतसूत्रद्वारा अण्प्रत्यय, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि और अन्त्य अकार का लोप हो जाता है । 'अङ्गानां जनपदानां राजा' इस अर्थ में भी क्षत्रियसमानशब्दात् (वा० ७३) इस पूर्वोक्त वार्तिकद्वारा अपत्यवत् अण् प्रत्यय हो कर यही 'आङ्गः' रूप बनेगा । इसीप्रकार—वङ्गस्यापत्यम्, वङ्गानां जनपदानां राजा वेति वाङ्गः । सुह्मस्यापत्यम्, सुह्मानां जनपदानां राजा वेति सौह्मः । इत्यादि ।

मगध आदि शब्दों से यथा—

मगधस्यापत्यं मगधानां जनपदानां राजा वेति मागधः ।

१.

घन्याऽसि वैर्वाभि ! गुणैरदारै-

यंया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।

इतः स्तुतिः का ललु षन्त्रिकाया

यदग्निमप्युत्तरलीकरोति ॥ (नैषघ० ३.११६)

कलिङ्गस्यापत्यं कलिङ्गानां जनपदानां राजा वेति कालिङ्गः ।

सूरमसस्यापत्यं सूरमसानां जनपदानां राजा वेति सौरमसः ।

यह सूत्र जनपदशब्दात् क्षत्रियादम् (१०२८) सूत्रद्वारा प्राप्त अन्प्रत्यय का अपवाद है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा इन अन् आदि प्रत्ययों की तद्राजसञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१०३०) ते तद्राजाः ।४।१।१७२॥

अत्रादयस्तद्राजसञ्ज्ञाः स्युः ॥

अर्थः— जनपदशब्दात्क्षत्रियादम् (१०२८) आदि पूर्वोक्त सूत्रों से विहित अन् आदि प्रत्यय तद्राजसञ्ज्ञक हों ।

व्याख्या—ते ।१।३। तद्राजाः ।१।३। अर्थः—(ते) वे प्रत्यय (तद्राजाः) तद्राज-सञ्ज्ञक होते हैं । 'ते' शब्द 'तद्' सर्वनाम के प्रथमा का बहुवचन है । तद्सर्वनाम सदा पूर्व का परामर्श कराया करता है अतः 'ते' से पूर्वनिर्दिष्ट जनपदशब्दात् क्षत्रियादम् (१०२८) सूत्र से लेकर विहित अन् आदि प्रत्ययों का ग्रहण होगा । इस ग्रन्थ में अन्, अण्, डघण् और प्य ये चार प्रत्यय तद्राजसञ्ज्ञक कहे गये हैं । अष्टाध्यायी तथा काशिका आदि में इन से अतिरिक्त कुछ अन्य तद्राजप्रत्ययों का भी उल्लेख पाया जाता है ।

अब तद्राजसञ्ज्ञा का फल दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३१)

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ।२।४।६२॥

बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक् तदर्थकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । इक्ष्वा-कवः । पञ्चालाः । इत्यादि ॥

अर्थः—बहुवचन में तद्राजसञ्ज्ञक प्रत्यय का लुक् हो जाता है, परन्तु वह बहुत्व तद्राज के अर्थद्वारा ही किया गया होना चाहिये । किञ्च स्त्रीलिङ्ग में यह लुक् प्रवृत्त नहीं होता ।

व्याख्या—तद्राजस्य ।६।१। बहुषु ।७।३। तेन ।३।१। एव इत्यव्ययपदम् । अस्त्रियाम् ।७।१। लुक् ।१।१। (व्यक्षत्रियार्थजितो यूनि लुगणिजोः सूत्र से) । समासः— न स्त्री अस्त्री, तस्याम् = अस्त्रियाम्, नञ्त्तत्पुरुषः । अर्थः—(बहुषु) बहुवचन में वर्तमान (तद्राजस्य) तद्राजसञ्ज्ञक प्रत्यय का (लुक्) लुक् हो जाता है (तेन एव) परन्तु वह बहुत्व तद्राज के द्वारा ही उत्पन्न हुआ हो । किञ्च (अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में तद्राज प्रत्यय का लुक् नहीं होता । उदाहरण यथा—

पञ्चालस्य अपत्यानि, पञ्चालानां जनपदानां राजानो वेति पञ्चालाः (पञ्चाल की सन्तानें, अथवा पञ्चाल देश के राजा लोग) । यहां 'पञ्चाल इस्' से अपत्य अर्थ में या 'पञ्चाल आम्' से राजा अर्थ में पूर्वोक्तप्रकारेण जनपदशब्दात्

१. इन प्रत्ययों की तद्राजसञ्ज्ञा इसलिये की गई है क्योंकि ये प्रत्यय उन उन जनपदों के राजा के भी बोधक हैं ।

क्षत्रियादम् (१०२८) सूत्र से अञ् प्रत्यय कर सुंल्लुक्, आदिवृद्धि और भसंज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप करने से 'पाञ्चाल' यह तद्धितान्त शब्द निष्पन्न होता है। इस शब्द के अन्त में अञ् प्रत्यय की ते तद्राजाः (१०३०) से तद्राजसंज्ञा है। अब प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में इस पाञ्चालशब्द से जस् प्रत्यय ला कर 'पाञ्चाल + जस्' इस स्थिति में प्रकृतसूत्र तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् (१०३१) से तद्राजप्रत्यय का लुक् हो कर निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः इस न्याय के अनुसार अञ्प्रत्ययनिमित्तक आदिवृद्धि आदि कार्यों के भी हट जाने से शुद्ध 'पाञ्चाल' शब्द रह जाता है—पाञ्चाल + जस्। पुनः प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (१२६) से पूर्वसवर्ण-दीर्घ होकर पदान्त सकार को हँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'पाञ्चालाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार शस् आदि बहुवचनप्रत्ययों में भी तद्राजप्रत्यय का लुक् समझना चाहिये।

यह सूत्र केवल बहुवचन में ही प्रवृत्त होता है एकवचन और द्विवचन में नहीं। पाञ्चालशब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पाञ्चालः	पाञ्चाली	पाञ्चालाः
द्वितीया	पाञ्चालम्	"	पाञ्चालान्
तृतीया	पाञ्चालेन	पाञ्चालाभ्याम्	पाञ्चालैः
चतुर्थी	पाञ्चालाय	"	पाञ्चालेभ्यः
पञ्चमी	पाञ्चालात्	"	"
षष्ठी	पाञ्चालस्य	पाञ्चालयोः	पाञ्चालानाम्
सप्तमी	पाञ्चाले	"	पाञ्चालेषु
सम्बोधन	हे पाञ्चाल !	हे पाञ्चाली !	हे पाञ्चालाः !

इसीप्रकार—

- (१) पौरवः, पौरवी, पुरवः आदि।
- (२) वंदेहः, वंदेहौ, विदेहाः आदि।
- (३) कैकेयः, कैकेयी, केकयाः आदि।
- (४) कौरव्यः, कौरव्यौ, कुरवः आदि।
- (५) नैषध्यः, नैषध्यौ, निषघाः आदि।
- (६) आङ्गः, आङ्गौ, अङ्गाः आदि।
- (७) वाङ्गः, वाङ्गौ, वङ्गाः आदि।
- (८) पाण्ड्यः, पाण्ड्यौ, पाण्डवः आदि।
- (९) सौह्यः, सौह्यौ, सुह्याः आदि।
- (१०) मागघाः, मागघौ, मगघाः आदि।
- (११) कालिङ्गः, कालिङ्गौ, कलिङ्गाः आदि।

(१२) सौरमसः, सौरमसौ, सूरमसाः आदि ।^१

इक्ष्वाकोरपत्यानि, इक्ष्वाकूणां जनपदानां राजानो वेति इक्ष्वाकवः (इक्ष्वाकु की सन्तानें अथवा इक्ष्वाकु देश के राजा लोग) । इक्ष्वाकुशब्द क्षत्रियविशेष तथा जनपदविशेष दोनों का वाचक है । अतः षष्ठ्यन्त इक्ष्वाकुशब्द से जनपदशब्दात् क्षत्रियादम् (१०२८) सूत्र से अपत्य या राजा अर्थ में अम् तद्धितप्रत्यय ला कर सुँब्लुक् तथा आदिवृद्धि करने से 'ऐक्ष्वाकु + अ' हुआ । अब दाण्डिनायन-हास्तिनायनार्थवर्णिक० (६.४.१७४) सूत्र में निपातन के कारण टि का लोप कर देने से 'ऐक्ष्वाक् + अ = ऐक्ष्वाक' बन जाता है । ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकौ, इक्ष्वाकवः [बहुवचन में प्रकृत तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम् (१०३१) सूत्रद्वारा तद्राजसंज्ञक अम्प्रत्यय का लुक् हो कर शुद्ध 'इक्ष्वाकु' शब्द रह जाता है । तब बहुवचन में शम्भुशब्दवत् सुँबन्त-प्रक्रिया (जसि च १६८ से गुण, अवादेश तथा सँत्वविसर्ग) करने से 'इक्ष्वाकवः' बनता है] ।^२

तेनैवेति किम् ? प्रियपाञ्चालाः ।

तद्राजप्रत्यय का लुक् तभी होता है जब तद्राजप्रत्यय के अर्थ का ही बहुत्व विवक्षित हो । यदि बहुत्व किसी अन्य का विवक्षित होगा तो यह लुक् न होगा । यथा—प्रियः पाञ्चालो येषां ते प्रियपाञ्चालाः । यहां अन्यपदप्रधानबहुव्रीहिसमास में अन्यपद के बहुत्व को बतलाने के लिये ही बहुवचन का प्रयोग हुआ है, तद्राजसंज्ञक अम्प्रत्यय के द्वारा तो एकत्व का ही बोध हो रहा है, अतः तद्राजप्रत्यय का लुक् नहीं होता । यदि तद्राज का लुक् हो जाता तो 'प्रियपाञ्चालाः' ऐसा अनिष्ट रूप बनता ।

अस्त्रियाम्—स्त्रीलिङ्ग में तद्राजप्रत्यय का लुक् नहीं होता । पाञ्चाली, पाञ्चाल्यौ, पाञ्चाल्यः । स्त्रीलिङ्ग में अम्प्रत्ययान्त 'पाञ्चाल' शब्द से टिड्ढाणम्० (१२५१) सूत्र से डीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पाञ्चाल्यः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

अब कम्बोजशब्द से सब वचनों में तद्राजप्रत्यय का लुक् विधान करते हैं—

१. प्रश्न—कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलम् (वेणीसंहार १.२५), तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे (रघु० ४.४६) इत्यादि स्थलों पर बहुवचन में 'कौरव्याः' और 'पाण्ड्याः' में तद्राजप्रत्यय का लुक् हो कर 'कुरवः' और 'पाण्डवः' बनना चाहिये था, ऐसा क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—कौरव्ये पाण्ड्ये वा साधवः इस प्रकार के विग्रह में यहां तत्र साधुः (११३५) से यत् प्रत्यय हो कर यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप तथा आपत्यस्य च तद्धितेनाति (६.४.१५१) से यकार का लोप करने से उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध करने चाहियें । अन्यथा ये प्रयोग अशुद्ध ही होंगे ।

२. इक्ष्वाकूणां कुरापेऽर्थं त्ववधीना हि सिद्धयः । (रघु० १.७२)

गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् । (रघु० ३.७०)

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३२) कम्बोजाल्लुक् ।४।१।१७३॥

अस्मात् तद्राजस्य लुक् स्यात् । कम्बोजः । कम्बोजौ ॥

अर्थः—कम्बोजशब्द से परे तद्राजप्रत्यय का लुक् हो ।

व्याख्या—कम्बोजात् ।५।१। लुक् ।१।१। तद्राजस्य ।६।१। (ते तद्राजाः सूत्र से विभक्ति और वचन का विपरिणाम कर के) । अर्थः—(कम्बोजात्) कम्बोजशब्द से परे (तद्राजस्य) तद्राजप्रत्यय का (लुक्) लुक् हो जाता है ।

पूर्वसूत्र से तद्राज का बहुवचन में लुक् प्राप्त था परन्तु इस सूत्र से एकवचन और द्विवचन में भी लुक् हो जायेगा ।

कम्बोजशब्द भी जनपदक्षत्रियवाची है, अतः जनपदशब्दात् क्षत्रियादम् (१०२८) सूत्र से अपत्यार्थ में अवप्रत्यय और राजा अर्थ में भी क्षत्रियसमान-शब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत् (वा० ७३) वार्तिक से अपत्यवत् वही प्रत्यय हो जाता है । उस अवप्रत्यय की से तद्राजाः (१०३०) से तद्राजसंज्ञा हो कर प्रकृत कम्बोजाल्लुक् (१०३२) सूत्र से उस का सब वचनों में लुक् हो जाता है । कम्बोजस्यापत्यं कम्बोजानां जनपदानां राजा वा कम्बोजः । कम्बोजस्यापत्ये कम्बोजानां जनपदानां राजानौ वा कम्बोजौ । कम्बोजस्यापत्यानि कम्बोजानां जनपदानां राजानो वा कम्बोजाः ।

अब इसी सूत्र के कार्यक्षेत्र को बढ़ाते हुए अग्रिमवार्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(७६) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् ॥

चोलः । शकः । केरलः । यवनः ॥

अर्थः—कम्बोज आदि शब्दों से तद्राजप्रत्यय का लुक् कहना चाहिये ।

व्याख्या—पूर्वसूत्र में केवल कम्बोजशब्द से ही तद्राजप्रत्यय का लुक् कहा गया था । परन्तु इस वार्तिक से कम्बोज की तरह कुछ अन्य प्रसिद्ध शब्दों से भी तद्राज के लुक् का विधान किया जाता है । यथा—

(१) चोलस्यापत्यं चोलानां जनपदानां राजा वा चोलः । चोली । चोलाः ।

(२) शकस्यापत्यं शकानां जनपदानां राजा वा शकः । शकौ । शकाः ।

(३) केरलस्यापत्यं केरलानां जनपदानां राजा वा केरलः । केरली । केरलाः ।

(४) यवनस्यापत्यं यवनानां जनपदानां राजा वा यवनः । यवनौ । यवनाः ।

चोल, शक, केरल और यवन शब्द जनपदक्षत्रियवाची हैं । अतः चोल और शक शब्दों से द्व्यञ्जगद्यकलिङ्गसूरमसादण् (४.१.१६८) से अण् प्रत्यय तथा केरल और यवन शब्दों से जनपदशब्दात् क्षत्रियादम् (१०२८) से अण् प्रत्यय होता है । राजा अर्थ में भी क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत् (वा० ७३) वार्तिक से अपत्यार्थवत् वही प्रत्यय हो जाता है । प्रकृत कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् (वा० ७६) वार्तिक से उन तद्राजप्रत्ययों का सब वचनों में लुक् हो कर उपर्युक्त रूप सिद्ध होते हैं ।

रघु और यदु शब्दों का लक्षणा से क्रमशः राघवों और यादवों में प्रयोग होता है। अतएव रघूनामन्वयं वक्ष्ये तनुबाग्विभबोऽपि सन् (रघु० १.६), निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चित् (माघ० ३.३६) आदि प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं। इन में तद्राज-प्रत्यय तथा उस के लुक् की कल्पना करना अनुचित है क्योंकि रघु और यदु शब्द जनपदवाची नहीं केवल क्षत्रियवाची हैं।

अभ्यास [२]

- (१) निम्नस्थ तद्धितान्त रूपों की विग्रह दशति हुए ससूत्र सिद्धि करें—
 १. पौष्करसादिः । २. श्वाफल्कः । ३. सौपर्णयः । ४. गार्ग्यः । ५. औडु-
 लोमिः । ६. कानीनः । ७. नैषध्यः । ८. वासुदेवः । ९. औपगवः ।
 १०. षाण्मातुरः । ११. बँदः । १२. वैनतेयः । १३. स्त्रैणः । १४. शैवः ।
 १५. वासिष्ठः । १६. ऐक्ष्वाकः । १७. पाञ्चालः । १८. बाह्विः ।
 १९. राजन्यः । २०. दाक्षिः । २१. भ्राद्रमातुरः । २२. पौत्रः ।
 २३. कम्बोजः । २४. वैश्वामित्रः । २५. वत्साः । २६. दैत्यः ।
- (२) निम्नस्थ विग्रहों में उत्पन्न होने वाले तद्धितान्त प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि करें—
 १. केकयानां राजा । २. अश्वपतेरपत्यम् । ३. पाण्डोरपत्यम् । ४.
 रेवत्या अपत्यम् । ५. दुहितुरपत्यम् । ६. श्वशुरस्यापत्यम् । ७. दशरथ-
 स्यापत्यम् । ८. राज्ञोऽपत्यम् । ९. युवतेरपत्यम् । १०. इक्ष्वाकोरपत्यानि ।
 ११. द्वयोर्मात्रोरपत्यम् । १२. पंसोऽपत्यम् । १३. कुरूणां राजा ।
 १४. उडुलोम्नोऽपत्यानि । १५. उत्सस्यापत्यम् ।
- (३) पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करें—
 १. राजन्यः—राजनः । २. क्षत्रियः—क्षात्रिः । ३. नैषध्यः—
 नैषधः । ४. दाशरथिः—दाशरथः । ५. पाञ्चालः—पाञ्चालाः ।
 ६. गार्गिः—गार्ग्यः । ७. गार्ग्यः—गार्ग्यायणः । ८. यज्ञिब्रोश्च—
 यज्ञिब्रोश्च ।
- (४) अनन्तरापत्य, गोत्रापत्य और युवापत्य इन तीनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए निम्नस्थ शब्दों का तीनों प्रकार के अपत्यप्रत्ययों में रूप निरूपण करें—
 उपगु, विनता, अश्वपति, दशरथ, वत्स, गर्ग, शिव, बाहु, उडुलोमन्, दक्ष ।
- (५) जनपदक्षत्रियवाची शब्दों का क्या अभिप्राय है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।
- (६) 'तद्राज' किसे कहते हैं ? इतनी बड़ी संज्ञा करने का क्या प्रयोजन ? इस के कोई से पाञ्च उदाहरण दीजिये ।
- (७) ठस्येकः सूत्र पर भाष्योक्त वर्णपक्ष तथा संघातपक्ष का विवेचन करें ।

- (८) प्रत्यय के आदि में स्थित फ़, ड़, ख़, छ़, घ़ वर्णों के स्थान पर क्या-क्या आदेश होते हैं ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।
- (९) निम्नस्थ तद्धितान्तों की सब विभक्तियों में रूपमाला लिखें—
गार्ग्यं, औडुलोमि, पाञ्चाल, कौरव्य, मागध, बैद ।
- (१०) अधोनिर्दिष्ट सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् । २. जनपदशब्दात्क्षत्रियादम् ।
३. मातुरुत्संख्यासेम्भद्रपूर्वायाः । ४. स्त्रीपुंसाभ्यां० । ५. एको गोत्रे ।
६. ऋष्यन्धकवृष्णि० । ७. अनृष्यानन्तर्ये० । ८. गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ।
९. ये चाऽभावकर्मणोः । १०. अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् । ११. द्व्य-
ज्मगध० । १२. तस्यापत्यम् । १३. बाह्वादिभ्यश्च । १४. स्त्रीभ्यो
ठक् । १५. ओर्गुणः । १६. कन्यायाः कनीन च । १७. अन् । १८. अत
इत् । १९. क्षत्राद् घः । २०. कुरुनादिभ्यो ष्यः ।
- (११) निम्नस्थ वार्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य० । २. लोम्नोऽपत्येषु० । ३. राज्ञो
जातावेवेति वाच्यम् । ४. कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् । ५. पुरोरण्
वक्तव्यः ।
- (१२) अधोलिखित प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—
[क] सुमित्राया अपत्यम्—यहां ठक् क्यों नहीं होता ?
[ख] 'प्रियगार्ग्याः' में यन्नञोश्च की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?
[ग] 'गार्ग्यायणः' में दो प्रत्यय कैसे हो जाते हैं ?
[घ] कार्ष्णिः, प्राद्युम्निः, शौरिः—इन में वृष्ण्यण् क्यों नहीं होता ?
[ङ] अत इत् में तपरकरण का क्या प्रयोजन है ?
[च] स्त्रीलिङ्ग के बहुवचन में तद्राज का लुक् होता है या नहीं ?
[छ] पाण्डोर्द्व्यण् में 'पाण्डु' शब्द से किस का ग्रहण होता है ?
[ज] ये चाभावकर्मणोः में 'अभावकर्मणोः' क्यों कहा गया है ?
[झ] 'योधिष्ठिरिः' में कुरु-अण् क्यों नहीं होता ?
[ञ] डचण् में अनुबन्धद्वय का क्या प्रयोजन है ?
[ट] गाङ्गः, गाङ्ग्यः, गाङ्गायनिः—इन में कौन सा रूप ठीक है ?
[ठ] 'स्त्रिया अपत्यम्' इस विग्रह में स्त्रीभ्यो ठक् क्यों नहीं होता ?
[ड] पुत्र की गोत्रसंज्ञा क्यों नहीं होती ?

[लघु०] इत्यपत्याधिकारः ॥

(यहां पर अपत्यप्रकरण का विवेचन समाप्त होता है ।)

अथ रक्ताद्यर्थकाः

अब रक्ताद्यर्थकप्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में 'रक्त' अर्थात् 'रङ्गा हुआ' आदि अर्थों में तद्धितप्रत्ययों का विधान किया गया है अतः इस प्रकरण का नाम रक्ताद्यर्थक रख दिया गया है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३३) तेन रक्तं रागात् । ४।२।१॥

अण् स्यात् । रज्यतेऽनेनेति रागः । कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् ॥

अर्थः—तृतीयान्त रङ्गवाचकशब्द से 'रङ्गा हुआ' इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन । ५।१। ('कषायेण रक्तम्' इत्यादि में 'कषायेण' आदि का अनुकरण 'तेन' शब्द से किया गया है। यहाँ इस अनुकरण से परे पञ्चमी का छान्दस लुक् समझना चाहिये)। रक्तम् । १।१। रागात् । ५।१। अण् । १।१। (प्राग्बीव्यतोऽण् इस अधिकार से)। प्रत्ययः, परश्च, ङ्पाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। रज्यतेऽनेनेति रागः—यह रागशब्द की व्युत्पत्ति मूल में दर्शाई गई है। जिस द्रव्य से रङ्गा जाये उसे 'राग' कहते हैं। यथा—नील, पीत, कषाय आदि रज्जकद्रव्य 'राग' हैं। रज्जो रागे (रङ्गना, भ्वा० उभय०) घातु से करण में घञ् प्रत्यय, घञि च भाव-करणयोः (८५३) से नकार का लोप, चञोः कु घिण्यतोः (७८१) से जकार को कुत्वेन गकार तथा प्रत्यय के जित्त्व के कारण अत उपधायाः (४५५) से उपधावृद्धि करने से 'रागः' पद निष्पन्न होता है। अन्वयः—तेन रागात् रक्तम् (इत्यर्थे^१) अण् तद्धितः प्रत्ययः । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त (रागात्) रज्जन का साधन जो द्रव्य तद्वाचक प्रातिपदिक से (रक्तमित्यर्थे) 'रङ्गा हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् (गेरुए रंग से रङ्गा हुआ वस्त्र आदि)। यहाँ 'कषाय टा' इस राग (रङ्ग) वाचक तृतीयान्त सुबन्त से 'रङ्गा हुआ' इस अर्थ में तेन रक्तं रागात् (१०३३) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिक-

१. अर्थविधायक तद्धितसूत्रों में 'इत्यर्थे' का प्रायः अध्याहार कर लिया जाता है। यथा—तस्यापत्यम् (१००४), अपत्यमित्यर्थे । नक्षत्रेण युक्तः कालः (१०३४), युक्त इत्यर्थे । कई लोग अर्थप्रतिपादक शब्द को अनुकरण मान कर उस से परे सप्तमी का सौत्र लुक् मानते हैं। उन की पद्धति तस्यापत्यम् (१००४) सूत्र पर दर्शा चुके हैं।

२. 'वस्त्रम्' लगाना आवश्यक नहीं। यह विशेष्य को जतलाने के लिये ही लगाया गया है। इस के स्थान पर अन्य यथेच्छ कोई सा विशेष्य लगाया जा सकता है। यथा—माञ्जिष्ठः पटः । माञ्जिष्ठी पताका ।

सञ्ज्ञा (११७) तथा सुंषो धातु-प्रातिपदिकयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (टा) का लुक् करने से 'काषाय + अ' हुआ। अब तद्धितेष्वचामावेः (६३८) से आदि-वृद्धि एवं वस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप करने पर—काषाय् + अ = 'काषाय' शब्द निष्पन्न होता है। विशेष्य (वस्त्रम्) के अनुसार नपुंसकलिङ्ग में विभक्ति और वचन लाने से 'काषायम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^१

इसीप्रकार—

कुङ्कुमेन रक्तं कौङ्कुमं वस्त्रम् (केसरी रङ्ग से रङ्गा हुआ वस्त्र)।

कुसुम्भेन रक्तं कौसुम्भं वस्त्रम् (कुसुम्भपुष्प से रङ्गा गया वस्त्र)।

मञ्जिष्ठया रक्तं माञ्जिष्ठं वस्त्रम् (मजीठ से रङ्गा वस्त्र)।^२

स्त्रीलिङ्ग में काषाय आदि अण्प्रत्ययान्त शब्दों से टिड्ढाणञ् (१२५१) सूत्र से डीप् प्रत्यय हो कर भसञ्जक अकार का लोप हो जाता है—माञ्जिष्ठी पताका।

सूत्र में यदि 'रागात्' न कहते तो 'देवदत्तेन रक्तं देवदत्तं वस्त्रम्' इस प्रकार कर्तृतृतीयान्त देवदत्त शब्द से भी 'रङ्गा हुआ' अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर अनिष्ट रूप बन जाता।

नोट—क्वचित् उपचार (सादृश्य) के कारण भी ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। यथा—काषायो गर्दभस्य कर्णो। हारिद्रो कुक्कुटस्य पादौ। यहां पर 'काषायाविव काषायो, हारिद्राविव हारिद्रौ' इस प्रकार सादृश्यमूलक प्रयोग समझने चाहिये।^३

'नक्षत्र से युक्त काल' इस अर्थ में अब तद्धित प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३४) नक्षत्रेण युक्तः कालः।४।२।३॥

अण् स्यात् ॥

अर्थः—नक्षत्रवाचक तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'युक्त' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो यदि वह 'युक्त' काल हो तो।

व्याख्या—तेन।५।१। (तेन रक्तं रागात् सूत्र से। यहां तृतीयान्त के अनुकरण

१. इस का साहित्यगत प्रयोग यथा—

यो निस्सूतोऽपि न च निःसूतकामरागः

काषायमुद्धहति यो न च निष्कषायः।

पात्रं विभत्यथ गुणैर्न च पात्रभूतो

लिङ्गं वहन्नपि स नैव गृही न भिक्षुः ॥ (सौन्दरनन्द ७.४८)

२. माञ्जिष्ठं बसनमिवाम्बु निर्बभासे। (किरात० ८.८६)

३. भौर्व्या मेललया नियन्त्रितमघोवासश्च माञ्जिष्ठिकम् (उत्तररामचरित ४.२०) के इस पाठ में 'माञ्जिष्ठिकम्' में ठक् प्रत्यय किया गया है जो व्याकरणसम्मत नहीं। यहां 'माञ्जिष्ठिकम्' पाठ होना चाहिये। 'माञ्जिष्ठ' बना कर स्वार्थ कन् समझना चाहिये।

से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । नक्षत्रेण १५।१। (यहां 'पुष्येण युक्तः' इत्यादियों में 'पुष्येण' आदि का अनुकरण 'नक्षत्रेण से किया गया है । इस से परे भी पूर्ववत् पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये) । युक्तः १।१।१। कालः १।१।१। अण् १।१।१। (प्राग्बीज्यतोऽञ् के अधिकार से) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त (नक्षत्रेण = नक्षत्रवाचिनः) नक्षत्रवाची प्रातिपदिक से ('युक्तः कालः' इत्यर्थे) युक्त = सम्बद्ध काल अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

भारतीय ज्योतिष्शास्त्र में अश्विनी आदि २७ नक्षत्र (तारामण्डल) प्रसिद्ध हैं ।^१ यहां नक्षत्रशब्द से नक्षत्रयुक्त चन्द्र का ग्रहण होता है, केवल नक्षत्रों का नहीं । क्योंकि काल को केवल नक्षत्रों के साथ युक्त या सम्बद्ध नहीं कहा जा सकता ।^२ उदाहरण यथा—

१. चन्द्रमा आकाश में जिस मार्ग से होता हुआ पृथ्वी की २७ या २८ दिनों में परिक्रमा पूरी करता है उस पथ में ताराओं के अनेक समूह पड़ते हैं उन्हें नक्षत्र कहते हैं । इन ताराओं के जिस जिस समूह से जैसी जैसी आकृति का भान होता है उस उस समूह का भी प्रायः वैसा वैसा नाम रख लिया गया है । यथा घोड़ों की आकृति के समान प्रतीत होने वाले ताराओं का पुञ्ज 'अश्विनी' कहाता है । हरिण (मृग) के सिर के समान आकृतिवाला 'मृगशिरा' आदि । ये नक्षत्र न तो हमारे सौरजगत् के अन्तर्गत हैं और न ही हमारे सूर्य की परिक्रमा करते हैं । ये नक्षत्र हमारी पृथ्वी, चन्द्र वा सूर्य से अरबों मील दूर हैं । खगोल में चन्द्रमा का भ्रमणपथ यद्यपि इन ताराओं के बीच में नहीं है तथापि इन ताराओं के पुञ्ज के समीप से हो कर गया हुआ सा प्रतीत होता है, बस इसी प्रतीति से चन्द्रमा के सम्पूर्ण भ्रमणपथ को इन २७ नक्षत्रों में विभक्त कर देते हैं ।

२. यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन नक्षत्रों के साथ काल कैसे युक्त हो सकता है ? काल सर्वव्यापक है । वह इन नक्षत्रों के साथ सदा से युक्त है ही । युक्तता या सम्बद्धता तो उस में पाई जा सकती है जिस का कभी पृथग्भाव भी हो । यहां तो ऐसी कोई बात ही नहीं । इस का समाधान यह है कि सामीप्यसम्बन्ध से चन्द्रमा नक्षत्रों के साथ युक्त या वियुक्त होता रहता है । प्रतिदिन चन्द्रमा पूर्व-दिन के नक्षत्र से कुछ दूर हट कर दूसरे नये नक्षत्र के निकट आ जाता है । यही क्रम मास भर चलता रहता है । इसप्रकार यहां सूत्र में 'नक्षत्र' शब्द से नक्षत्रयुक्त चन्द्र का ग्रहण होने से उस के साथ काल युक्त या वियुक्त होता रहता है, कोई दोष नहीं आता । अतः 'पौषमहः' का अर्थ होता है—पुष्यनक्षत्र से युक्त जो चन्द्र, उस चन्द्रवाला दिन है अर्थात् इस दिन के समय चन्द्रमा पुष्यनक्षत्र से युक्त है । इसीप्रकार—पौषी रात्रिः अर्थात् इस रात्रि के समय चन्द्रमा पुष्यनक्षत्र से युक्त है । इस तरह काल की नक्षत्रों के साथ युक्तता या वियुक्तता समझी जाती है ।

मघया युक्तं माघमहः (मघानक्षत्र से युक्त चन्द्र वाला दिन अर्थात् इस दिन के समय चन्द्रमा मघानक्षत्र से युक्त है) । यहां अहः (दिन) यह काल मघानक्षत्र से युक्त है । अतः 'मघा टा' इस तृतीयान्त नक्षत्रवाची प्रातिपदिक से नक्षत्रेण युक्तः कालः (१०३४) इस प्रकृतसूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् (७२१), आदिवृद्धि (६३८) तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक आकार का लोप करने से 'माघ' शब्द निष्पन्न होता है । अब कालवाची विशेष्य 'अहः' के अनुसार नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा का एक-वचन लाने से 'माघम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इस सूत्र के सुप्रसिद्ध उदाहरण 'पौषमहः' में यकारलोप करने के लिये अग्निम-वार्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(७७)

तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् ।

पुष्येण युक्तं पौषमहः ॥

अर्थः—नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय परे हो तो तिष्य और पुष्य शब्दों के यकार का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—तिष्यपुष्ययोः ।६।२। नक्षत्राणि ।७।१। यलोपः ।१।१। इति इत्यव्यय-पदम् । वाच्यम् ।१।१। नक्षत्रस्य अण् नक्षत्राण्, तस्मिन् = नक्षत्राणि, षष्ठीतत्पुरुष-समासः । यस्य (यकारस्य) लोपः यलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । अर्थः—(नक्षत्राणि) नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय परे हो तो (तिष्यपुष्ययोः) तिष्य और पुष्य शब्दों के (यलोपः) यकार का लोप हो जाता है (इति) ऐसा (वाच्यम्) कहना चाहिये ।

तिष्यशब्द के यकार का सूर्य-तिष्याऽगस्त्य-मत्स्यानां य उपधायाः (६.४.१४६) सूत्र से प्रत्येक तद्धित प्रत्यय में लोप प्राप्त था, अब इस से नियम किया जाता है कि नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय में ही लोप हो अन्यत्र न हो । पुष्यशब्द के यकार का लोप

१. इस सूत्र का सरलार्थ है—ईकार या तद्धित परे हो तो भसञ्जक अङ्ग की उपधा के यकार का लोप हो जाता है, यदि यह यकार सूर्य, तिष्य, अगस्त्य या मत्स्य शब्दों का अवयव हो तो ।

परन्तु कात्यायन ने इस सूत्र का तीन वार्तिकों में विषयविभाजन कर दिया है । १. सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्घां च (वा० १०४) । २. मत्स्यस्य ङ्घाम् (वा० ११२) । ३. तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् (वा० ७७) । अत एव नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में लिखा है—

नक्षत्रगामिन्यणि तिष्यपुष्ययो-

श्छे ङ्घां च लोपोऽयमगस्त्यसूर्ययोः ।

ङ्घामेव मत्स्यस्य भवेदितोरणाद्

व्याप्ति सूत्रं प्रविभक्त्य वार्तिके ॥ (उपजातिवृत्तम्)

किसी सूत्र से प्राप्त न था अतः उस का इस से अपूर्व विधान समझना चाहिये ।

उदाहरण यथा—

पुष्येण युक्तं पौषम् अहः (ऐसा दिन जिस में चन्द्रमा पुष्यनक्षत्र से युक्त है) ।
यहां पुष्यनक्षत्र से 'अहः' (दिन) इस काल को युक्त कहा गया है अतः 'पुष्य टा' इस तृतीयान्त नक्षत्रवाचक प्रातिपदिक से नक्षत्रेण युक्तः कालः (१०३४) सूत्रद्वारा तद्धित-संज्ञक अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सूप (टा) का लुक्, अण् प्रत्यय के णित्व के कारण आदिवृद्धि तथा अन्त में यस्थिति ष (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'पौष्य् + अ' हुआ । अब नक्षत्राण् के परे रहते प्रकृत तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राण्णिलोप इति बाध्यम् (वा० ७७) वार्तिक से यकार का लोप करने से 'पौष' शब्द निष्पन्न हुआ । विशेष्य 'अहः' के अनुसार नपुंसक के एकवचन में विभक्तिकार्य करने पर 'पौषम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—पुष्येण युक्ता पौषी रात्रिः । यहां 'पौष' रूप बनाने के बाद स्त्रीत्व की विवक्षा में टिड्ढाण्ण० (१२५१) सूत्र से डीप् प्रत्यय होकर भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'पौषी' रूप बनता है ।

तिष्येण युक्तं तैषम् अहः । तैषी रात्रिः । तिष्य और पुष्य दोनों समानार्थक हैं ।

कृत्तिकाभिर्युक्तं कार्तिकम् अहः । माघेन युक्तं माघम् अहः । माघी रात्रिः ।

नक्षत्रेण युक्तः कालः (१०३४) सूत्र में 'कालः' इसलिये कहा गया है कि 'पुष्येण युक्तः शशी' इत्यादि में अण् न हो जाये ।

नक्षत्रेणेति किम् ? चन्द्रेण युक्ता रात्रिः । यहां काल का चन्द्र के साथ योग है, नक्षत्र के साथ नहीं । अतः अण् नहीं होता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा नक्षत्रसम्बन्धी अण् के लुप् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३५) लुबविशेषे ।४।२।४।

पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात् षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेष-श्चेन्न गम्यते । अद्य पुष्यः ॥

अर्थः—पूर्वसूत्र (१०३४) से विहित अण् प्रत्यय का लुप् हो यदि साठ-घड़ी वाले काल अर्थात् अहोरात्र का अवान्तरभेद व्यक्त न हो रहा हो ।

१. आधुनिक २४ मिनट के समय को ज्यातिशशास्त्र में 'घटी' 'घटिका' या 'दण्ड' कहा जाता है । ६० घटियों या दण्डों का एक अहोरात्र (दिन + रात) होता है । जैसा कि कहा है—

गुर्बक्षरंः क्षेन्दुमितैरमुस्तैः

षड्भिः पलं तैर्घटिका षड्भिः ।

स्याद्वा घटीषष्टिरहः..... ॥ (सि० णि०)

अर्थात् १० गुरु-अक्षरों के उच्चारणकाल को प्राण, छः प्राणों को पल, ६० पलों को दण्ड या घटिका और ६० घटिकाओं का एक अहोरात्र होता है ।

ल० प० (५)

व्याख्या—लुप् ।१।१। अविशेषे ।७।१। अणः ।६।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् अधिकार से आकर षष्ठ्यन्ततया विपरिणत हो जाता है) । अर्थः (अविशेषे) काल का विशेष-भेद गम्य न हो तो (अणः) पूर्वसूत्रद्वारा विहित नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय का (लुप्) लुप हो जाता है । ध्यान रहे कि प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१८६) द्वारा प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक्, श्लु और लुप् संज्ञाएं की गई हैं ।

यहां 'काल' से चौबीस घण्टों अथवा साठ घटिकाओं (घड़ी) वाले अहोरात्ररूप काल का ग्रहण अभिप्रेत है । क्योंकि चन्द्रमा प्रायः इतने समय तक एक नक्षत्र से युक्त रहता है । इस अहोरात्ररूप काल के अवान्तर भेद हैं—रात्रिः, दिनम्, प्रातः, सायम् आदि । 'अद्य' आदि शब्दों से काल के विशेष या अवान्तर भेद का कुछ पता नहीं चलता, केवल अहोरात्ररूप सामान्य काल का ही पता चलता है । ऐसी अवस्था में जब काल का अवान्तरभेद गम्य न हो केवल उसका सामान्यतः निर्देश ही हो तो पूर्वसूत्र (१०३४) से विहित नक्षत्र-अण् प्रत्यय का लुप् (अदर्शन) हो जाता है, केवल प्रकृति ही शेष रह जाती है । तब उस में लिङ्ग और वचन, भी प्रकृतितवत् होते हैं (१०६१) ।

उदाहरण यथा—

अद्य पुष्यः (आज पुष्यनक्षत्र से युक्त जो चन्द्र, तत्सम्बद्ध काल है) । पुष्येण युक्तः पुष्यः कालोऽद्य वर्त्तते इति भावः । यहां काल का निर्देश सामान्यतः 'अद्य' से किया गया है, उस का विशेष अर्थात् अवान्तरभेद दिन, रात, प्रातः, सायम् आदि कुछ नहीं बताया गया ।^१ अतः 'पुष्य टा' से परे नक्षत्रेण युक्तः कालः (१०३४) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय लाने पर सुंल्लुक् (७२१) कर अण् प्रत्यय का भी प्रकृत लुबविशेषे (१०३५) सूत्र से लुप् हो जाता है—पुष्य । पुनः प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१६०) द्वारा अण् को निमित्त मान कर तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से आदिवृद्धि की प्राप्ति होती है परन्तु उस का न लुमताङ्गस्य (१६१) से निषेध हो जाता है । अब लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने (१०६१) सूत्रद्वारा पुष्यशब्द से प्रकृतितवत् लिङ्ग और वचन करने से 'पुष्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अद्य कृत्तिकाः । अद्य मघा । मूलेनावहेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् । इत्यादि ।

विशेष अर्थात् काल के अवान्तरभेद का कथन होने पर नक्षत्र-अण् का लुप् नहीं होता । यथा—पौषमहः, पौषी रात्रिः । यहां 'अहः' और 'रात्रिः' के कथन से काल का विशेष बताया गया है अतः प्रत्यय का लुप् नहीं हुआ ।

१. अद्य पुष्य इत्युक्ते न ह्यो न श्व इति कालविशेषे गम्येऽपि लुभवत्येव । यतो नक्षत्रेण युक्तस्य कालस्यैवात्र अविशेषिता गृह्यते । नक्षत्रेण युक्तः कालः पुनः षष्टिदण्डात्मकरूप एव । अद्य पुष्य इत्युक्ते तथाविधस्य कालस्य न हि विशेषिता प्रतिपादिता भवति अतो नास्ति कश्चिद् दोष इति । काशिकायामिदं स्पष्टतर-मुक्तम्—यावान् कालो नक्षत्रेण युज्यतेऽहोरात्ररूपस्तस्याविशेषे लुभवतीति ।

अब 'देखा गया साम' इस अर्थ में प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३६) दृष्टं साम ।४।२।७।।

'तेन' इत्येव । वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम ॥

अर्थः—'देखा गया साम' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से तद्धित-संज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तेन रक्तं रागात् सूत्र से । तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये) । दृष्टम् ।१।१। साम ।१।१। इत्यर्थे इत्यध्याहार्यम् । अण् ।१।१। (प्राग्दीर्घतोऽण् से अधिकृत है) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (दृष्टं साम) 'देखा गया साम' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

वैदिक मन्त्रविशेष को 'सामन्' कहते हैं—गीतिषु सामाख्या (मीमांसा० २.१.३६) । यहां प्रत्यय तो 'दृष्ट' अर्थ में होता है परन्तु वह दृष्ट 'सामन्' होना चाहिये । ऋषियों द्वारा मन्त्रों का विशेष मनन ही मन्त्रों का दृष्टत्व समझना चाहिये । वसिष्ठ ने जिन मन्त्रों का विशेष मनन कर ज्ञान प्राप्त किया वे मन्त्र 'वासिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध हुए । उदाहरण यथा—

वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम (वसिष्ठऋषिद्वारा देखा गया साम) । यहां 'वसिष्ठ टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'देखा गया साम' इस अर्थ में दृष्टं साम (१०३६) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, तद्धितान्तसमुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुंपु (टा) का लुक्, आदिवृद्धि एवं यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेषानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर 'वासिष्ठम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—विश्वामित्रेण दृष्टं विश्वामित्रं साम । ऋञ्चेन दृष्टं ऋञ्चं साम ।

इसी अर्थ में अग्रिमसूत्रद्वारा ड्यत् और ड्य प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३७) वामदेवाड् ड्यड्-ड्यौ ।४।२।८।।

वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम् ॥

अर्थः—'देखा गया साम' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ 'वामदेव' प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक ड्यत् और ड्य प्रत्यय हों ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तेन रक्तं रागात् सूत्र से । तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । वामदेवात् ।५।१। ड्यड्-ड्यौ ।१।२। दृष्टं साम का पिछले सूत्र से अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । ड्यत् च ड्यश्च ड्यड्-ड्यौ, इतरेतर-

द्वन्द्वः । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ (वामदेवात्) 'वामदेव' प्रातिपदिक से (दृष्टं साम इत्यर्थे) 'देखा गया साम' इस अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक डघङ्-डघौ) डघत् और डघ प्रत्यय होते हैं ।

यह सूत्र सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है । डघत् और डघ दोनों के आदि डकार की षुट् (१२६) सूत्रद्वारा तथा डघत् के तकार की हलन्त्यम् (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञा हो जाती है । इत्संज्ञकों का लोप कर दोनों का 'य' ही शेष रहता है । रूपसिद्धि दोनों की एक समान होती है परन्तु स्वर में अन्तर पड़ता है । डघत् के तित् होने से तित्स्वरितम् (६.१.१७६) द्वारा वह स्वरित परन्तु डघप्रत्यय प्रत्ययस्वर से उदात्त रहेगा ।

डघत् और डघ दोनों डित् हैं अतः इन के परे रहते टेः (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप हो जायेगा । उदाहरण यथा—

वामदेवेन दृष्टं वामदेव्यं साम (वामदेव से देखा गया साम) । यहां 'वामदेव टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से वामदेवाद् डघङ्-डघौ (१०३७) सूत्रद्वारा 'दृष्टं साम' इस अर्थ में डघत् अथवा डघ प्रत्यय हुआ । प्रत्यय के अनुबन्धों का लोप, सुंब्लुक् एवं टेः (२४२) सूत्रद्वारा भसंज्ञक टि (अ) का भी लोप कर विशेष्य (सामन्) के अनुसार विभक्ति लाने से नपुंसक के प्रथमैकवचन में 'वामदेव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

अब 'वस्त्र आदि से परिवृत (लिपटा हुआ) रथ' इस अर्थ में तद्धित का विधान करते हैं—

१. यदि डघत् और डघ प्रत्ययों को डित् न कर केवल 'यत्' और 'य' प्रत्यय ही रहने देते तो भी उन प्रत्ययों के यकारादि होने के कारण यच्चि भम् (१६५) द्वारा उन से पूर्व की भसंज्ञा हो जाती और इस तरह यस्येति च (२३६) से अन्त्य अकार का लोप हो कर 'वामदेव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता तो पुनः टिलोप के लिये इन को डित् क्यों किया गया है ? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है । इस का उत्तर यह है कि इन प्रत्ययों को टिलोप के लिये ही डित् नहीं किया गया अपितु ययतोश्चातदर्थे (६.२.१५६) इस अन्तोदात्तविधायक स्वरसूत्र में 'य' और 'यत्' प्रत्ययों के ग्रहण में इन प्रत्ययों का ग्रहण न हो जाये इसलिये इन को डित् किया गया है । अतः 'न वामदेव्यम् अवामदेव्यम्' इस नञ्त्पुरुषसमास में नम् का स्वर ही लगेगा ययतोश्चातदर्थे (६.२.१५६) से उत्तरपद को अन्तोदात्त न होगा । यही बात महाभाष्य में एक कारिकाद्वारा कही गई है—

सिद्धे यस्येतिलोपेन किमर्थं य-यतौ डितौ ।

ग्रहणं माऽतदर्थं भूद् वामदेव्यस्य नञ्स्वरे ॥ (महाभाष्य ४.२.६)

इस कारिका के पूर्वार्ध में शङ्का तथा उत्तरार्ध में उस का उपर्युक्त समाधान दिया गया है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३८) परिवृतो रथः ।४।२।६॥

अस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । वस्त्रेण परिवृतो वास्त्रो रथः ॥

अर्थः— तृतीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से 'परिवृत = लिपटा हुआ = ढका हुआ' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय होता है परन्तु वह परिवृत वस्तु 'रथ' होनी चाहिये ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तेन रक्तं रागात् सूत्र से । यहां तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । परिवृतः ।१।१। रथः ।१।१। अण् ।१।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् इस अधिकार से लब्ध हो जाता है) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से (परिवृतो रथः इत्यर्थे) 'लिपटा हुआ = ढका हुआ रथ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है । तात्पर्य यह है कि अण् प्रत्यय तो 'परिवृत' अर्थ में होता है परन्तु वह परिवृत वस्तु रथ होनी चाहिये दूसरी नहीं ।^१ उदाहरण यथा—

वस्त्रेण परिवृतो वास्त्रो रथः (वस्त्र से ढका या आच्छादित रथ) । यहां 'वस्त्र टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'परिवृत' अर्थ में परिवृतो रथः (१०३८) इस प्रकृत-सूत्र से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर णकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अन्त्य अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'वास्त्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

कम्बलेन परिवृतः कम्बलो रथः ।^२

दुकूलेन परिवृतो दौकूलो रथः ।

चर्मणा परिवृतश्चार्मणो रथः ।^३

यहां वस्त्र, कम्बल, चर्मन् आदि आच्छादन वस्तुओं से ही प्रत्यय अभीष्ट है । 'छात्रैः परिवृतो रथः, पुत्रैः परिवृतो रथः' इत्यादियों में छात्र आदि शब्दों से प्रत्यय नहीं होता ।

यदि सूत्र में 'रथः' न कहते तो 'वस्त्रेण परिवृतः कायः' इत्यादियों में भी प्रत्यय हो जाता जो अनिष्ट था ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'निकाल कर रखा हुआ' इस अर्थ में तद्धितप्रत्यय का विधान करते हैं ।

१. इस तरह तद्धितार्थ में रथ का समावेश नहीं होता उस का पृथक् उल्लेख करना पड़ता है । जैसे— वास्त्रो रथः । चार्मणो रथः । कम्बलो रथः । इत्यादि ।

२. रथे कम्बलवास्त्राद्धाः कम्बलादिभिरावृते—इत्यमरः ।

३. 'चार्मन् + अ' इत्यत्र नस्तद्धिते (६१६) इति नान्तस्य भस्य टेलीने प्राप्ते अन् (१०२४) इति प्रकृतिभावः ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३६) तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः । १४।२।१३।।

(पात्रविशेषवाचिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः उद्धृतमित्यर्थे तद्धितोऽण् प्रत्ययः स्यात्) । शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः ।।

अर्थः—‘निकाल कर रखा हुआ’ इस अर्थ में पात्रविशेषवाचक सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत्र १५।३। (‘तत्र’ यह सप्तम्यन्तों का अनुकरण है । इस से परे पञ्चमी के बहुवचन का सूत्र लुक् समझना चाहिये) । उद्धृतम् ११।१। अमत्रेभ्यः १५।३। अण् ११।१। (प्राग्बोध्यतोऽण् इस अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अमत्रशब्द पात्रवाचक है (पात्राऽमत्रे तु भाजनम् इति हैमे) । बहुवचननिर्देश के कारण शराव आदि पात्रविशेषवाचकों का ग्रहण किया जाता है । अर्थः = (तत्र = सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त (अमत्रेभ्यः) पात्रविशेषवाची प्रातिपदिकों से (उद्धृतम् इत्यर्थे) ‘निकाल कर रखा गया’ इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः (शराव में निकाल कर रखा गया भात) । मिट्टी के प्याले को ‘शराव’ कहते हैं । ‘शराव ङि’ इस सप्तम्यन्त पात्रविशेषवाची प्रातिपदिक से ‘निकाल कर रखा हुआ’ इस अर्थ में प्रकृत तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः (१०३६) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय ला कर पूर्ववत् सुंभ्लुक्, आदिबुद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप करने से—शाराव् + अ = ‘शाराव’ । पुनः विशेष्य (ओदनः) के अनुसार पुलिङ्ग के प्रथमैकवचन में ‘शारावः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।’

१. जिस से कोई वस्तु निकाली या पृथक् की जाती है उस की ध्रुवमपाये-ऽपादानम् (८६६) से अपादानसंज्ञा होती है और अपादाने पञ्चमी (६००) से उस में पञ्चमी का विधान हुआ करता है । यथा—कूपादुद्धृत्य वारि पिबति । तो इस तरह यहां शराव से निकाले जाने के कारण उस में पञ्चमी विभक्ति आनी चाहिये थी—शरावात् । भला इस में सप्तमी ला कर ‘शरावे’ कैसे कहा जा रहा है ? इस का उत्तर यह है कि यहां उद्धृतशब्द में उद्पूर्वक धृञ् धातु का अर्थ केवल निकालना ही नहीं अपितु ‘निकाल कर रखना’ अर्थ अभिप्रेत है । ‘रखना’ क्रिया का आधार ‘शराव’ है अतः उस की अधिकरणसंज्ञा होकर उस में सप्तमी विभक्ति लाई जाती है । ‘शरावे उद्धृत ओदनः’ का तात्पर्य यह है कि भात किसी अन्य स्थाली आदि पात्र से निकाल कर शराव में रखा गया है । अत एव हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

अत्रोद्धरतिरुद्धरणपूर्वके निधाने वर्त्तते, तेन सप्तमी समर्था विभक्तिर्न नोपपद्यते (पदमञ्जरी ४.२.१३) ।

शेखरकार ने भी यही कहा है—

इसीप्रकार—

कर्परे उद्धृतं कार्परं दधि ।

स्थाल्यां स्थाले वा उद्धृतं स्थालं व्यञ्जनम् ।

मल्लिकायामुद्धृतो माल्लिकः संयावः ।

खर्परे उद्धृतः खार्पर ओदनः ।

शराव, कर्पर, स्थाली, मल्लिका, खर्पर आदि शब्द पात्रविशेषों के वाचक हैं ।

अमत्रेभ्य इति किम् ? पाणो उद्धृत ओदनः । यहां पाणिशब्द हाथ का वाचक है पात्र का नहीं अतः प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय नहीं होता ।

अब 'उस में संस्कृत' इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय का विधान दशति है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४०) संस्कृतं भक्षाः ।४।२।१५॥

सप्तम्यन्तादण् स्यात् संस्कृतेऽर्थे, भक्षाश्चेत्ते स्युः । भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भ्राष्ट्रा यवाः ।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'संस्कृत' (संस्कार किया गया) अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो परन्तु वह संस्कृत पदार्थ भक्ष अर्थात् खाने की वस्तु होना चाहिये ।

व्याख्या—संस्कृतम् ।१।१। भक्षाः ।१।३। तत्र ।५।१। (तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः सूत्र से । सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से परे पञ्चमी का सूत्र लुक् समझना चाहिये) । अण् ।१।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । भक्ष्यन्ते इति भक्षाः, कर्मणि घञ् । 'संस्कृतम्' में एकवचन, सामान्याभिप्राय से तथा 'भक्षाः' में बहुवचन 'यवाः' 'अपूपाः' आदि को दृष्टि में रख कर किया गया है । अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (संस्कृतमित्यर्थे) 'संस्कार किया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है परन्तु वह संस्कृत पदार्थ (भक्षाः) खाने योग्य वस्तु हो ।^१

भाव यह है कि जो द्रव्य संस्कृत किया गया हो यदि वह भक्षणीय वस्तु हो तो जिस पात्र में उस का संस्कार किया गया हो उस पात्रवाचक सप्तम्यन्त शब्द से 'संस्कृत' अर्थ में तद्धित अण् प्रत्यय हो ।

किसी वस्तु को पाक आदि या अन्य किसी प्रक्रिया से खाने-चबाने के योग्य

निघाननिरूपिताधिकरणत्वेन सप्तमी ।

काशिकाकार ने 'उद्धृतम्' का अर्थ भुक्तोच्छिष्टम् किया है । तब 'शाराव ओदनः' का अर्थ होगा 'खाने से बचा ओदन शराव में धरा है' । पुरुषोत्तमदेव ने भी भाषावृत्ति में इस का अर्थ भुक्तोत्सृष्टम् किया है ।

१. खरविशदम् अभ्यवहार्यं भक्षम् इति काशिकाकारः । दन्तैर्भक्ष्यं भक्षमाहुरिति नारायणभट्टः ।

बनाना उसे संस्कृत करना यहां अभीष्ट है ।^१ जैसे यव (जौ) आदि को भ्राष्ट्र (भट्ठी) में भूनना आदि उसे 'संस्कृत' करना है । सूत्र का उदाहरण यथा—

भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भक्षा भ्राष्ट्रा यवाः (भट्ठी में भून कर संस्कृत किये खाने योग्य जौ) । यहां 'भ्राष्ट्रं सुंप' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से संस्कृतं भक्षाः (१०४०) इस अर्थ में प्रकृतसूत्र से अण् तद्धित प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंल्लुक्, पर्जन्यवल्लक्षण-प्रवृत्तिन्याय से आदिवृद्धि एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विशेष्य (यवाः) के अनुसार प्रथमा के बहुवचन में विभक्तिकार्य करते से 'भ्राष्ट्राः' प्रयोग सिद्ध हूं जाता है ।

इसीप्रकार— कलशे संस्कृता भक्षाः कालशा अपूपाः । कुम्भे संस्कृता भक्षाः कौम्भा यवाः । इत्यादि ।

भक्षा इति किम् ? पुष्पपुटे संस्कृतो मालागुणः । पुष्पपुट में गूंथा हुआ माला का तागा खाने का पदार्थ नहीं अतः पुष्पपुट से अण् हो कर 'पौष्पपुटः' न बनेगा ।

अब 'साऽस्य देवता' के अर्थ में तद्धितप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४१) साऽस्य देवता ।४।२।२३॥

(देवताविशेषवाचिनः प्रथमान्तात्समर्थत् प्रातिपदिकाद् अस्त्येत्यर्थे तद्धितोऽण् प्रत्ययः स्यात्) । इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः । पाशुपतम् । बार्हस्पत्यम् ॥

अर्थः— देवताविशेषवाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या— सा ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'सा' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । अस्य ।६।१। देवता ।५।१। (यहां भी पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । अण् ।१।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् से अधिकृत है) । प्रत्ययः, परश्च, ङाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः— (सा = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त (देवता = देवताविशेषवाचिनः) देवताविशेषवाची समर्थ प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

यज्ञ आदि में जिस के उद्देश्य से हविः आदि प्रदान की जाती है या मन्त्र में जिस की स्तुति या जिस का प्रतिपादन किया जाता है वह यहां 'देवता' अभिप्रेत है । सूत्र का उदाहरण यथा—

इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः (इन्द्र जिसका देवता है ऐसी हविः आदि) । यहां 'इन्द्रं सुं' इस देवताविशेषवाची प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में प्रकृत साऽस्य देवता (१०४१) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर सुंल्लुक्, आदिवृद्धि और भसञ्जक अन्त्य अकार का यस्येति च (२३६) से लोप करने पर 'ऐन्द्र'

१. सतो गुणाधानं संस्कार इति काशिकाकारादयः । भोजनादिरूपोपयोगफला क्रिया संस्कारो न तु गुणाधानमेवेति नागेशः ।

निष्पन्न होता है। अब इस से विशेष्यानुसार लिङ्ग लगेगा। हविषशब्द नपुंसकलिङ्ग और मन्त्रशब्द पुलिङ्ग है अतः त्रिभक्ति ला कर प्रथमैकवचन में 'ऐन्द्रं हविः' तथा 'ऐन्द्रो मन्त्रः' बनेगा। स्त्रीलिङ्ग में ऐन्द्रशब्द से टिड्ढाणम्० (१२५१) द्वारा डीप् हो कर यस्थेति च (२३६) द्वारा लोप करने पर 'ऐन्द्री' प्रयोग बनेगा। ऐन्द्री दिक् (इन्द्र जिसका देवता है ऐसी दिशा अर्थात् पूर्वदिशा)।

पशुपतिर्देवताऽस्येति पाशुपतम् (पशुपति अर्थात् शिव जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां 'पशुपति सुं' इस देवताविशेषवाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में प्रकृत साऽस्य देवता (१०४१) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय प्राप्त था। परन्तु पत्युत्तरपद होने के कारण बित्यबित्याबित्यपत्युत्तरपदाण्यः (६६६) सूत्र से उस का बाध हो कर 'ण्य' प्रत्यय प्राप्त हुआ। पुनः इस का भी बाध कर अश्वपत्यादिभ्यश्च (६६८) सूत्र से दुबारा अण् प्रत्यय हो जाता है—पशुपति सुं + अण्। अब प्रत्यय के णकार अनुबन्ध का लोप, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि तथा यस्थेति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पाशुपतम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

बृहस्पतिर्देवताऽस्येति बार्हस्पत्यम् (बृहस्पति जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां प्रथमान्त 'बृहस्पति' प्रातिपदिक से 'अस्य' अर्थ में प्रकृत साऽस्य देवता (१०४१) सूत्रद्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर बित्यबित्याबित्यपत्युत्तरपदाण्यः (६६६) सूत्र से 'ण्य' प्रत्यय हो जाता है। तब अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि तथा यस्थेति च (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'बार्हस्पत्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—प्रजापतिर्देवताऽस्येति प्राजापत्यम् (प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। ध्यान रहे कि बृहस्पति और प्रजापति शब्द अश्वपत्यादिगण में पड़े नहीं गये अतः इन में अश्वपत्यादिभ्यश्च (६६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय नहीं होता।

सूत्र में देवताविशेषवाची से इसलिये कहा है कि 'कन्या देवताऽस्य' इत्यादियों में कन्याशब्द से प्रत्यय न हो जाये।

अब देवताविशेषवाची 'शुक्र' प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय के अपवाद घन् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४२) शुक्राद् घन् ।४।२।२५॥

शुक्रियम् ॥

अर्थः—देवताविशेषवाचक प्रथमान्त समर्थ 'शुक्र' प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) अर्थ में तद्धितसंज्ञक घन् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शुक्रात् ।५।१। घन् ।१।१। साऽस्य देवता (१०४१) इस पूरे सूत्र का पीछे से अनुवर्तन होता है। प्रत्ययः, परश्च, इच्चाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं ही। अर्थः—(सा=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त (देवता=देवताविशेषवाचिनः) देवताविशेषवाची (शुक्रात्) 'शुक्र' प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (घन्) घन् प्रत्यय होता है। घन् में नकार अनुबन्ध

ञिनत्याविनित्यम् (६.१.१६१) द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। तद्धित होने के कारण लशब्दतद्धिते (१३६) से प्रत्यय के आदि घकार की इत्संज्ञा नहीं होती। यह सूत्र साऽस्य देवता (१०४१) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

शुक्रो देवताऽस्येति शुक्रियम् (शुक्र जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां 'शुक्र सुं' से 'अस्य' अर्थ में साऽस्य देवता (१०४१) से अण् प्रत्यय प्राप्त था परन्तु प्रकृत शुक्राद् घन् (१०४२) सूत्र से उस का बाध हो कर घन् प्रत्यय हो जाता है—शुक्र सुं + घन् = शुक्र सुं + घ। अब तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् (सुं) का लुक् होकर आयनेयीनीयियः फडल्लघ्वां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) सूत्र से प्रत्यय के आदि घ् को इय् आदेश करने से 'शुक्र इय् अ = शुक्र इय' बना। पुनः यस्येति च (२३६) सूत्र से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शुक्रियम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। विशेष्य के पुलिङ्ग होने पर—शुक्रियोऽध्यायः।

अब देवतावाचक सोमशब्द से टघण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४३) सोमाट्घण् ।४।२।२६॥

सौम्यम् ॥

अर्थः—देवताविशेष के वाचक प्रथमान्त समर्थ 'सोम' प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक टघण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सोमात् ।४।१। टघण् ।१।१। साऽस्य देवता (१०४१) इस पूरे सूत्र का अनुवर्तन होता है। प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं ही। अर्थः—(सा = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थ (देवता = देवताविशेषवाचिनः) देवताविशेषवाचक (सोमात्) 'सोम' प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (टघण्) टघण् प्रत्यय हो।

टघण् के टकार की चूट (१२६) सूत्र से तथा णकार की हलन्त्यम् (१) से इत्संज्ञा हो जाती है। इतों का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है। टकार अनुबन्ध टिड्ढाणञ्० (१२५१) सूत्रद्वारा स्त्रीत्व में डीप् प्रत्यय के लिये तथा णकार अनुबन्ध तद्धितेष्वच्चाभादेः (६३८) से आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। यह सूत्र भी साऽस्य देवता (१०४१) सूत्रद्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

सोमो देवताऽस्येति सौम्यम् (सोम जिस का देवता है ऐसी हविः या सूक्त)। 'सोम सुं' इस प्रथमान्त से साऽस्य देवता (१०४१) द्वारा 'अस्य' अर्थ में प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत सोमाट्घण् (१०४३) सूत्र से टघण् (य) प्रत्यय हो जाता है। अब सुंञ्जुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक, अन्त्य अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'सौम्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सौम्यं हविः, सौम्यं सूक्तम्, सौम्यो मन्त्रः। स्त्रीलिङ्ग में—सौमी ऋक्। टिड्ढाणञ्० (१२५१) इति डीपि भस्याकारस्य लोपे हलस्तद्धितस्य (१२५३) इति यकारलोपे च कृते रूपं सिध्यति।

अब देवताऽण् के अपवाद यत् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४४) वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ।४।२।३०॥

वायव्यम् । ऋतव्यम् ॥

अर्थः—देवताविशेषवाचक प्रथमान्त समर्थ—वायु, ऋतु, पितृ और उषस् प्रातिपदिकों से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—वायु-ऋतु-पितृ-उषसः ।५।१। यत् ।१।१। साऽस्य देवता (१०४१) इस पूरे सूत्र का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, इधाम्प्रातिपदिकात् तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(सा=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थ (देवता=देवतावाचिनः) देवताविशेषवाची (वायु-ऋतु-पितृ-उषसः) वायु, ऋतु, पितृ और उषस् प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय होता है ।

यत् का तकार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है । तकार अनुबन्ध यतोऽनाबः (६.१.२०७)¹ द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । सूत्रोदाहरण यथा—

वायुर्देवताऽप्येति वायव्यं हविः (वायु जिस का देवता है ऐसी हविः आदि) । यहां प्रथमान्त समर्थ 'वायु सुं' से 'इस का' अर्थ में साऽस्य देवता (१०४१) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कैर प्रकृत वाय्वृतुपित्रुषसो यत् (१०४४) सूत्र से तद्धित-संज्ञक यत् प्रत्यय हो कर सुंप् का लुक् करने से—वायु + य । अब यच्चि भम् (१६५) से भसंज्ञा, ओर्गुणः (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण तथा बान्तो यि प्रत्यये (२४) सूत्रद्वारा ओकार को अच् आदेश कर विभक्तिकार्य करने से 'वायव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

ऋतुर्देवताऽप्येति ऋतव्यं हविः (ऋतु जिस का देवता है ऐसी हविः आदि) । यहां 'ऋतु सुं' से 'अस्य' के अर्थ में पूर्ववत् यत् प्रत्यय, सुंब्लुक्, गुण और अच् आदेश कर विभक्ति लाने से 'ऋतव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

पितृशब्द से यत् करने पर अग्निमसूत्र की प्रवृत्ति होती है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४५) रीङ् ऋतः ।७।४।२७॥

अकृद्यकारे, असार्वधातुके यकारे, च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः । यस्येति च (२३६)—पित्र्यम् । उषस्यम् ॥

अर्थः—अकृत का यकार, असार्वधातुक का यकार, अथवा च्विं प्रत्यय—इन में से कोई एक परे हो तो ऋदन्त अङ्ग के स्थान पर रीङ् आदेश हो जाता है ।

१. अर्थः—यत्प्रत्ययान्तस्य द्व्यच आदिरुदात्तो भवति न चेन्नौशब्दात् परो भवति । तित् स्वरितम् (६.१.१७६) इत्यस्यापवादः । चेयम् । जेयम् । कण्ठ्यम् । ओष्ठ्यम् । अनाव इति किम् ? नाव्यम् । द्व्यच इत्येव—ललाट्यम् ।

व्याख्या—रीड् ।१।१। ऋतः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । अकृत्सार्वधातुकयोः ।६।२। (अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः सूत्र से) । यि ।७।१। (अयङ् इति षिडिति सूत्र से) । च्वा ।७।१। (च्वा च सूत्र से) । 'ऋतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ऋदन्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा । समासः—कृत् च सार्वधातुकं च कृत्सार्वधातुके, न कृत्सार्वधातुके अकृत्सार्वधातुके, तयोः=अकृत्सार्वधातुकयोः, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(अकृत्सार्वधातुकयोः) जो न तो कृत् प्रत्यय का अवयव है और न सार्वधातुक का ऐसे (यि) यकार के परे रहते अथवा (च्वा) च्वा-प्रत्यय के परे रहते (ऋतः=ऋदन्तस्य) ऋदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (रीड्) रीड् आदेश हो जाता है ।

रीड् आदेश का डकार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'री' मात्र शेष रहता है । ङित् होने से यह आदेश ङिच्च (४६) सूत्रद्वारा ऋदन्त अङ्ग के अन्त्य अल् अर्थात् ऋकार के स्थान पर होता है । उदाहरण यथा—

पितरो देवता अस्येति पित्र्यम् (पितर जिस के देवता हैं ऐसी हविः आदि) । 'पितृ जस्' इस प्रथमान्त देवताविशेषवाची से 'अस्य' (इस का) अर्थ में साऽस्य देवता (१०४१) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय के अपवाद षाट्बतुपित्रुबसो यत् (१०४४) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर सुंभ्लुक् करने से 'पितृ+य' बना । अब यहाँ यकार न तो कृत्प्रत्यय का अवयव है और न ही सार्वधातुक का, अतः इस के परे रहते रीड् ऋतः (१०४५) द्वारा तकारोत्तर ऋकार को रीड् आदेश करने पर—पित्त्री+य=पित्री+य । पुनः यहाँ यच्चि भम् (१६५) से भसंज्ञा हो कर यस्येति च् (२३६) द्वारा भसंज्ञक ईकार का लोप हो जाता है—पित्र्यम् । विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने पर 'पित्र्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

उषो देवताऽस्येति उषस्यम् (उषस् जिस का देवता है ऐसी हविः आदि) । 'उषस् सुं' इस प्रथमान्त से पूर्ववत् यत् प्रत्यय ला कर सुंभ्लुक् करने से 'उषस्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यहाँ यह विशेषतः ध्यातव्य है कि भसञ्ज्ञा के द्वारा पदसंज्ञा के बाधित हो जाने से उषस् के सकार को हँ आदेश नहीं होता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा कुछ शब्दों का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४६)

पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः ।४।२।३५॥

एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता पितृव्यः । मातुर्भ्राता मातुलः । मातुः पिता मातामहः । पितुः पिता पितामहः ॥

अर्थः—पितृव्य (चाचा), मातुल (मामा), मातामह (नाना) और पितामह (दादा)—ये चार शब्द निपातित किये जाते हैं ।

व्याख्या—पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः ।१।३। बने बनाये शब्दों को प्रक्रिया दर्शाए बिना सूत्रों में पढ़ देना निपातन कहाता है । इन में प्रकृति, समर्थ-

विभक्ति, प्रत्यय, प्रत्ययार्थ तथा अनुबन्ध आदि की स्वयं कल्पना करनी पड़ती है।
तथाहि—

पितुर्भ्राता पितृव्यः (पिता का भाई अर्थात् चाचा)। यहां 'पितृ इस्' से 'भ्राता' अर्थ में व्यत् प्रत्यय का निपातन समझना चाहिये। सुंल्लुक् होकर विभक्ति लाने से 'पितृव्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

मातुर्भ्राता मातुलः (माता का भाई अर्थात् मामा)। यहां 'मातृ इस्' से 'भ्राता' अर्थ में डुलच् प्रत्यय का निपातन समझना चाहिये। डुलच् का 'उल' मात्र शेष रहता है। सुंल्लुक् हो कर प्रत्यय के डित्त्व के कारण उस के परे रहते टेः (२४२) सूत्रद्वारा भसञ्जक टि (ऋ) का लोप कर विभक्ति लाने से 'मातुलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^१

मातुः पिता मातामहः (माता का पिता अर्थात् नाना)। यहां 'मातृ इस्' से 'पिता' अर्थ में डामहच् प्रत्यय का निपातन हुआ है। अनुबन्धों का लोप होकर 'आमह' मात्र शेष रहता है। सुंल्लुक् हो कर प्रत्यय के डित्त्व के कारण उस के परे रहते टेः (२४२) सूत्रद्वारा भसञ्जक टि (ऋ) का लोप कर विभक्ति लाने से 'मातामहः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पितुः पिता पितामहः (पिता का पिता अर्थात् दादा)। यहां भी पूर्ववत् 'पितृ इस्' से 'पिता' अर्थ में डामहच् (आमह) प्रत्यय का निपातन समझना चाहिये। सुंल्लुक् हो कर टेः (२४२) से टि का लोप हो जायेगा।^२

नोट—मातुर्माता अथवा पितुर्माता—इस अर्थ में भी यही डामहच् प्रत्यय होता है। परन्तु भ्रातरि षिञ्च (वा०) वार्तिकद्वारा उसे षित् अतिदेश किया जाता है। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में षित्वात् षिद्गौरादिभ्यश्च (१२५५) सूत्रद्वारा डीष् हो कर 'मातामही, पितामही' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। कुछ लोग मातामह और पितामह शब्दों का गौरादिगण में पाठ मान कर भी डीष् का विधान किया करते हैं।

अब 'तस्य समूहः' इस अर्थ में तद्धितप्रत्ययों का विधान दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४७) तस्य समूहः ।४।२।३६॥

काकानां समूहः काकम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'समूह' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी का

१. महाभाष्य में वार्तिकद्वारा कहा भी है—
पितृमातृभ्यां भ्रातरि व्यङ्-डुलचौ (वा०)।
२. महामाष्य में वार्तिकद्वारा कहा भी गया है—
मातृ-पितृभ्यां पितरि डामहच् (वा०)।

सौत्र लुक् हुआ है) । समूहः ।१।१। अण् ।१।१। (प्राग्बीव्यतोऽण् यह अधिकृत है) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः— (तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

तात्पर्य यह है कि जिस का समूह कहना अभीष्ट हो उस से परे अण् प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा—

काकानां समूहः काकम् (कौओं का समूह या टोला) । यहां 'काक आम्' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में प्रकृत तस्य समूहः (१०४७) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय, णकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (आम्) का लुक्, पर्जन्यबल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय से आकार को भी वृद्धि आकार (१३८) और अन्त में यस्येति च (२३६) सूत्र से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'काकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि समूह प्रत्ययान्त तद्धितान्तों का लोक में नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग होता है ।

इसीप्रकार—

वकानां समूहो वाकम् (बगुलों का समूह) ।

वृकाणां समूहो वार्कम् (भेड़ियों का समूह) ।

नोट— स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम् (स्त्रियों का समूह), पुंसां समूहः पौंसम् (पुरुषों का समूह)— इन में स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नभौ भवनात् (१००३) सूत्र से औत्सर्गिक अण् के अपवाद क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्यय ही होते हैं । इन की सिद्धि पीछे दर्शाई जा चुकी है ।

अब समूह अर्थ में कुछ अन्य सूत्रों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४८) भिक्षादिभ्योऽण् ।४।२।३७।।

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहो गाभिणम् । इह—

अर्थः—भिक्षा आदि षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हों ।

व्याख्या—भिक्षादिभ्यः ।५।३। अण् ।१।१। तस्य समूहः (१०४७) इस पूरे सूत्र का यहां अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । भिक्षा (भिक्षाशब्दः) आदिर्येषान्ते भिक्षादयः, तेभ्यः=भिक्षादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः— (तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (भिक्षादिभ्यः) भिक्षा आदि समर्थं प्रातिपदिकों से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

भिक्षादि एक गण है ।^१ भिक्षादि प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में पूर्वसूत्रद्वारा

१. भिक्षादिगण यथा—

भिक्षा । गर्भिणी । क्षेत्र । करीष । अङ्गार । चर्मिन् । धर्मिन् । चर्मन् । धर्मन् । सहस्र । युवति । पदाति । पद्धति । अथर्वन् (अर्वन्) । दक्षिण (दक्षिणा) । भूत । विषय । श्रोत्र ॥

प्राप्त होने वाले अण् प्रत्यय को बाध कर ठक् आदि वक्ष्यमाण प्रत्यय प्राप्त होते थे अतः इस सूत्र से उन के बाधनार्थं पुनः अण् का विधान किया गया है । उदाहरण यथा—

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् (भिक्षाओं का समूह या ढेर) । यहां 'भिक्षा आम्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से समूह अर्थ में प्रकृत भिक्षाविभ्योऽण् (१०४८) सूत्र से अण् प्रत्यय, अनुबन्ध णकार का लोप, सुंल्लुक्, आदिवृद्धि एवं यस्येति च (२३६) से अन्त्य आकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'भैक्षम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'भिक्षा अचित्त (चित्त-हीन) वस्तु है अतः अचित्त-हृस्ति-धेनोष्ठक् (१०५१) सूत्रद्वारा समूह अर्थ में इस से ठक् प्रत्यय प्राप्त होता था । यहां उस का बाध कर पुनः अण् प्रत्यय का विधान किया गया है ।

गर्भिणीनां समूहो गर्भिणम् (गर्भवती स्त्रियों का समूह) । गर्भिणीशब्द अनुदात्तादि है अतः समूह अर्थ में सामान्यप्राप्त अण् का बाध कर अनुदात्तादेरञ् (४.२.४३) सूत्र से अण् प्रत्यय प्राप्त था । परन्तु भिक्षादिगण में पाठ के कारण अण् के अपवाद भिक्षाविभ्योऽण् (१०४८) से पुनः अण् प्रत्यय हो जाता है—गर्भिणी आम् + अण् । प्रत्यय के अनुबन्ध णकार का लोप एवं सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंपु (आम्) का भी लुक् कर देने पर—गर्भिणी + अ । अब यहां अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(७८) भस्याढे तद्धिते ॥

इति पुंवद्भावे कृते—

अर्थः—'ढ' से भिन्न अन्य किसी तद्धित प्रत्यय के परे रहते भसञ्ज्ञक अङ्ग के स्थान पर पुंवद्भाव हो जाता है । इति पुंवद्भावे कृते—इस वार्तिक से पुंवद्भाव किये जाने पर (अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है) ।

व्याख्या—भस्य १६।१। अढे ॥७।१। तद्धिते ॥७।१। अङ्गस्य १६।१। (यह अधिकृत है) । यह वार्तिक महाभाष्य में पुंवद्भावप्रकरणस्थ तसिलादिष्वाकृत्वसुंघः (६.३.३४) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः इस का विषय भी पुंवद्भाव करना समझा जायेगा । न ढः—अढः, तस्मिन् = अढे, नञ्त्पुरुषसमासः । ढभिन्ने इत्यर्थः । अर्थः—(अढे = ढभिन्ने) 'ढ' से भिन्न (तद्धिते) अन्य कोई तद्धित प्रत्यय परे हो तो (भस्य अङ्गस्य) भसञ्ज्ञक अङ्ग के स्थान पर (पुंवत्) पुंवद्भाव हो जाता है ।

'गर्भिणी + अ' यहां ढभिन्न तद्धित प्रत्यय अण् परे है और इस के परे रहते यच्चि भम् (१६५) द्वारा पूर्व अङ्ग की भसञ्ज्ञा भी है । अतः भस्याढे तद्धिते (वा० ७८)

१. भैक्षं भिक्षाकवम्बकम् इत्यमरः ।

२. गर्भशब्दान्मत्वर्थीये इन्प्रत्यये कृते प्रत्ययः, परश्च, आद्युवात्तश्चेति इकारस्य उदात्तत्वे अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६.१.१५२) इति शिष्टस्यानुदात्तत्वे गर्भिण्यन्तोऽनुदात्तादिः । ततो नान्तलक्षणे ङीपि तस्य अनुदात्तो सुंपितौ (३.१.४) इत्यनुदात्तत्वे गर्भिणीशब्दोऽप्यनुदात्तादिरेव । (बालमनोरमा)

इस प्रकृतवार्तिक से 'गभिणी' इस भसंज्ञक अङ्ग के स्थान पर 'गभिन्' यह पुंवद्भाव हो कर 'गभिन् + अ' हुआ। अब यहां नस्तद्धिते (६१६) सूत्र से टि (इन्) का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से इस का निषेध करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४६) इनप्यनपत्ये ।६।४।१६४।।

अनपत्यार्थेऽणि परे इन् प्रकृत्या स्यात् । तेन नस्तद्धिते (६१६) इति टिलोपो न । युवतीनां समूहः—यौवनम् ॥

अर्थः—अपत्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थों में विहित अण् प्रत्यय परे हो तो 'इन्' प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् उस में परिवर्तन नहीं होता। तेन—इस सूत्र के कारण नस्तद्धिते (६१६) द्वारा टि (इन्) का लोप नहीं होता।

व्याख्या—इन् ।१।१। अणि ।७।१। अनपत्ये ।७।१। प्रकृत्या ।३।१। (प्रकृत्यंकाब् सूत्र से) । न अपत्यम् अनपत्यम्, तस्मिन्=अनपत्ये, नस्तत्पुरुषः । अर्थः—(अनपत्ये) अपत्यभिन्न अर्थ में विहित (अणि) अण् प्रत्यय के परे रहते (इन्) 'इन्' यह (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से अवस्थित रहता है।

यदि अपत्यार्थ में विहित अण् प्रत्यय परे होगा तो 'इन्' को प्रकृतिभाव न होगा, तब नस्तद्धिते (६१६) से उस का लोप हो जायेगा। यथा—मेघाविनोऽपत्यं मैघावः । यहां तस्यापत्यम् (१००४) से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय किया गया है अतः इस के परे रहते टि (इन्) का लोप हो जाता है, प्रकृतिभाव नहीं होता।

गभिन् + अ । यहां अण् प्रत्यय समूह अर्थ में हुआ है अपत्य अर्थ में नहीं, अतः इनप्यनपत्ये (१०४६) सूत्रद्वारा 'इन्' को प्रकृतिभाव हो जाता है, टि का लोप नहीं होता। तद्धितेष्वचामावेः (६३८) से आदिवृद्धि तथा अट्कुप्वाङ् (१३८) से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'गाभिणम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^१

'युवति' शब्द भी भिक्षादिगण में पढ़ा गया है। युवन् शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में यूनस्तिः (१२७६) सूत्रद्वारा 'ति' प्रत्यय करने पर पदान्त नकार का लोप हो कर 'युवति' शब्द निष्पन्न होता है। यह अनुदात्तादि^२ है। अतः समूह अर्थ में अनुदात्तादेरञ् (४.२.४३) सूत्रद्वारा इस से अञ् प्रत्यय प्राप्त होता है। इस पर उसे बाध कर भिक्षा-विन्म्योऽण् (१०४८) सूत्र से अण् प्रत्यय, सुंब्बुक् तथा भस्याढे तद्धिते (वा० ७८) से

१. यहां यह बात विशेषतः ध्यातव्य है कि भिक्षादिगण में यदि गभिणीशब्द का पाठ न करते तो अनुदात्तादि होने के कारण अनुदात्तादेरञ् (४.२.४३) सूत्र से अञ् प्रत्यय हो कर पुंवद्भाव करने पर टि का लोप हो जाता। इस तरह 'गार्भम्' ऐसा अनिष्ट रूप बनता। किञ्च तब ङिनत्यादिनित्यम् (६.१.१६१) सूत्र से अनिष्ट आद्युदात्तस्वर भी प्रसक्त होता जब कि हमें अन्तोदात्तस्वर अभीष्ट है।

२. कनिन् यु-वृषि-तक्षि० (उणा० १५४) इत्योणादिकसूत्रेण कनिन्प्रत्ययान्तो युवन्शब्दो नित्स्वरेण आद्युदात्तः। ततः स्त्रियां यूनस्तिः (१२७६) इति तिप्रत्ययस्य प्रत्यय-स्वरेणोदात्तत्वे सतिशिष्टस्वरेण युवतिशब्दस्य अनुदात्तादित्वमवसेयम्।

पुंवद्भाव हो जाता है—युवन् + अ । अब नस्तद्धिते (६१६) से प्राप्त टिलोप का बाध कर अन् (१०२४) सूत्र से अन् को प्रकृतिभाव, आदिवृद्धि तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने पर 'यौवनम्' (युवतीनां समूहः, युवतियों का समूह) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

शतृप्रत्ययान्त 'युवत्' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में उगितश्च (१२५०) सूत्रद्वारा डीप् प्रत्यय करने से 'युवती' शब्द बनता है । यह अनुदात्तादि है ।^२ 'युवती आम' से समूह अर्थ में अनुदात्तादेरञ् (४.२.४३) सूत्रद्वारा अञ्प्रत्यय, सुंभ्लुक, भस्याढे तद्धिते (वा० ७८) से पुंवद्भाव, तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'यौवतम्' (युवतीजनों का समूह) प्रयोग सिद्ध हो जाता है । युवतीनां समूहो यौवतम् ।

भिक्षादियों से समूहार्थक अण् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

पदातीनां समूहः पादातम् (पैदलों का समूह) ।

करीषाणां समूहः कारीषम् (सूखे गोबरों का ढेर) ।

दक्षिणानां समूहो दाक्षिणम् (दक्षिणाओं का समूह) ।

सहस्राणां समूहः साहस्रम् (हज़ारों का समूह) ।

अब समूह अर्थ में तल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५०) ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल् ।४।२।४२॥

तलन्तं स्त्रियाम् । ग्रामता । जनता । बन्धुता ॥

अर्थः—ग्राम, जन और बन्धु इन षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तल् प्रत्यय हो । तलन्तं स्त्रियाम् —तल्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ।

व्याख्या—ग्राम-जन-बन्धुभ्यः ।५।३। तल् ।१।१। तस्य समूहः (१०४७) का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ऊघाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधि-कृत हैं । ग्रामश्च जनश्च बन्धुश्च ग्रामजनबन्धवः, तेभ्यः = ग्रामजनबन्धुभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वः ।

१. गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान, धातुवृत्तिकार सायण, सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजि-दीक्षित आदि को यही रूप अभीष्ट है । परन्तु काशिकाकार आदि यहां 'यौवतम्' रूप बनाते हैं । वे यहां भिक्षादित्वात् अण्प्रत्यय करने के बाद गण में पाठ के सामर्थ्य से पुंवद्भाव का अभाव मानते हैं । अमरकोषकार ने भी इसी रूप का अनुमोदन किया है—गणिकादेस्तु गणिक्यं गाभिणं यौवतं गणे । अनेक कवियों ने भी यहां 'यौवत' शब्द का प्रयोग किया है । तथाहि—

अवधृत्य विबोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम् ।

कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ॥ (नैषध २.४१)

मनुष्यनारीजनतोऽपि यौवतं विबोकसां श्रेष्ठतमं वदन्ति ॥ (रामचरित २.३)

अहो विबुधयौवतं बहसि तन्वि पृथ्वीगता ॥ (गीतगोविन्द १०)

२. प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तोऽयं युवच्छब्दः । तत उगिल्लक्षणडीपः पुंवत्त्वेन निवृत्तौ अनुदात्तादिरेवायम् ।

अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त समर्थ (ग्राम-जन-बन्धुभ्यः) ग्राम, जन और बन्धु प्रातिपदिकों से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तल्) तल् प्रत्यय होता है। तल् प्रत्यय में लकार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'त' मात्र शेष रहता है। उदाहरण यथा—

ग्रामाणां समूहो ग्रामता (गाँवों का समूह)। यहां 'ग्राम आम' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में प्रकृत ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल् (१०५०) सूत्रद्वारा तल्प्रत्यय, लकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा सुंपो धातु-प्रातिपदिकयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (आम्) का लुक् करने पर 'ग्रामत' हुआ। 'ग्रामत' शब्द तलन्त है, तल्प्रत्ययान्त शब्द तलन्तः (लिङ्गानुशासन १७) इस लिङ्गानुशासनीयसूत्र के अनुसार स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। अतः यहां भी स्त्रीत्व की विवक्षा में अजाह्यतष्ठाप् (१२४६) सूत्र से टाप् प्रत्यय हो अनुबन्ध टकार पकार का लोप कर सवर्णदीर्घ करने से—ग्रामता। अब प्रथमा के एकवचन में सुं प्रत्यय ला कर उस के अपृक्त सकार का हल्ङ्घाभ्यो दीर्घात् सुंतिस्वपृक्तं हल् (१७६) से लोप करने पर 'ग्रामता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

जनानां समूहः—जनता (लोगों का समूह)। यहां पर भी पूर्ववत् षष्ठीबहुवचनान्त जनशब्द से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय, सुंभ्लुक्, स्त्रीत्व के कारण टाप् तथा अन्त में सवर्णदीर्घ कर विभक्तिकार्य करने से 'जनता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। आजकल हिन्दीभाषा में भी इसी अर्थ में 'जनता' शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

बन्धूनां समूहो बन्धुता (बन्धुओं का समूह)। यहां भी पूर्ववत् तल् प्रत्यय हो कर टाप् प्रत्यय हो जाता है।

अब अग्रिमवार्तिकद्वारा दो अन्य शब्दों से भी समूह अर्थ में तल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७६) गज-सहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् ॥

गजता । सहायता ॥

अर्थः—गज और सहाय इन षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से भी समूह अर्थ में तद्धित तल् प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—गजसहायाभ्याम् । ५।२। च इत्यव्ययपदम् । इति इत्यव्ययपदम् । वक्तव्यम् । १।१। यह वार्तिक पूर्वोक्तसूत्र (१०५०) पर पढ़ा गया है अतः तद्धिव्ययक ही समझा जायेगा। अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्ताभ्याम्) षष्ठ्यन्त (गजसहायाभ्याम्) गज और सहाय प्रातिपदिकों से (च) भी (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक (तल्) तल् प्रत्यय हो (इति वक्तव्यम्) ऐसा कहना चाहिये। उदाहरण यथा—

गजानां समूहो गजता (हाथियों का समूह या झुण्ड)। यहां 'गज आम' से समूह अर्थ में गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् (वा० ७६) इस प्रकृत वार्तिक से तल् प्रत्यय,

सुंलुक् तथा तलन्तः (लिङ्गानुशासन १७) के अनुसार स्त्रीत्व में टाप्-सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'गजता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सहायानां समूहः सहायता (सहायकों का समूह) । यहां भी 'सहाय आम्' से पूर्ववत् तल् प्रत्यय हो कर टाप्, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य हो जाता है ।

अब अग्रिम वार्तिकद्वारा अहन् शब्द से समूह अर्थ में 'ख' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(८०) अह्नः खः ऋतौ ॥

अहीनः ॥

अर्थः—यज्ञ के विषय में वर्तमान षष्ठ्यन्त अहन् प्रातिपदिक से समूह अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'ख' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अह्नः ।५।१। खः ।१।१। ऋतौ ।७।१। प्रकरणतः तस्य समूहः (१०४७) का अनुवर्तन होता है । अर्थः—(ऋतौ) यज्ञ के विषय में वर्तमान (तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (अह्नः) अहन् प्रातिपदिक से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (खः) 'ख' प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

अह्नां समूहः—अहीनः (सुत्याओं का समूहरूप एक यज्ञविशेष^१) । यहां यज्ञविषय में वर्तमान 'अहन् आम्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से समूह अर्थ में प्रकृत अह्नः खः ऋतौ (वा० ८०) वार्तिक से 'ख' प्रत्यय हो कर सुंलुक् तथा आयनेयीनीययः फट्त्वच्छर्धां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) सूत्र से प्रत्यय के आदि ख् को ईन् आदेश करने पर—अहन् ईन् अ = अहन् + ईन् । अब अह्नष्टलोरेव (६.४.१४५)^२ इस नियम का अनुसरण करने

१. 'अहीन' एक यज्ञविशेष का नाम है जो कुछ दिनों में समापनीय होता है । इस के द्विरात्र आदि भेद होते हैं । इस यज्ञ में प्रतिदिन सुत्या अर्थात् सोमलता का कर्त्तन करना पड़ता है । 'अह्नां समूहः' इस विग्रह में अहन्शब्द दिन का वाचक नहीं अपितु दिन में होने वाले कर्म सुत्या का वाचक है, जैसाकि माधवीयघातुवृत्ति में ओहाक् त्यागे (जुहो० परस्मै०) धातु पर कहा है—अत्र अहः शब्दोऽर्हमितकर्म-वचनः । लघुशब्देन्तुशेखर में नागेशभट्ट ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है—ऋतौ वर्तमानाद् अहन्शब्दात् समूहे ख इत्यर्थः । एवं च सुत्यासमूहे खोऽहीनशब्दः । इस यज्ञ को कराने वाले ऋत्विजों के लिये मनुस्मृति में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है—

त्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।

अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रव्यंपोहति ॥ (मनु० ११.१६८)

नायमभिचाराहीनयोर्यजमानस्य विधिः । कस्य तर्हि ? ऋत्विजाम् ।

(भेध्रातिथिव्याख्या)

२. अह्नष्टलोरेव (६.४.१४५) । अर्थः—ट अथवा ख प्रत्यय के परे होने पर ही 'अहन्' की टि का लोप हो ।

इए नस्तद्धिते (९१९) द्वारा भसंज्ञक टि (अन्) का लोप कर विभक्तिकार्य करने से—
अह् + ईन = 'अहीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब समूह अर्थ में ठक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५१)

अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक् ।४।२।४६॥

अर्थः—अचित्त = चित्तविहीन अर्थात् अप्राणिवाचक प्रातिपदिकों से एवं हस्तिन् और धेनु इन दो प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अचित्त-हस्ति-धेनोः ।५।१। ठक् ।१।१। तस्य समूहः (१०४७) सूत्र का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अविद्यमानं चित्तं येषां ते = अचित्ताः, नञ्बहुव्रीहिसमासः । अचेतनाः = अप्राणिवाचका इत्यर्थः । अचित्ताश्च हस्ती च धेनुश्च एषां समाहारः—अचित्तहस्तिधेनु, तस्मात् = अचित्तहस्तिधेनोः, समाहारद्वन्द्वेऽपि पुंस्त्वं सौत्रम् । 'अचित्त' से अचेतन वस्तुओं के वाचक प्रातिपदिकों का ग्रहण अभीष्ट है । हस्तिन् और धेनु दोनों का स्वरूपग्रहण ही इष्ट है । अचेतन न होने के कारण इन का पृथक् उल्लेख किया गया है । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (अचित्त-हस्ति-धेनोः) अचेतनवाचक प्रातिपदिकों एवं हस्तिन् और धेनु इन प्रातिपदिकों से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है ।

ठक् का ककार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, अकार उच्चारणार्थ है 'ठ्' मात्र अवशिष्ट रहता है । कित् करने का फल किति च (१००१) द्वारा अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि करना है ।

इस सूत्र के कई उदाहरणों में अग्रिमसूत्र की प्रवृत्ति होती है अतः उसी सूत्र पर इस के उदाहरण दर्शाए जायेंगे ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५२) इसुसुकतान्तात् कः ।७।३।५१॥

इस्-उस्-उक्-तान्तात् परस्य ठस्य कः । साक्तुकम् । हास्तिकम् । धेनुकम् ॥

अर्थः—इस्, उस्, उक्प्रत्याहार और त्—ये जिस के अन्त में हों ऐसे अङ्ग से परे 'ठ्' को 'क' आदेश हो ।

व्याख्या—इस्-उस्-उक्-तान्तात् ।५।१। कः ।१।१। ठस्य ।६।१। (ठस्येकः सूत्र से) । अङ्गात् ।५।१। (अङ्गस्य इस अधिकार का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है) । समासः—इस् च उस् च उक् च तश्च इसुसुक्ताः, इसुसुक्ता अन्ताः (अन्तावयवाः) यस्य स इसुसुक्तान्तः, तस्मात् = इसुसुक्तान्तात् । द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः । तकारादकार उच्चारणार्थः, उक् प्रत्याहारः । शेषाणां स्वरूपग्रहणम् । अर्थः—(इसुसुक्तान्तात्) इस्, उस्, उक्प्रत्याहार तथा त् ये जिस के अन्त में हों ऐसे (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ठस्य) 'ठ्' के स्थान पर (कः) 'क' आदेश हो जाता है ।

यह सूत्र ठस्येकः (१०२७) द्वारा प्राप्त इकादेश का अपवाद है ।

सर्पिष्, धनुष् आदि शब्दों में षत्व के असिद्ध होने से इस्, उस् जानने चाहियें ।^१ उक् प्रत्याहार में उ, ऋ, लृ ये तीन वर्ण आते हैं । त्-अन्त वाले शब्द उदशिवत्, शकृत्, यकृत् आदि समझने चाहियें ।

पूर्वसूत्र के प्रसङ्ग में उगन्त से परे ठकार को क आदेश यथा—सक्तूनां समूहः साक्तुकम् (सक्तुओं का समूह) । सक्तुशब्द अचित्त अर्थात् अचेतन वस्तु का वाचक है । अतः 'सक्तु आम' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक् (१०५१) सूत्र-द्वारा तद्धित ठक् प्रत्यय हो कर सुंप् (आम्) का लुक् हो जाने से 'सक्तु + ठ' हुआ । सक्तुशब्द उगन्त है अतः ठस्येकः (१०२७) द्वारा प्राप्त इकादेश का बाध कर इसु-सुकतान्तात्कः (१०५२) सूत्र से 'ठ' को 'क' आदेश तथा किति च (१००१) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'साक्तुकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

हस्तिनां समूहो हास्तिकम् (हाथियों का समूह या झुण्ड) । 'हस्तिन् आम' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् (१०५१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय हो कर ककार अनुबन्ध का लोप, तथा तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुंप् (आम्) का लुक् करने से 'हस्तिन् + ठ' हुआ । हस्तिन्शब्द इस्-उस्-उक्-तान्त नहीं अतः ठकार को प्रकृतसूत्र से कादेश नहीं होता । ठस्येकः (१०२७) सूत्र से ठकार को इकादेश कर किति च (१००१) से आदिवृद्धि और नस्तद्धिते (६१६) से टि (इन्) का लोप करने से—हास्त् + इक = हास्तिक । विभक्ति ला कर प्रथमैकवचन में 'हास्तिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

धेनूनां समूहो धेनुकम् (गौओं का समूह) । 'धेनु आम' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् (१०५१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय हो कर सुंप् (आम्) का

१. ध्यान रहे कि इस्, उस् यहां प्रतिपदोक्त ही लेने हैं लाक्षणिक नहीं । सर्पिष्, धनुष् आदि में इस् उस् औणादिक प्रत्ययों द्वारा प्रसूत होने से प्रतिपदोक्त हैं । आशिष्, उष् आदि में ये लाक्षणिक हैं इसलिये उन का ग्रहण नहीं होता (आशिषा चरतीति आशिषिकः, उषा चरतीति औषिकः) ।

इस्, उस् के उदाहरण यथा—

सर्पिः षष्ठ्यमस्य सर्पिष्कः । यहां 'सर्पिष् सुं' से तदस्य षष्ठ्यम् (४.४.५१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय किया जाता है । सुंभ्लुक् हो कर 'ठ' को 'क' आदेश होता है, इक आदेश नहीं । 'क' के परे रहते किति च (१००१) से आदिवृद्धि, षकार के असिद्ध होने से सकार को ह्रस्व-विसर्ग तथा इणः षः (६८१) से विसर्ग को षकार आदेश हो कर रूप निष्पन्न होता है ।

धनुः प्रहरणमस्य । धानुष्कः । यहां 'धनुष् सुं' से प्रहरणम् (११२७) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय किया जाता है । सुंभ्लुक् हो कर 'ठ' को 'क' आदेश, आदिवृद्धि तथा पूर्ववत् विसर्ग को इणः षः (६८१) से षत्व हो जाता है ।

लुक् कर देने से 'घेनु + ट्' हुआ । घेनुशब्द उगन्त है अतः ङस्येकः (१०२७) द्वारा प्राप्त इकादेश का बाध कर इसुसुक्तान्तात्कः (१०५२) सूत्र से 'ट्' को 'क' आदेश तथा किति च (१००१) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'घैनुकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

पूर्वसूत्र के अचित्तवाचकों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

अपूपानां समूह आपूपिकम् (पूओं का समूह या ढेर) ।

शष्कुलीनां समूहः शाष्कुलिकम् (कचौड़ियों का समूह) ।

अपूप और शष्कुलि दोनों अचित्त अर्थात् अचेतनवाचक हैं अतः अचित्तहस्ति-षेनोष्कम् (१०५१) सूत्रद्वारा समूह अर्थ में ठक् हो कर ठकार को इक आदेश हो जाता है ।

समूह अर्थ में तद्धितविधायक एक अन्य सूत्र भी यहां उल्लेखनीय है—

अनुवात्तादेरब् ॥४१२॥४३॥

अर्थः— जिस प्रातिपदिक का पहला अच् अनुदात्त हो उस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से समूह अर्थ में अच् तद्धित प्रत्यय हो । उदाहरण यथा—

कपोतानां समूहः कापोतम् (कबूतरों का समूह) ।

मयूराणां समूहो मयूरम् (मोरों का समूह) ।

तित्तिरीणां समूहस्तैत्तिरम् (तीतरों का समूह) ।

कपोत आदि शब्द अनुदात्तादि हैं अतः समूह अर्थ में इन से अच् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि हो जाती है ।

अब 'तदधीते' और 'तद्वेद' अर्थों में तद्धितप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१०५३) तदधीते तद्वेद ॥४१२॥५८॥

अर्थः— 'उसे पढ़ता है' या 'उसे जानता है' इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या— तद् ॥५११॥ (द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । अधीते इति लैटि क्रियापदम् । तद् ॥५११॥ (पूर्ववत् पञ्चमी का लुक्) । वेद इति लैटि क्रियापदम् । अण् ॥१११॥ (प्राग्दीव्यतोऽण् अधिकार से लब्ध) ।

१. जब 'अधीते' या 'वेद' के अर्थ में द्वितीयान्त से ही प्रत्यय करना अभीष्ट है तो वह एक बार के 'तद्' ग्रहण से भी सिद्ध हो सकता है—तदधीते वेद । तो पुनः सूत्र में दो बार के 'तद्' ग्रहण का क्या प्रयोजन ? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है । इस का उत्तर यह है कि यदि 'तद्' शब्द एक बार ग्रहण करते तो द्वितीयान्त से दोनों अर्थों के समुच्चय में ही प्रत्यय हो सकता पृथक् पृथक् अर्थ में नहीं । अर्थात् तब यदि कोई पढ़ता और उसे जानता भी तभी प्रत्यय होता । जो केवल पढ़ता पर जानता नहीं अथवा जो केवल जानता पर पढ़ता नहीं उस में प्रत्यय न हो सकता । अब दो बार 'तद्' के ग्रहण से दो वाक्य बन जाते हैं—तदधीते, तद्वेद । इस से दोनों अर्थों में पृथक् पृथक् रूप से प्रत्यय सिद्ध हो जाता है । जैसाकि न्यासकार ने

प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तद् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अधीते इत्यर्थे) 'पढ़ता है' इस अर्थ में अथवा (तद् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (वेद इत्यर्थे) 'जानता है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह है कि जिसे पढ़ता है या जिसे जानता है उस कर्मीभूत से प्रत्यय हो कर पढ़ने वाले या जानने वाले का बोध होता है। उदाहरण यथा—

छन्दोऽधीते वेद वा छान्दसः (जो छन्दःशास्त्र को पढ़ता या जानता है)। यहाँ 'छन्दस् अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'पढ़ने वाला' या 'जानने वाला' इन अर्थों में तदधीते तद्वेद (१०५३) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय हो जाता है—छन्दस् अम् + अ । अब समुदाय के तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से उस के अवयव सुंप् (आम्) का लुक् एवं तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से आदि अच् अकार को वृद्धि (आ) कर विभक्ति लाने से 'छान्दसः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार— निरुक्तमधीते वेत्ति^१ वा नैरुक्तः (निरुक्तग्रन्थ को पढ़ने वाला या जानने वाला)। निमित्तान्त्यधीते वेद वा नैमित्तः (शकुनशास्त्रों को पढ़ने वाला या जानने वाला)। निगमान् अधीते वेद वा नैगमः (वेदमन्त्रों को पढ़ने वाला या जानने वाला)। उत्पातान्^२ अधीते वेद वा औत्पातः (उत्पातों का अध्येता या वेत्ता)।

अब ग्रन्थकार प्रकृतसूत्र पर 'वैयाकरणः' उदाहरण प्रदर्शित करने के लिये उस में लगने वाले प्रधान प्रक्रियासूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् — (१०५४)

न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामँच् । ७।३।३।।

पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः, किन्तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमाद् ऐचावागमौ स्तः। व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः।।

अर्थः—पदान्त यकार एवं पदान्त वकार से पर वर्ण के स्थान पर वृद्धि नहीं होती किन्तु उन यकार वकार से पूर्व क्रमशः ऐच् (ऐ, औ) वर्णों का आगम हो जाता है (यकार से पूर्व ऐकार का तथा वकार से पूर्व औकार का आगम होता है)।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । य्वाभ्याम् । १।२। पदान्ताभ्याम् । १।२। पूर्वौ । १।२।

कहा है—यदि 'तदधीते वेद' इत्येव उच्येत, प्रत्ययार्थद्वयस्य द्वितीयासमर्थे समुच्चयो विज्ञायेत। ततश्च यस्त्वधीते वेत्ति च तत्रैव स्यात्। यस्त्वधीते केवलं न वेत्ति, वेत्ति वा केवलं नाधीते तत्र न स्यात्। द्विस्तद्ग्रहणे तु वाक्यभेदाद् अधीयाने विदुषि च प्रत्येकं प्रत्ययः सिध्यति तदर्थं द्विस्तद्ग्रहणम्।

१. विग्रह में 'वेद' या 'वेत्ति' कोई सा रूप रखा जा सकता है। दोनों विद् धातु के लट् के समानार्थक रूप हैं।
२. प्राणिनां शुभाशुभसूचको भूतविकार उत्पात इत्युच्यते।

तु इत्यव्ययपदम् । ताभ्याम् ।५।२। ऐच् ।१।१। वृद्धिः ।१।१। (मृषेर्बृद्धिः सूत्र से) । समासः—य् च वश्च य्वी, ताभ्याम् = य्वाभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । वकारादकार उच्चारणार्थः । अन्वयः—पदान्ताभ्यां य्वाभ्यां (परस्य) न वृद्धिः, तु (किन्तु) ताभ्यां (य्वाभ्याम्) पूर्वौ ऐच् । अर्थः—(पदान्ताभ्याम्) पदान्त (य्वाभ्याम्) य् व् से परे (वृद्धिर्न) वृद्धि नहीं होती (तु) किन्तु (ताभ्याम्) उन य् व् वर्णों से (पूर्वौ) पूर्व (ऐच्) ऐ, औ वर्ण आ जाते हैं । यथासंख्यपरिभाषा से पदान्त यकार से पूर्व ऐकार का तथा पदान्त वकार से पूर्व औकार का आगम हो जायेगा ।

जब पूर्व में वि, सु, नि में से कोई उपसर्ग या निपात जुड़ा हुआ हो और उस में यप्सन्धि भी की गई हो तो वहाँ यकार और वकार पदान्त होते हैं । कारणकि अव्यय होने के कारण इन के आगे आये सुंप् का अव्ययादासुंप्ः (३७२) से लुक् हुआ करता है । प्रत्ययलक्षण का आश्रय कर सुंबन्तत्वेन इन की पदसंज्ञा (१४) हुआ करती है । व्याकरण (वि + आकरण), व्यसन (वि + असन), न्याय (नि + आय), न्यास (नि + आस), स्वश्व (सु + अश्व) इत्यादियों में यणसन्धिजन्य यकार वकार पदान्त हैं अतः इन में ही प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति सम्भव हो सकती है ।

सूत्र का उदाहरण यथा—

व्याकरणमधीते वेत्ति वा वैयाकरणः (व्याकरण का अध्येता या ज्ञाता) । यहाँ 'व्याकरण अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से तद्धीते तद्धेव (१०५३) सूत्रद्वारा 'पठता है' या 'जानता है' इन अर्थों में तद्धित अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा (११७) तथा सुंपो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से उस के अवयव सुंप् (अम्) का लुक् हो जाता है—व्याकरण + अ । अब तद्धितेष्वचामादेः (६३८) द्वारा अङ्ग के आदि अच् आकार के स्थान पर पर्जन्यबल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय से वृद्धि प्राप्त होती है । इस पर प्रकृत न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामंच् (१०५४) सूत्रद्वारा पदान्त यकार से परे उस वृद्धि का निषेध हो जाता है और इस के साथ ही उस यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) वर्ण का आगम भी हो जाता है—व् ऐ याकरण + अ = वैयाकरण + अ । पुनः अण् तद्धित के परे रहते यस्येति च (२३६) में भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वैयाकरणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रकृतसूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

व्यसने भवं वैयासनम् (व्यसन में होने वाला) । यहाँ 'व्यसन डि' से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर सुंप् (डि) का लुक् हो जाता है—व्यसन + अ । अब यहाँ तद्धितेष्वचामादेः (६३८) द्वारा पदान्त यकार से परे अकार को वृद्धि (आ) प्राप्त होती है । इस पर प्रकृत न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामंच् (१०५४) सूत्र से उस का निषेध हो कर यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) का आगम हो जाता है—व् ऐ व्यसन + अ = वैयासन + अ । पुनः अण् तद्धित के परे रहते यस्येति च (२३६) से अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वैयासनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

१. 'पूर्वौ' इत्यनेन सम्बन्धाद् 'ऐचौ' इति प्राप्ते एकवचनं सौत्रमिति हरदत्तः ।

न्यायमधीते वेद वा नैयायिकः (न्यायशास्त्र का अध्येता या ज्ञाता) । यहां 'न्याय अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से तद्धीते तद्धेद (१०५३) के अर्थों में उक्थादियों में पाठ के कारण ऋतूक्थादिसूत्रान्ताद् ठक् (४.२.५६) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय ला कर सुंप (अम्) का लुक् करने से—न्याय + ट् । अब किति च (१००१) से प्राप्त ठग्निमित्तक वृद्धि का न ध्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामंच् (१०५४) से निषेध हो कर पदान्त यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) का आगम भी हो जाता है—न् ऐ याय + ट् = नैयाय + ट् । पुनः ठस्येकः (१०२७) से 'ट्' को 'इक्' आदेश एवं यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'नैयायिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी-तरह—न्यासमधीते वेत्ति वा नैयासिकः (न्यासग्रन्थ का अध्येता वा ज्ञाता) ।

स्वश्वस्यापत्यं सौवश्वः (सुन्दर घोड़े की सन्तति) । शोभनोऽश्वः स्वश्वः, प्रादिसमासः । 'स्वश्व इस्' से तस्यापत्यम् (१००४) के अर्थ में शिवादित्वात् शिवादि-भ्योऽण् (१०१७) से अण् प्रत्यय हो कर सुंप (इस्) का लुक् करने से—स्वश्व + अ । अब पदान्त वकार से परे प्राप्त अग्निमित्तक वृद्धि का न ध्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामंच् (१०५४) से निषेध हो कर पदान्त वकार से पूर्व ऐच् (ओ) का आगम भी हो जाता है—स् औ वश्व + अ = सौवश्व + अ । पुनः यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'सौवश्वः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

व्याघ्रस्यापत्यं वैयाघ्रिः (व्याघ्र की सन्तति) । यहां 'व्याघ्र इस्' से अपत्यार्थ में अत इज् (१०१४) से इज् प्रत्यय हो कर सुंप (इस्) का लुक् करने से 'व्याघ्र + इ' हुआ । अब यहां पदान्त यकार से परे पर्जन्यबल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय के अनुसार आकार को भी तद्धितेष्वचामादेः (६३८) द्वारा वृद्धि प्राप्त होती है । इस पर न ध्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामंच् (१०५४) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है और साथ ही पदान्त यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) का आगम भी हो जाता है—व् ऐ याघ्र + इ = वैयाघ्र + इ । पुनः यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वैयाघ्रिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सूत्र में 'पदान्ताभ्याम्' कहने से—एति (गच्छति) इति यन् (शतृप्रत्ययान्तः),^२

१. काशिकाकारेण न ध्वाभ्यामिति सूत्रव्याख्याने स्वश्वस्यापत्यं सौवश्व इत्युक्तम् । न्यासकारेण जिनेन्द्रबुद्धिना पदमञ्जरीकारेण हरदत्तेन च शिवादित्वादण् इति तत्र स्पष्टं व्याख्यायि । परमन्ये नैवं मन्यन्ते । हेमचन्द्रेण स्वोपज्ञवृहद्वृत्तौ (७.४.५) स्वश्वस्यापत्यं सौवश्वः, स्वश्वस्यायं सौवश्व इति व्याख्यातम् । बालमनोरमाकारेणाप्यत्र स्वश्वस्यापत्यं सौवश्वरित्युक्तम् । एतैर् अपत्येऽर्थे अत इज् (१०१४) इति इञ्प्रत्ययः स्वीकृतः ।
२. इण् गतौ (अदा० परस्मै०) इत्यस्माल्लोटः शतरि, शपि, अदादित्वात् तल्लुकि इणो यण् (५७८) इति यणि 'यत्' इति शत्रन्तः शब्दो निष्पद्यते । यन्, यन्तौ, यन्त इत्येवं तस्य रूपमाला बोध्या ।

यत इमे छात्राः—याताः । शैषिक अण् के परे रहते यहां अपदान्त यकार से पूर्व ऐच् का आगम नहीं होता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा तदधीते तद्वेद के अर्थों में वुन् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५५) क्रमादिभ्यो वुन् ।४।२।६०॥

क्रमकः । पदकः । शिक्षकः । मीमांसकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थं क्रम आदि प्रातिपदिकों से 'पढ़ता है' या 'जानता है' इन पूर्वोक्त अर्थों में तद्धितसंज्ञक 'वुन्' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—क्रमादिभ्यः ।५।३। वुन् ।१।१। तदधीते तद्वेद (१०५३) का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिभूत हैं । समासः—क्रम-शब्द आदियेषान्ते क्रमादयः, तेभ्यः= क्रमादिभ्यः, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(तद्=द्वितीयान्तेभ्यः) द्वितीयान्त (क्रमादिभ्यः) क्रम आदि प्रातिपदिकों से ('अधीते' इत्यर्थे, 'वेद' इत्यर्थे वा) 'पढ़ता है' या 'जानता है' इन अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वुन्) वुन् प्रत्यय होता है ।

वुन् के नकार की हलन्त्यम् (१) द्वारा इत् संज्ञा हो जाती है । 'वु' मात्र शेष रहता है । 'वु' को युबोरनाकौ (७८५) से 'अक' आदेश हो जाता है । प्रत्यय को नित् करने का प्रयोजन ङिनत्यादिनित्यम् (६.१.१९१) सूत्रद्वारा पद को आद्युदात्त करना है । इस प्रत्यय के परे रहते आदिवृद्धि की प्रसक्ति नहीं होती । उदाहरण यथा—

क्रमम् अधीते वेत्ति वा क्रमकः (वैदिक क्रमपाठ को पढ़ने या जानने वाला) । यहां 'क्रम अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'पढ़ता है' या 'जानता है' इन अर्थों में प्रकृत क्रमादिभ्यो वुन् (१०५५) सूत्रद्वारा वुन् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक् तथा युबोरनाकौ (७८५) से 'वु' को 'अक' आदेश करने पर— क्रम + अक । अब यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अन्त्य अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'क्रमकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

क्रमादिगण में कुल पाञ्च शब्द गिनाये गये हैं—

क्रम । पद । शिक्षा । मीमांसा । सामन् ।

पदमधीते वेत्ति वा पदकः (वैदिक पदपाठ को पढ़ने या जानने वाला) । यहां भी पूर्ववत् वुन् प्रत्यय, अक आदेश, सुंभ्लुक् तथा अन्त्य अकार का लोप हो जाता है ।

शिक्षामधीते वेद वा शिक्षकः (शिक्षाग्रन्थ को पढ़ने या जानने वाला) । यहां भी पूर्ववत् वुन् प्रत्यय, अक आदेश, सुंभ्लुक् तथा अन्त में आकार का लोप हो जाता है ।

मीमांसामधीते वेद वा मीमांसकः (मीमांसाशास्त्र को पढ़ने या जानने वाला) । इस की प्रक्रिया पूर्वोक्त 'शिक्षकः' की तरह जानें ।

सामानि अधीते वेद वा सामकः (साममन्त्रों को पढ़ने या जानने वाला) । यहां 'सामन् + अक' में नस्तद्धिते (९१९) द्वारा टि (अन्) का लोप विशेष है ।

इन के अतिरिक्त कुछ अन्य सूत्रों वा वार्तिकोंद्वारा भी तदधीते तद्वेद (१०५३) के अर्थ में कई अन्य प्रत्यय विधान किये गये हैं । कुछ प्रसिद्ध प्रयोग यथा—

१. इतिहासमधीते वेत्ति वा ऐतिहासिकः (ठक्) ।
 २. पुराणान्यधीते वेत्ति वा पौराणिकः (ठक्) ।
 ३. यज्ञमधीते वेत्ति वा याज्ञिकः (ठक्) ।
 ४. संहितामधीते वेत्ति वा सांहितिकः (ठक्) ।
 ५. आयुर्वेदमधीते वेत्ति वा आयुर्वेदिकः (ठक्) ।^१
 ६. पाणिनीयमधीते वेत्ति वा पाणिनीयः ।^२
- इन के लिये काशिकावृत्ति का अवलोकन करें ।

अभ्यास [३]

- (१) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्त रूप ससूत्र सिद्ध करें—
 १. वायुर्देवताऽस्य । २. न्यायमधीते वेद वा । ३. स्त्रीणां समूहः । ४. चर्मणा परिवृतः । ५. पदातीनां समूहः । ६. शिक्षामधीते वेत्ति वा । ७. धेनूनां समूहः । ८. पितरो देवता अस्य । ९. जनानां समूहः । १०. हस्तिनां समूहः । ११. मातुर्भ्राता । १२. कषायेण रक्तम् । १३. वामदेवेन दृष्टं साम । १४. भ्राष्ट्रेषु संस्कृता यवाः । १५. इन्द्रो देवताऽस्य । १६. पशुपतिर्देवताऽस्य । १७. शुक्रो देवताऽस्य । १८. युवतीनां समूहः । १९. शरावे उद्धृतः । २०. अपूपानां समूहः ।
- (२) विग्रह दर्शाते हुए अधोलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
 १. नैयासिकः । २. मीमांसकः । ३. गाभिणम् । ४. वैयाकरणः । ५. बार्हस्पत्यम् । ६. शुक्रियम् । ७. मातामही । ८. साक्तुकम् । ९. सहायता । १०. ग्रामता । ११. अद्य पुष्यः । १२. अहीनः । १३. काकम् । १४. उषस्यम् । १५. सौम्यम् । १६. क्रमकः । १७. यौवतम् । १८. वास्त्रः । १९. पौषमहः । २०. नैरुक्तः ।
- (३) अधोनिर्दिष्ट सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
 १. अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् । २. लुबविशेषे । ३. इसुसुक्तान्तात्कः । ४. न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम्० । ५. तदधीते तद्वेद । ६. इनप्यनपत्ये । ७. तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः । ८. नक्षत्रेण युक्तः कालः । ९. संस्कृतं भक्षाः । १०. तेन रक्तं रागात् । ११. साऽस्य देवता । १२. वाय्वृतुपित्रुषसो यत् । १३. रीड् ऋतः ।
- (४) निम्नस्थ वार्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. यहां उभयपदवृद्धि की गई है । परन्तु गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान तथा आचार्य हेमचन्द्र यहां उत्तरपद में वृद्धि नहीं मानते । उन के अनुसार 'आयुर्वेदिकः' रूप ही बनता है ।

२. पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं शास्त्रम् । **बृद्धाच्छः** (१०७७) इति छः । ततोऽप्येतु-वेदितृप्रत्ययस्य अणः प्रोक्तास्लुक् (४.२.६३) इति लुक् ।

१. भस्याढे तद्धिते । २. अङ्कः खः ऋतौ । ३. तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राऽणि यलोप इति वाच्यम् । ४. गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् ।

(५) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—

[क] तद्घीते तद्दे में तद्शब्द का दो बार ग्रहण क्यों किया गया है ?

[ख] तेन रक्तं रागात् में 'रागात्' का ग्रहण क्यों किया गया है ?

[ग] डघत् और डघ प्रत्ययों को डित् करने का क्या प्रयोजन है ?

[घ] 'शरावे उद्धृतः' यहां अपादान में पञ्चमी क्यों न हो ?

[ङ] भक्ष्य और भक्ष में क्या अन्तर है ?

[च] उषस्यम् में सकार को ह्रस्व क्यों नहीं होता ?

(६) पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः सूत्र में किस किस कार्य का निपातन किया गया है ?

(७) अधोनिदिष्टों पर व्याकरणसम्बन्धी टिप्पण लिखें—

[क] नक्षत्र से युक्त काल ।

[ख] युवतीनां समूहः—(यौवनम्, यौवतम्) ।

[ग] षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषः ।

[घ] अद्य पुष्यम्, पौषमहः ।

[ङ] काषायौ गर्दभस्य कर्णौ ।

[च] तलप्रत्ययान्तों का लिङ्ग ।

[छ] समूहार्थकतद्धितान्तों का लिङ्ग ।

[ज] अधोवासश्च माञ्जिष्ठिकम् ।

[झ] हिन्दी 'सहायता' Versus संस्कृत 'सहायता' ।

[लघु०] इति रक्ताद्यर्थकाः ॥

(यहां रक्तादि अर्थों वाले तद्धितप्रत्ययों का विवेचन समाप्त हुआ ।)

—:—

अथ चातुरर्थिकाः

अब यहां से आगे चातुरर्थिकप्रकरण प्रारम्भ होता है । चतुर्णाम् अर्थानां समाहारः—चतुरर्थी, तत्र भवाश्चातुरर्थिकाः ।^१ इस प्रकरण में चार अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया गया है अतः यह चातुरर्थिकप्रकरण है । वे चार अर्थ ये हैं—(१) इस में है—ऐसा देश । (२) उस ने बनाया या बसाया—ऐसा नगर । (३) उस का निवास

१. अध्यात्मादित्वात् (वा० ८६) ठञ् । चतुर्षु अर्थेषु भवा इति तद्धितार्थे द्विगौ तु द्विगोर्लुगनपत्ये (४.१.८८) इति ठञो लुक् स्यात् । नागेशभट्टास्तु चतुर्णां सूत्रशामर्षाः—चतुरर्थीः, तत्र भवाश्चातुरर्थिका इत्येवमाहुः ।

—ऐसा देश । (४) उस से जो दूर नहीं—ऐसा देश । अब आगे क्रमशः इन अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया जायेगा । प्रथम अर्थ में यथा—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५६)

तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ।४।२।६६॥

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे—औदुम्बरो देशः ॥

अर्थः—‘वह इस में है’ इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थं प्रातिपदिक से तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रकृतिप्रत्यय-समुदायात्मक शब्द देश का नाम हो तो ।

व्याख्या—तद् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण तद्शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये) । अस्मिन् ।७।१। अस्ति इति तिङन्तम्पदम् । इति इत्यव्यय-पदम् । देशे ।७।१। तन्नाम्नि ।७।१। अण् ।१।१। (प्राग्बोध्यतोऽण् इस अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, इध्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—तत् (प्रत्ययान्तं रूपम्) नाम यस्य तत् तन्नाम, तस्मिन् = तन्नाम्नि, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(तत् = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थं प्रातिपदिक से (अस्मिन् अस्ति इत्यर्थे) ‘वह इस में है’ इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है यदि (तन्नाम्नि) वह प्रत्ययान्त शब्द (इति) किसी प्रसिद्ध (देशे) देश का नाम हो तो ।^१

यह सूत्र आगे आने वाले मत्तुप् प्रत्यय (११८५) का अपवाद है । उदाहरण यथा—

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे—औदुम्बरो देशः (उदुम्बर अर्थात् गूलर के पेड़ जिस देश में हैं तन्नामक वह देश) ।^२ ‘उदुम्बर + जस्’ इस प्रथमान्त समर्थ से ‘वे इस में हैं’ इस अर्थ में प्रकृत तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि (१०५६) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय, अनुबन्ध णकार का लोप तथा तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर उस के अवयव सुंप् (जस्) का सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से लुक् हो जाता है—उदुम्बर + अ । अब तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से आदिवृद्धि एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से ‘औदुम्बरः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यह स्थानविशेष की सञ्ज्ञा है । इसीप्रकार—

१. यहां ‘देश’ से साधारणतया स्थानमात्र अर्थ अभिप्रेत है । अतः यथासम्भव प्रदेश, नगर, ग्राम, जनपद आदि सब का यथोचित ग्रहण हो जाता है । किञ्च सूत्र में ‘अस्ति’ पदगत एकवचन को भी यहां अविभक्तित समझना चाहिये । इस से द्विवचनान्तों एवं बहुवचनान्तों के ग्रहण में भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । इसी-प्रकार—तेन निर्बुसम् (१०५७), तस्य निवासः (१०५८) आदि में भी समझ लेना चाहिये ।

२. यह किसी प्राचीन प्रसिद्ध प्रदेश का नाम है । प्रत्येक स्थान जहां उदुम्बर होंगे, औदुम्बर नहीं कहायेगा । इसीप्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिये ।

बल्वजाः^१ सन्त्यस्मिन् देशे—बाल्वजो देशः ।

पर्वताः सन्त्यस्मिन् देशे—पार्वतो देशः ।

यह सूत्र कुछ योगरूढ शब्दों की सिद्धि के लिये ही बनाया गया है । आधुनिक संकेतों में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । सूत्र में 'इति' शब्द के ग्रहण का यही रहस्य है ।

अब दूसरे चातुरथिक प्रत्यय का विधान दशति है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५७) तेन निर्वृत्तम् ।४।२।६७।।

कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी ॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'बनाया गया या बसाया गया' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रत्ययान्त शब्द देश का नाम हो तो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । निर्वृत्तम् ।१।१। अण् ।१।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् इस अधि-कार से लब्ध) । 'इति देशे तन्नाम्नि' इन पदों की पूर्वसूत्र (१०५३) से अनुवृत्ति आ रही है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घ्राप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । 'निर्वृत्तम्' शब्द निरपूर्वक वृत्तं वृत्तने (भ्वा० आत्मने०) धातु से क्तप्रत्यय करने पर सिद्ध हुआ है । यहां वृत्तुं धातु अन्तर्भावितण्यर्थं प्रयुक्त की गई है अतः सकर्मक हो जाने से इस से कर्म में क्त का प्रयोग समझना चाहिये । इस प्रकार 'निर्वृत्त' का अर्थ 'बना हुआ' न हो कर 'बनाया गया' हो जाता है । निर्वृत्तम् = निर्वृत्तितम् इत्यर्थः । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (निर्वृत्तम् = निर्वृत्तितम् इत्यर्थे) 'बनाया गया—बसाया गया' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है यदि (तन्नाम्नि) वह तद्धितान्त शब्द (इति देशे) किसी प्रसिद्ध देश = स्थान का नाम हो तो । उदाहरण यथा—

कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी (कुशाम्ब राजा से बनाई या बसाई गई नगरी) ।^२ यहां 'कुशाम्ब टा' इस तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'बनाई या बसाई गई'

१. बल्वजाः = तृणविशेषाः । यै रज्जुमेखलादयो निर्मायन्ते । उक्तञ्च मनुना—
मुञ्जाऽप्लाभे तु कर्त्तव्याः कुशाश्मन्तक-बल्वजैः (मनु० २.४३) ।। महाभाष्येऽपि
—एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थः, तत्समुदायश्च रज्जुः समर्था भवति (महा-
भाष्य (१.२.४५) ।

२. कौशाम्बी भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त प्राचीन नगरी है । इस का उल्लेख वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड अध्याय (३२) में किया गया है । महर्षि विश्वामित्र के साथ जब राम और लक्ष्मण मिथिला को जा रहे थे तब विश्वामित्र ने उन से पार्श्वस्थ नगरों का वर्णन किया था । विश्वामित्र कहते हैं—“कुशनामक एक ब्रह्मपुत्र थे । उन के कुशाम्ब, कुशनाभ आदि चार पुत्र थे । इन चारों ने एक-एक नगर बसाया था । कुशाम्ब ने कौशाम्बी नगरी बसाई ।” बाद के इतिहास में

अर्थ में प्रकृत तेन निर्वृत्तम् (१०५७) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय ला कर सुँब्लुक, आदि-वृद्धि और भसञ्जक अकार का लोप करने से 'कौशाम्ब' बना। अब नगरी विशेष्य के अनुसार स्त्रीत्व की विवक्षा में टिड्ढाणञ्० (१२५१) सूत्र से डीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसञ्जक अकार का भी लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'कौशाम्बी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार — सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा (एक हजार सुवर्ण-मुद्राओं या व्यक्तियों से बनाई गई खाई)।

अब तीसरे चातुरथिक प्रत्यय का विधान दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् — (१०५८) तस्य निवासः ।४।२।६८॥

शिबीनां निवासो देशः शैबः ॥

अर्थः — षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'उस का निवास' इस अर्थ में तद्धित-सञ्जक अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो तो।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। निवासः ।१।१। अण् ।१।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् अधिकार से)। 'इति देशे तन्नाम्नि' पदों की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है। प्रत्ययः, पररश्च, इघाप्रतिपदि-कात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। रहने के स्थान को निवास कहते हैं, निवसत्य-स्मिन्निति निवासः। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (निवास इत्यर्थे) निवास अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्जक (अण्) अण् प्रत्यय होता है यदि (तन्नाम्नि) वह प्रत्ययान्त शब्द (इति देशे) किसी प्रसिद्ध देश का नाम हो तो।

उदाहरण यथा —

शिबीनां निवासः शैबो देशः (शिबिनामक क्षत्रियों का निवास स्थान देश)। यहां 'शिबि आम्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से निवास अर्थ में प्रकृत तस्य निवासः (१०५८) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय हो कर सुँप् (आम्) का लुक् एवम् आदिवृद्धि करने पर 'शैबि + अ' हुआ। अब यस्येति च (२३६) से भसञ्जक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शैबः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार —

उदिष्टानां निवासो देश औदिष्टः (काशिकायाम्)।

ऋजुनावां निवासो देश आर्जुनावः (काशिकायाम्)।

अब चौथे चातुरथिक प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५९) अदूरभवश्च ।४।२।६९॥

विदिशायाम् अदूरभवं नगरं वैदिशम् ॥

भी उदयन आदि राजाओं का इस नगरी से सम्बन्ध रहा है। आजकल प्रयाग (इलाहाबाद) से तीस मील उत्तरपश्चिम की ओर कोसम नाम का एक ग्राम अवस्थित है। शायद इस के आस पास कहीं कौशाम्बी नगरी स्थित रही होगी।

१. ऋज्वी नौर्यस्य स ऋजुनौः, तेषाम् = ऋजुनावाम्।

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'निकट होने वाला' अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो जाता है यदि प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो तो ।

व्याख्या—तस्य १५।१। (तस्य निवासः सूत्र से । षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमीविभक्ति का सौत्र लुक् हुआ है) । अदूरभवः १।१। च इत्यव्ययपदम् । अण् १।१। (प्राग्वीव्यतोऽण् अधिकार से) । 'इति देशे तन्नाम्नि' पदों की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है । प्रत्ययः, परश्च, इषाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । भवतीति भवः, अदूरे (निकटे) भवः—अदूरभवः, निपातनात्सप्तमी-तत्पुरुषः । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (अदूरभव इत्यर्थे) 'उसके निकट होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है यदि (तन्नाम्नि) वह प्रत्ययान्त शब्द (इति देशे) किसी प्रसिद्ध देश = स्थान का नाम हो तो । उदाहरण यथा—

विदिशाया अदूरभवं वैदिशं नगरम् (विदिशा^१ के निकट कोई प्राचीन नगर) । यहां 'विदिशा इस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'निकट स्थित' अर्थ में प्रकृत अदूर-भवश्च (१०५६) सूत्रद्वारा तद्धित अण् प्रत्यय हो कर सुंभ्लुक, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक आकार का लोप कर विशेष्य (नगरम्) के अनुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में अतोऽम् (२३४) द्वारा सुं को अम् और अम् पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'वैदिशम्' (नगरम्) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

हिमवतोऽदूरभवं हैमवतम् (काशिका) ।

पम्पायाः (सरसः) अदूरभवानि पाम्पानि वनानि (भाषावृत्तौ) ।^२

टिप्पणी—सूत्रे चकारः पूर्वेषां त्रयाणामर्थानामिह सन्निधानार्थः । तेनोत्तरत्र ओरञ् (४.२.७०) इत्यादिषु सूत्रेषु चत्वारोऽप्यर्थाः सम्बन्ध्यन्ते ।

अब जनपद के वाच्य होने पर चातुरार्थिक प्रत्यय के लुप् (अदशनं) का विधान करते हैं—

१. विदिशा नगरी प्राचीन काल में दशार्णदेश की राजधानी थी, जैसा कि कालिदास ने मेघदूत (श्लोक २४) में लिखा है—

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम् ।

मालवदेश की एक नदी का नाम भी विदिशा है ।

२. इस का प्रयोग यथा—

नन्वनानि मुनीन्द्राणां रमणानि वनोकसाम् ।

वनानि भेजतुर्वारो ततः पाम्पानि राघवौ ॥ (भट्टि० ६.७३)

कुछ लोग 'पम्पा' का वरणादिगण में पाठ मानते हैं । उनके मतानुसार चातुरार्थिक प्रत्यय का वरणादिव्यश्च (१०६२) सूत्रद्वारा लुप् हो कर लुपि युक्तवद् व्यस्त-वचने (१०६१) से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन लाने से 'पम्पा वनानि' बनेगा ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६०) जनपदे लुप् ।४।२।८०॥

जनपदे वाच्ये चातुरथिकस्य लुप् ॥

अर्थः—जनपद वाच्य होने पर चातुरथिक प्रत्यय का लुप् हो जाता है ।

व्याख्या—जनपदे ।७।१। लुप् ।१।१। चातुरथिकस्य प्रत्ययस्य—यह प्रकरणतः प्राप्त हो जाता है । अर्थः—(जनपदे) जनपद के वाच्य होने पर (चातुरथिकस्य) पूर्वोक्त चार अर्थों में विहित प्रत्यय का (लुप्) लुप् हो जाता है ।

ग्रामानां समूहो जनपदः (काशिका) । ग्रामों के समूह को जनपद कहते हैं । पिछले चार सूत्रों (१०५६—१०५९) के द्वारा चार अर्थों में देश के वाच्य होने पर चातुरथिक प्रत्ययों का विधान किया गया है । देश के कई भेद हैं—ग्राम, नगर, नगरी, जनपद, परिखा, वन आदि । देश का भेदविशेष जनपद (ग्रामसमूह) वाच्य हो तो पूर्व-विहित चातुरथिक प्रत्यय का लुप् (लोप) हो जायेगा । लुप् भी प्रत्यय के अदर्शन की ही संज्ञा है [देखें—प्रत्ययस्य लुक्शुलुपः (१८९)] । प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी प्रत्यय का अर्थ तो रहेगा ही । कहा भी है—यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी ।

उदाहरण यथा—

पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः (पञ्चाल क्षत्रियों का निवास जनपद) । 'पञ्चाल आम्' इस षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'निवास' अर्थ में तस्य निवासः (१०५८) सूत्रद्वारा जनपद की वाच्यता में अण् प्रत्यय हो कर सुंप् (आम्) का लुक् हो जाता है—पञ्चाल + अ । अब जनपद की वाच्यता होने के कारण प्रकृत जनपदे लुप् (१०६०) सूत्र से चातुरथिक प्रत्यय अण् का भी लुप् हो जाता है । इस तरह 'पञ्चाल' मूलप्रकृति रह जाता है । जनपद विशेष्य के अनुसार इस से भी तद्वत् लिङ्ग और वचन प्राप्त होते हैं । परन्तु अभिमसूत्र लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने (१०६१) से प्रकृति के अनुसार लिङ्ग और वचन हो जाते हैं । प्रकृति (पञ्चाल) का लिङ्ग पुलिङ्ग और वचन बहुवचन था अतः यहां पर भी उस के अनुसार पुलिङ्ग में बहुवचन लाने से 'पञ्चालाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—

कुरूणां निवासो जनपदः—कुरवः ।^२

अङ्गानां निवासो जनपदः—अङ्गाः ।

वङ्गानां निवासो जनपदः—वङ्गाः ।

कलिङ्गानां निवासो जनपदः—कलिङ्गाः ।

मगधानां निवासो जनपदः—मगधाः ।

सुहानां निवासो जनपदः—सुहाः ।

पुण्ड्राणां निवासो जनपदः—पुण्ड्राः ।

मत्स्यानां निवासो जनपदः—मत्स्याः ।

अब लुप्रत्ययान्तों से प्रकृति के समान लिङ्ग और वचन का विधान करते हैं—

१. ध्यान रहे कि यदि लुप् हुए प्रत्यय को मान कर अङ्ग के आदि अच् को तद्धितेष्व-
चामादेः (९३८) द्वारा वृद्धि करने की ठानेंगे तो न लुमताङ्गस्य (१९१) सूत्र से उस का निषेध हो जायेगा ।

२. श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वर्ति यमयुङ्क्त वेदितुम् ।

स वर्णलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने बनेचरः ॥ (किरात० १.१)

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(१०६१)

लुपि युक्तवद् व्यक्तवचने ।१।२।५१॥

लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालानां निवासो जनपदः
पञ्चालाः । कुरवः । वङ्गाः । कलिङ्गाः ॥

अर्थः—प्रत्यय का लुप् होने पर (अवशिष्ट शब्द से) प्रकृति के समान ही लिङ्ग और वचन होते हैं ।

व्याख्या—लुपि ।७।१। युक्तवद् इत्यव्ययपदम् । व्यक्तवचने ।१।२। समासः—
व्यक्तिश्च वचनं च व्यक्तवचने, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(लुपि) प्रत्यय का लुप् होने
पर (युक्तवद्) प्रकृति की तरह (व्यक्तवचने) लिङ्ग और वचन होते हैं । सूत्र में
'युक्त' का अर्थ प्रकृति तथा 'व्यक्ति' का अर्थ लिङ्ग है । ये पूर्वाचार्यों की संज्ञाएं हैं ।

सात्पर्य यह है कि जिस शब्द से विधान किये प्रत्यय का लुप् किया जाता है
लुप् करने के बाद अवशिष्ट उस शब्द से लिङ्ग और वचन विशेष्य के अनुसार नहीं
लगाने चाहियें अपितु उस प्रकृति (जिस से लुप्यमान प्रत्यय विधान किया गया था) के
अनुसार लिङ्ग और वचन लगाने चाहियें । यथा—पञ्चालाः जनपदः । यहां पञ्चाल-
शब्द से निवास अर्थ में अण् प्रत्यय किया गया था, उस का जनपदे लुप् (१०६०) से
लुप् हो गया तो 'पञ्चाल' शब्द अवशिष्ट रहा । अब यह पञ्चालशब्द यद्यपि 'जनपदः'
का विशेषण है तथापि इस से विशेष्यानुसार लिङ्ग-वचन नहीं होते किन्तु प्रकृति के
अनुसार ही लिङ्ग-वचन होते हैं । जिस से प्रत्यय विधान किया जाता है उसे प्रकृति
कहते हैं—प्रत्ययात् पूर्वं क्रियते इति प्रकृतिः । यहां चातुरथिक अण् प्रत्यय पञ्चालशब्द
से विधान किया गया था अतः 'पञ्चाल' प्रकृति है । उस प्रकृति का लिङ्ग पुलिङ्ग
और वचन बहुवचन है अतः यहां अवशिष्ट पञ्चालशब्द से भी पुलिङ्ग का बहुवचन
हो कर 'पञ्चालाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार—अङ्गाः, वङ्गाः, कुरवः,
कलिङ्गाः आदि में जानना चाहिये । इन सब का विग्रह और सिद्धि पूर्वसूत्र पर दिखा
चुके हैं ।

यद्यपि पञ्चालाः, अङ्गाः, वङ्गाः, कुरवः आदियों में केवल वचन को प्रकृतिवत्
करने से भी कार्य सिद्ध हो जाता है क्योंकि लिङ्ग तो विशेष्य (जनपदः) का भी पुलिङ्ग
ही है अतः विशेष्यानुसार लिङ्ग मान लेने पर भी कोई दोष नहीं आ सकता, तथापि
जहां प्रकृति का लिङ्ग विशेष्य के लिङ्ग से भिन्न होता है वहां लिङ्ग का अतिदेश
करना परम आवश्यक होता है । यथा—कटुबदर्या अदूरभवो ग्रामः कटुबदरी
ग्रामः । यहां कटुबदरीशब्द से अदूरभवश्च (१०५६) सूत्रद्वारा विहित चातुरथिक अण्
प्रत्यय का वक्ष्यमाण बरणादिव्यश्च (१०६२) सूत्र से लुप् हो जाता है । इस प्रकार
'कटुबदरी' शब्द ही अवशिष्ट रहता है । अब इस का लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत्
होता है, विशेष्य (ग्रामः) के अनुसार नहीं । प्रकृति का लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग और वचन
एकवचन था अतः अवशिष्ट 'कटुबदरी' शब्द का भी लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग और वचन
एकवचन होगा ।

‘लुपि’ इति किम् ? लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत् तभी होते हैं जब प्रत्यय का लुप् हुआ हो । लुक् आदि होने पर लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत् नहीं होते वरन् विशेष्य-वत् ही होते हैं । यथा—

लवणेन संसृष्टः—लवणः सूपः, लवणो सूपी, लवणाः सूपाः ।

लवणेन संसृष्टा—लवणा यवागूः, लवणे यवाग्वी, लवणाः यवाग्वः ।

लवणेन संसृष्टम्—लवणं शाकम्, लवणे शाके, लवणानि शाकानि ।

यहां तृतीयान्त लवणप्रातिपदिक से संसृष्टे (११२१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय हो कर लवणाल्लुक् (४.४.२४) सूत्र से उस का लुक् हो जाता है । यहां प्रत्यय का लुक् हुआ है लुप् नहीं, अतः लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत् न हो कर विशेष्य के अनुसार होते हैं जैसाकि उदाहरणोंद्वारा स्पष्ट है ।

अब जनपद के वाच्य न होने पर भी कुछ शब्दों से चातुरथिक प्रत्यय के लुप् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६२) वरणादिभ्यश्च ।४।२।८१॥

(वरणादिभ्यश्च चातुरथिकस्य लुप् स्यात्) । अजनपदार्थ आरम्भः ।

वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः ॥

अर्थः—वरणा आदि शब्दों से परे चातुरथिक प्रत्यय का लुप् हो । अजनपदार्थ आरम्भः—जनपदभिन्न वाच्य के लिये यह सूत्र बनाया गया है ।

व्याख्या—वरणादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । चातुरथिकस्य ।६।१। (प्रकरणतः लब्ध) । लुप् ।१।१। (जनपदे लुप् सूत्र से) । समासः—वरणाशब्द आदिर्येषान्ते वरणादयः, तेभ्यः=वरणादिभ्यः ।^१ तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(वरणादिभ्यः) वरणा आदि शब्दों से परे (चातुरथिकस्य) चातुरथिक प्रत्यय का (लुप्) लुप् हो जाता है ।

जनपदे लुप् (१०६०) सूत्र से जनपद की वाच्यता में चातुरथिक प्रत्यय का लुप् कहा गया है । यहां पुनः अजनपद (नगर, ग्राम आदि) की वाच्यता में भी वरणादि शब्दों से परे उस के लुप् का विधान कर रहे हैं । उदाहरण यथा—

१. केषाञ्चिन्मते गणस्यास्यादौ वरणशब्दो वर्तते । वरणो वृक्षविशेषः । वरणादिगणो यथा—

वरणाः (वरण इति काशिका) । गोदो । शृङ्गी । शाल्मली । शुण्डी । शयाण्डी । पर्णी । ताम्रपर्णी । आलिङ्ग्यायन । जानपदी (जालपदी) । जम्बू । पुष्कर । चम्पा । पम्पा । बल्गु । उज्जयिनी । गया । मथुरा । तक्षशिला । उरसा (उरशा) । गोमती । बलभी । कटुबदरी । शिरीषाः । काञ्ची । सदाण्वी । वणिकि । वणिक । आकृतिगणोऽयम् । (सूत्रे चकारोऽनुक्त-समुच्चयार्थः । तेनास्य गणस्याकृतिगणत्वं व्यज्यत इति काशिकाकारः) ।

वरणानाम् अदूरभवं नगरं वरणाः (वरणानदी के निकटवर्ती कोई प्राचीन नगर) । वरणा काशी के निकट उत्तरदिशा में स्थित एक नदी है ।^१ इस का आदरार्थ या अवयवबाहुल्य के कारण बहुवचनान्त प्रयोग प्रसिद्ध है । यहां 'वरणा आम्' से अदूर-भव अर्थ में अदूरभवश्च (१०५६) सूत्रद्वारा चातुरथिक अण् प्रत्यय करने पर तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुंपो धातु० (७२१) से सुंप् (आम्) का लुक् हो जाता है—वरणा + अ । पुनः प्रकृत-सूत्र वरणाद्विम्यश्च (१०६२) द्वारा चातुरथिक अण् का लुप् हो कर लुपि युष्तवद् व्यक्तिवचने (१०६१) से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन (स्त्रीलिङ्ग का बहुवचन) करने से 'वरणाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—

गोदौ नाम हृदी । गोदयोरदूरभवो ग्रामो गोदौ ।

कटुबदर्या अदूरभवो ग्रामः कटुबदरी ।

शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः ।

तक्षशिलाया अदूरभवा भूमिः तक्षशिला (प्रक्रियासर्वस्वे) ।

अब चातुरथिक प्रकरण में इमत्तुंप् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (१०६३)

कुमुद-नड-वेतसेभ्यो इमत्तुंप् ।४।२।८६।

अर्थः—कुमुद, नड और वेतस इन तीन संबन्त प्रातिपदिकों से पूर्वोक्त अर्थों में तद्धितसंज्ञक इमत्तुंप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कुमुद-नड-वेतसेभ्यः ।५।३। इमत्तुंप् ।१।१। प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । कुमुदाश्च नडाश्च वेतसाश्च कुमुद-नड-वेतसाः, तेभ्यः = कुमुद-नड-वेतसेभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वः । यह प्रत्यय यद्यपि चातुरथिक है तथापि मत्वर्थ अर्थात् 'वह इस में है ऐसा देश' इस एक अर्थविशेष में ही इष्ट है । न पदान्तद्विवचन० (१.१.५७) सूत्र के भाष्य तथा प्रदीप में इस का स्पष्टीकरण किया गया है । अर्थः—(कुमुद-नड-वेतसेभ्यः) कुमुद, नड और वेतस इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (तदस्मिन्नस्तीति देशे) 'वह इस में है ऐसा देश' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (इमत्तुंप्) इमत्तुंप् प्रत्यय होता है ।

इमत्तुंप् प्रत्यय के डकार की चटू (१२६) द्वारा, पकार की हलन्त्यम् (१) द्वारा तथा उकार की उपदेशोज्जनुनासिक इत् (२८) सूत्रद्वारा इत्संज्ञा हो कर लोप हो जाता है, 'मत्' मात्र शेष रहता है । डित्त्वसामर्थ्यात् टैः (२४२) सूत्र से टि का लोप करने के लिये इसे डित् किया गया है । पकार अनुबन्ध अनुदात्तस्वर के लिये तथा उकार अनुबन्ध उगित्कार्यों के लिये जोड़ा गया है ।

इस सूत्र के उदाहरणों में वक्ष्यमाण दो सूत्रों का उपयोग होता है अतः इस के उदाहरण उन सूत्रों पर दिये जायेंगे ।

१. वरणा नाम नदी काश्या उत्तरतः प्रसिद्धा । अवयवाभिप्रायं पूजार्थं वा बहुवचनम्—इति बालमनोरमा ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६४) ऋयः । ८।२।१०।।

झयन्ताद् मतोर्मस्य वः । कुमुद्धान् । नड्वान् ।।

अर्थः—झय्प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण से परे मर्तुं के मकार के स्थान पर 'व्' आदेश हो ।

व्याख्या—झयः । ५।१। मतोः । ६।१। वः । १।१। (मातृपधायाम्च मतोर्बोऽयवा-द्विस्यः सूत्र से । वकारादकार उच्चारणार्थः) । यहां मर्तुंप्रत्ययाक्षिप्त 'प्रातिपदिकात्' का अध्याहार कर 'झयः' को उस का विशेषण बना कर विशेषण से तदन्तविधि कर ली जाती है—झयन्तात् प्रातिपदिकात् । झय् एक प्रत्याहार है जिस में वर्गपञ्चम वर्णों को छोड़ कर अन्य सब वर्णों का आ जाते हैं । अर्थः—(झयः=झयन्तात् प्रातिपदिकात्) झय् प्रत्याहार जिस के अन्त में हो ऐसे प्रातिपदिक से परे (मतोः) मर्तुं के स्थान पर (वः) 'व्' आदेश हो जाता है ।

झयन्त से परे मर्तुं के स्थान पर होने वाला यह आदेश आदेः परस्य (७२) परिभाषाद्वारा मर्तुं के आदि वर्ण अर्थात् मकार के स्थान पर ही होता है । किञ्च आदिश्यमान यह वकार, विधीयमान होने से सवर्णों का ग्राहक (११) नहीं, ब्रह्मा अतः अनुनासिक मकार के स्थान पर भी निरनुनासिक वकार ही आदिष्ट होता है ।

कुछ उदाहरण यथा—

अग्निचित् + मत् = अग्निचित् + वत् = अग्निचित्वान् (ग्रामः) ।

उदशिवत् + मत् = उदशिवत् + वत् = उदशिवत्वान् (घोषः) ।

विद्युत् + मत् = विद्युत् + वत् = विद्युत्वान् (बलाहकः) ।

मरुत् + मत् = मरुत् + वत् = मरुत्वान् (इन्द्रः) ।^१

दृषद् + मत् = दृषद् + वत् = दृषद्वान् (देशः) ।

पूर्वसूत्रस्थ प्रकृत उदाहरण यथा—

कुमुदाः सन्त्यस्मिन् देशे इति कुमुद्धान् देशः (कुमुद अर्थात् श्वेतकमल जिस में है ऐसा तन्नामक देश) । यहां 'कुमुद जस्' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय (१०५६) का बाध कर कुमुद-नड-त्रेतसेभ्यो इमर्तुंप् (१०६३) सूत्रद्वारा इमर्तुंप् तद्धित ला उस के अनुबन्धों का लोप कर सुंप् (जस्) का भी लुक् कर देने से 'कुमुद + मत्' हुआ । अब इमर्तुंप् के डित्त्वसामर्थ्य से, भसंज्ञा न होते हुए भी टेः (२४२) सूत्रद्वारा टि (दकारोत्तर अकार) का लोप हो कर 'कुमुद + मत्' इस स्थिति में प्रकृत झयः (१०६४) सूत्र से दकार झय् से परे मर्तुं के मकार को वकार आदेश हो जाता है—कुमुद् + वत् = कुमुद्वत् । पुनः विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुं प्रत्यय ला कर अत्वसन्तस्य चाऽघातोः (३४३) से उपधा-दीर्घ, उगिदघां सर्वनामस्थानेऽघातोः (२८९) से नुंम् का आगम, अनुबन्धलोप,

१. इन उदाहरणों में तदस्यास्त्यस्मिन्निति मर्तुंप् (११८५) सूत्र से मर्तुंप् प्रत्यय किया गया है । तसौ मत्वर्थे (११८६) सूत्रद्वारा तकारान्तों की भसंज्ञा हो जाने से पदत्व के अभाव के कारण झलां जशोऽन्ते (६७) से तकार को जश्त्वेन दकार नहीं होता ।

हल्ङ्घादिद्वारा सुंलोप तथा अन्त में तकार का भी संयोगान्तलोप करने से 'कुमुद्धान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कुमुद्धान् कुमुबप्राये इत्यमरः।^१

इसीप्रकार—नडाः सन्त्यस्मिन्निति नडवान् देशः (नडतृण जिस में हैं ऐसा तन्नामक देश)। यहां भी पूर्वोक्तप्रकारेण नडशब्द से इमर्तुप प्रत्यय हो कर टि का लोप और मर्तुं के मकार को वकार हो जाता है।^२

अब तीसरे उदाहरण 'वेतस्वान्' प्रयोग की सिद्धि के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६५)

मातृपधायश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः । ८।२।६॥

मवर्णावर्णान्ताद् मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात् परस्य मतोर्मस्य वः । वेतस्वान् ।।

अर्थः—मकारान्त, अवर्णान्त, मकारोपध तथा अवर्णोपध—इन चार प्रकार के प्रातिपदिकों से परे मर्तुं के मकार को वकार आदेश हो जाता है परन्तु यवादिगणपठित प्रातिपदिकों से परे नहीं होता।

व्याख्या—मात् । ५।१। उपधायाः । ५।१। च इत्यव्ययपदम् । मतोः । ६।१। वः । १।१। (वङ्कारादकार उच्चारणार्थः) । अयवादिभ्यः । ५।३। समासः—म् च अश्च^३ मम्, तस्मात् = मात्, समाहारद्वन्द्वः । मर्तुंप्रत्ययाक्षिप्तप्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिः । एतेन मकारान्ताद् अवर्णान्ताच्च प्रातिपदिकादिति लभ्यते । माद् इत्यावर्तते । एतच्चोपधाविशेषणम्, तेन मकारोपधाद् अवर्णोपधाच्च प्रातिपदिकादित्यपि लभ्यते । न यवादिभ्यः—अयवादिभ्यः, नञ्त्तपुरुषः । सूत्र में 'च' ग्रहण के कारण यहां वाक्यभेद हो जाता है । मात् परस्य मतोर्वो भवतीत्येकं वाक्यम् । उपधायाश्च मात् परस्य मतोर्वो भवतीत्यपरं वाक्यम् । अर्थः—(मात् = मकारान्ताद् अवर्णान्ताच्च प्रातिपदिकात्) मकारान्त और अवर्णान्त प्रातिपदिक से परे (च) तथा (उपधाया मात्—मकारोपधादवर्णोपधाच्च प्रातिपदिकात्) मकारोपध और अवर्णोपध प्रातिपदिक से परे (मतोः) मर्तुं के स्थान पर (वः) 'व्' आदेश हो जाता है परन्तु यह कार्य (अयवादिभ्यः) यवादियों से परे नहीं होता ।

१. अथोल्लसद्भिर्नयनैर्मुनीनामयं कुमुद्धानजनि प्रवेशः । (अनर्षाराधव २.८४)

२. यहां मकार को किस सूत्र से वकार किया जाये इस में मतभेद है । कुछ वैयाकरण झय् (ङ्) से परे मर्तुं के मकार को झयः (१०६४) सूत्रद्वारा वकार आदेश का विधान मानते हैं । परन्तु अन्य लोग झयः (८.२.१०) सूत्र को त्रिपाद्यां परत्वेन असिद्ध मान कर अकारोपध होने के कारण वक्ष्यमाण मातृपधायश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (८.२.६) सूत्र से ही वत्व का विधान करते हैं । विशेषजिज्ञासु तत्त्वबोधिनी तथा शेषरद्वय का अवलोकन करें ।

३. 'अ' से अवर्णमात्र का ग्रहण अभीष्ट है । इस से दीर्घअवर्णान्तों से भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है । इसीप्रकार दीर्घ-अवर्णोपधों के विषय में भी समझ लेना चाहिये ।

आदेः परस्य (७२) परिभाषा के अनुसार यह वकारादेश मत्तुं के मकार के स्थान पर ही किया जाता है। उदाहरण यथा—

(१) मकारान्त प्रातिपदिकों से—

किम् + मत्तुंप् = किम् + मत् = किम् + वत् = किवान् ।

शम् + मत्तुंप् = शम् + मत् = शम् + वत् = शंवान् ।

(२) अवर्णान्त प्रातिपदिकों से—

गुण + मत्तुंप् = गुण + मत् = गुण + वत् = गुणवान् ।

वृक्ष + मत्तुंप् = वृक्ष + मत् = वृक्ष + वत् = वृक्षवान् ।

माला + मत्तुंप् = माला + मत् = माला + वत् = मालावान् ।

विद्या + मत्तुंप् = विद्या + मत् = विद्या + वत् = विद्यावान् ।^१

(३) उपधा में मकार वाले प्रातिपदिकों से—

शमी + मत्तुंप् = शमी + मत् = शमी + वत् = शमीवान् ।

लक्ष्मी + मत्तुंप् = लक्ष्मी + मत् = लक्ष्मी + वत् = लक्ष्मीवान् ।

(४) उपधा में अकार वाले प्रातिपदिकों से—

पयस् + मत्तुंप् = पयस् + मत् = पयस् + वत् = पयस्वान् ।

यशस् + मत्तुंप् = यशस् + मत् = यशस् + वत् = यशस्वान् ।

भास् + मत्तुंप् = भास् + मत् = भास् + वत् = भास्वान् ।^२

(५) यवादिगणपठित शब्दों^३ से परे बत्व नहीं होता। यथा—

यव + मत्तुंप् = यव + मत् = यवमान् ।^४

भूमि + मत्तुंप् = भूमि + मत् = भूमिमान् ।^५

१. 'विद्वान्' शब्द इस श्रेणी में नहीं आता क्योंकि वहां मत्तुंप् प्रत्यय नहीं किया गया। वहां शतुं के स्थान पर वमुं आदेश हुआ है [देखें बिदेः शतुर्वसुंः (८३३) सूत्र की व्याख्या]।

२. तसौ मत्वर्थ (११८६) सूत्रद्वारा मत्वर्थ प्रत्यय के परे रहते तकारान्त और सकारान्त भसञ्जक होते हैं। अतः यहां भसंज्ञा हो जाने से पदत्वाभाव के कारण सकार को रेंत्व नहीं होता।

३. यवादिगण यथा—

यव । दल्मि । ऊर्मि । भूमि । कृमि । ऋञ्चा । वशा । द्राक्षा । धाक्षा । वृक्षा ।

वेशा । ध्रजि । ध्वजि । सञ्जि । वजि । व्रजि । शञ्जि । निजि । सिजि । सिञ्जि ।

हरित् । ककुद् । गरुत् । इक्षु । मधु । द्रुम । मण्ड । धूम । आकृतिगणोऽयम् ॥

[इस गण में 'धूम' शब्द विशेष विचारणीय है, क्योंकि न्यायवशेषिकग्रन्थों में 'धूमवान्, धूमवत्त्वात्' इत्यादि शब्दों का प्रयोग बाहुल्येन प्राप्त होता है। गणरत्न-महोदधि में इस का उल्लेख नहीं पाया जाता। आचार्य हेमचन्द्र ने भी इस का उल्लेख नहीं किया। परन्तु काशिका में इस का पाठ स्पष्ट आया है। अतः काशिका के मतानुसार 'धूमवान्' आदियों में बत्व अशुद्ध है।]

४. अवर्णान्त होने से बत्व प्राप्त था। यवादिपाठ के कारण रुक गया।

५. मकारोपध होने से बत्व प्राप्त था। यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ।

गरुत् + मतुप् = गरुत् + मत् = गरुत्मान् ।^१

कृमि + मतुप् = कृमि + मत् = कृमिमान् ।^२

ऊर्मि + मतुप् = ऊर्मि + मत् = ऊर्मिमान् ।

ककुद् + मतुप् = ककुद् + मत् = ककुद्धान् ।^३

अब प्रकृतप्रकरणोपयोगी उदाहरण यथा—

वेतसाः सन्त्यस्मिन् इति वेतस्वान् देशः (वेतस अर्थात् बेंत जिस में हों ऐसा तन्नामक देश) । यहां 'वेतस जस्' से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुप् (१०६३) सूत्र से ड्मतुप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक् एवं प्रत्यय के डित्वसामर्थ्य से भसंज्ञा के बिना भी टि का लोप करने पर—वेतस् + मतुं । पुनः अकारोपघ होने से माकुपघायाश्च मतोर्बोऽयबाविभ्यः (१०६५) सूत्रद्वारा मतुं के मकार को वकार आदेश करने से 'वेतस्वत्'^४ बना । अब इस से पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से प्रथमा के एकवचन में 'वेतस्वान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^५ स्त्रीत्व की विवक्षा में उगितश्च (१२५०) से डीप् प्रत्यय हो जायेगा—वेतस्वती ।

अब इसी अर्थ में ड्वल्च् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६६) नड-शादाड् ड्वल्च् ।४।२।८७।।

नड्वलः । शाद्वलः ॥

अर्थः—नड और शाद इन सुंबन्त प्रातिपदिकों से पूर्वोक्त चारों अर्थों में तद्धित-सञ्ज्ञक ड्वल्च् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—नड-शादात् ।५।१। ड्वल्च् ।१।१। प्रत्ययः, परश्च, ड्घाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । पूर्वोक्त चारों अर्थों का भी अनुवर्तन हो रहा है । नडश्च शादश्च नडशादम्, तस्मात् = नडशादात् । समाहारद्वन्द्वः । अर्थः—(नडशादात्) नड और शाद इन सुंबन्त प्रातिपदिकों से (चातुरर्थिकः) चातुरर्थिक (ड्वल्च्) ड्वल्च् (तद्धितः) तद्धित प्रत्यय होता है । यह प्रत्यय यद्यपि चातुरर्थिक है, इस का पूर्वोक्त चारों अर्थों के साथ सम्बन्ध करना चाहिये तथापि प्रसिद्धिवशात् केवल 'अस्मिन्नस्तीति देशे' इस अर्थ में ही प्रयुक्त होता है ।

ड्वल्च् के डकार और चकार अनुबन्ध हैं । इन का लोप हो कर 'वल' मात्र शेष रहता है । प्रत्यय का डित्करण टिलोपार्थ तथा चित्करण अन्तोदात्तस्वरार्थ किया गया है । उदाहरण यथा—

१. ऋयः (१०६४) से वत्व प्राप्त था । यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ ।

२. मकारोपघ होने से वत्व प्राप्त था । यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ । इसीप्रकार 'ऊर्मिमान्' में भी जानना चाहिये ।

३. ऋयः (१०६४) से वत्व प्राप्त था । यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ ।

४. अत्र अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् सकारस्य र्त्वं नेति शब्देन्दुशेखरे नागेशः ।

५. कुमुद्धान् कुमुदप्राये वेतस्वान् बहुवेतसे इत्यमरः ।

नडाः सन्त्यस्मिन्निति नड्वलो देशः (नडतृण जिस में हैं ऐसा तन्नामक प्रदेश) । 'नड जस्' से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में नडशावाड़ ड्वलच् (१०६६) सूत्र से तद्धितसंज्ञक ड्वलच् प्रत्यय; अनुबन्धलोप तथा प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (जस्) का लुक् करने पर 'नड+वल' हुआ । अब प्रत्यय के डित्करण के सामर्थ्य से भसंज्ञा के विना भी डेः (२४२) सूत्रद्वारा टि (डकारोत्तर अकार) का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'नड्वलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१ पीछे इसी अर्थ में कुमुव-नड-वेतसेम्यो ड्मत्तुप् (१०६३) सूत्रद्वारा ड्मत्तुप् प्रत्यय करने पर 'नड्वान्' प्रयोग भी सिद्ध किया जा चुका है । अमरकोष में कहा भी है—नडप्राये नड्वान् नड्वल इत्यपि ।

शादाः सन्त्यस्मिन्निति शाद्वलो देशः (हरी घास वाला प्रदेश) । यहां भी पूर्वोक्तप्रकारेण 'शाद जस्' से ड्वलच् प्रत्यय, सुंभ्लुक्, टिलोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'शाद्वलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^२ शाद्वलशाबहरिते इत्यमरः ।

अब चातुरथिक वलच् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६७) शिखाया वलच् ।४।२।८८॥

शिखावलम् ॥

अर्थः—'शिखा' इस सुंबन्त प्रातिपदिक से पूर्वोक्त चार अर्थों में तद्धितसंज्ञक वलच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शिखायाः ।४।१। वलच् ।१।१। प्रत्ययः, परश्च, ऊधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । पूर्वोक्त चतुरथों का भी यहां अनुवर्तन होता है । अर्थः—(शिखायाः) 'शिखा' इस सुंबन्त प्रातिपदिक से पूर्वोक्त चार अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वलच्) वलच् प्रत्यय होता है ।

वलच् का 'वल' मात्र शेष रहता है । चित्करण अन्तोदात्तस्वर के लिये किया गया है । प्रत्यय के डित् न होने से टि का लोप नहीं होता । उदाहरण यथा—

शिखाः सन्त्यस्मिन्निति शिखावलं नाम नगरम् (शिखाओं वाला तन्नामक नगर) । यहां 'शिखा जस्' से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में शिखाया वलच् (१०६७) इस प्रकृतसूत्र से वलच् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा विभक्तिकार्य करने पर नपुंसक के प्रथमैकवचन में 'शिखावलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । काशिकाकार के अनुसार यह किसी प्राचीन नगर का नाम है ।^३

नोट—पाणिनि ने मत्वर्थीयप्रकरण में बन्तशिखात् संज्ञायाम् (५.२.११३) सूत्र-द्वारा वलच् प्रत्यय कर इसे आगे भी दुबारा सिद्ध किया है, उसे अदेशार्थं अर्थात् देश-भिन्न अर्थ में विधानार्थ मानना चाहिये ।

१. कुछ लोग मारवाड़ के वर्तमान नाडौल नगर को प्राचीन नड्वल समझते हैं ।
२. ययो भृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् । (रघु० २.१७)
३. श्रीवामुदेवशरण अग्रवाल सोननदी पर स्थित सिहावलनगर (रीवा रियासत) के ही प्राचीन शिखावलनगर होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं ।

अभ्यास (४)

- (१) निम्नस्थ प्रश्नों का सहेतुक उत्तर दीजिये—
- [क] 'वरणा नगरम्' यहां बहुवचन का प्रयोग क्यों किया जाता है ?
 [ख] ड्मत्तुप् प्रत्यय को डित् करने का क्या प्रयोजन है ?
 [ग] अदूरभवश्च में 'च' के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?
 [घ] मरुत्वान् में जश्त्वेन दकार क्यों नहीं होता ?
 [ङ] जनपद में चातुरर्थिक का लुक् न कर लुप् क्यों किया है ?
 [च] निर्वृत्तम् में वृत् धातु को अन्तर्भावितव्यर्थ क्यों मानते हैं ?
- (२) 'चातुरर्थिक' इस नामकरण पर टिप्पण करें ।
 (३) 'युक्तवद् व्यक्तिवचने' का अभिप्राय अपने शब्दों में स्पष्ट करें ।
 (४) चातुरर्थिकप्रकरण के मुख्य चार अर्थों का सोदाहरण परिचय दें ।
 (५) शिखाशब्द से वलच् प्रत्यय का दो बार विधान अष्टाध्यायी में क्यों किया गया है ?
 (६) जनपद किसे कहते हैं ? इस की वाच्यता में चातुरर्थिक प्रत्यय की क्या स्थिति होती है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।
 (७) मादुपधायश्च० द्वारा मकार के स्थान पर होने वाला वकार अनुनासिक क्यों नहीं होता ?
 (८) नड्वान् में झयः द्वारा बत्व करने में कौन सा दोष प्रसक्त होता है ?
 (९) मत्तुं को विधान किया जाने वाला वकार आदेश उस के अन्त्य अल् को क्यों नहीं होता ?
- (१०) कुरवः, अङ्गाः, वङ्गाः आदि में चातुरर्थिक प्रत्यय के लुप् हो जाने पर प्रत्ययलक्षणद्वारा आदिवृद्धि क्यों नहीं होती ।
 (११) वकारादेश की दृष्टि से शुद्धाशुद्ध प्रयोगों का विवेचन करें—
 ककुपन्तः । धूमवान् । गरुडान् । गीमान् । पितृवान् । आचार्यवान् ।
 द्रुमवान् । मधुवान् । लक्ष्मीमान् । ऊर्मिवान् ।
- (१२) निम्नस्थ प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि करें ।
 १. औदुम्बरः । २. कौशाम्बी । ३. शौबः । ४. वैदिशम् । ५. पञ्चालाः ।
 ६. वरणाः । ७. नड्वान् । ८. वेतस्वान् । ९. नड्वलः । १०. शाद्वलः ।
 ११. शिखावलम् ।
- (१३) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
 १. तदस्मिन्ःस्तीति देशे तन्नाम्नि । २. मादुपधायश्च मतोर्वोऽववा-
 दिभ्यः । ३. लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने । ४. तेन निर्वृत्तम् । ५. अदूर-
 भवश्च । ६. जनपदे लुप् । ७. कुमुदनड्वेतसेभ्यो ड्मत्तुप् ।

[लघु०]

इति चातुरर्थिकाः ॥

(यहां चातुरर्थिक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)

—:०:—

अथ शैषिकाः

अब यहां से आगे शैषिक प्रत्ययों का विवेचन प्रारम्भ होता है। शेषे (१०६८) के अधिकार में विहित प्रत्यय 'शैषिक' कहाते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रं विधिषूत्रं च^१ (१०६८) शेषे ।४।२।६१॥

अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । औपनिषदः पुरुषः । दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः । चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम् । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । तस्य विकारः (१११०) इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः ॥

अर्थः—अपत्य अर्थ से लेकर चतुरर्थी (चातुरथिकप्रकरण) तक के पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न जो अर्थ वह 'शेष' हुआ। उस शेष अर्थ में सुंबन्त प्रातिपदिक से अण् आदि तद्धित प्रत्यय हों। किञ्च तस्य विकारः (१११०) सूत्र से पूर्व तक 'शेषे' का अधिकार समझना चाहिये।

व्याख्या—शेषे ।७।१। अण् ।१।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, ङयाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(शेषे) शेष अर्थ में सुंबन्त प्रातिपदिक से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो।

जो बाकी बच जाता है उसे 'शेष' कहते हैं। यहां तद्धितप्रकरण में जो अर्थ इस सूत्र से पहले कह चुके हैं उनसे भिन्न बाकी बचे अर्थ 'शेष' होंगे। दूसरे शब्दों में अपत्य अर्थ से लेकर चातुरर्थिकों की समाप्ति तक जो जो अर्थ कहे जा चुके हैं उन से भिन्न अन्य जो कोई अर्थ होगा उसे शेष कहा जायेगा। उस शेष अर्थ में अण् प्रत्यय अथवा उस का अपवाद यथाप्राप्त प्रत्यय प्रवृत्त होगा^२। उदाहरण यथा—

चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् (चक्षुरिन्द्रिय से जो ग्रहण किया जाता है अर्थात् रूप आदि)। यहां 'चक्षुष् टा' से 'तेन गृह्यते' (उस से ग्रहण किया जाता है) इस अर्थ में प्रकृत शेषे (१०६८) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुंप् (टा) का लुक् एवम् आदिवृद्धि करने से—चाक्षुष् + अ = 'चाक्षुष' बना। अब विशेष्य के अनुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में सुं को अम् (२३४) तथा अस्मि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप करने से 'चाक्षुषम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'तेन गृह्यते' यह अर्थ पीछे कहा नहीं गया अतः यह शेष है इसलिये यहां शेषे (१०६८) सूत्र की प्रवृत्ति हुई है।

१. इस के विधिसूत्र होने से 'चाक्षुषम्' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं और अधिकारसूत्र होने से आगे नियत अवधि तक अनुवर्तन होता है।
२. इस का यह अभिप्राय नहीं कि हम पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न जिस किसी अर्थ में चाहें इस सूत्र से अण् प्रत्यय विधान कर दें। यह सूत्र तो केवल शिष्टप्रयोगों के साधुत्वप्रतिपादन के लिये ही बनाया गया है। अपने नये मनचढ़न्त प्रयोगों की सिद्धि इस सूत्र से नहीं होती।

श्रवणेन गृह्यते श्रावणः शब्दः (श्रवण इन्द्रिय से जो ग्रहण किया जाता है अर्थात् शब्द) । यहां 'श्रवण टा' से 'तेन गृह्यते' इस शैषिक अर्थ में शेषे (१०६८) सूत्रद्वारा तद्धित अण् प्रत्यय, सुंञ्जुक् आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'श्रावणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

उपनिषद्भिः प्रतिपाद्यते औपनिषदः पुरुषः (उपनिषदों से प्रतिपादित किया जाने वाला अर्थात् पुरुष = आत्मा) । यहां 'उपनिषद् भिस्' से 'तैः प्रतिपाद्यते' इस शैषिक अर्थ में शेषे (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय, सुंञ्जुक् एवम् आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'औपनिषदः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः (पत्थर पर पीसे गये सत्तू) । यहां 'दृषद् डि' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से 'तत्र पिष्टम्' (उस पर पीसा गया) इस शैषिक अर्थ में शेषे (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुंञ्जुक्, आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य करने से 'दार्षदाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

चतुर्भिः (अश्वैः पुरुषैर्वा) उह्यते चातुरं शकटम् (चार घोड़ों या चार व्यक्तियों से खींचा जाने वाला छकड़ा) । यहां 'चतुर् भिस्' से 'तैरुह्यते' (उन से खींचा जाता है) इस शैषिक अर्थ में शेषे (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुंञ्जुक्, आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य करने से 'चातुरम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः (चतुर्दशी में दिखाई देने वाला राक्षस) । यहां 'चतुर्दशी डि' से 'तत्र दृश्यते' (उसमें दिखाई देता है) इस शैषिक अर्थ में शेषे (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुंञ्जुक्, आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'चातुर्दशम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

उपर्युक्त सब अर्थ शैषिक हैं क्योंकि वे पूर्वोक्त अपत्यादि अर्थों से भिन्न हैं ।

शैषिक अर्थों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) अश्वैरुह्यते—आश्वो रथः । (काशिका)
- (२) उलूखले क्षुण्णः—ओलूखलो यावकः । (काशिका)
- (३) कुणपम् (शवम्) अत्ति—कौणपः । (प्रक्रियासर्वस्व)
- (४) स्मृतिभिरुपदिष्टः—स्मात्तो धर्मः ।
- (५) ब्रह्म जानाति—ब्राह्मणः [अन् (१०२४) इति प्रकृतिभावः] ।
- (६) वितरणेन (दानेन) लङ्घ्यते—वैतरणी नदी ।
- (७) चक्षुषोर्गोचरः—चाक्षुषो विषयः ।
- (८) श्रुती विहितम्—श्रौतं कर्म ।

लक्षण अर्थात् विधिसूत्र के साथ साथ यह अधिकारसूत्र भी है । अधिकारसूत्रों की नियत अवधि तक अग्रिमसूत्रों में अनुवृत्ति हुआ करती है । इस अधिकार की अवधि तस्य विकारः (१११०) सूत्र से पूर्व तक है । यहां से आगे तस्य विकारः (१११०) से पूर्व तक जो प्रत्यय विधान किये जायें वे शेष अर्थात् पूर्वोक्त अपत्य आदि अर्थों से भिन्न अर्थों में ही हों उन पूर्वोक्त अर्थों में नहीं । यद्यपि इस प्रकरण में तत्र

जातः (१०८७), तत्र भवः (१०६२), तत् आगतः (१०६८), तेन प्रोक्तम् (११०८), तस्येवम् (११०६) इत्यादि अर्थनिर्देश पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न ही हैं अतः पूर्वोक्तों से उन की व्यावृत्ति के लिये शेषे (१०६८) का अधिकार कुछ अनुपयुक्त सा प्रतीत होता है तथापि इस प्रकरण में कहे गये तस्येवम् (११०६) सूत्र में 'उस का यह' इस प्रकार जो अर्थनिर्देश किया गया है वह अत्यन्त सामान्य है, उस में अनेक पूर्वोक्त अर्थों का भी समावेश हो सकता है। यथा—'उस का यह' इस में 'उस का यह अपत्य' 'उस का यह समूह' 'उस का यह निवास' इस प्रकार अनेक पूर्वोक्त विशिष्ट अर्थ भी संगृहीत हो सकते हैं। अतः उन सब की निवृत्ति के लिये यहां शेषे (१०६८) का अधिकार चलाया गया है। इस तरह यहां विद्यार्थियों को इतना ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकरण के निर्दिष्ट अर्थों में पूर्वोक्त अपत्य, समूह आदि अर्थों का समावेश नहीं होता। यहां का तस्येवम् (११०६) केवल सामान्यतः 'उस का यह' इस अर्थ का ही निर्देश करता है उस के विशेष भेद अपत्य, समूह, निवास आदि का नहीं। किञ्च इस अधिकार को चलाने के अन्य भी अनेक प्रयोजन व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

विशेष वक्तव्य—शैषिक प्रत्ययों की प्रवृत्ति में एक बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। वह यह है कि जब एक बार कोई शैषिक प्रत्यय हो चुकता है तो वहां उस शैषिकप्रत्ययान्त शब्द से दुबारा उसी रूप वाला (सरूप) शैषिक प्रत्यय नहीं होता, प्रथम किये प्रत्यय से विरूप शैषिक ही प्रवृत्त हो सकता है। यथा—शालायां भवः शालीयः (घटः), यहां शालाशब्द से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में बृद्धाच्छः (१०७७) से शैषिक 'छ' प्रत्यय करने से 'शालीय' शब्द सिद्ध किया गया है। अब यदि शालीये (घटे) भवम् (उदकम्) को तद्धितवृत्ति के द्वारा कहना होगा तो तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में वह शैषिक प्रत्यय (छ) दुबारा न होगा चाहे उस की प्राप्ति भी क्यों न हो। बल्कि उस का विरूप सामान्यतः प्राप्त अण् शैषिक प्रत्यय ही किया जायेगा—शालीये भवं शालीयम् उदकम्। शालीयशब्द से अण् प्रत्यय हुआ है। इसी-प्रकार अहिच्छत्रे भव आहिच्छत्रः। यहां तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में प्राग्दीव्यतोऽण् (४.१.८३) से शैषिक अण् प्रत्यय हुआ है। अब पुनः 'आहिच्छत्रे भव आहिच्छत्रीयः' दुबारा अण् न होगा, बृद्धाच्छः (१०७७) से 'छ' प्रत्यय ही होगा। अभियुक्तों (शिष्ट-जनों) ने कहा भी है—

शैषिकान्मत्तुर्बर्थायाच्छैषिको मत्तुर्बर्षिकः ।

सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नस्तान्न सनिव्यते ॥

अर्थात् शैषिक प्रत्ययान्त से पुनः उसी रूप वाला शैषिक प्रत्यय नहीं हुआ करता। इसी तरह मत्तुर्बर्थाय प्रत्ययान्त से पुनः उसी रूप वाला मत्तुर्बर्थाय प्रत्यय भी नहीं होता^१। किञ्च इच्छा अर्थ में हुए सन्प्रत्ययान्त से दुबारा इच्छा अर्थ में सन्

१. यथा—धनमस्यास्तीति धनवान्। यहां धनप्रातिपदिक से मत्तुप् प्रत्यय कर उस के मकार को वकार आदेश करने से 'धनवत्' शब्द बना है। अब इस से धन-वानस्यास्तीति इस विग्रह में पुनः मत्तुप् प्रत्यय नहीं होगा। कारण कि दोनों

प्रत्यय करना अभीष्ट नहीं है ।'

अब अग्रिमसूत्रद्वारा दो शैषिक प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६६)

राष्ट्राऽवारपाराद् घ-खौ ।४।२।६२॥

आभ्यां क्रमाद् घ-खौ स्तः शेषे । राष्ट्रं जातादिः—राष्ट्रियः ।
अवारपारीणः ॥

अर्थः—शेष अर्थ में राष्ट्र और अवारपार इन संबन्धित प्रातिपदिकों से क्रमशः तद्धितसञ्ज्ञक 'घ' और 'ख' प्रत्यय हों ।

व्याख्या—राष्ट्राऽवारपारात् ।५।१। घ-खौ ।१।२। शेषे ।७।१। (अधिकृत किया गया है) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—राष्ट्रञ्च अवारपारञ्च राष्ट्रावारपारम्, तस्मात्=राष्ट्रावारपारात् । समाहारद्वन्द्वः । घश्च खश्च घखौ । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(राष्ट्रावारपारात्) राष्ट्र और अवारपार इन संबन्धित प्रातिपदिकों से (शेषे) शेषे अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (घखौ) घ और ख प्रत्यय होते हैं । यथासंख्यपरिभाषा से राष्ट्र प्रातिपदिक से 'घ' एवम् अवारपार प्रातिपदिक से 'ख' तद्धितप्रत्यय हो जायेगा ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि इस शैषिकप्रकरण में कहीं तो केवल प्रकृति और प्रत्यय कहे गये हैं, अर्थ नहीं । यथा यहां राष्ट्रावारपाराद् घखौ (१०६६) सूत्र में प्रकृति और प्रत्यय तो बताया गये हैं परन्तु अर्थ नहीं । और कहीं केवल अर्थ बताया गया है प्रकृतिविशेष और प्रत्यय नहीं । यथा—तत्र भवः (१०६२), तत्र जातः (१०६७), तत आगतः (१०६८) आदि सूत्रों में अर्थ तो बताया गया है परन्तु प्रकृति-विशेष और प्रत्यय नहीं । अतः यहां दोनों प्रकार के सूत्रों को मिलाकर एकवाक्यता करने से ही प्रकृति, प्रत्यय और अर्थ का सम्यक् बोध होता है । यथा—तत्र जातः (१०६७) इस अर्थविधायक सूत्र को राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ (१०६६) सूत्र के साथ मिला कर इस प्रकार एकवाक्यता हो जाती है—सप्तम्यन्त राष्ट्र एवम् अवारपार प्रातिपदिकों से 'जातः' (पैदा हुआ) इस अर्थ में क्रमशः तद्धितसञ्ज्ञक घ और ख प्रत्यय

मतुंबर्थाय प्रत्यय समानरूप हैं । यदि मतुंबर्थाय विरूप प्रत्यय होता तो प्रवृत्त हो जाता । यथा—दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी । यहां दण्डप्रातिपदिक से अत इनिं-ठनौ (११६१) सूत्रद्वारा मत्वर्थाय इनिं प्रत्यय करने से 'दण्डिन्' शब्द बना है । अब इस से दण्डिनोऽस्याः सन्तीति दण्डिमती शाला इस प्रकार पुनः मतुप् प्रत्यय हो जाता है । कारण स्पष्ट है कि पहले हुए मत्वर्थाय इनिं प्रत्यय से यह मतुप् प्रत्यय स्पष्टतः विरूप है ।

१. यथा - कर्तुमिच्छतीति चिकीर्षति । यहां कृ धातु से इच्छार्थक सन् प्रत्यय कर 'चिकीर्ष' बनाया गया है । अब इस से दुबारा सन् प्रत्यय न होगा । चिकीर्षितु-मिच्छति, यह वाक्य ही रहेगा ।

हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यसूत्रों में भी समझ लेना चाहिये^१। आगे चल कर मूल में ग्रन्थकार स्वयं यही भाव व्यक्त करेंगे।

प्रकृतसूत्र के उदाहरण यथा—

राष्ट्रे भवो जातो वा राष्ट्रियः (राष्ट्र में होने वाला या पैदा हुआ)।^१ यहां 'राष्ट्र डि' इस सप्तम्यन्त से तत्र भवः (१०६२) या तत्र जातः (१०८७) आदि के अर्थों में प्रकृतसूत्र राष्ट्र्यावारपाराद् घञौ (१०६६) द्वारा 'घ' तद्धितप्रत्यय हो कर सुंभ्लुक, आयनेयीनीयियः फड्लछघां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) से 'घ' प्रत्यय के आदि घ् वर्ण को इय् आदेश और यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'राष्ट्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

आधुनिक हिन्दी की देखादेखी 'राष्ट्रीय' इस प्रकार दीर्घ-ईकारघटित प्रयोग संस्कृतभाषा में अशुद्ध मानना चाहिये।

अवारं च पारं च अवारपारम्, समाहारद्वन्द्वः। अवारपारे भवो जातो वा अवारपारीणः (इस पार और उस पार अर्थात् दोनों पारों में होने वाला या पैदा हुआ)। यहां 'अवारपार डि' इस सप्तम्यन्त से तत्र भवः (१०६२) या तत्र जातः (१०८७) आदि अर्थों में प्रकृत राष्ट्र्यावारपाराद् घञौ (१०६६) सूत्रद्वारा 'ख' प्रत्यय हो कर सुंभ्लुक, आयनेयीनीयियः० (१०१३) से प्रत्यय के आदि ख् वर्ण को इन् आदेश, भसंज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप एवं नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'अवारपारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अवारपारविषयक एक वार्तिक का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(८१)

अवारपागद् विगृहोतादपि विपरीताच्चेति धक्तव्यम् ॥

अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः ॥

१. इसका यह तात्पर्य नहीं कि तत्र जातः (१०८७) आदि सूत्र स्वयं कुछ नहीं कर सकते। वे अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण हैं, क्योंकि वहां 'तत्र' आदि के द्वारा सामान्यतः प्रकृति का एवं प्राग्दीव्यतोऽण् (४.१.८३) से सामान्यतः प्रत्यय का विधान है ही। राष्ट्र्यावारपाराद् घञौ (१०६६) आदि सूत्र ही उन की अपेक्षा करते हैं पर वे इन की नहीं। अन्यथा अर्थविधायक सूत्रों पर दिये गये अपवाद-मुक्त उदाहरण उपपन्न न हो सकेंगे।

२. यह अर्थनिर्देश निदर्शनार्थ है। इन अर्थों के अतिरिक्त अन्य शैषिक अर्थों की भी यथासम्भव स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये। यथा—राष्ट्राद् आगतं राष्ट्रियम्, राष्ट्रस्येदं राष्ट्रियम्, राष्ट्रे सम्भवतीति राष्ट्रियम्, राष्ट्रे प्रायेण भवतीति राष्ट्रियम्; राष्ट्रं निवासोऽस्य राष्ट्रियः; राष्ट्रं भक्तिरस्य राष्ट्रियः (देशभक्त) इत्यादि। संस्कृतनाटकों की उक्तियों में राजा के श्याल (पत्नी के भाई) के लिये 'राष्ट्रिय' शब्द रूढ है। राजश्यालस्तु राष्ट्रियः—इत्यमरः।

अर्थः—विगृहीत और विपरीत अवारपारशब्द से भी 'ख' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये ।

व्याख्या—अवारपारात् १५।१। विगृहीतात् १५।१। विपरीतात् १५।१। च इत्यव्ययपदम् । इति इत्यव्ययपदम् । वक्तव्यम् ११।१। खः ११।१। (पूर्वसूत्र से लब्ध) । अर्थः—(विगृहीतात्) विगृहीत और (विपरीतात्) विपरीत (अवारपारात् च अपि) अवारपार शब्द से भी (खः) 'ख' प्रत्यय हो (इति वक्तव्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

'अवारपार' शब्द समस्त है । अवार और पार शब्दों के द्वन्द्वसमास से इस की उत्पत्ति होती है । पीछे समस्त अवारपार शब्द से 'ख' प्रत्यय का विधान किया गया था । यहां विगृहीत=असमस्त=पृथक् पृथक् अवार और पार दोनों शब्दों से भी उस का विधान किया गया है । किञ्च अवारपार शब्द का क्रम विपरीत अर्थात् उलट देने से जो पारावार शब्द बनता है उस से भी 'ख' प्रत्यय हो जाता है ।

विगृहीत का उदाहरण यथा—

अवारे भवो जातो वा अवारीणः (इस आर वाले तट में होने वाला या पैदा हुआ आदि) । यहां 'अवार डि' इस सप्तम्यन्त से प्रकृत अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम् (वा० ८१) इस वार्तिक की सहायता से राष्ट्राऽवारपाराद् घञौ (१०६९) सूत्रद्वारा 'ख' प्रत्यय हो कर सुंभ्लुक, आयनेयीनीयियः० (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण ख को ईन् आदेश, भसञ्जक अकार का लोप एवं नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'अवारीणः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

पारे भवो जातो वा पारीणः (पार अर्थात् परले तट पर होने वाला या पैदा हुआ) । यहां 'पार डि' से पूर्ववत् 'ख' प्रत्यय, सुंभ्लुक, प्रत्यय के आदि वर्ण खकार को ईन् आदेश, भसञ्जक अकार का लोप तथा नकार को णकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'पारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

विपरीत अवारपार अर्थात् पारावारशब्द से यथा—

पारावारे भवो जातो वा पारावारीणः (पार और अवार दोनों स्थानों में होने वाला या पैदा हुआ) । यहां 'पारावार डि' से प्रकृत वार्तिक की सहायता से राष्ट्राऽवारपाराद् घञौ (१०६९) सूत्रद्वारा ख प्रत्यय, सुंभ्लुक, प्रत्यय के आदि वर्ण ख को ईन् आदेश, भसञ्जक अकार का लोप तथा नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'पारावारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

तो इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि अवारपार, अवार, पार और पारावार इन चारों शब्दों से शैषिक अर्थों में 'ख' प्रत्यय हो जाता है ।^१

१. इन चार शब्दों से गामी (भविष्य में जाने वाला) अर्थ में भी 'ख' प्रत्यय का विधान भगवान् पाणिनि ने अवारपारात्पन्तानुकामं गामी (५.२.११) सूत्र में किया है । यथा—पारं गामी पारीणः, अवारं गामी अवारीणः, पारावारं गामी पारावारीणः, अवारपारं गामी अवारपारीणः । रूप शैषिक-प्रत्ययान्तों की तरह होते हुए भी अर्थ में भेद रहता है ।

[लघु०] इह प्रकृतिविशेषाद् घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते । तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते ॥

अर्थः—इस शैषिकप्रकरण में 'घ' से ले कर ट्यु-ट्युल् (१०८६) प्रत्ययों तक जितने प्रत्यय विधान किये गये हैं वे विशेष विशेष प्रकृतियों (प्रातिपदिकों) से ही कहे गये हैं । इन के 'जातः' आदि अर्थविशेष तथा समर्थविभक्तियां (जिन से इन प्रत्ययों का विधान है) आगे तत्र जातः (१०८७) आदि सूत्रों में कही जायेंगी ।

व्याख्या—इस गद्यांश का विस्तृत विवेचन पीछे राष्ट्राऽवारपाराद् घञौ (१०६६) सूत्र पर किया जा चुका है वही यहां ध्यातव्य है ।

अब 'ग्राम' प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में सामान्य प्रत्ययों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७०) ग्रामाद् य-खञौ ।४।२।६३॥

ग्राम्यः । ग्रामीणः ॥

अर्थः—'ग्राम' इस सुबन्त प्रातिपदिक से तत्र जातः (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में 'य' और 'खञ्' तद्धित प्रत्यय हों ।

व्याख्या—ग्रामात् ।४।१। य-खञौ ।१।२। शेषे ।७।१। (अधिकृत है) । प्रत्ययः परश्च, इच्चाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—यश्च खञ् च य-खञौ इतरेतरद्वन्द्वः । खञ् में अकार अनुबन्ध है । अर्थः—(ग्रामात्) सुबन्त 'ग्राम' प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (य-खञौ) 'य' और 'खञ्' प्रत्यय हो जाते हैं । 'य' का उदाहरण यथा—

ग्रामे जातो भवो वा ग्राम्यः (ग्राम में पैदा हुआ या ग्राम में होने वाला) । यहां 'ग्राम डि' से 'जातः' या 'भवः' आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत ग्रामाद् य-खञौ (१०७०) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक 'य' प्रत्यय हो कर सुप् (डि) का लुक् एवं यस्येति ञ (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ग्राम्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१ इसीतरह—ग्रामाद् आगतो ग्राम्यः, ग्रामस्येदं ग्राम्यम् इत्यादि अन्य शैषिक अर्थों में भी इस की प्रवृत्ति जाननी चाहिये ।

ग्रामे जातो भवो वा ग्रामीणः (ग्राम में पैदा हुआ या ग्राम में होने वाला) । यहां पर भी पूर्ववत् 'ग्राम डि' से शैषिक अर्थों में प्रकृत ग्रामाद् य-खञौ (१०७०) सूत्र से खञ् प्रत्यय, अकार का लोप, सुब्लुक्, आदिवृद्धि, आयनेयोनीयिष्ः० (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण खकार को ईन् आदेश एवं यस्येति ञ (२३६) से भसञ्ज्ञक अन्त्य अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ग्रामीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी तरह अन्य शैषिक अर्थों में भी समझना चाहिये । यथा—ग्रामाद् आगतो ग्रामीणः, ग्रामस्येदं ग्रामीणं वस्त्रम् इत्यादि ।^२

१. तरुणं सर्वपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि ञ वधीनि ।

अल्पव्ययेन सुन्दरि ! ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति ॥ (वृत्तरत्नाकर १.११)

२. 'ग्राम्या भार्या यस्य' यहां बहुव्रीहिसमास में स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादन्ङ्

ग्रामशब्द का कत्त्यादिगण में भी पाठ आता है अतः शैषिक अर्थों में इस से कत्त्यादिभ्यो ढक् (४.२.६४) द्वारा ढक् प्रत्यय भी हो जाता है—ग्रामे जातो भवो वा ग्रामेयकः ।

अब नद्यादिगणपठित शब्दों से शैषिक अर्थों में ढक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७१) नद्यादिभ्यो ढक् ।४।२।६६॥

नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ॥

अर्थः—नदी-आदिगणपठित सुबन्त प्रातिपदिकों से 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ढक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—नद्यादिभ्यः ।५।३। ढक् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । प्रत्ययः, पररश्च, ङ्घाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—नदी (नदी-शब्दः)¹ आदिर्येषां ते नद्यादयः, तेभ्यः = नद्यादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । अर्थः—(नद्यादिभ्यः) नदीआदिगणपठित सुबन्त प्रातिपदिकों से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है ।

नद्यादि एक गण है ।² ढक् में ककार इत् है । यह अनुबन्ध किति च (१००१) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

नद्यां जातं भवं वा नादेयम् (नदी में पैदा हुआ या नदी में होने वाला) । यहां 'नदी डि' से 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत नद्यादिभ्यो ढक् (१०७१) सूत्र से

समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियाविषु (६६६) सूत्र से ग्राम्याशब्द को पुंवद्भाव से 'ग्राम्य' हो कर 'ग्राम्यभार्यः' बनेगा । परन्तु 'ग्रामीणा भार्या यस्य स ग्रामीणा-भार्यः' यहां पुंवद्भाव का वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारश्चतविकारे (६.३.३८) से निषेध हो जायेगा । इसी पुंवद्भाव के निषेध के लिये ही खम् में वृद्धिनिमित्तक ञकार अनुबन्ध जोड़ा गया है जिस से वह वृद्धिनिमित्त प्रत्यय बन सके, अन्यथा ग्रामशब्द में जहां पहले से ही आदिवृद्धि विद्यमान है, आदिवृद्धि करने के लिये ञकार अनुबन्ध जोड़ने का कुछ प्रयोजन नहीं । एतद्विषयक एक टिप्पण पाण्डोडंघम् (वा० ७४) वार्तिक पर लिख चुके हैं वह यहां पर पुनरपि ध्यातव्य है ।

१. यहां 'नदी' से नदीसञ्ज्ञकों का ग्रहण अभीष्ट नहीं अन्यथा गणपठित मही आदि शब्दों का पाठ व्यर्थ हो जायेगा ।

२. नद्यादिगण यथा—

नदी । मही । वाराणसी । श्रावस्ती । कौशाम्बी । बनकौशाम्बी (नवकौशाम्बी इति काशिकायाम्) । काशपरी (काशफरी इति का.) । खादिरी । पूर्वनगरी । पूर । वन । गिरि । पाठा (पावा इति का.) । माया (मावा इति का.) । शाल्वा (साल्वा इति का.) । दावा । दाल्वा । सेतकी (वासेनकी इति का.) । बडवाया वृषे (गण-सूत्रम्) । शरावती (शब्दकौस्तुभे एव नान्यत्र) ॥

तद्धित ढक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, सुंभ्लुक्, आयनेयीनीयियः फटल्लघां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण ढकार को एय् आदेश, किति च (१००१) से अङ्ग के आदि अच् नकारोत्तर अकार को आकार वृद्धि एवं यस्येति च (२३६) सूत्रद्वारा भसञ्जक ईकार का लोप कर विशेष्यानुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्ति-कार्य करने से 'नादेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'नद्या इदम् नादेयं जलम्' इत्यादि अन्य शैषिक अर्थों में भी समझ लेना चाहिये।

मह्यं जातं भवं वा माहेयम् (पृथ्वी में पैदा हुआ या पृथ्वी पर होने वाला)। यहां 'मही ङि' से पूर्ववत् ढक् प्रत्यय, सुंभ्लुक्, ढ् को एय् आदेश, आदिवृद्धि तथा भसञ्जक अन्त्य ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'माहेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

वाराणस्यां जातं भवं वा वाराणसेयम् (वाराणसी अर्थात् काशी में पैदा हुआ या काशी में होने वाला)। यहां 'वाराणसी ङि' से पूर्ववत् ढक् प्रत्यय हो कर 'वाराणसेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

वने जाता भवा वा वानेयाः पादपाः।

कौशाम्ब्यां जातो भवो वा कौशाम्बेयो जनः।

पुरि जातो भवो वा पौरेयः। अथवा—पूर्निवासोऽस्य पौरेयः।

गिरौ जातं भवं वा गैरेयम् (गेरू)।

अब दक्षिणा आदि प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में त्यक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७२)

दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक् ।४।२।६७।।

दाक्षिणात्यः। पाश्चात्यः। पौरस्त्यः।।

अर्थः—दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् इन अव्ययों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्जक त्यक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—दक्षिणा-पश्चात्-पुरसः।५।१। त्यक्।१।१। शेषे।७।१। (यह अधिकृत है)। प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—दक्षिणा च पश्चात् च पुरश्च दक्षिणापश्चात्पुरः, तस्मात् = दक्षिणापश्चात्पुरसः, समा-हाण्डन्तः। यहां पश्चात् और पुरस् अव्ययों के साहचर्य के कारण 'दक्षिणा' भी आच्-प्रत्ययान्त अव्यय ही लिया जाता है टाबन्त नहीं। 'दक्षिणा' अव्यय का विवेचन पीछे अव्ययप्रकरण के अन्तर्गत तसिंलादयः प्राक् पाशपः शीर्षक की व्याख्या के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणा, यद्वा दक्षिणा दिग् दक्षिणा। अर्थः—(दक्षिणा-पश्चात्-पुरसः) दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् अव्ययों से (शेषे) 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्जक (त्यक्) त्यक् प्रत्यय हो जाता है।

त्यक् में ककार अनुबन्ध किति च (१००१) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

दक्षिणा जातो भवो वा दाक्षिणात्यः (दक्षिणदिशा में उत्पन्न हुआ या दक्षिणदिशा में होने वाला)। यहां 'दक्षिणा' अव्यय से तत्र जातः (१०८७) या तत्र भवः (१०६२) आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक् (१०७२) सूत्रद्वारा त्यक् तद्धित-प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप तथा किति च (१००१) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'दाक्षिणात्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। तद्धितप्रिया दाक्षिणात्याः—(महाभाष्य पस्पशा.)।

पश्चाज्जातो भवो वा पाश्चात्यः (पीछे या पश्चिमदिशा में पैदा हुआ या होने वाला)। यहां भी पूर्ववत् 'पश्चात्' अव्यय से शैषिक अर्थों में त्यक् तद्धितप्रत्यय हो कर आदिवृद्धि करने से 'पाश्चात्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^१

पुरो जातो भवो वा पौरस्त्यः (पहले या पूर्व में पैदा हुआ या होने वाला)। यहां भी पूर्ववत् पुरस् अव्यय से त्यक् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि करने से 'पौरस्त्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^२

अब दिव् आदि प्रातिपदिकों से शैषिक यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७३)

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ।४।२।१००।।

दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ॥

अर्थः—दिव्, प्राञ्च्, अपाञ्च्, उदञ्च् और प्रत्यञ्च्—इन पाञ्च सुबन्त प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—द्यु-प्राग्-अपाग्-उदक्-प्रतीचः ।४।१। यत् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है)। प्रत्ययः, परश्च, ङ्पाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—द्यौश्च प्राङ् च अपाङ् च उदङ् च प्रत्यङ् च द्युप्रागपागुदक्प्रत्यक्, तस्मात् = द्युप्रागपागुदक्प्रतीचः, समाहारद्वन्द्वः । समास में दिव् शब्द के वकार को बिब उत् (२६५) सूत्र से उकार आदेश हो गया है। अर्थः—(द्युप्रागपागुदक्प्रतीचः) दिव्, प्राञ्च्, अपाञ्च्, उदञ्च् और प्रत्यञ्च्—इन पाञ्च सुबन्त प्रातिपदिकों से (शेष) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय होता है। यत् में तकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

१. यहां 'पश्चात्' के पदान्त तकार को जश्त्वेन दकार हो कर खरि च (७४) से पुनः चत्वेन तकार हो जाता है। किसी सूत्र से तकार के लोप की प्राप्ति नहीं होती अतः द्वितकारघटित 'पाश्चात्यः' ही लिखना उचित है, 'पाश्चात्यः' नहीं।
२. यहां पर पुरस् के पदान्त सकार को ह्रस्व-विसर्ग हो कर विसर्जनीयस्य सः (६६) से पुनः सकार आदेश हो जाता है।

दिवि (स्वर्गे) जातं भवं वा दिव्यम् (स्वर्ग में पैदा हुआ या होने वाला) । यहां 'दिव् डि' से तत्र जातः (१०८७) या तत्र भवः (१०६२) आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत छुप्रागपागुदषप्रतीचो यत् (१०७३) सूत्र से यत् तद्धितप्रत्यय हो कर सुंप् (डि) का लुक् एवं विभक्तिकार्य करने से 'दिव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्राचि जातं भवं वा प्राच्यम् (पूर्वदिशा या पूर्वदेश में पैदा हुआ या होने वाला) । 'प्र' पूर्वक अञ्च् धातु से ऋत्विग्दषुक्० (३०१) सूत्रद्वारा क्विँन् प्रत्यय हो कर उस का सर्वापहार लोप करने से 'प्र अञ्च्' हुआ । अब 'प्र अञ्च् डि' इस सप्तम्यन्त से तत्र जातः (१०८७) या तत्र भवः (१०६२) आदि शैषिक अर्थों में छुप्रागपागुदषप्रतीचो यत् (१०७३) इस प्रकृतसूत्र से यत् तद्धितप्रत्यय हो जाता है । तब प्रातिपदिकत्वात् सुँब्लुक् हो कर प्रत्ययलक्षणद्वारा क्विँन् प्रत्यय को मान उस के कित्त्व के कारण अनिदित्तां हल उपधायाः किङ्कति (३३४) से नकार का लोप करने से 'प्र अच् + य' हुआ । पुनः अचः (३३५) सूत्र से 'अच्' के आदि अकार का लोप तथा चौ (३३६) से पूर्वं अण् को दीर्घ करने पर—'प्राच्य' । विभक्ति लाने से 'प्राच्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अपाचि जातं भवं वा अपाच्यम् (दक्षिणदिशा^१ या दक्षिणदेश में पैदा हुआ या वहां होने वाला) । यहां 'अप' पूर्वक अञ्च् धातु से पूर्ववत् क्विँन् हो कर यत् तद्धितप्रत्यय हो जाता है ।

उदीचि जातं भवं वा उदीच्यम् (उत्तरदिशा या उत्तरदेश में पैदा हुआ या वहां होने वाला) । यहां 'उद्'पूर्वक अञ्च् धातु से क्विँन्, उस का सर्वापहारलोप, तब 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में यत् तद्धितप्रत्यय, सुँब्लुक्, अञ्च् की उपधा नकार का लोप तथा उब ईत् (३३७) से 'अच्' के अकार को ईकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'उदीच्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रतीचि जातं भवं वा प्रतीच्यम् (पश्चिमदिशा या पश्चिमदेश में पैदा हुआ या वहां होने वाला) । यहां 'प्रति' पूर्वक अञ्च् धातु से पूर्ववत् क्विँन् हो जाता है । पुनः शैषिक अर्थों में यत् प्रत्यय, सुँब्लुक्, अञ्च् की उपधा नकार का लोप, अचः (३३५) से अकारलोप तथा चौ (३३६) से दीर्घ हो कर 'प्रतीच्य' इस स्थिति में विभक्तिकार्य करने से 'प्रतीच्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

विशेष बक्षतव्य—प्राक् आदि शब्द अव्यय और अनव्यय के भेद से दो प्रकार के हुआ करते हैं । जब इन से अस्तातिं (५.३.२७) प्रत्यय कर उस का लुक् (५.३.३०) किया जाता है तब ये तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः (३६८) से अव्ययसंज्ञक होते हैं । अन्यथा उपर्युक्तप्रकारेण अनव्यय रहते हैं । प्रकृतसूत्र (१०७३) में किसी विशेष का उल्लेख न होने से दोनों का ही ग्रहण हो जाता है । परन्तु जब अस्तातिंप्रत्ययान्त ये अव्यय काल के वाचक होते हैं तब परत्व के कारण इन से सार्थचिरंप्राहणेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुँट् च (१०८६) सूत्रद्वारा ट्यु और ट्युल् प्रत्यय ही होते हैं, यत्

१. प्राच्यपाचीप्रतीच्यस्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमाः । उत्तरा विगुदीची स्यात्—इत्यमरः ।

नहीं। यथा—प्राक् (पूर्वजन्मनि) भवाः प्राक्तनाः। जैसाकि कालिदास का प्रयोग है—
संस्काराः प्राक्तना इव (रघु० १.२०)।

अब अव्ययों से शैषिक अर्थों में त्यप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७४) अव्ययात् त्यप् ।४।२।१०३॥

अर्थः—अव्यय से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक त्यप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अव्ययात् ।५।१। त्यप् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है)।
प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—
(अव्ययात्) अव्यय प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (त्यप्)
त्यप् प्रत्यय हो जाता है। त्यप् में पकार अनुबन्ध है।

हमें प्रत्येक अव्यय से त्यप् करना अभीष्ट नहीं, अन्यथा 'उपरिष्ठाद् भव
औपरिष्ठः' इत्यादि में दोष आयेगा। अतः वार्तिककार उन अव्ययों का परिगणन
करते हैं—

[लघु०] वा०—(८२) अमेह-क्व-तसिं-त्रेभ्य एव ॥

अमात्यः । इहत्यः । क्वत्यः । ततस्त्यः । तत्रत्यः ॥

अर्थः—अमा, इह, क्व, तसिं प्रत्ययान्त तथा त्रप्रत्ययान्त अव्ययों से ही शैषिक
अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक त्यप् प्रत्यय हो, अन्य अव्ययों से नहीं।

व्याख्या—अमा-इह-क्व-तसिं-त्रेभ्यः ।५।३। एव इत्यव्ययपदम् । त्यप् ।१।१।
(अव्ययात्त्यप् सूत्र से)। अर्थः—(अमा-इह-क्व-तसिं-त्रेभ्यः) अमा, इह, क्व, तसिं और
त्र—इन अव्ययों से (एव) ही शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (त्यप्) त्यप्
प्रत्यय होता है, अन्य अव्ययों से नहीं।

'अमा' यह अव्यय 'सह' (साथ) के अर्थ में या समीप अर्थ में प्रयुक्त
होता है'। अमा भवः—अमात्यः (साथ या समीप में होने वाला अर्थात् मन्त्री। मन्त्री
मन्त्रणा के लिये प्रायः राजा के साथ या समीप रहा करता है)। यहां 'अमा' अव्यय से
प्रकृत अमेहक्वतसिंत्रेभ्य एव (वा० ८२) वार्तिक की सहायता से अव्ययात्त्यप् (१०७४)
सूत्रद्वारा त्यप् तद्धितप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप और विभक्तिकार्य करने से 'अमात्यः'
प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इह (यहां) शब्द की तद्धितश्चाऽसर्बविभक्तिः (३६८) सूत्र से अव्ययसंज्ञा है।
इह भव इह जातो वा इहत्यः (यहां होने वाला या यहां पैदा हुआ)। यहां 'इह' अव्यय
से तत्र भवः (१०६२) या तत्र जातः (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में पूर्ववत् त्यप्
प्रत्यय हो जाता है।

क्व (कहां) शब्द की तद्धितश्चाऽसर्बविभक्तिः (३६८) से अव्ययसंज्ञा है अतः

१. अमा सह समीपे च इत्यमरः। न्यासपदमञ्जर्योः स्वरादिरयमित्युक्तम्।

पूर्ववत् शैषिक अर्थों में त्यप् प्रत्यय हो जाता है। क्व भवो जातो वा क्वत्यः (कहां होने वाला या कहां पैदा हुआ)। क्वत्येयं तव दुर्मतिः (भट्टि० ६.१२७)।

तसिं प्रत्यय है। प्रत्ययग्रहणे तबन्ता ग्राह्याः परिभाषा के अनुसार तसिंप्रत्ययान्त अव्ययों से शैषिक अर्थों में प्रकृतवार्तिक से त्यप् होगा। यथा—तत आगतः—ततस्त्यः (उस से आया हुआ)।^१ इसी प्रकार—यत आगतो यतस्त्यः (जिस से आया हुआ)। कुत आगतः कुतस्त्यः (कहां से आया हुआ)। अत आगतः—अतस्त्यः (इस से आया हुआ) इत्यादि।

‘त्र’ भी प्रत्यय है। त्रप्रत्ययान्त अव्ययों से शैषिक अर्थों में त्यप् होगा। यथा—तत्र भवः तत्रत्यः (वहां पर होने वाला)। अत्र भवः—अत्रत्यः (यहां पर होने वाला)। यत्र भवो यत्रत्यः (जहां पर होने वाला)। कुत्र भवः कुत्रत्यः (कहां होने वाला)। सर्वत्र भवः सर्वत्रत्यः (सब जगह होने वाला)।

‘अमा’ को छोड़ अन्य सब का विवेचन और सिद्धि आगे प्राग्दिशीयप्रकरण में देखें। इन की तद्धितरचाऽसर्वविभक्तिः (३६८) सूत्र से अव्ययसंज्ञा हो कर पुनः त्यप् हो जाता है।

वार्तिक में परिगणन कर देने से इन अव्ययों के अतिरिक्त अन्य अव्ययों से शैषिक अर्थों में त्यप् न होगा। यथा—उपरिष्ठाद् भव औपरिष्ठः। यहां ‘उपरिष्ठात्’ अव्यय से तत्र भवः (१०६२) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि एवम् अव्ययानां भ्रमात्रे टिलोपः (वा० ८५) से टि (आत्) का लोप करने से ‘औपरिष्ठः’ प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार—उत्तराहि^३ भव औत्तराहः (उत्तरदिशा में होने वाला), पुरस्ताद्भवः पौरस्तः (सामने होने वाला), परस्ताद्भवः पारस्तः (परे होने वाला) इत्यादि।

काशिका में यह परिगणन इस प्रकार श्लोकबद्ध किया गया है—

अमेह-क्व-तसि-त्रेभ्यस्त्यविविधयोऽव्ययात् स्मृतः।

निनिर्म्यां द्रुष्यत्योश्च प्रवेशो नियमे तथा ॥^३

अब इस विषय में एक अन्य वार्तिक का अवतरण करते हैं—

१. निशम्य सिद्धि द्विषतामपाकृतीस्ततस्तस्या विनियन्तुमक्षमा।
नुपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपवात्मजा गिरः ॥ (किरात० १.२७)
२. उत्तरशब्द से अस्तार्ति वाले अर्थ में उत्तराश्च (५.३.३८) सूत्रद्वारा ‘आहि’ प्रत्यय करने पर ‘उत्तराहि’ अव्यय निष्पन्न होता है। उत्तराहि=उत्तरा दिक्, उत्तरस्यां दिशि वेत्यर्थः।
३. योऽव्ययात् त्यविविधरुक्तः सोऽमादिभ्य एव स्मृत इत्यर्थः। उत्तरार्धं त्यन्नेद्रुवे, निसो गते इति वार्तिकद्वयं संगृह्णाति। प्रथमं वार्तिकमनुपदं व्याख्यास्यते। द्वितीयं सिद्धान्तकौमुद्यां द्रष्टव्यम्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३) त्यन्नेध्रुव इति वक्तव्यम् ॥

नित्यः ॥

अर्थः—नियत अर्थात् सर्वकालवर्ती वस्तु वाच्य हो तो 'नि' अव्यय से परे शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक त्यप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—त्यप् ।१।१। नेः ।५।१। ध्रुवे ।७।१। इति इत्यव्ययपदम् । वक्तव्यम् ।१।१। अव्ययात् ।५।१। (अव्ययात्त्यप् से) । शेषे, तद्धिताः—ये अधिकृत हैं । सर्वकालवर्ती पदार्थ को यहां ध्रुव कहा गया है । अर्थः—(ध्रुवे) ध्रुव अर्थात् सर्वकालवर्ती पदार्थ वाच्य हो तो (नेः, अव्ययात्) 'नि' अव्यय से परे (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (त्यप्) त्यप् प्रत्यय हो (इति वक्तव्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

'नि' का पाठ प्रादियों में किया गया है अतः प्राबयः (५४) सूत्र से इस की निपातसञ्ज्ञा हो कर स्वरादिनिपातमव्ययम् (३६७) से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है । पूर्व-परिगणन (वा० ८२) से यहां त्यप् प्राप्त न था अतः प्रकृतवार्तिक से उस का विधान किया गया है । उदाहरण यथा —

नि = नियतम् = सर्वकालेषु भवो नित्यः (सब कालों में अर्थात् हमेशा रहने वाला) । यहां 'नि' अव्यय से त्यन्नेध्रुव इति वक्तव्यम् (वा० ८३) इस प्रकृतवार्तिक से तत्र भवः (१०६२) इस शैषिक अर्थ में त्यप् प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने से 'नित्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

अब वृद्धसंज्ञकों से 'छ' प्रत्यय का विधान करने के लिये पहले वृद्धसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—(१०७५)

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ।१।१।७२॥

यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिवृद्धिस्तद् वृद्धसञ्ज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—जिस समुदाय के अर्चों में पहला अच् वृद्धिसंज्ञक हो तो वह शब्दस्वरूप वृद्धसञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—वृद्धिः ।१।१। यस्य ।६।१। अचाम् ।६।३। आदिः ।१।१। तद् ।१।१। वृद्धम् ।१।१। 'अचाम्' में जाति में सौत्रत्वाद् एकवचन के स्थान पर बहुवचन तथा निर्धारण में षष्ठी समझनी चाहिये । अर्थः—(यस्य) जिस समुदाय के (अचां मध्ये) कुल अर्चों में (आदिः) पहला अच् (वृद्धिः) वृद्धिसंज्ञक हो तो (तत्) वह समुदाय-स्वरूप (वृद्धम्) वृद्धसंज्ञक होता है ।

इस शास्त्र में वृद्धिरादेचं (३२) सूत्रद्वारा आ, ऐ, औ—इन तीन वर्णों की वृद्धिसञ्ज्ञा की गई है । जिस किसी शब्द में एक दो या इस से अधिक जितने अच्

(स्वर) हों यदि उन अचों में पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक (आ, ऐ, औ) हो तो उस सम्पूर्ण शब्द की 'वृद्ध' सञ्ज्ञा हो जाती है। यथा—'शाला' शब्द में दो अच् हैं, एक शकारोत्तर आकार और दूसरा लकारोत्तर आकार। इन में पहला अच् आकार वृद्धिसञ्ज्ञक है अतः सम्पूर्ण 'शाला' शब्द की वृद्धसञ्ज्ञा हुई। 'औपगव' शब्द में चार अच् हैं—औ, पकारोत्तर अकार, गकारोत्तर अकार तथा वकारोत्तर अकार। इन चारों में पहला अच् औकार वृद्धिसञ्ज्ञक है अतः सम्पूर्ण 'औपगव' शब्द वृद्धसञ्ज्ञक हुआ। इसीतरह 'ज्ञा' आदि एकाच् शब्दों में भी व्यपदेशिवद्भाव के आश्रयण से वृद्धसञ्ज्ञा की व्यवस्था समझ लेनी चाहिये।

सूत्र में 'वृद्धिः' के कथन से 'पर्वत' आदि शब्दों की वृद्धसंज्ञा नहीं होती, कारण कि यहां के अचों में आदि अकार है जो वृद्धिसञ्ज्ञक नहीं।

सूत्र में यदि 'अचाम्' न कहते तो 'जिस समुदाय का आदि वर्ण वृद्धिसंज्ञक हो उस की वृद्धसञ्ज्ञा हो' इस प्रकार अर्थ हो जाता। तब 'औपगव' आदि की तो वृद्धसञ्ज्ञा हो जाती परन्तु शाला, माला आदि की न हो सकती क्योंकि इन का आदि वर्ण वृद्धिसंज्ञक नहीं है।

सूत्र में 'आदिः' ग्रहण के कारण 'सभासन्नयन' आदि शब्दों की वृद्धसंज्ञा नहीं होती क्योंकि यहां अचों में पहला अच् वृद्धिसंज्ञक नहीं, दूसरा अच् ही वृद्धिसंज्ञक है।

वृद्धसञ्ज्ञा करने का फल वृद्धाच्छः (१०७७) से 'छ' प्रत्यय का विधान करना है।

अब एक अन्य सूत्र में भी वृद्धसंज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(१०७६) त्यदादीनि च ।१।१।७३॥

वृद्धसञ्ज्ञानि स्युः ॥

अर्थः—त्यद् आदि भी वृद्धसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—त्यदादीनि ।१।३। च इत्यव्ययपदम् । वृद्धानि ।१।३। (वृद्धिर्यस्याच्चा-माबिस्तद् वृद्धम् सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा) । समासः—त्यद् (त्यद्शब्दः) आदिर्येषां ते त्यदादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । सर्वादिगण के अन्तर्गत त्यदादिगण पढ़ा गया है। त्यद्, तद्, यद्, एतद् इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतुं, किम्—ये बारह शब्द त्यदादिगण में आते हैं। अर्थः—(त्यदादीनि) त्यद् आदि शब्द (च) भी (वृद्धानि) वृद्धसञ्ज्ञक होते हैं।

त्यद् आदि शब्दों में पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक नहीं है अतः पूर्वसूत्रद्वारा इन की वृद्धसञ्ज्ञा न हो सकती थी इसलिये यह नया सूत्र बनाया गया है।^१

अब अग्रिमसूत्रद्वारा वृद्धसञ्ज्ञा का फल दशति है—

१. एतद् और एक शब्दों की तो पूर्वसूत्र (१०७५) से वृद्धसञ्ज्ञा हो सकती थी परन्तु अन्य त्यदादियों की न होती थी। अब इस विधान से सब त्यदादियों की वृद्धसञ्ज्ञा हो जाती है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७७) वृद्धाच्छः ।४।२।११३॥

शालीयः । मालीयः । तदीयः ॥

अर्थ—वृद्धसञ्ज्ञक सुबन्त प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक 'छ' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—वृद्धात् ।५।१। छः ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि भी पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(वृद्धात्) वृद्धसञ्ज्ञक सुबन्त प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

शालायां जातो भवो वा शालीयः (घर में पैदा हुआ या घर में होने वाला) । शालाप्रातिपदिक में दो अच् हैं, पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक है अतः वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् (१०७५) सूत्र से शालाशब्द की वृद्धिसञ्ज्ञा हो जाती है । अब 'शाला ङि' से तत्र जातः (१०८७) या तत्र भवः (१०६२) इत्यादि शैषिक अर्थों में प्रकृत वृद्धाच्छः (१०७७) सूत्र से छप्रत्यय हो कर सुप् (ङि) का लुक् हो जाता है—शाला + छ । पुनः आयनेयीनीयियः० (१०१३) सूत्र से छप्रत्यय के आदि वर्ण 'छ' को 'ईय्' आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक लकारोत्तर आकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शालीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

मालायां भवो मालीयः (माला में होने वाला, सूत तागा आदि) । मालाप्रातिपदिक का भी पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक है अतः वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् (१०७५) सूत्रद्वारा मालाशब्द की वृद्धिसञ्ज्ञा हो जाती है । अब 'माला ङि' से तत्र भवः (१०६२) इस शैषिक अर्थ में वृद्धाच्छः (१०७७) से तद्धित 'छ' प्रत्यय, सुंल्लुक्, छ को ईय् आदेश तथा भसञ्ज्ञक अन्त्य आकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मालीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । तस्येदम् (११०६) के अर्थ में—मालीयानीमानि कुसुमानि ।

तस्यायं तदीयः (उस का यह) । त्ववादीनि च (१०७६) सूत्र से 'तद्' शब्द की वृद्धिसञ्ज्ञा हो कर 'तद् ङस्' से तस्येदम् (११०६) इस शैषिक अर्थ में वृद्धाच्छः (१०७७) से छप्रत्यय, सुंल्लुक्, छ को ईय् आदेश और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'तदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

नाटकस्येदं नाटकीयं कथावस्तु (नाटक की कहानी) ।

बौद्धानामिदम् बौद्धीयं मतम् ।

औपगवस्यायम् औपगवीयः ।

कापटवस्यायं कापटवीयः ।

आचार्यस्यायम् आचार्यीयो माणवकः ।

त्ववादीयो से यथा—

यदीयः । एतदीयः । इदमीयः । अदसीयः । एकीयः । द्वीयः । युष्मदीयः ,
अस्मदीयः । त्वदीयः ।^१ मदीयः । भवदीयः ।^२ किमीयः ।

अब अग्रिमवार्त्तिकद्वारा वृद्धसञ्ज्ञा का विकल्प विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(८४) वा नामधेयस्य वृद्धसञ्ज्ञा वक्तव्या ॥

देवदत्तीयः । दैवदत्तः ॥

अर्थः—नामवाचक शब्द की वृद्धसञ्ज्ञा विकल्प से कहनी चाहिये ।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम् । नामधेयस्य ।६।१। वृद्धसञ्ज्ञा ।१।१। वक्तव्या ।१।१। नाम एव नामधेयम् । भाग-रूप-नामभ्यो धेयः (वा० ५.४.२५) इति स्वार्थे धेय-प्रत्ययः । अर्थः—(नामधेयस्य) नामवाचक शब्द की (वा) विकल्प से (वृद्धसञ्ज्ञा) वृद्धसञ्ज्ञा (वक्तव्या) कहनी चाहिये । उदाहरण यथा—

देवदत्तस्यायं देवदत्तीयो दैवदत्तो वा छात्रः (देवदत्त का यह, छात्र आदि) । यहां 'दैवदत्त' किसी का नाम है अतः वा नामधेयस्य वृद्धसञ्ज्ञा वक्तव्या (वा० ८४) इस प्रकृत वार्त्तिक से इस की विकल्प से वृद्धसञ्ज्ञा हो जाती है । अब तस्येदम् (११०६) इस शैषिक अर्थ की विवक्षा में वृद्धसञ्ज्ञा वाले पक्ष में वृद्धाच्छः (१०७७) से छप्रत्यय, सुंभ्लुक्, छ् को ईय् आदेश एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'दैवदत्तीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । वृद्धसञ्ज्ञा के अभावपक्ष में तस्येदम् (११०६) द्वारा प्राग्दीव्यतीय अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि और यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'दैवदत्तः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—यज्ञदत्तस्यायं यज्ञदत्तीयो याज्ञदत्तो वा छात्रः । इत्यादि ।

अब गहादिगणपठित शब्दों से शैषिक अर्थों में छप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७८) गहादिभ्यश्च ।४।२।१३७।

गहीयः ॥

अर्थः—गहादिगणपठित सुंभन्त प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक 'छ' प्रत्यय हो ।

१. त्वदीयः, मदीयः—प्रयोगों की सिद्धि आगे प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (१०८२) सूत्र की व्याख्या में देखें ।

२. वस्तुतः भवतच्छ्लसौ (४.२.११४) सूत्रद्वारा शैषिक अर्थों में 'भवत्' सर्वनाम से ठक् वा छस् तद्धितप्रत्यय किये जाते हैं । छस् प्रत्यय के सित् होने से सिति च (१.४.१६) द्वारा पदसञ्ज्ञा के कारण भवत् के तकार को झलां जशोऽन्ते (६७) सूत्र से जश्त्वेन दकार हो कर 'भवदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । परन्तु ठक् प्रत्यय करने पर आदिवृद्धि हो कर इसुसुकान्तात् कः (१०५२) से ठको 'क' आदेश करने से 'भावत्कः' प्रयोग बनता है । [जश्त्वेन पदान्तस्य तकारस्य दकारे कृतेऽपि क्षरि च (७४) इति चत्वम्] ।

व्याख्या—गहादिभ्यः । ५।३। च इत्यव्ययपदम् । छः । १।१। (बृहदारण्यकः सूत्र से)। शेषे । ७।१। (यह अधिकृत है) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घ्राप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—गहः (गहशब्दः) आदिर्येषान्ते गहादयः, तेभ्यः= गहादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(गहादिभ्यः) गह आदि सुबन्त प्रातिपदिकों से परे (च) भी (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है । गहादि एक गण है ।^१ उदाहरण यथा—

गहे भवो गहीयः (गुफा आदि गहन स्थान में होने वाला) ।^२ यहां 'गह डि' से प्रकृत गहादिभ्यश्च (१०७८) सूत्रद्वारा तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में 'छ' प्रत्यय, सुंब्लुक, छ को ईय आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'गहीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि गहशब्द का पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक न था अतः वृद्धिसंस्याचामाविस्तब् वृद्धम् (१०७५) से इस की वृद्धिसञ्ज्ञा न होने से 'छ' प्रत्यय प्राप्त न था ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

अन्तःस्थेषु भवः—अन्तःस्थीयः । समे भवः समादागतो वा समीयः । विषमे भवो

१. गहादिगण यथा—

गह । अन्तःस्थ । सम । विषम । मध्य मध्यमं चान् चरणे (गणसूत्रम्) । उत्तम । अङ्ग । वङ्ग । मगध । पूर्वपक्ष । अपरपक्ष । अधमशाख । उत्तमशाख । एकशाख । समानशाख । समानग्राम । एकग्राम । एकवृक्ष । एकपलाश । इष्वग्र । इष्वनीक (इष्वनी का.) । अवस्यन्दन (अवस्कन्द का.) । कामप्रस्थ । खाडायन । काठेरणि । लावेरणि । सौमित्रि । शैशरि । आसुत् । देवशर्मन् (देवशर्मि) । श्रौति । आर्हिसि । आमित्रि । व्याडि । नैजि (नैदजि का.) । आध्यश्वि । आनृशंसि । शौङ्गि । अग्निशर्मन् (आग्निशर्मि) । भौजि । वाराटकि (आराटकि का.) । वाल्मीकि (वाल्मिकि) । क्षेमवृद्धिन् (क्षेमवृद्धि) । आश्वत्थि । औद्ग्राहमानि (औद्ग्राहमानि) । ऐक । विन्दवि । दन्ताग्र । हंस । तन्त्वग्र (तत्त्वग्र) । उत्तर । अन्तर (अनन्तर) । मूलपाश्र्वंतसोलोपः (गणसूत्रम्) । जनपरयोः कुंकू च (गणसूत्रम्) । देवस्य च (ग. सूत्रम्) । स्वस्य च (ग. सूत्रम्) । वेषुकादिभ्यश्छण् (ग. सूत्रम्) । आकृतिगणः ॥ (इस गण में अनेक पाठभेद पाये जाते हैं) ।

२. 'गह' का अर्थ सम्यक्प्रकारेण ज्ञात नहीं हो सका । किसी प्राचीन कोष में इस का उल्लेख नहीं मिला । गणरत्नमहोदधिकार ने 'गहे ग्रामे भवो गहीयः' इस प्रकार लिखा है । आचार्य हेमचन्द्र 'गह' को एक देश मानते हैं । हरिनामामृतव्याकरण की बालतोषिणीटीका में 'गहः' का अर्थ 'घटः' किया गया है । आटे ने अपने बृहत्कोष में इस का अर्थ (Cave) (गुफा) किया है । श्रीशचन्द्रवसु ने भी अष्टाध्यायी की अंग्रेजीव्याख्या में इसी का अनुसरण किया है । साहित्य में इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

विषमादागतो वा विषमीयः । अङ्गेषु भवम् अङ्गीयम् । वङ्गेषु भवं वङ्गीयम् । मगधेषु भवम् मगधीयम् । एकप्रामीयम् । पूर्वपक्षस्येदं पूर्वपक्षीयम् । अपरपक्षीयम् । उत्तमीयम् । उत्तरीयम् । एकशाखीयम् । समानशाखीयम् । एकवृक्षीयम् । वाल्मीकीरदं वाल्मीकीयं तपोवनम् ।^१ जनकीयः । परकीयः । स्वकीयः ।^२ अन्तरे भवम् अन्तरीयम्, न अन्तरीयं नान्तरीयम्, स्वार्थे कनि नान्तरीयकम् (अविनाभूतमित्यर्थः) ।^३

गहादियों को आकृतिगण मानने से —

मतुबर्थे भवम् मतुबर्थीयम् । मत्वर्थे भवम् मत्वर्थीयम् । घटस्येदं घटीयं जलम् । इत्यादि ।

अब युष्मद् और अस्मद् शब्दों से शैषिक अर्थों में खञ् आदि प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७६)

युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ।४।३।१॥

चाच्छः । पक्षेऽण् । युवयोर्युष्माकं वाऽयम्—युष्मदीयः । अस्मदीयः ॥

अर्थः— युष्मद् और अस्मद् इन सुबन्त शब्दों से शैषिक अर्थों में खञ्, छ और अण् ये तीन तद्धित प्रत्यय हों ।

व्याख्या— युष्मदस्मदोः ।६।२। (पञ्चम्यर्थे षष्ठी) । अन्यतरस्याम् ।७।१। खञ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । चकारेण गर्तोत्तरपदाच्छः (४.२.१३६) इति छः प्रत्ययः समुच्चीयते । महाविभाषयैव वाक्ये सिद्धे अन्यतरस्यांग्रहणेन प्राग्दीव्यतीयः सामान्यप्राप्तोऽण् प्रत्ययोऽपि संगृह्यते । प्रत्ययः, परश्च, उपाप्रातिपदिकात्,

१. तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः ।

रथस्वनोत्कण्ठमुखे वाल्मीकीये तपोवने ॥ (रघु० १५.११)

२. गहादिगणान्तर्गत जनपरयोः कुंक् च इस गणसूत्र से छप्रत्यय के परे रहते 'जन' और 'पर' शब्दों को कुंक् का आगम हो जाता है । जनानामयम्, जनेभ्य आगतः, जनेषु भवो वा जनकीयः । परस्यायं परेषु भवो वा परकीयः । स्वस्य च इस गणसूत्र से 'छ' परे रहते स्वशब्द को भी कुंक् का आगम हो जाता है—स्वस्मिन् भवः, स्वस्मादागतः, स्वस्यायं वा स्वकीयः । आगमशास्त्र को अनित्य मान कर यह कुंक् क्वचित् नहीं भी होता—स्वीयः । धर्मो स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः (हितोप० १.१०३) । [केचित् स्वस्य च इति गणसूत्रं प्रक्षिप्तं मन्यन्ते । ते स्वशब्दात् स्वार्थे कनि गहादेराकृतिगणत्वाच्छे 'स्वकीयम्' इति समर्थयन्ति । केवलात् स्वशब्दात् तेऽण् कृत्वा द्वाराबीनाञ्च (७.३.४) इत्यंजागमं विधाय 'सौवम्' इति साधयन्ति । प्रयुक्तोऽयम्प्रयोगो द्वाराबीनाञ्चेत्यत्र भाष्येऽपि] ।

३. अन्तरशब्दाद् गहादित्वाच्छे तदन्तेन नशब्दस्य समासे स्वार्थे कनि च कृते 'नान्तरीयकम्' इति ।

४. समर्थानां प्रथमाद्वा (६६७) इति तद्धितप्रकरणे महाविभाषा बोध्या ।

तद्धिताः ये भी पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(युष्मदस्मदोः=युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् संबन्ध शब्दों से (शेषे) शैषिक अर्थों में तद्धितसंज्ञक (खञ्) खञ् (च) तथा (छः) छ प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से हो जाते हैं। पक्ष में सामान्यप्राप्त अण् तद्धितप्रत्यय भी हो जायेगा।

युष्मद् और अस्मद् दो प्रकृतियां हैं, खञ् छ और अण् तीन प्रत्यय हैं अतः यथासंख्य नहीं होता। दोनों प्रकृतियों से तीनों प्रत्यय किये जायेंगे। उदाहरण यथा—

युवयोर्युष्माकं वाज्यं युष्मदीयः (तुम दोनों का अथवा तुम सब का यह)। यहां 'युष्मद् ओस्' या 'युष्मद् आम्' से तस्येदम् (११०६) इस शैषिक अर्थ में प्रकृत युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च (१०७६) सूत्रद्वारा छप्रत्यय, सुंभुक् तथा आयनेयीनीयियः० (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण छ को ईय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'युष्मदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—आवयोरस्माकं वाज्यम् अस्मदीयः (हम दोनों का अथवा हम सब का यह)। यहां 'अस्मद् ओस्' या 'अस्मद् आम्' से छप्रत्यय हुआ है।

ध्यान रहे कि द्वित्व और बहुत्व में वर्तमान युष्मद् अस्मद् शब्दों के ही यहां छप्रत्यय में उदाहरण दिये गये हैं। एकत्व में वर्तमान युष्मद् अस्मद् के उदाहरण आगे प्रस्थयोत्तरपदयोश्च (१०८२) सूत्र पर दिये जायेंगे।

खञ् और अण् प्रत्ययों के उदाहरणों में अग्रिम दो सूत्र प्रवृत्त होते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८०)

तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ।४।३।२॥

युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खत्रि अणि च परे । यौष्माकीणः । आस्माकीनः । यौष्माकः । आस्माकः ॥

अर्थः—उस खञ् प्रत्यय और अण् प्रत्यय के परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः युष्माक और अस्माक आदेश हों।

व्याख्या—तस्मिन् ।७।१। अणि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । युष्माकास्माकौ ।१।२। युष्मदस्मदोः ।६।२। (युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च सूत्र से) । 'तस्मिन्' कथन से पूर्वोक्त खञ्प्रत्यय को निर्दिष्ट किया गया है। युष्माकश्च अस्माकश्च युष्माकास्माकौ, इतरेतर-द्वन्द्वः । अर्थः—(तस्मिन्) उस पूर्वोक्त खञ् प्रत्यय के परे होने पर (च) अथवा (अणि) अण् प्रत्यय के परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (युष्माकास्माकौ) युष्माक और अस्माक आदेश हो जाते हैं।

यथासंख्यपरिभाषा से युष्मद् के स्थान पर युष्माक, एवम् अस्मद् के स्थान पर अस्माक आदेश होता है।^१ किञ्च अनेकालपरिभाषा (४५) से युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर ये सर्वादेश होते हैं।

१. दो प्रत्ययों में दो आदेश होने पर भी यथासंख्य अभीष्ट नहीं। इस के लिये आकर-ग्रन्थों का अनुशीलन करें।

इस सूत्र का तवक-ममकावेकवचने (१०८१) यह अग्रिमसूत्र अपवाद है अतः एकत्व की विवक्षा में उस सूत्र से युष्मद् अस्मद् शब्दों को क्रमशः तवक ममक आदेश हो जाते हैं अवशिष्ट द्वित्व और बहुत्व में ही प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति होती है ।

प्रकृतसूत्र के खञ् में उदाहरण यथा —

युवयोर्युष्माकं वाज्यं यौष्माकीणः (तुम दो का या तुम सब का यह) । यहां 'युष्मद् ओस्' या 'युष्मद् आम्' से तस्येवम् (११०६) इस शैषिक अर्थ में युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च (१०७६) सूत्र से तद्धित खञ् प्रत्यय, सुंभ्लुक् तथा खञ् के परे रहते प्रकृत तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ (१०८०) सूत्र से युष्मद् के स्थान पर 'युष्माक' सर्वादेश करने पर 'युष्माक + ख' हुआ । अब आयनेयीनीयियः फट्खञ्घां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) सूत्रद्वारा प्रत्यय के आदि वर्ण 'ख्' को 'ईन्' आदेश, आदिवृद्धि (६३८), भसञ्ज्ञक अकार का लोप एवम् अट्कुप्वाङ्नुम्व्यायेऽपि (१३८) सूत्र से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'यौष्माकीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार आवयोरस्माकं वाज्यम् आस्माकीनः (हम दो का या हम सब का यह) । यहां अस्मद् के स्थान पर 'अस्माक' सर्वादेश हुआ है ।

अण् प्रत्यय में उदाहरण यथा —

युवयोर्युष्माकं वाज्यं यौष्माकः (तुम दो का या तुम सब का यह) । यहां 'युष्मद् ओस्' या 'युष्मद् आम्' से तस्येवम् (११०६) इस शैषिक अर्थ में युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च (१०७६) सूत्र से अण् प्रत्यय, सुंभ्लुक् तथा तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ (१०८०) सूत्रद्वारा युष्मद् को 'युष्माक' सर्वादेश करने पर 'युष्माक + अ' हुआ । अब तद्धितेष्व-ष्मादेः (६३८) से आदिवृद्धि और यस्येति च (२३६) से अन्त्य भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'यौष्माकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—आवयोरस्माकं वाज्यम् आस्माकः (हम दो का या हम सब का यह) । यहां अण् प्रत्यय के परे रहते अस्मद् के स्थान पर 'अस्माक' सर्वादेश हुआ है ।

अब एकत्वविशिष्ट युष्मद्-अस्मद् शब्दों के स्थान पर खञ् और अण् प्रत्ययों के परे रहते आदेशों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८१) तवक-ममकावेकवचने ४।३।३॥

एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खत्रि अणि च । तावकीनः । तावकः । मामकीनः । मामकः । छे तु—

अर्थः—खञ् या अण् प्रत्यय के परे होने पर एकार्थवाची युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः तवक और ममक आदेश हों ।

व्याख्या—तवक-ममकौ ।१।२। एकवचने ।७।१। तस्मिन् ।७।१। अणि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । (तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ सूत्र से) । युष्मदस्मदोः ।६।२। (युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च सूत्र से) । समासः—एकस्य वचनम् (उक्तिः) एकवचनम्, तस्मिन् = एकवचने । षष्ठीतत्पुरुषः । तवकश्च ममकश्च तवक-ममकौ । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(तस्मिन्) उस खञ् प्रत्यय (च) तथा (अणि) अण् प्रत्यय के परे होने पर (एक-

वचने = एकस्योक्तौ प्रयुक्तयोः^१) एकसंख्या के कथन में प्रयुक्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (तवकममकौ) तवक और ममक आदेश हो जाते हैं। यहां पर भी यथासंख्यपरिभाषा से युष्मद् के स्थान पर 'तवक', और अस्मद् के स्थान पर 'ममक' आदेश होगा। किञ्च अनेकाल् होने से ये आदेश सर्वादेश होंगे। खब् में उदाहरण यथा—

तवायं तावकीनः (तेरा यह)। यहां 'युष्मद् इस्' से युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खब् च (१०७६) सूत्रद्वारा तस्येवम् (११०६) इस शैषिक अर्थ में खब् प्रत्यय, सुंभ्लुक् एवं प्रकृत तवकममकावेकवचने (१०८१) सूत्र से युष्मद् शब्द के स्थान पर 'तवक' सर्वादेश हो कर 'तवक + ख' हुआ। अब आयनेयीनीयियः फटल्लच्छां प्रस्ययादीनाम् (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण ख् को ईन् आदेश, आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'तावकीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—ममायं मामकीनः (मेरा यह)। यहां 'अस्मद् इस्' से पूर्वोक्तरीत्या खब् प्रत्यय, सुंभ्लुक् और प्रकृतसूत्रद्वारा अस्मद् के स्थान पर 'ममक' सर्वादेश हो कर 'ममक + ख' हुआ। अब प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश, आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मामकीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अण् में उदाहरण यथा—

तवायं तावकः (तेरा यह)। यहां 'युष्मद् इस्' से युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां लञ्च (१०७६) सूत्र से तस्येवम् (११०६) इस शैषिक अर्थ में अण् प्रत्यय, सुंभ्लुक् तथा प्रकृत तवकममकावेकवचने (१०८१) से युष्मद् के स्थान पर 'तवक' सर्वादेश हो कर 'तवक + अ' हुआ। अब अण् के णित्व के कारण आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'तावकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—ममायं मामकः (मेरा यह)। यहां 'अस्मद् इस्' से अण् प्रत्यय, सुंभ्लुक्, अस्मद् को ममक आदेश, आदिवृद्धि तथा यस्येतिचलोप हो जाता है।

१. एकवचन परे होने पर युष्मद्-अस्मद् को तवक-ममक आदेश हों—ऐसा अर्थ करने पर 'तावकीनः, मामकीनः' सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि 'युष्मद् इस् + खब्, अस्मद् इस् + खब्' इस अवस्था में सर्वप्रथम सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंपु का लुक् हो जाता है, तब प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१६०) द्वारा प्रत्ययलक्षण भी नहीं हो सकता क्योंकि न लुमताङ्गस्य (१६१) सूत्र निषेध करेगा। अतः एकवचन परे न रहने से तवक-ममक आदेश नहीं हो सकेंगे। इसलिये सूत्रगत 'एकवचने' का अर्थ 'एकत्व को कहने में प्रयुक्त' ऐसा करने से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि प्रत्यय एकवचन का लुक् हो जाने पर भी युष्मद्-अस्मद् शब्द एकत्व को कहने में प्रयुक्त हैं ही। अतः तवक-ममक आदेश निर्बाध हो जाते हैं। काशिकायान्तु वचनात् प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधो न भवतीति अन्यदपि समाधानमुक्तम्।

छे तु—अब छ प्रत्यय के परे रहते एकत्ववाची युष्मद्-अस्मद् शब्दों के स्थान पर आदेश विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८२) प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ।७।२।६८।।

मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये, उत्तरपदे च परतः । त्वदीयः । मदीयः । त्वत्पुत्रः । मत्पुत्रः ॥

अर्थः—प्रत्यय या उत्तरपद परे हो तो एकार्थ के वाचक युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मकारपर्यन्त भागों के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश हों ।

व्याख्या—प्रत्ययोत्तरपदयोः ।७।२। च इत्यव्ययपदम् । एकवचने ।७।१। त्वमौ ।१।२। (त्वमावेकवचने सूत्र से) । युष्मदस्मदोः ।६।२। (युष्मदस्मदोरनादेशे सूत्र से) । मपर्यन्तस्य ।६।१। (मपर्यन्तस्य यह अधिकृत है) । समासः—प्रत्ययश्च उत्तरपदं च प्रत्ययोत्तरपदे, तयोः = प्रत्ययोत्तरपदयोः, इतरेतरद्वन्द्वः । एकस्य वचनम् एकवचनम्, तस्मिन् = एकवचने, षष्ठीतत्पुरुषः । त्वश्च मश्च त्वमौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(प्रत्ययोत्तरपदयोः) प्रत्यय के परे होने पर या उत्तरपद के परे होने पर (एकवचने) एकार्थ की उक्ति में प्रयुक्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य = मपर्यन्तयोः) मकारपर्यन्त भागों के स्थान पर (त्वमौ) 'त्व' और 'म' आदेश हो जाते हैं ।

समास के चरम अर्थात् अन्तिम पद को 'उत्तरपद' कहते हैं । यथासंख्यपरिभाषा से युष्मद् शब्द को मपर्यन्त 'त्व' तथा अस्मद् शब्द को मपर्यन्त 'म' आदेश हो जायेगा । उदाहरण यथा—

तवायं त्वदीयः (तेरा यह) । यहां 'युष्मद् इस्' से तस्येवम् (११०६) इस शैषिक अर्थ में युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां लञ् च (१०७६) सूत्र से छ प्रत्यय हो कर सुप् (इस्) का लुक् (७२१) करने से 'युष्मद् + छ' हुआ । अब यहां युष्मद् शब्द एकार्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा इस से परे छप्रत्यय भी विद्यमान है अतः प्रकृत प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (१०८२) सूत्र से युष्मद् शब्द को मकारपर्यन्त 'त्व' आदेश हो कर 'त्व अद् + छ' इस स्थिति में अतो गुणे (२७४) से पररूप एवम् आयनेयीनीयियः फटल्लछर्घां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण छकार को ईय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'त्वदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—ममायं मदीयः (मेरा यह, मुझ से सम्बन्ध रखने वाला) । यहां 'अस्मद् इस्' से पूर्वोक्तरीत्या छप्रत्यय, सुंल्लुक्, प्रकृतसूत्र से अस्मद् शब्द को मकारपर्यन्त 'म' आदेश, पररूप तथा छ् को ईय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'मदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

उत्तरपद परे होने के उदाहरण मूल में ही 'त्वत्पुत्रः' और 'मत्पुत्रः' दिये हुए हैं । तव पुत्रः—त्वत्पुत्रः, मम पुत्रः—मत्पुत्रः । यहां षष्ठी (६३१) सूत्रद्वारा षष्ठीतत्पुरुष-समास किया गया है । 'युष्मद् इस् + पुत्र सुं' तथा 'अस्मद् इस् + पुत्र सुं' इस दशा में समास हो कर सुंल्लुक् (७२१) करने से 'युष्मद् + पुत्र' तथा 'अस्मद् + पुत्र' बना । अब

१. यहां विभक्ति परे न होने के कारण शेषे लोपः (३१३) से 'अद्' का लोप नहीं हो सकता ।

उत्तरपद (पुत्र) के परे रहते प्रकृत प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (१०८२) सूत्र से युष्मद् को मकारपर्यन्त 'त्व' आदेश एवम् अस्मद् को मकारपर्यन्त 'म' आदेश हो कर अतो गुणे (२७४) से पररूप तथा खरि च (७४) से दकार को चत्वेन तकार करने पर 'त्वत्पुत्रः' तथा 'मत्पुत्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

प्रत्यय परे होने पर—

अतिशयेन त्वं त्वत्तरः (द्विवचनविभक्त्योपपदे० १२२२) ।

अतिशयेन अहं मत्तरः (१२२२) ।

त्वामात्मन इच्छति त्वद्यति (सुंष आत्मनः क्यच् ७२०) ।

मामात्मन इच्छति मद्यति (७२०) ।

स्वामिव आचरति त्वद्यते (कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च ३.१.११) ।

अहमिव आचरति मद्यते (३.१.११) ।

उत्तरपद परे होने पर—

तव धनं त्वद्धनम् (षष्ठीतत्पुरुषसमासः) ।

मम धनं मद्धनम् (षष्ठीतत्पुरुषसमासः) ।

त्वं नाथो यस्य स त्वन्नाथः (बहुव्रीहिसमासः) ।

अहं नाथो यस्य स मन्नाथः (बहुव्रीहिसमासः) ।

सूत्रार्थ में एकवचन अर्थात् एकार्थवाची युष्मद् अस्मद् को ही आदेश कहे गये हैं। इस से 'युवयोर्युष्माकं वाज्यम्—युष्मदीयः, आवयोरस्माकं वाज्यम्—अस्मदीयः' इत्यादियों में प्रत्यय परे होने पर भी त्व-म आदेश नहीं होते । इसीतरह—'युवयोर्युष्माकं वा पुत्रः—युष्मत्पुत्रः, आवयोरस्माकं वा पुत्रः—अस्मत्पुत्रः' इत्यादियों में उत्तरपद के परे रहते भी त्व-म आदेश नहीं होते ।

युष्मद्-अस्मद् शब्दों से शैषिक अर्थों में खञ्, अण् और छ तीनों प्रत्ययों का युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च (१०७६) सूत्र से विधान किया गया था । अब सब में रूप सिद्ध किये जा चुके हैं । इन की तालिका यथा—

खञ्प्रत्यये	अण्प्रत्यये	छप्रत्यये
एकवचने— तवायं तावकीनः ममायं मामकीनः द्विवचने— युवयोरयं यौष्माकीणः आवयोरयम् आस्माकीनः बहुवचने— युष्माकमयं यौष्माकीणः अस्माकमयम् आस्माकीनः	एकवचने— तवायं तावकः ममायं मामकः द्विवचने— युवयोरयं यौष्माकः आवयोरयम् आस्माकः बहुवचने— युष्माकमयं यौष्माकः अस्माकमयम् आस्माकः	एकवचने— तवायं त्वदीयः ममायं मदीयः द्विवचने— युवयोरयं युष्मदीयः आवयोरयम् अस्मदीयः बहुवचने— युष्माकमयं युष्मदीयः अस्माकमयम् अस्मदीयः

अब मध्यशब्द से शैषिक अर्थों में 'म' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८३) मध्यान्मः ।४।३।८॥

मध्यमः ॥

अर्थः—मध्यशब्द से शैषिक अर्थों में 'म' यह तद्धितसञ्ज्ञक प्रत्यय हो ।

व्याख्या—मध्यात् ।५।१। मः ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । प्रत्ययः, पररच, इधाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(मध्यात्) 'मध्य' इस सुबन्त प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मः) 'म' प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा—

मध्ये भवो मध्यमः (मध्य में होने वाला) । यहां 'मध्य डि' से तत्र भवः (१०९२) इस शैषिक अर्थ में प्रकृत मध्यान्मः (१०८३) सूत्र से 'म' प्रत्यय हो कर सुब्लुक् एवं विभक्तिकार्य करने से 'मध्यमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब कालवाचकों से शैषिक अर्थों में ठञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८४) कालाट्ठञ् ।४।३।११॥

कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात् । कालिकम् । मासिकम् । सांवत्सरिकम् ॥

अर्थः—कालवाचक सुबन्त प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कालात् ।५।१। ठञ् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । प्रत्ययः, पररच, इधाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । यहां 'काल' से केवल कालशब्द का ही ग्रहण नहीं होता अपितु उस के पर्यायों तथा मास, दिन, संवत्सर आदि उस के विशेष भेदों का भी ग्रहण हो जाता है । अर्थः—(कालात्) कालवाचक सुबन्त प्रातिपदिकों से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है ।

ठञ् में अकार अनुबन्ध है, अकार उच्चारणार्थ है । त्रिकरण आदिवृद्धि के लिये है । 'ट्' को ठस्येकः (१०२७) से 'इक' आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

१. इस का कारण सन्धिबेलाद्यतुनक्षत्रेभ्योऽण् (४.३.१६) सूत्र से सन्धिबेलादिगण में पठित त्रयोदशी, चतुर्दशी आदि शब्दों से अण् प्रत्यय का विधान करना है । क्योंकि वहां अण्प्रत्यय ठञ् के बाधनार्थ ही कहा गया है, अन्यथा वह तो प्राग्दीव्यतोऽण् (४.१.८३) इस सामान्याधिकार से ही प्राप्त था । यदि कालाट्ठञ् (१०८४) सूत्र में केवल कालशब्द से ही ठञ् प्रत्यय करना अभीष्ट होता तो त्रयोदशी, चतुर्दशी आदि शब्दों से उस की प्राप्ति ही न होती, पुनः उस के बाध के लिये अण् का विधान क्यों करते ? अतः इस से प्रतीत होता है कि इस सूत्र में 'काल' के ग्रहण से केवल कालशब्द का ही नहीं अपितु उस के पर्यायों तथा विशेष-भेदों का भी ग्रहण होता है । विस्तार के लिये प्रौढमनोरमा आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों का अवलोकन करें ।

काले भवं जातं वा कालिकम् (समय पर होने वाला या समय पर उत्पन्न आदि) । यहां 'काल ङि' से तत्र भवः (१०६२) या तत्र जातः (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत कालाद्गुम् (१०८४) सूत्र से ठब् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक, ठस्येकः (१०२७) से 'ठ्' को 'इक' आदेश, पर्जन्यबल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय से आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'कालिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

मासे भवं जातं वा मासिकम् (महीने में होने वाला या पैदा होने वाला) । यहां कालवाचक 'मास ङि' से तत्र भवः (१०६२) या तत्र जातः (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में पूर्ववत् ठब्, सुंभ्लुक, ठ् को 'इक' आदेश, पर्जन्यबल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय से आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मासिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

संवत्सरे भवं जातं वा सांवत्सरिकम् (वर्ष में होने वाला या वर्ष भर में पैदा होने वाला) । यहां कालवाचक संवत्सरशब्द से पूर्ववत् ठब् प्रत्यय हो जाता है ।

इसीप्रकार—

- (१) समये भवो जातो वा सामयिको विचारः । सामयिकी चर्चा ।^२
- (२) दिवसे भवं जातं वा दैवसिकं कर्म ।
- (३) दिने भवं जातं वा दैनिकं कृत्यम् ।
- (४) अर्धमासे भवं जातं वा अर्धमासिकं वेतनम् ।
- (५) शर्वयां भवं जातं वा शार्वरिकं तमः ।^३
- (६) उषसि भवं जातं वा औषसिकं विहरणम् ।^४
- (७) अह्नि भवं जातं वा आह्निकं कृत्यम् ।^५

१. अत एव तत्कालीनः, समकालीनः, समानकालीनः, उत्तरकालीनः, प्राक्कालीनः आदि प्रयोग अशुद्ध हैं । इन के स्थान पर तात्कालिकः, सामकालिकः, सामानकालिकः, औत्तरकालिकः, प्राक्कालिकः आदि का प्रयोग करना चाहिये ।

२. टिब्दाणम्० (१२५१) इति स्त्रियां ङीप् ।

३. नूनमुन्नमति यञ्जनां पतिः शार्वरस्य तमसो निषिद्धये (कुमार० ८.५८) ।

यहां कालिदास के 'शार्वर' प्रयोग को वैयाकरण अशुद्ध मानते हैं ।

४. आकुलश्चपलपतत्रिकुलानामारवैरनुदितौषसरागः (किरात० ६.८) ।

यहां भारवि का 'औषस' प्रयोग वैयाकरणों को अनभिमत है ।

५. 'अहन् ङि' से ठब्, सुंभ्लुक, ठ् को इक आदेश एवम् आदिवृद्धि होकर 'आहन् + इक' इस अवस्था में अङ्गष्टकोरेव (६.४.१४५) इस नियम के कारण नस्तद्धिते (६१६) से टि का लोप नहीं होता । अब अस्लोपोऽनः (२४७) से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आह्निकम्' प्रयोग उपपन्न हो जाता है ।

(८) प्रस्थाने (प्रस्थानकाले) भवं प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनम् ।

(९) पूर्वस्मिन् (पूर्वजन्मनि) भवा पौर्विकी जातिः ।^१

(१०) पर्वणि भवः पार्विकः शर्वरीश्वरः ।^२

(११) वर्षे भवा वार्षिकी परीक्षा ।

अब तद्धित प्रक्रिया में महोपयोगी एक वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(८५) अव्ययानां भमात्रे टिलोपः ॥

सायम्प्रातिकः । पीनःपुनिकः ॥

अर्थः—भसञ्ज्ञामात्र होते ही अव्ययों की टि का लोप हो ।

व्याख्या—अव्ययानाम् । ६।३। भमात्रे । ७।१। टिलोपः । १।१। अर्थः—(भमात्रे)

केवल भसञ्ज्ञा होते ही (अव्ययानाम्) अव्ययों की (टिलोपः) टि का लोप हो जाता है । यह वार्त्तिक नस्तद्धिते (६.४.१४४) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है । जिसप्रकार नस्तद्धिते (९१९) सूत्र नकारान्त भसञ्ज्ञक टि का लोप करता है वैसे अव्ययों में नहीं होता । अव्ययों में तो टि चाहे नकारान्त हो या कोई अन्यवर्णान्त, केवल भसञ्ज्ञा होने मात्र से ही उस का लोप हो जाता है । यही यहां 'मात्र' शब्द के ग्रहण का प्रयोजन है ।^३ उदाहरण यथा—

१. अद्रोहेण भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् । (मनु० ४.१४८)

टिड्ढाणञ्० (१२५१) इति ङीप् ।

२. नस्तद्धिते (९१९) इति टिलोपः । प्रयोगो यथा—

अघारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा च तच्छयच्छायलबोऽपि पल्लवे ।

तदास्थबास्योऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥

(नैषध० १.२१)

३. यह वार्त्तिक अनित्य है, क्योंकि जब इस से अव्ययों की भसञ्ज्ञक टि का लोप सिद्ध हो सकता था तो पुनः बहिषष्टिलोपो यञ् च (वा० ६८) वार्त्तिक में बहिस् अव्यय की टि के लोप का विधान क्यों किया ? इस से प्रतीत होता है कि क्वचित् इस की प्रवृत्ति नहीं भी होती । यथा—आराद् भव आरातीयः (समीप में होने वाला, पड़ोसी आदि) । यहां वृद्धसञ्ज्ञक आरात् अव्यय से बुद्धाच्छः (१०७७) सूत्रद्वारा छप्रत्यय हो कर छ् को ईय् हो जाता है । प्रकृतवार्त्तिक के अनित्य होने से टि का लोप नहीं होता । इसीप्रकार—शश्वद् भवः शाश्वतिकः शाश्वतो वा (६.४.१४४ सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्यात् ठञ् अण् चेत्युभौ प्रत्ययौ भवतः) । वस्तुतः महाभाष्य में यह वार्त्तिक अव्ययानां च सायंप्रातिकाद्यर्थम् इसप्रकार कुछेक प्रयोगों के साधुत्व के लिये ही पढ़ा गया है । अत एव काशिकाकार ने यहां स्पष्ट शब्दों में कहा भी है—के पुनः सायंप्रातिकादयः ? येषामव्ययानामविहितष्टिलोपः प्रयोगे च दृश्यते ते सायंप्रातिकप्रकारा ग्रहीतव्याः ।

सायं च प्रातः च सायंप्रातः, द्वन्द्वसमासः । सायंप्रातर्भवः सायंप्रातिकः (साञ्च सवेरे होने वाला) । यहां 'सायंप्रातर्' इस कालवाचक अव्यय से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में कालाद् ठञ् (१०८४) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय, अकार अनुबन्ध का लोप, ट् को ठस्येकः (१०२७) से 'इक' आदेश, पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय से आदिवृद्धि एवं यच्चि भम् (१६५) से भसञ्ज्ञा हो प्रकृत अव्ययानां भमात्रे टिलोपः (वा० ८५) वार्तिक से टि (अर्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'सायम्प्रातिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'पुनर्' अव्यय को सर्वस्य द्वे (८.१.१) के अधिकार में नित्यवीप्सयोः (८८६) सूत्र से वीप्सा अर्थ में द्वित्व हो कर 'पुनःपुनर्' निष्पन्न होता है । यह स्थानिवद्भाव से अव्यय है । पुनःपुनर्भवः पौनःपुनिकः (बार बार होने वाला) । यहां कालवाचक 'पुनःपुनर्' अव्यय से भव अर्थ में कालाद् ठञ् (१०८४) से ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, ट् को इक आदेश, आदिवृद्धि तथा 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' (वा० ८५) वार्तिक से भसञ्ज्ञक टि (अर्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'पौनःपुनिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

इस वार्तिक के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) उपरिष्ठाद् भव औपरिष्ठः । तत्र भवः (१०६२) इत्यण् ।
- (२) पुरस्ताद् भवः पौरस्तः । तत्र भवः (१०६२) इत्यण् ।
- (३) परस्ताद् भवः पारस्तः । तत्र भवः (१०६२) इत्यण् ।
- (४) उत्तराहि भव औत्तराहः । तत्र भवः (१०६२) इत्यण् ।

इन सब की सिद्धि पीछे अमेह-भव-तसिं-त्रेभ्य एव (वा० ८२) इस वार्तिक पर की जा चुकी है ।

अब प्रावृष् (वर्षाऋतु) शब्द से 'एण्य' तद्धित का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८५) प्रावृष् एण्यः । ४।३।१७।।

प्रावृषेण्यः ॥

अर्थः— कालवाचक प्रावृष् (वर्षाऋतु) सुबन्त प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक 'एण्य' प्रत्यय हो ।

१. शङ्का—'सायम्प्रातिकः' तथा 'पौनःपुनिकः' में सायम्प्रातर् तथा पुनःपुनर् दोनों कालवाचक अव्यय हैं । इन से तो ठञ् के अपवाद सायंश्चिरंप्राहणेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्यु-दयुलौ तुंद् च (१०८६) सूत्रद्वारा टधु और टधुल् प्रत्यय होने चाहिये थे, कालाद् ठञ् (१०८४) से ठञ् कैसे किया गया है ?

समाधान—भाष्यकार ने नस्तद्धिते (६.४.१४४) सूत्र के भाष्य में इन दोनों प्रयोगों का स्वयं साक्षात् प्रयोग किया है । इससे ज्ञापित होता है कि इन में टधु-टधुल् प्रत्ययों की प्रवृत्ति नहीं होती । अतः कालाद् ठञ् (१०८४) से ठञ् किया गया है ।

व्याख्या—प्रावृषः ।५।१। एण्यः ।१।१। कालात् ।५।१। (कालाद्गुञ् सूत्र से) । शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि भी पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(कालात्=कालवाचिनः) कालवाचक (प्रावृषः) 'प्रावृष्' इस संबन्धित प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (एण्यः) 'एण्य' प्रत्यय हो जाता है ।

वर्षर्तुवाचक 'प्रावृष्' शब्द षकारान्त स्त्रीलिङ्ग है । इस की रूपमाला हलन्त-स्त्रीलिङ्गप्रकरणान्तर्गत 'त्विष्' शब्द के समान चलती है । वर्षर्तु का वाचक होने से प्रावृष्शब्द कालवाचक है । अतः सर्वप्रथम कालाद् ठञ् (१०८४) से शैषिक अर्थों में ठञ् प्रत्यय प्राप्त होता था पुनः उस का बाध कर सन्धिबेलाद्यतुनक्षत्रेभ्योऽण् (४.३.१६) सूत्र से अण् प्राप्त हुआ । प्रकृत एण्य प्रत्यय उस अण् का भी अपवाद है । इस का भी तत्र जातः (१०८७) के अर्थ में प्रावृषष्ठप् (१०८८) द्वारा वक्ष्यमाण ठप् प्रत्यय अपवाद कहेंगे ।

प्रकृतसूत्र का उदाहरण यथा—

प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः (वर्षर्तु में होने वाला मेघ आदि) । यहां 'प्रावृष् ङि' से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में प्रकृत प्रावृष एण्यः (१०८५) सूत्रद्वारा एण्य^१ तद्धित-प्रत्यय हो कर सुंल्लुक् तथा विभक्ति कार्य करने से 'प्रावृषेण्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । प्रावृषेण्यो बलाहक इति काशिका ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१०८६)

सायं-चिरं-प्राहणे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुंट् च ।४।३।२३॥

सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्यः, अव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युट्युलौ स्तस्तयोस्तुंट् च । सायन्तनम् । चिरन्तनम् । प्राहण-प्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते—प्राहणेतनम् । प्रगेतनम् । (अव्ययेभ्यः—) दोषातनम् ॥

अर्थः—कालवाचक सायम्, चिरम्, प्राहणे, प्रगे इन चार शब्दों से तथा काल-

१. सन्धिबेलाद्यतुनक्षत्रेभ्योऽण् (४.३.१६) । अर्थः—काल में वर्तमान सन्धिबेलादि-शब्दों, ऋतुवाचकों तथा नक्षत्रवाचकों से शैषिक अर्थों में अण् तद्धित प्रत्यय हो । उदाहरण यथा—सन्धिबेलायां भवं सान्धिबेलम् । ग्रीष्मे भवं ग्रीष्मम् । तिष्ये (तिष्यनक्षत्रयुक्ते काले) भवं तैषम् । तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राऽणि (वा० ७७) इति यलोपः ।

२. रषाम्यां नो णः समानपदे (२६७) अट्कुप्वाङ् ० (१३८) इत्येव सिद्धे प्रत्यये णकारोच्चारणं 'प्रावृषेण्' इत्यत्र णकारश्रवणार्थम् । अन्यथा पदान्तस्य (१३६) इति प्रतिषेधे नकारः श्रूयेत । तथाहि—प्रावृषेण्यम् आचष्टे प्रावृषेण्यति । ततो ण्यन्तात् किञ्चिपि, णेरनिटि (५२६) इति णेलोपि लोपो व्योर्बलि (४२६) इति यलोपे च कृते 'प्रावृषेण्' इति निष्पद्यते ।

वाचक अव्ययों से तद्धितसञ्ज्ञक टघु और टघुल् प्रत्यय हों तथा उन प्रत्ययों को तुँट का आगम भी हो शैषिक अर्थों में ।

व्याख्या—सायंचिरंप्राहणेप्रगेऽव्ययेभ्यः । १५।३। टघुटघुलौ । १।२। तुँट । १।१। च इत्यव्ययपदम् । कालेभ्यः । १५।३। (कालाद् ठञ् सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा) । शेषे । ७।१। (यह अधिकृत है) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि भी पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—सायं च चिरं च प्राहणे च प्रगे च अव्ययानि च सायंचिरंप्राहणेप्रगेऽव्ययानि, तेभ्यः = सायंचिरंप्राहणेप्रगेऽव्ययेभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । टघुश्च टघुल् च टघुटघुलौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(कालेभ्यः) कालवाचक (सायंचिरंप्राहणे-प्रगेऽव्ययेभ्यः) सायम्, चिरम्, प्राहणे, प्रगे और अव्ययों से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (टघु-टघुलौ) टघु और टघुल् प्रत्यय हों (च) तथा इन प्रत्ययों का अवयव (तुँट) तुँट भी हो (शेषे) शैषिक अर्थों में ।

यहां सायम् आदि चार शब्दों को अव्यय नहीं समझना चाहिये अपितु साय, चिर, प्राह्ण और प्रग इस प्रकार चार अकारान्त शब्द मानने चाहियें । यदि सायम् आदि अव्ययों का ग्रहण अभीष्ट होता तो इन का पृथक् उल्लेख न होता, 'अव्ययेभ्यः' कथनमात्र से ही इन का ग्रहण हो जाता । प्रकृतसूत्र में इन चार शब्दों में प्रत्ययों के विधान के साथ साथ कुछ निपातनकार्य भी किये गये हैं । यथा—साय का सायम्, चिर का चिरम्, प्राह्ण का प्राहणे तथा प्रग का प्रगे रूप बन जायेगा । दूसरे शब्दों में प्रत्ययविधान के साथ साथ साय और चिर शब्दों को मान्त्व एवं प्राह्ण और प्रग शब्दों को एदन्त्व का निपातन भी किया गया है ।

टघु और टघुल् प्रत्ययों के आदि टकार की षट् (१२६) सूत्र से एवं टघुल् के अन्त्य लकार की हलन्त्यम् (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । अनुबन्धों का लोप करने पर 'यु' मात्र शेष रहता है । युबोरनाकौ (७८५) से यु को अन आदेश हो जाता है । दोनों प्रत्ययों में रूप एक समान बनते हैं परन्तु स्वर में अन्तर पड़ता है इसीलिये दो प्रत्यय कहे गये हैं । इन प्रत्ययों के टित्व के कारण स्त्रीलिङ्ग में टिट्ठानञ् (१२५१) सूत्र से ङीप् हो जाता है । यथा—सायन्तनं कृत्यम्, सायन्तनी वेला ।

इन प्रत्ययों को तुँट (त्) का आगम भी होता है । टित् होने से यह आगम आद्यन्तौ टकितौ (८५) सूत्रद्वारा प्रत्यय का आद्य अवयव बनता है । परन्तु यह आगम यु को अन आदेश करने के बाद ही होता है ।^१ इस तरह आगम और प्रत्यय दोनों मिल कर 'त् + अन = तन' रूप बन जाता है ।

१. यदि यह आगम अन आदेश से पहले किया जाये तो 'दोषा + त्यु' इस अवस्था में यु को युबोरनाकौ (७८५) से अन आदेश न हो सकेगा, क्योंकि युबोरनाकौ (७८५) सूत्र के अङ्गाधिकारस्थ होने के कारण अङ्ग से परे ही 'यु, वु' को 'अन-अक' आदेश हो सकेगा । यहां अङ्ग से परे तकार का व्यवधान पड़ने से अन आदेश सम्भव नहीं । अतः तुँट का आगम यु को अन आदेश करने के बाद ही

‘साय’ का उदाहरण यथा—

साये भवः सायन्तनः (सायंकाल में होने वाला) । सप्तम्यन्त घबन्त सायशब्द^१ से तत्र भवः (१०६२) इस शैषिक अर्थ में सायंचिरंप्राहणेप्रगे० (१०८६) इस प्रकृतसूत्र से टघु या टघुल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक, यु को अन आदेश (७८५), तुंद् का आगम तथा सायशब्द को मान्त्व का निपातन हो स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) सूत्रद्वारा पदसंज्ञा के कारण मकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण कर विभक्ति लाने से ‘सायन्तनः, सायंतनः’ ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

‘चिर’ का उदाहरण यथा—

चिरे भवः—चिरन्तनः (चिर अर्थात् प्राचीनकाल में होने वाला) । यहां भी पूर्ववत् ‘चिर डि’ से टघु और टघुल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक, यु को अन आदेश, उसे तुंद् का आगम तथा चिर को निपातन से मकारान्त्व हो कर पदकार्य हो जाते हैं । इसी अर्थ में एक वार्तिकद्वारा ल्प्रत्यय हो कर ‘चिरत्नम्’ प्रयोग भी बनता है ।^२

‘प्राह्ल’ शब्द^३ का उदाहरण यथा—

● प्राहणे भवो जातो वा प्राहणेतनः (पूर्वाह्ल में होने वाला या पैदा हुआ) । काल-वाचक ‘प्राह्ल डि’ से भव आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत सायंचिरंप्राहणेप्रगे० (१०८६) सूत्र से टघु या टघुल् प्रत्यय, सुंभ्लुक, यु को अन आदेश, उसे तुंद् का आगम तथा ‘प्राह्ल’ को एदन्त्वनिपातन कर विभक्तिकार्य करने से ‘प्राहणेतनः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^४

करना चाहिये । अनद्यतने लौङ् (४२२) आदि सूत्रों में ‘अनद्यतन’ आदि पाणिनीय प्रयोग भी इस में ज्ञापक हैं ।

१. षो अन्तकर्मणि (दिवा० परस्मै०) धातु से घब् प्रत्यय ला कर आतो युंक् चिष्कृतोः (७५७) से युंक् का आगम करने से ‘साय’ शब्द निष्पन्न होता है । यह सायंकाल के अर्थ में रूढ है । विनान्ते सायः—इत्यमरः ।
२. चिर-परुत्-परारिभ्यस्तनो वक्तव्यः (वा०) । अर्थः—चिर, परुत् और परारि शब्दों से शैषिक अर्थों में ‘त्न’ तद्धितप्रत्यय कहना चाहिये । यथा—चिरत्नम् (चिर में होने वाला), परुत्नम् (पिछले वर्ष होने वाला), परारित्नम् (पिछले से पिछले वर्ष होने वाला) । परुत्परार्येषमोऽब्दे पूर्वं पूर्वतरे यति इत्यमरः ।
३. प्राह्लशब्दे अहःशब्दस्तदवयवपरः । प्रथमं च तदहः प्राह्लः । राजाहःसखिम्यष्टच् (६५८) इति टच्, अह्लोऽह्ल एतेभ्यः (५.४.८८) इत्यह्लादेशः, अह्लोऽबन्तात् (८.४.७) इति णत्वम् ।
४. यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि घ-काल-तनेषु कालनाम्नः (६.३.१६) सूत्र से ही सप्तमी का अलुक् हो कर जब ‘प्राहणेतनः, प्रगेतनः’ दोनों सिद्ध हो सकते हैं

‘प्रग’ शब्द का उदाहरण यथा—

प्रगे भवो जातो वा प्रगेतनः (प्रातःकाल में होने वाला या पैदा हुआ)। यहां ‘प्रग ङि’ से भव आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत सायंचिरंप्राह्णेप्रगे० (१०८६) सूत्र से ट्यु या ट्युल् प्रत्यय, सुँब्लुक, यु को अन आदेश, तुँट् का आगम तथा प्रग को एदन्तत्व निपातन करने से ‘प्रगेतनः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्रगेतनो विहारः (प्रातःकाल की सैर, Morning Walk)।

कालवाचक अव्यय का उदाहरण यथा—

दोषा भवं दोषातनम् (रात्रि में होने वाला)। यहां रात्रिवाचक ‘दोषा’ अव्यय से तत्र भवः (१०६२) इस शैषिक अर्थ में प्रकृत सायंचिरंप्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यः० (१०८६) सूत्र से ट्यु या ट्युल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, यु को अन आदेश तथा उसे तुँट् का आगम कर विभक्ति लाने से ‘दोषातनम्’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) दिवा भवं दिवातनम् (दिन में होने वाला)।

(२) श्वो भवं श्वस्तनम् (आगामी कल में होने वाला)।

(३) ह्यो भवं ह्यस्तनम् (गतकल में होने वाला)।

(४) अद्य भवम् अद्यतनम् (आज होने वाला)।

(५) पुरा भवम् पुरातनम् (पूर्वकाल में होने वाला)।

(६) सदा भवः सदातनः (हमेशा होने वाला)।

(७) सना भवः सनातनः (सदा होने वाला)।

(८) अधुना भवः—अधुनातनः (अब होने वाला)।

तो पुनः एदन्तत्वनिपातन का क्या प्रयोजन ? इस का उत्तर यह है कि यदि यहां एदन्तत्व का निपातन नहीं करेंगे तो निम्नस्थ दो दोष प्रसक्त होंगे—

(क) घकालतनेषु कालनाम्नः (६.३.१६) सूत्र से वैकल्पिक अलुक का विधान है अतः अलुक के अभाव में ‘प्राह्लतनः, प्रगतनः’ इस प्रकार अनिष्ट रूप भी प्राप्त होंगे।

(ख) प्राह्लः सोढोऽस्य प्राह्णेतनः इत्यादि स्थलों में जहां सप्तमी नहीं होगी वहां एदन्तत्व कैसे आयेगा ?

अतः एदन्तत्व का निपातन करना ही युक्त है।

१. ऐषमस् (इस वर्ष), ह्यस् (बीता कल) और श्वस् (आने वाला कल) इन तीन अव्ययों से ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम् (४.२.१०४) सूत्रद्वारा शैषिक अर्थों में विकल्प से त्यप् प्रत्यय होता है—ऐषमस्त्यम्, ह्यस्त्यम्, श्वस्त्यम्। त्यप् के अभावपक्ष में ट्यु-ट्युल् प्रत्ययों की प्रवृत्ति होती है—ऐषमस्तनम्, ह्यस्तनम्, श्वस्तनम्।

- (६) इदानीं भवः—इदानीन्तनः (अब होने वाला) ।
 (१०) प्राग्भवः प्राक्तनः (पहले होने वाला) ।
 (११) प्रातर्भवः प्रातस्तनः (प्रातः होने वाला) ।
 (१२) ऐषमो भवम् ऐषमस्तनम् (इस वर्ष होने वाला) ।
 अब शैषिक प्रकरण के अर्थों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८७) तत्र जातः ।४।३।२५॥

सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः । स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः । उत्से जात औत्सः । राष्ट्रं जातो राष्ट्र्यः । अवारपारे जातः—अवारपारीणः । इत्यादि ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'उत्पन्न हुआ' इस अर्थ में पूर्वोक्त अण् आदि तथा शैषिकप्रकरणोक्त घ आदि तद्धितप्रत्यय यथासम्भव हों ।

व्याख्या—तत्र ।५।१। ('तत्र' यह सप्तम्यन्त का अनुकरण है । इस से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । जातः ।१।१। अण् ।१।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (जात इत्यर्थे) 'उत्पन्न हुआ, पैदा हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

अण् सामान्य प्रत्यय है । इस के दित्यबित्यादित्य० (६६६) और उत्साबिम्योऽञ् (१००२) आदि पूर्वोक्त तथा राष्ट्रवारपाराद् घञौ (१०६६) आदि शैषिकप्रकरणोक्त अनेक अपवाद हैं । जहां जिस की प्राप्ति न्याय्य होगी वहां वह प्रत्यय हो जायेगा ।

उदाहरण यथा—

स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः (स्रुघ्न^२ में उत्पन्न हुआ) । यहां 'स्रुघ्न डि' इस सप्तम्यन्त से 'जातः' (पैदा हुआ) इस अर्थ में प्रकृत तत्र जातः (१०८७) सूत्र से अण्

१. गता वेदविद्या गतं धर्मशास्त्रं गतं रे गतं रे गतं न्यायसूत्रम् ।

इदानीन्तनानां जनानां प्रवृत्तिः सुबन्ते तिङन्ते कदाचित् कृदन्ते ॥

(सुभाषित)

२. प्राचीन भारत में स्रुघ्न नाम का प्रसिद्ध नगर था । यह स्थान हस्तिनापुर से ४० मील की दूरी पर उत्तरदिशा में स्थित था । यहां से पाटलिपुत्र की दूरी कम से कम एक दिन की बताई जाती थी । यथा—न हि वेदवत्तः स्रुघ्ने सन्निधीयमानस्तद्बहरेव पाटलिपुत्रे सन्निधीयते । युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात् (वेदान्तदर्शन २.१.१८ पर शाङ्करभाष्य) । विशेषजिज्ञासु इस के लिये डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री के पतञ्जलिकालीन भारत नामक ग्रन्थ के पृष्ठ (११८) का अवलोकन करें ।

प्रत्यय, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुंप् (ङि) का लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्जक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'झीघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

उत्से जात औत्सः (उत्स अर्थात् झरने में पैदा हुआ मण्डूक आदि) । यहां 'उत्स ङि' इस सप्तम्यन्त से तत्र जातः (१०८७) सूत्र के अर्थ में अण् का बाध कर उत्साद्विम्योऽम् (१००२) द्वारा अण् प्रत्यय, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि एवं भसञ्जक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'औत्सः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः (राष्ट्र में पैदा हुआ) । यहां सप्तम्यन्त राष्ट्रप्रातिपदिक से तत्र जातः (१०८७) के अर्थ में अण् का बाध कर राष्ट्रान्तरपाराद् घञौ (१०६९) सूत्र से घप्रत्यय, सुंभ्लुक्, आयनेयीनीयियः फट्सछर्धा प्रत्ययादीनाम् (१०१३) से घ प्रत्यय के आदिवर्णं घकार को इय् आदेश एवं भसञ्जक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'राष्ट्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अवारपारे जातः—अवारपारीणः (वार-पार में उत्पन्न हुआ) । यहां सप्तम्यन्त अवारपारप्रातिपदिक से तत्र जातः (१०८७) के अर्थ में अण् का बाध कर राष्ट्रान्तरपाराद् घञौ (१०६९) सूत्र से खप्रत्यय, सुंभ्लुक्, आयनेयीनीयियः (१०१३) से खप्रत्यय के आदिवर्णं खकार को ईन् आदेश एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'अवारपारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'औत्सः' आदि सब प्रयोगों की सिद्धि पीछे यथास्थान दिखा चुके हैं ।

ध्यान रहे कि शैषिकप्रकरण के अर्थ का निर्देश करने वाले तत्र जातः (१०८७) आदि सूत्र विधिसूत्र भी हैं । जब तत्र जातः (१०८७) आदि के अर्थ में किसी अन्य-सूत्र से कोई प्रत्यय प्राप्त नहीं होता तब इन सूत्रों से अण् प्रत्यय हो जाता है । यथा यहां 'झीघ्नः' में अन्य किसी सूत्र से कोई प्रत्यय प्राप्त न था तो अण् प्रत्यय हो गया है ।

अब तत्र जातः (१०८७) के अर्थ में प्रावृष्प्रातिपदिक से ठप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८८) प्रावृषठप् ।४।३।२६॥

एण्यापवादः । प्रावृषिकः ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त प्रावृष् (वर्षाऋतु) प्रातिपदिक से 'जातः' (उत्पन्न हुआ) अर्थ में तद्धितसञ्जक ठप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—प्रावृष्ः ।५।१। ठप् ।१।१। तत्र जातः (१०८७) सूत्र का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (प्रावृष्ः) प्रावृष् प्रातिपदिक से (जात इत्यर्थे) 'उत्पन्न हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्जक (ठप्) ठप् प्रत्यय होता है ।

ठप् में पकार अनुबन्ध अनुवात्तो सुंप्पितौ (३.१.४) सूत्रद्वारा अनुदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। ठ् को ठस्येकः (१०२७) से इक आदेश हो जायेगा।

प्रावृषशब्द से सब प्रकार के शैषिक अर्थों में प्रावृष एण्यः (१०८५) सूत्र से एण्यप्रत्यय प्राप्त होता था। यहां पुनः उस का अपवाद ठप् प्रत्यय विधान किया गया है। इस प्रकार 'जातः' अर्थ में प्रावृषशब्द से ठप् तथा अन्य शैषिक अर्थों में एण्य प्रत्यय हो जायेगा। उदाहरण यथा—

प्रावृषि जातः प्रावृषिकः (वर्षाश्रुतु में पैदा हुआ)। 'प्रावृष् डि' से तत्र जातः (१०८७) के अर्थ में प्रकृत प्रावृषष्ठठप् (१०८८) सूत्र से ठप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभुक् तथा ठस्येकः (१०२७) से ठ् को इक आदेश कर विभक्ति लाने से 'प्रावृषिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब अन्य शैषिक अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८९) प्रायभवः।४।३।३९॥

तत्रेत्येव। स्रुच्ने प्रायेण=बाहुल्येन भवति—स्रौचनः॥

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'प्रायभवः' (प्रायः होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्रायभवः।१।१। अण्।१।१। (प्राग्बीज्यतोऽण् अधिकार से लब्ध)। तत्र जातः (१०८७) से 'तत्र' पद का अनुवर्तन होता है। प्रत्ययः, परश्च, ङष्वाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। प्रायेण (बाहुल्येन) भवतीति प्रायभवः, कर्तृकरणे कृता बहुलम् (९२६) इति तृतीयातत्पुरुष इति हरदत्तः। अर्थः—(तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (प्रायभव इत्यर्थे) 'बहुधा होने वाला' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो।

अण् सामान्य प्रत्यय है, इस के पूर्वोक्त घ आदि अपवाद तो यथास्थान प्रवृत्त होंगे ही। उदाहरण यथा—

स्रुच्ने प्रायेण भवतीति स्रौचनः (स्रुचन में बहुधा होने वाला)। यहां 'स्रुच डि' से 'प्रायभवः' (बहुधा होने वाला) के अर्थ में प्रकृत प्रायभवः (१०८९) सूत्र से तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो सुंभुक्, आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौचनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^१ इसीप्रकार—

मथुरायां प्रायभवो मथुरः।

राष्ट्रे प्रायभवो राष्ट्रियः (राष्ट्रावारपाराद् षसौ १०६९)।

१. 'प्राय'शब्द का अर्थ है—सम्पूर्ण से कुछ कम। हिन्दी में इसे 'बहुधा' शब्द से प्रकट किया जा सकता है। 'स्रौचनो देवदत्तः' का अभिप्राय यह है कि देवदत्त स्रुचन में सदा तो नहीं परन्तु उस से कुछ कम अर्थात् बहुधा हुआ करता है। अत एव काशिकावृत्ति में कहा है—प्रायशब्दः सत्कस्यस्य किञ्चिन्न्यूनतामाह।

महाभाष्य में इस सूत्र का खण्डन किया गया है क्योंकि इस का अर्थ तत्र भवः (१०६२) के ही अन्तर्गत हो सकता है। भट्टोजिदीक्षित ने इस के विरुद्ध प्रौढमनोरमा और शब्दकौस्तुभ में इस की आवश्यकता पर बल दिया है।

अब अन्य शैषिक अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६०) सम्भूते ।४।३।४१॥

स्रुघ्ने सम्भवति—स्रौघ्नः ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'सम्भूत' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सम्भूते ।७।१। तत्र ।५।१। (तत्र जातः सूत्र से)। अण् ।१।१। (प्राग्दी-व्यतोऽण् के अधिकार से लब्ध)। प्रत्ययः, पररच, ङघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (सम्भूते) सम्भूत अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। विशिष्ट स्थानों पर पूर्वोक्त अपवाद प्रत्यय ही प्रवृत्त होंगे। उदाहरण यथा—

स्रुघ्ने सम्भवतीति स्रौघ्नः (स्रुघ्न में जिस के होने की सम्भावना है वह)। यहां 'स्रुघ्न ङि' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से 'सम्भूत' (सम्भव होना) अर्थ में प्रकृत सम्भूते (१०६०) सूत्रद्वारा अण् तद्धितप्रत्यय हो कर सुंब्लुक, आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सम्पूर्वक भूधातु से नपुंसके भावे क्तः (८७०) सूत्रद्वारा भाव में क्तप्रत्यय करने पर 'सम्भूत' शब्द निष्पन्न होता है। यहां 'सम्भूत' के दो अर्थ लिये जाते हैं— (१) सम्भावना, (२) प्रमाणानतिरेक अर्थात् आधेय का आधार के प्रमाण से अधिक न होना। सम्भावना में 'स्रौघ्नः' का अर्थ होगा—स्रुघ्न में जिस के होने की सम्भावना है ऐसा व्यक्ति या पदार्थ। प्रमाणानतिरेक में 'स्रौघ्नः' का अर्थ होगा—स्रुघ्न में जो पूरा समा गया है अर्थात् जिस का प्रमाण स्रुघ्न से अधिक नहीं ऐसा सैन्यवर्ग आदि। प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट ने प्रमाणानतिरेक अर्थ का एक सुन्दर उदाहरण दिया है—पञ्जरेऽनतिरिक्तप्रमाणं पाञ्जरं पात्रम् अर्थात् पिञ्जरे में पूरा समा जाने वाला पात्र।

१. जब सन्दिग्धज्ञान में एक ओर को अधिक झुकाव हो तो उसे सम्भावना कहते हैं। सन्दिग्धज्ञान या संशय में दो पक्ष हुआ करते हैं और दोनों पर बराबर का बल रहता है। यथा—अन्धेरे में लकड़ी के किसी खम्भे को देख कर हम यह निश्चय न कर सकें कि यह क्या है खम्भा है कि पुरुष ? तो यहां दोनों ज्ञान बराबर हैं। अब यदि कहें कि उस के खम्भा होने की सम्भावना है तो एक प्रकार से सन्दिग्ध-ज्ञान के दो पक्षों में से एक की ओर अधिक झुकाव हुआ है इसी को सम्भावना कहते हैं। सम्भावना सन्देह से कुछ ऊपर और निश्चय से कुछ नीचे होती है। इस में न तो पूरा सन्देह और न ही पूरा निश्चय होता है।

अब सम्भूत अर्थ में 'कोश' प्रातिपदिक से ढञ् तद्धित का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६१) कोशाङ् ढञ् ।४।३।४२॥

कौशेयं वस्त्रम् ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'कोश' प्रातिपदिक से सम्भूत अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ढञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कोशात् ।५।१। ढञ् ।१।१। तत्र ।५।१। (तत्र जातः सूत्र से)। सम्भूते ।७।१। (सम्भूते सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (कोशात्) 'कोश' प्रातिपदिक से (सम्भूते) सम्भूत अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ढञ्) ढञ् प्रत्यय हो जाता है ।

ढञ् में अकार अनुबन्ध आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है । 'ढ' प्रत्यय के आदि वर्ण ढकार को आयनेयीनीयियः० (१०१३) सूत्र से एप् आदेश हो जाता है ।

उदाहरण यथा—

कोशे सम्भवति कौशेयं वस्त्रम् (कोश में सम्भव होने वाला अर्थात् रेशमी वस्त्र) ।^१ यहां 'कोश ङि' से सम्भूत अर्थ में प्रकृत कोशाङ् ढञ् (१०६१) सूत्र से ढञ्

१. यहां का भाव ठीक प्रकार से समझने के लिये रेशम की उत्पत्ति का इतिहास समझना अत्यावश्यक है । रेशम एक विशेष प्रकार के कृमि (कीड़े) से उत्पन्न होता है । ये कीड़े अनेक प्रकार के होते हैं जैसे विलायती, मद्रासी, चीनी, अराकानी, आसामी आदि । चीनी कृमि का रेशम सब से अच्छा माना जाता है । ये कीड़े तितली की जाति के माने जाते हैं । अण्डा फूटने पर ये रेंगने लगते हैं । इस अवस्था में ये पत्तियां बहुत खाते हैं । शहतूत की पत्ती इन का सब से प्रिय भोजन है । ये बढ़ कर अपने चहुँ ओर एक कोश तैयार कर लेते हैं और उस कोश के भीतर ये कीड़े एक विशेष प्रकार के तन्तु निकाला करते हैं जिन को रेशम कहते हैं । कोश के भीतर रहने की अवधि जब पूरी हो जाती है तब कीड़ा रेशमयुक्त कोश को काट कर उड़ जाता है । यदि ऐसा हो जाये तो रेशम कट जाने से किसी काम का नहीं रहता । इसलिये कृमि को पालने वाले नियत अवधि से कुछ पूर्व ही कृमि-सहित कोशों को गरम पानी में डाल देते हैं इस से कृमि मर जाते हैं । एक कोश से प्रायः दो तीन सौ गज लम्बा रेशम का तन्तु प्राप्त होता है । यह है रेशम की उत्पत्ति का संक्षिप्त इतिहास ।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'कोशे सम्भूतम् कौशेयं वस्त्रम्' यह कैसे कहा जा सकता है ? कोश में तो रेशम होता है वस्त्र नहीं । भगवान् भाष्यकार ने यह सब विचार कर कोशशब्द से विकार अर्थ में ही ढञ् प्रत्यय करने को कहा है, क्योंकि रेशमीवस्त्र कोश का विकार ही हो सकता है । अतः 'कोशस्य विकारः कौशेयम्' ऐसा समुचित विग्रह भाष्य में दिखाया गया है । तब तस्य विकारः (१११०) के अधिकार में एष्या ढञ् (४.३.१५७) सूत्र के अनन्तर कोशाच्च इस

प्रत्यय हो कर सुंञ्जुक, इ को एय्, आदिवृद्धि एवं यस्येति च (२३६) द्वारा भसञ्जक अकार का लोप हो जाता है—कौश् एय् अ = कौशेय । अब विशेष्य (वस्त्रम्) के अनुसार विभक्ति लाने से 'कौशेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । कौशेयशब्द रेशमीवस्त्र के अर्थ में रूढ है । रूढशब्दों की यथाकथञ्चित् व्युत्पत्ति वा सिद्धि करनी ही अभीष्ट होती है । इस में अब्याप्ति-अतिव्याप्ति आदि दोषों की कल्पना करना उचित नहीं होता ।

अब शैषिकप्रकरणस्थ एक अन्य सुप्रसिद्ध अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६२) तत्र भवः ।४।३।५३॥

सृष्ट्ने भवः स्रौघ्नः । औत्सः । राष्ट्रियः ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धित-सञ्जक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत्र १५।१। (यहां सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । भवः ११।१। अण् ११।१। (प्राग्बीभ्यतोऽण् अधिकार से लघ्व) । प्रत्ययः, परश्च, ङपाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । भवतीति भवः, पचादेराकृतिगणत्वादन्वत्ययः । अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (भव इत्यर्थे) 'होनेवाला' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्जक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

यहां 'भवः' से 'होने वाला, पाया जाने वाला' अर्थ ही अभिप्रेत है, 'पैदा होने वाला' नहीं, अन्यथा तत्र जातः (१०८७) सूत्र व्यर्थ हो जायेगा ।

अण् सामान्य प्रत्यय है, यथासम्भव अपवादप्रत्ययों से इस का बाध होगा ।

उदाहरण यथा—

सृष्ट्ने भवः स्रौघ्नः (सृष्ट्ने में होने वाला) । यहां 'सृष्ट्ने ङि' से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में अण् तद्धित हो कर सुंञ्जुक, आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

उत्से भव औत्सः (उत्स अर्थात् झरने में होने वाला) । यहां 'उत्स ङि' से तत्र

प्रकार का सूत्र बनाया जायेगा । यहां सम्भूते (१०६०) के अधिकार में इसे नहीं पढ़ा जायेगा ।

परन्तु इस के विपरीत प्राचीन वृत्तिकारों का मन्तव्य है कि सूत्रकार भगवान् पाणिनि ने साङ्ख्यशास्त्र के सत्कार्यवाद (प्रत्येक कार्य अपने कारण में अव्यक्तरूप से अवस्थित रहता है—यह साङ्ख्यशास्त्र का प्रसिद्ध सिद्धान्त है) का आश्रय ले कर ही ऐसा कहा है । रेशमीवस्त्र भी अव्यक्तरूप से अपने कारण तन्तु या कोश में रहता ही है । अतः 'कोशे सम्भूतं कौशेयं वस्त्रम्' ऐसा कहा जा सकता है । प्रक्रियासर्वस्वकार ने यहां अतीवोपयुक्त एक श्लोक लिखा है—

कारणे कार्यसद्भावपक्षात् सम्भूततोऽप्येते ।

विकारे बाध्यमेव्या इत् कोशाच्चेत्याह भाष्यकृत् ॥

भवः (१०६२) के अर्थ में प्राप्त अण् का बाध कर उस्ताबिम्योऽञ् (१००२) सूत्र से अण् प्रत्यय करने पर पूर्ववत् 'औत्सः' रूप सिद्ध हो जाता है ।

राष्ट्रे भवो राष्ट्रियः (राष्ट्र में होने वाला) । यहां पर 'राष्ट्र डि' से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर राष्ट्रवारपाराद् घञौ (१०६६) सूत्र से 'घ' प्रत्यय, 'घ्' को इय् आदेश (१०१३) तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप करने से 'राष्ट्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—

- (१) ग्रामे भवो ग्राम्यो ग्रामीणो वा [ग्रामाद् यञ्जौ (१०७०)] ।
- (२) नद्यां भवं नादेयं जलम् [नद्याबिम्यो ढक् (१०७१)] ।
- (३) पश्चाद्भवः पाश्चात्यः [दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् (१०७२)] ।
- (४) स्त्रीषु भवः स्त्रेणः [स्त्रीपुंसाम्यां नञ्स्नञौ भवनात् (१००३)] ।
- (५) पुंसु भवः पौस्नः [स्त्रीपुंसाम्यां नञ्स्नञौ भवनात् (१००३)] ।
- (६) बहिर्भवो बाह्यः [बहिषष्टिलोपो यञ् च (वा० ६८)] ।
- (७) मध्ये भवो मध्यमः [मध्यान्मः (१०८३)] ।
- (८) प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः [प्रावृष एण्यः (१०८५)] ।
- (९) चिरे भवश्चिरन्तनः [सायंचिरं० (१०८६)] ।
- (१०) काले भवः कालिकः [कालाट्टञ् (१०८४)] ।

अब तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६३) दिगादिभ्यो यत् ।४।३।५४॥

दिश्यम् । वर्ग्यम् ॥

अर्थः—दिश् आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्जक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—दिगादिभ्यः ।५।३। यत् ।१।१। तत्र भवः (१०६२) सूत्र की अनुवृत्ति आती है । प्रत्ययः, परश्च, इचाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । दिक् (दिशशब्दः) आदिर्येषान्ते दिगादयः, तेभ्यः = दिगादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त (दिगादिभ्यः) दिश् आदि प्रातिपदिकों से (भव इत्यर्थे) 'होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्जक (यत्) यत् प्रत्यय होता है ।

दिश् आदि एक गण है ।^१ यत् प्रत्यय में तकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है । यह सूत्र सामान्यप्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है । उदाहरण यथा—

१. दिगादिगण यथा—

दिश् । वर्ग । पूग । गण । पक्ष । धाय्य (धाय्या का.) । मित्र । मेघा । अन्तर । पथिन् । रहस् । अलीक । उखा । साक्षिन् । देश । आदि । अन्त । मुख । जघन । मेघ । यूथ । उदकात्संज्ञायाम् (ग. सूत्रम्) । न्याय । वंश । वेश (विश का.) । काल । आकाश । अनुवंश । अप् ॥

दिशि भवं दिश्यम् (दिशा में होने वाला) । यहां 'दिश् डि' से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में दिगादिभ्यो यत् (१०६३) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर विभक्तिकार्य करने से 'दिश्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

वर्गो भवं वर्ग्यम् (समूह में होने वाला) । यहां सप्तम्यन्त 'वर्ग' प्रातिपदिक से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में दिगादिभ्यो यत् (१०६३) इस प्रकृतसूत्र से यत् तद्धित प्रत्यय हो कर यस्येति च (२३६) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने पर 'वर्ग्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः (शिक्षा-सूत्र ६.१०) ।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) आदौ भवः—आद्यः ।

(२) अन्ते भवः—अन्त्यः ।

(३) वंशे भवः—वंश्यः ।^१

(४) यूथे भवः—यूथ्यः ।

(५) पक्षे भवः—पक्ष्यः ।

(६) गणे भवः—गण्यः ।

(७) अन्तरे भवः—अन्तर्यः ।

(८) रहसि भवम्—रहस्यम् ।

(९) वने भवः—वन्यः ।^२

(१०) आकाशे भवः—आकाश्यः शब्दः ।

अब शरीरावयववाची शब्दों से भी भव अर्थ में इसी यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६४) शरीरावयववाच्च ।४।३।५५॥

दन्त्यम् । कण्ठ्यम् ॥

अर्थः—शरीर के अवयववाचक सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से भी 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शरीरावयवात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । तत्र भवः (१०६२) का

१. राज्ञो वंश्यः—राजवंश्यः । षष्ठीतत्पुरुषः । राजवंशशब्दात् बृद्धाच्छः (१०७७) इति छप्रत्यये राजवंशीय इति ।
२. यद्यपि अद्यत्वे दिगादियों में वनशब्द का पाठ नहीं देखा जाता तथापि इस से भव अर्थ में यत् प्रत्यय बहुत प्रसिद्ध है । वन्यान् विनेष्यन्निव वृष्टसत्त्वान् (रघु० २.८) इत्यादि अनेक प्रयोग संस्कृतसाहित्य में देखे जाते हैं । नारायणभट्ट ने अपने प्रक्रिया-सर्वस्वग्रन्थ में दिगादियव्येभ्योऽपि वृश्यत इति स्वामी इस प्रकार किसी स्वामी का उल्लेख कर के 'वने भवं वन्यम्, बीज्यम्' ये दो उदाहरण दिये हैं । पुरुषोत्तमदेव ने भी अपनी भाषावृत्ति में इसी सूत्र पर 'वन्यम्' उदाहरण लिखा है । वर्धमान ने गणरत्नमहोदधिग्रन्थ में दिगादिगण में वनशब्द का भी उल्लेख किया है ।

अनुवर्तन होता है। यत् ।१।१। बिगाबिम्यो यत् सूत्र से)। प्रत्ययः, ५२२७, ङष्वाप्प्राति-
पठिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। शरीरस्य अवयवः शरीरावयवः, तस्मात् =
शरीरावयवात्। षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अर्थः—(शरीरावयवात्) शरीर के अवयववाची
(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से (च) भी (भव इत्यर्थे) 'होने वाला'
अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है।

यह सूत्र भी तत्र भवः (१०६२) द्वारा सामान्यतः प्राप्त अणु प्रत्यय का अपवाद
है। उदाहरण यथा—

दन्तेषु भवं दन्त्यम् (दान्तों में होने वाला मल आदि कुछ भी)। दन्त शरीर का
अवयव है अतः 'दन्त सुप्' इस सप्तम्यन्त से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में प्रकृत
शरीरावयवाच्च (१०६४) सूत्र से यत् प्रत्यय, सुंभुक् तथा यस्येति च (२३६) से
भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दन्त्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

कण्ठे भवं कण्ठघम् (कण्ठ में होने वाला)। यहाँ 'कण्ठ ङि' से यत् प्रत्यय किया
गया है। सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ववत् होती है।

इसीप्रकार—

- (१) कर्णे भवम्—कर्ण्यम् (कान में होने वाला)।
- (२) ओष्ठे भवम्—ओष्ठघम् (ओष्ठ में होने वाला)।
- (३) उरसि भवम्—उरस्यम् (छाती में होने वाला)।
- (४) मुखे भवम्—मुख्यम् (मुख में होने वाला)।
- (५) जघने भवम्—जघन्यम्^१ (जघन में होने वाला)।
- (३) तालुनि भवम्—तालव्यम्^२ (तालु में होने वाला)।
- (७) मूर्धनि भवम्—मूर्धन्यम्^३ (मूर्धा में होने वाला)।
- (८) चक्षुषि भवम्—चक्षुष्यम्^४ (आंख में होने वाला)।

अब ठञ्विधायक एक वार्त्तिक का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(८६) अध्यात्मादेष्ठञ् इष्यते ॥

अध्यात्मं भवम् आध्यात्मिकम् ॥

१. दिगादिगण में भी मुख और जघन शब्द पढ़े गये हैं। मुख और जघन यदि शरीरा-
वयववाची हों तो प्रकृत शरीरावयवाच्च (१०६४) सूत्र से यत् होगा, अन्यत्र
दिगादित्वात् यत् माना जायेगा। शरीरावयववाची न होने के उदाहरण—सेनाया
मुखे जघने च भवं मुख्यं जघन्यम्।
२. ओर्मुणः (१००५) इति गुणे बान्तो यि प्रत्यये (२४) इत्योकारस्य अवादेशः।
३. 'मूर्धन् + य' इत्यत्र नस्तद्धिते (६१६) इति टेलोपि प्राप्ते ये षाऽभावकर्मणोः
(१०२३) इति प्रकृतिभावः।
४. 'चक्षुष् + य' इत्यत्र यच्चि भम् (१६५) इति भत्वात्सस्य सत्त्वं न।

अर्थः—अध्यात्म आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञकं ठञ् प्रत्यय करना अभीष्ट है ।

व्याख्या—अध्यात्मादेः । १।१। ठञ् । १।१। इष्यते इति इष्घातोः कर्मणि लीटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । प्रत्ययः, परश्च, अध्यात्प्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अध्यात्मशब्द आदिर्यस्य सोऽध्यात्मादिः, तस्मात् = अध्यात्मादेः । तद्गुण-संविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अध्यात्मादिगण में भाष्यकार ने तीन शब्द गिनाये हैं— अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत । परन्तु इन को निदर्शनार्थ मानते हुए विद्वानों ने अध्यात्मादियों को आकृतिगण माना है । जहां 'भवः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय का प्रयोग तो हो परन्तु उस का विधायक कोई सूत्र या वचन न हो तो उसे अध्यात्मादियों के अन्तर्गत समझना चाहिये ।

ठञ् का अकार इत् हो कर लुप्त हो जाता है । ठस्येकः (१०२७) से ट् को इक आदेश हो जाता है । अकार अनुबन्ध आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है ।

अध्यात्मशब्द विभक्त्यर्थ में 'अधि' और 'आत्मन्' शब्दों के अव्ययीभावसमास से निष्पन्न हुआ है । आत्मनि इति अध्यात्मम् । अनश्च (६१८) इति समासान्ते टचि, नस्तद्धिते (६१६) इति टेलीपः । ततः सोरमादेशः । अध्यात्मशब्द की विस्तृत सिद्धि पीछे समासप्रकरणस्थ (६१६) सूत्र पर दर्शाई जा चुकी है ।

अध्यात्मम् (अध्यात्मे वा)^१ भवम् आध्यात्मिकम् (आत्मा में होने वाला) । यहाँ सप्तम्यन्त 'अध्यात्म डि'^२ से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में प्रकृत अध्यात्मादेष्टिष्ठिष्यते (वा० ८६) वाक्तिक से तद्धित ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंब्लुक्, ठस्येकः (१०२७) से ट् को इक आदेश, तद्धितेष्वात्मादेः (६३८) से आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'आध्यात्मिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अध्यात्मादियों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) अमुत्र भवम् आमुत्रिकम् (वहाँ अर्थात् परलोक में होने वाला) ।
- (२) इह भवम् ऐहिकम् (यहाँ अर्थात् इस लोक में होने वाला) ।
- (३) शेषे भवाः शेषिकाः प्रत्ययाः ।

१. अव्यय होते हुए भी अदन्त अव्ययीभावसमास से परे सप्तमी का लुक् नहीं होता बल्कि उस के स्थान पर बहुल (विकल्प) से अम् आदेश हो जाता है, अध्यात्मम् अध्यात्मे वा । (देखें तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् ६१३ सूत्र की व्याख्या) ।
२. विभक्त्यर्थ में समास होने के कारण 'अध्यात्म' शब्द अधिकरणशक्तिप्रधान है अतः इस से पुनः अधिकरण में सप्तमी का लाना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता । परन्तु यहाँ सप्तम्यन्त से ही तद्धित की उत्पत्ति कही गई है अतः इस विधानसामर्थ्य से ही सप्तमी लाई जाती है । अथवा सप्तमी लाने के बिना ही यथाकथञ्चित् तद्धितोत्पत्ति कर लेनी चाहिये ।

- (४) त्रिषु वर्णेषु भवः त्रैवर्णिको घर्मः ।^१
 (५) चतुर्षु अर्थेषु भवाः चातुरर्थिकाः प्रत्ययाः ।
 (६) स्वभावे भवः स्वाभाविको गुणः ।^२
 (७) स्वार्थे भवाः स्वार्थिकाः प्रत्ययाः ।
 (८) क्वचिद् भवं क्वाचित्कम् (इसुसुक्तान्तात्कः १०५२) ।
 (९) कदाचिद् भवं कादाचित्कम् (इसुसुक्तान्तात्कः १०५२) ।
 (१०) ऊर्ध्वदेहे भवम् और्ध्वदेहिकं कर्म (देह के बाद का कर्म) ।^३
 (११) समाने भवः सामानिकः (समान में होने वाला) ।
 (१२) समानग्रामे भवः सामानग्रामिकः ।
 (१३) समानदेशे भवः सामानदेशिकः ।

अध्यात्मादियों के कुछ उदाहरणों में उभयपदवृद्धि हुआ करती है। उसे दशनि के लिये उभयपदवृद्धिविधायक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६५) अनुशतिकादीनां च ।७।३।२०॥

एषामुभयपदवृद्धिर्त्रिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् । आकृतिगणोऽयम् ॥

अर्थः—त्रित् णित् या कित् तद्धित के परे रहते अनुशतिक आदि गणपठित शब्दों के दोनों पदों के आदि अच् के स्थान पर वृद्धि हो ।

व्याख्या—अनुशतिकादीनाम् ।६।३। च इत्यव्ययपदम् । पूर्वपदस्य ।६।१। (हृव्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च सूत्र से) । उत्तरपदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । अचाम् ।६।३। आदेः ।६।१। (तद्धितेष्वचामादेः से) । वृद्धिः ।१।१। (मृजेवृद्धिः सूत्र से) । ङिति ।७।१। (अचो ङिति सूत्र से) । किति ।७।१। (किति च सूत्र से) । तद्धिते ।७।१। (तद्धितेष्वचामादेः से वचनविपरिणामद्वारा) । अनुशतिकः (अनुशतिकशब्दः) आदिर्येषान्ते = अनुशतिकादयः, तेषाम् = अनुशतिकादीनाम्, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(अनुशतिकादीनाम्) अनुशतिक आदि शब्दों के (पूर्वपदस्य उत्तरपदस्य च) पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों के (अचाम् आदेः) अचों में जो आदि अच् उस के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो (ङिति किति तद्धिते) त्रित् णित् या कित् तद्धित प्रत्यय के परे होने पर ।

१. 'त्रैवर्णिक' तथा 'चातुरर्थिक' में तद्धितार्थ की विवक्षा में तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (६३६) सूत्रद्वारा समास हो कर तद्धित की उत्पत्ति होती है ।
२. स्वशब्द यद्यपि द्वारादियों में पढ़ा गया है तथापि भाष्यकार के प्रयोग (१.१.२७ सूत्रस्थ) के कारण यहां द्वारादीनां च (७.३.४) सूत्र से 'स्व' के वकार से पूर्व ऐच् का आगम नहीं होता ।
३. देहादूर्ध्वम् ऊर्ध्वदेहः, तस्मिन् = ऊर्ध्वदेहे । यहां सुंप्सुपासमास में राजदन्तादियों को आकृतिगण मान कर राजदन्ताविषु परम् (६८६) सूत्रद्वारा 'देह' शब्द का परनिपात हो जाता है ।

अनुशतिकादि एक गण है ।^१ इस गण में समस्त (समास किये गये) शब्द पढ़े गये हैं । तद्धितेष्वचामादेः (६३८) एवं किति च (१००१) सूत्रों द्वारा इन शब्दों में केवल आदि अच् के स्थान पर वृद्धि प्राप्त होती थी जो केवल प्रथमपद में ही सम्भव थी, परन्तु हमें यहां दोनों पदों में ही वृद्धि करनी अभीष्ट है अतः प्रकृतसूत्र से उस का विधान किया गया है । उदाहरण यथा—

अनुशतिकस्येदम् आनुशातिकम् (अनुशतिक नामक व्यक्ति की यह वस्तु) । यहां 'अनुशतिक इस्' से तस्येदम् (११०६) इस शौचिक अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर सुप् (इस्) का लुक् कर देने से 'अनुशतिक + अ' हुआ । अनुशतिकशब्द में 'अनु' पूर्वपद तथा 'शतिक' उत्तरपद है अतः अनुशतिकादीनां च (१०६५) सूत्र से दोनों पदों के आदि अच् अकार को आकार वृद्धि कर विभक्ति लाने से 'आनुशातिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रकृत में उदाहरण यथा—

देवेषु इत्यधिदेवम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावसमासः । अधिदेवम् (अधिदेवे वा) भवम् आधिदैविकम् (देवों में होने वाला) । यहां 'अधिदेव डि' से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में अध्यात्मादेष्टन्निरूप्यते (वा० ८६) इस वार्तिक से ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, प्रातिपदिकसंज्ञा तथा प्रातिपदिक के अवयव सुप् (डि) का लुक् कर ठस्येकः (१०२७) से ट् को इक आदेश हो जाता है—अधिदेव + इक । अनुशतिकादि आकृतिगण है अतः अधिदेवशब्द को भी अनुशतिकादियों में मान जित् तद्धित के परे रहते अनुशतिकादीनां च (१०६५) से दोनों (अधि और देव) पदों के आदि अच् को वृद्धि कर यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप और अन्त में विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'आधिदैविकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

भूतेषु इत्यधिभूतम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावसमासः । अधिभूतम् (अधिभूते वा) भवम् आधिभौतिकम् (पृथ्व्यादि भूतों में होने वाला) । यहां भी पूर्ववत् अधिभूतशब्द से अध्यात्मादित्वात् ठञ्, ट् को इक आदेश तथा अनुशतिकादीनां च (१०६५) से दोनों पदों में आदि अच् के स्थान पर वृद्धि कर विभक्ति लाने से 'आधिभौतिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

१. अनुशतिकादिगण यथा—

अनुशतिक । अनुहोड । अनुसंवरण (अनुसंचरण) । अनुसंवत्सर । अङ्गारवेणु । असिहत्य (अस्यहत्य, अस्यहेति) । वध्योग । पुष्करसद् । अनुहरत् । कुरकत । कुरपञ्चाल । उदकशुद्ध । इहलोक । परलोक । सर्वलोक । सर्वपुरुष । सर्वभूमि । प्रयोग । परस्त्री । राजपुरुषात् व्यभि (गणसूत्रम्) । सूत्रनड । आकृतिगणः [तेन—अभिगम, अधिभूत, अधिदेव, चतुर्विद्या, सुखशयन, शतकुम्भ, परदर इत्यादयो गृह्यन्ते] ।

इहलोके^१ भवम् ऐहलौकिकम् (इस लोक में होने वाला) । यहां 'इहलोक डि' से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में अध्यात्मादेष्टमिष्यते (वा० ८६) द्वारा ठ् प्रत्यय, सुंल्लुक्, ट् को इक आदेश, अनुशतिकादीनाञ्च (१०६५) से उभयपदवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) द्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ऐहलौकिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

आकृतिगणोऽयम् । यह अनुशतिकादिगण आकृतिगण है । अर्थात् जिन शब्दों में उभयपदवृद्धि देखी जाये और उस के लिये कोई विधायकवचन न हो तो उन शब्दों को अनुशतिकादिगणान्तर्गत समझना चाहिये ।

अनुशतिकादि में उभयपदवृद्धि के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) प्रयोगे भवः प्रायोगिकः (अध्यात्मादित्वाट् ठ्) ।
- (२) उदकशुद्धस्यापत्यम् औदकशौद्धिः (अत इम् १०१४) ।
- (३) पुष्करसदोऽपत्यम् पौष्करसादिः [बाह्वाविम्यश्च (१०१५) इतीम्] ।
- (४) अनुहरतोऽपत्यम् आनुहारतिः [बाह्वाविम्यश्चेतीम्] ।
- (५) सर्वपुरुषस्येदं सार्वपौरुषम् [तस्येदम् (११०६) इत्यण्] ।
- (६) शतकुम्भे (तन्नामके पर्वते) भवं शातकौम्भम् (तत्र भव इत्यण्) ।
- (७) सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः [तस्येश्वरः (११४५) इत्यण्] ।

अब शरीरावयवाच्च (१०६४) का अपवाद कहते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६६) जिह्वामूलाङ्गुलेऽछः ।४।३।६२॥

जिह्वामूलीयम् । अङ्गुलीयम् ॥

अर्थः—जिह्वामूल और अङ्गुलि इन दो सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में तद्धितसंज्ञक छ प्रत्यय हो ।

व्याख्या—जिह्वामूलाङ्गुलेः ।५।१। छः ।१।१। तत्र भवः (१०६२) का अनुवर्तन हो रहा है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । जिह्वामूलं च अङ्गुलिश्च जिह्वामूलाङ्गुलि, तस्मात् = जिह्वामूलाङ्गुलेः, समाहारद्वन्द्वेऽपि सौत्रं पुंस्त्वम् । अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (जिह्वामूलाङ्गुलेः) जिह्वामूल तथा अङ्गुलि इन दो प्रातिपदिकों से (भव इत्यर्थे) 'होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है ।

जिह्वामूल तथा अङ्गुलि दोनों शरीरावयव हैं अतः शरीरावयवाच्च (१०६४)

१. 'इहलोके' में कर्मधारयसमास है—इह लोके—इहलोके । 'इह लोकः—इहलोकः' इस प्रकार के विग्रह में 'इह' और 'लोकः' का सामानाधिकरण्य सुसंगत नहीं होता क्योंकि 'इह' अधिकरणशक्तिप्रधान अव्यय है । गणरत्नमहोदधिकार ने यहां 'गणपाठसामर्थ्यात् प्रथमार्थे ह्रप्रत्ययः' ऐसा लिखा है । परन्तु व्याकरण में ऐसा कोई वचन नहीं जो प्रथमार्थ में 'ह' प्रत्यय का विधान करता हो । इबमो हः (१२०५) सूत्र सप्तम्यन्त से ही स्वार्थ में 'ह' प्रत्यय का विधान करता है ।

सूत्रद्वारा 'भव' अर्थ में इन से यत् प्रत्यय प्राप्त होता था, यह सूत्र उस का अपवाद है।
उदाहरण यथा—

जिह्वामूले भव जिह्वामूलीयम् (जिह्वा के मूल में होने वाला) । यहां 'जिह्वामूल डि' से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में शरीरावयवाच्च (१०६४) सूत्रद्वारा प्राप्त यत् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत जिह्वामूलाङ्गुलेश्चः (१०६६) सूत्र से 'छ' प्रत्यय, सुंभ्लुक, प्रत्यय के आदि वर्ण छकार को आयनेयीनीयियः फल्लछघां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) से ईय् आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'जिह्वामूलीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

अङ्गुल्यां भवम् अङ्गुलीयम् (अङ्गुलि में होने वाला भूषण, अङ्गुठी) । यहां 'अङ्गुलि डि' से भव अर्थ में यत् का बाध कर प्रकृतसूत्र जिह्वामूलाङ्गुलेश्चः (१०६४) से छ प्रत्यय, सुंभ्लुक, छ को ईय् तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'अङ्गुलीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^२

अग्रिमसूत्र से इसी अर्थ में पुनः छप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६७) वर्गान्ताच्च ।४।३।६३॥

कवर्गीयम् ॥

अर्थः—'वर्ग' शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से परे भी 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'छ' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—वर्गान्तात् ।४।१। च इत्यव्ययपदम् । छः ।१।१। जिह्वामूलाङ्गुलेश्चः सूत्र से । तत्र भवः (१०६२) सूत्र का अनुवर्तन हो रहा है । प्रत्ययः, परश्च, इघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिष्ठत हैं । समासः—वर्गशब्दोऽन्तः (अन्तावयवः) यस्य स वर्गान्तः, तस्मात् = वर्गान्तात् । बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (वर्गान्तात्) वर्गशब्दान्त प्रातिपदिक से परे (च) भी (भव इत्यर्थे) 'होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है । यह सूत्र सामान्यतः प्राप्त अण् का अपवाद है । उदाहरण यथा—

कवर्ग^३ भव कवर्गीयम् (कवर्ग में होने वाला) । यहां 'कवर्ग डि' से तत्र भवः

१. (क) ख इति क्खाम्यां प्रागर्ध्विसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः । जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् इति सञ्ज्ञाप्रकरणे वरदराजः ।
२. रत्नाङ्गुलीयप्रभवानुविद्वान् उदीरयामास सलीलमक्षान् । (रघु० ६.१८)
अङ्गुलीयमेव अङ्गुलीयकम्, स्वार्थे कन् । प्रयोगो यथा—
इवं मैथिल्यभिज्ञानं काकुत्स्थस्याङ्गुलीयकम् ।
भवत्याः स्मरताऽत्यर्थमपितं सावरं मम ॥ (भट्टि० ८.११८)
अङ्गुलीयकमूमिका इत्यमरः ।
३. कषटितो वर्गः कवर्गः । अथवा—कादिर्वर्गः कवर्गः । उभयत्र शाकपार्थिवादित्वात्समासः ।

(१०६२) के अर्थ में सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत वर्गान्ताच्च (१०६७) सूत्र से छप्रत्यय, सुंलुक्, छप्रत्यय के आदि वर्ण छकार को आयनेयीनीयियः फल्लछवां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) से ईय् आदेश एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'कवर्गीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—चवर्गे भवं चवर्गीयम् । टवर्गे भवं टवर्गीयम् । तवर्गे भवं तवर्गीयम् । पवर्गे भवं पवर्गीयम् ।^१

अब एक अन्य सुप्रसिद्ध शैषिक अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६८) तत आगतः ।४।३।७४॥

स्रुघ्नाद् आगतः स्रौघ्नः ॥

अर्थः—पञ्चम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'आगतः' (आया हुआ) इस अर्थ में तद्धितसञ्जक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—ततः ।४।१। (यहां पञ्चम्यन्त के अनुकरण 'ततः' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । आगतः ।१।१। अण् ।१।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, उघात्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(ततः = पञ्चम्यन्तात्) पञ्चम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (आगत इत्यर्थे) 'आया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्जक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है ।

अण् सामान्य प्रत्यय है । इस के पूर्वोक्त अपवाद भी यथास्थान प्रवृत्त होंगे । उदाहरण यथा—

स्रुघ्नाद् आगतः स्रौघ्नः (स्रुघ्न से आया हुआ) । यहां 'स्रुघ्न डसिं' इस पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से तत आगतः (१०६८) सूत्रद्वारा 'आगतः' (आया हुआ) के अर्थ में तद्धित-सञ्जक अण् प्रत्यय हो कर प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (डसिं) का लुक् (७११) तथा तद्धितेष्वच्चाभावेः (६३८) से आदिवृद्धि करने पर 'स्रौघ्न + अ' हुआ । अब यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

(१) मथुराया आगतो माथुरः [तत आगतः (१०६८) इत्यण्] ।

(२) राष्ट्राद् आगतो राष्ट्रियः [राष्ट्रादारपाराद् घस्रौ (१०६६) इति घः] ।

(३) अवारपारादागतोऽवारपारीणः [(१०६६) इति खः] ।

१. यदि शब्दभिन्न कोई अन्य वाच्य हो तो अशब्दे यत्स्वावन्यतरस्याम् (४.३.६४) सूत्र-द्वारा वर्गान्त प्रातिपदिक से तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में यत्, ख और छ कोई भी प्रत्यय हो सकता है । यथा—

तृतीयवर्ग्यः (यत्), तृतीयवर्गीणः (ख), तृतीयवर्गीयः (छ) वाज्यं छात्रः ।

इसीप्रकार—मद्वर्ग्यः, मद्वर्गीणः, मद्वर्गीयः । इत्यादि ।

- (४) ग्रामादागतो ग्राम्यो ग्रामीणो वा [ग्रामाद् यमञ्जी (१०७०)] ।
 (५) नद्या आगतो नादेयः [नद्यादिभ्यो ढक् (१०७१)] ।
 (६) स्त्रीभ्य आगतः स्त्रैणः [स्त्रीपुंसान्यां नञ्स्तन्त्री भवनात् (१००३)] ।
 (७) पुम्भ्य आगतः पौंस्नः [१००३] ।
 (८) उत्साद् आगत औत्सः [उत्सादिभ्योऽञ् (१००२)] ।
 (९) देवाद् आगतं दैव्यं दैवं वा [देवाद् यमञ्जी (वा० ६७)] ।
 (१०) बहिरागतो बाह्यः [बह्रिषष्टिलोपो यञ् च (वा० ६८)] ।
 (११) गोरारागतं गव्यम् [गोरजादिप्रसङ्गे यत् (वा० ७०)] ।

अब तत् आगतः (१०६८) के अर्थ में अपवाद प्रत्ययों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६६) ठगायस्थानेभ्यः ।४।३।७५॥

शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः ॥

अर्थः—आयस्थान (आमदनी के स्थान) के वाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'आगतः' के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—ठक् ।१।१। आयस्थानेभ्यः ।५।३। तत् आगतः (१०६८) सूत्र का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधि-कृत हैं । आयस्य स्थानानि आयस्थानानि, तेभ्यः = आयस्थानेभ्यः, षष्ठीतत्पुरुषः । आयस्थानवाचिभ्य इत्यर्थः । अर्थः—(ततः = पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त (आयस्था-नेभ्यः) आयस्थान के वाचक प्रातिपदिकों से (आगत इत्यर्थे) 'आगतः' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है ।

आमदनी के स्थानों को आयस्थान कहते हैं । यथा शुल्कशाला (चुंगीघर) से राजा को आय (आमदनी) होती है, आपण (दुकान) से वणिक् आदि को आय होती है तो ये शुल्कशाला और आपण आदि आयस्थान माने जाते हैं ।

ठक् में ककार अनुबन्ध है जो किति च (१००१) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है । ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है । अवशिष्ट 'ठ' के स्थान पर ठस्येकः (१०२७) सूत्र से 'इक' आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः (चुंगीघर से आया हुआ) । यहां 'शुल्क-शाला इति' से 'आगतः' के अर्थ में प्रकृत ठगायस्थानेभ्यः (१०६६) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक, ठस्येकः (१०२७) से ठ को इक आदेश, किति च (१००१) से आदिवृद्धि एवं यस्यति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'शौल्कशालिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—आपणाद् आगत आपणिकः (दुकान से आया हुआ) । आकराद् आगत आकरिकः (खान से आया हुआ) ।^१

नोट—'ठगायस्थानेभ्यः' सूत्र के स्थान पर 'ठगायस्थानात्' सूत्र बनाया जा

१. वृद्धाच्छं परत्वाद् बाधते ।

सकता था परन्तु मन्दबुद्धि छात्र कहीं 'आयस्थान' शब्द से ही ठक् प्रत्यय का विधान न समझ लें इसलिये सूत्र में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। बहुवचनं स्वरूपविधिनिरा-
सार्थम् इति काशिका।

अब तत् आगतः (१०६८) के विषय में अपवादप्रत्यय वुन् का विधान दशति
है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११००)

विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ् ।४।३।७७॥

औपाध्यायकः । पैतामहकः ॥

अर्थः—विद्याकृतसम्बन्ध वाले या योनिकृतसम्बन्ध वाले पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों
से तत् आगतः (१०६८) के अर्थ में तद्धितसंज्ञक वुञ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—विद्यायोनि-सम्बन्धेभ्यः ।५।३। वुञ् ।१।१। तत् आगतः (१०६८)
सूत्र का अनुवर्तन होता है। प्रत्ययः, परश्च, ऊष्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि
पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—विद्या शिक्षाग्रहणम्, योनिर्जन्म। विद्या च योनिश्च
विद्यायोनी, तत्कृतः सम्बन्धो येषां ते विद्यायोनि-सम्बन्धाः, तेभ्यः = विद्यायोनि-सम्बन्धेभ्यः।
द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(विद्यायोनि-सम्बन्धेभ्यः) विद्याकृतसम्बन्धोंवाले अथवा
जन्मकृतसम्बन्धोंवाले (ततः = पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से (आगत
इत्यर्थे) 'आया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वुञ्) वुञ् प्रत्यय हो
जाता है।

उपाध्याय, आचार्य, शिष्य आदि विद्याकृतसम्बन्धवाले प्रातिपदिक हैं। माता,
पिता, पितामह, मातामह, मातुल, भ्रातृ, स्वसृ आदि जन्मकृतसम्बन्धवाले प्राति-
पदिक हैं।

वुञ् में अकार अनुबन्ध आदिवृद्धि एवं स्वर के लिये जोड़ा गया है। 'वु' को
युवोरनाकौ (७८५) सूत्र से 'अक' आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

उपाध्यायादागत औपाध्यायकः (उपाध्याय से आया हुआ ग्रन्थ, विचार आदि
कुछ भी)। यहां 'उपाध्याय डसिं' इस विद्याकृतसम्बन्धवाले पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से
'आगतः' (आया हुआ) अर्थ में विद्यायोनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ् (११००) सूत्र से वुञ्
प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंल्लुक्, वु को अक आदेश, आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६)
से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने पर 'औपाध्यायकः'
प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पितामहादागतः पैतामहकः (दादा से आया हुआ)। यहां 'पितामह डसिं' इस
जन्मकृतसम्बन्धवाले पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से 'आगतः' अर्थ में विद्यायोनि-सम्बन्धेभ्यो
वुञ् (११००) सूत्र से वुञ्, सुंल्लुक्, वु को अक, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का
लोप कर विभक्ति लाने से 'पैतामहकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

आचार्यादागत आचार्यकः। (वृद्धाच्छं परत्वाद् बाधते)।

शिध्यादागतः शैष्यकः ।

मातुलादागतो मातुलकः । (वृद्धाच्छं परत्वाद् बाधते) ।

नोट—मातृ, पितृ, भ्रातृ, स्वसृ, दुहितृ आदि जन्मकृतसम्बन्धवाले ऋदन्त प्रातिपदिकों से ऋतच्छम् (४.३.७८) सूत्रद्वारा 'आगतः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय हो कर इसुसुवसान्तात्कः (१०५२) से ट् को 'क' आदेश हो जाता है । यथा—मातुरागतं मातृकम् । पितुरागतं पितृकम् ।^१ भ्रातुरागतं भ्रातृकम् । स्वसुरागतं स्वासुकम् आदि ।

अब तत आगतः (१०६८) के अर्थ में रूप्यप्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०१)

हेतु-मनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः । ४। ३। ८१।

समादागतं समरूप्यम् । विषमरूप्यम् । पक्षे गहादित्वाच्छः—समीयम् । विषमीयम् । देवदत्तरूप्यम्, देवदत्तम् ॥

अर्थः—हेतुवाचक एवं मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'आगतः' अर्थ में विकल्प से तद्धितसंज्ञक रूप्य प्रत्यय हो ।

व्याख्या—हेतुमनुष्येभ्यः । १५।३। अन्यतरस्याम् । ७।१। रूप्यः । १।१। तत आगतः (१०६८) सूत्र का अनुवर्तन हो रहा है । प्रत्ययः, परश्च, इभाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः आदि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—हेतवश्च मनुष्याश्च हेतुमनुष्याः, तेभ्यः=हेतु-मनुष्येभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वसमासः । अर्थः—(हेतुमनुष्येभ्यः) हेतुवाचक एवं मनुष्यवाचक (ततः=पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से (आगत इत्यर्थे) 'आया हुआ' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (रूप्यः) रूप्य प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है । दूसरी अवस्था में अण् आदि यथाप्राप्त प्रत्यय होंगे ।

प्रथम हेतुवाचकों के उदाहरण यथा—

समाद् आगतं समरूप्यम् (सम अर्थात् उचित हेतु से आया हुआ धन आदि

१. पितृश्च (४.३.७६) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर 'पित्र्यम्' प्रयोग भी यहाँ बनता है । 'पितृ + य' इत्यत्र रीड् ऋतः (१०४५) इति ऋतो रीडादेशे यस्येति च (२३६) इत्यनेन ईकारस्य लोपे च कृते रूपं सिध्यति ।
२. हेतौ (२.३.२३) सूत्रद्वारा हेतु में तृतीयाविभक्ति का विधान होता है । यथा—धनेन कुलम् । हेतु में पञ्चमीविभक्ति का विधान केवल विभाषा गुणोऽस्त्रियाम् (२.३.२५) सूत्र से ही किया जाता है । यदि गुणवाचक हेतु स्त्रीलिङ्गी न हो तो उस से पञ्चमी विभक्ति भी प्रयुक्त की जा सकती है । यथा—जाड्याद् जाडधेन वा बद्धः । प्रकृत में हेतुवाचक सम और विषमशब्द गुणवाचक नहीं अतः उन से पञ्चमी न लाकर तृतीया ही लानी चाहिये थी—यह यहाँ शङ्का उत्पन्न होती है । इस का समाधान यह है कि विभाषा गुणोऽस्त्रियाम् (२.३.२५) सूत्र में 'विभाषा' इस प्रकार योगविभाग कर स्त्रीलिङ्ग वा अगुणवाचक हेतु में भी क्वचित् पञ्चमी

कुछ भी) । यहां 'सम डसिं' इस हेतुवाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से 'आगतः' के अर्थ में प्रकृत हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः (११०१) सूत्रद्वारा विकल्प से रूप्य प्रत्यय हो सुंभ्लुक् कर विभक्ति लाने से 'समरूप्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में—समशब्द के गहादिगणान्तर्गत होने के कारण गहाविभ्यश्च (१०७८) सूत्रद्वारा छप्रत्यय, आयनेयीनीयियः फढल्लछां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) से छ को ईय् आदेश एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'समीयम्' प्रयोग उपपन्न होता है । इस तरह 'समरूप्यम्' तथा 'समीयम्' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

इसीप्रकार—विषमाद् आगतं विषमरूप्यं विषमीयं वा (विषम अर्थात् विपरीत या अनुचित हेतु से आया हुआ धन आदि कुछ भी) । यहां 'विषम डसिं' से पूर्ववत् रूप्यप्रत्यय तथा पक्ष में गहाविभ्यश्च (१०७८) से छप्रत्यय हो जाता है ।

मनुष्यवाचकों के उदाहरण यथा—

देवदत्ताद् आगतं देवदत्तरूप्यं दैवदत्तं वा (देवदत्त से आया हुआ) । 'देवदत्त' यह मनुष्यवाचक प्रातिपदिक है । अतः 'देवदत्त डसिं' से 'आगतः' अर्थ में प्रकृत हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः (११०१) सूत्रद्वारा विकल्प से रूप्यप्रत्यय हो कर सुंभ्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'देवदत्तरूप्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में तत् आगतः (१०६८) से सामान्य प्रत्यय अण् हो कर सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि एवं भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दैवदत्तम्' प्रयोग उपपन्न होता है । इस तरह 'देवदत्तरूप्यम्' तथा 'दैवदत्तम्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

इसीप्रकार—यज्ञदत्तादागतं यज्ञदत्तरूप्यं याज्ञदत्तं वा ।

सूत्र में 'हेतुमनुष्येभ्यः' यह बहुवचनान्तनिर्देश इसलिये किया गया है कि 'हेतु' और 'मनुष्य' शब्दों से प्रत्यय न हो कर तद्वाचकों से ही प्रत्यय हो ।

अब इसी अर्थ में मयट् प्रत्यय का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०२) मयट् च ।४।३।८२॥

सममयम् । देवदत्तमयम् ॥

अर्थः—हेतुवाचक एवं मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'आगतः' अर्थ में तद्धितसञ्जक मयट् प्रत्यय भी विकल्प से हो ।

व्याख्या—मयट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । पूर्वसूत्र से 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्याम्' का अनुवर्तन होता है । तत् आगतः (१०६८) भी आ रहा है । प्रत्ययः, परश्च, ङाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(हेतुमनुष्येभ्यः) हेतु-

का विधान हो जाता है । यथा—पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्, नास्ति घटोऽनुपलब्धेः, इत्यादि । यद्यपि महाभाष्य में यह योगविभाग कहीं नहीं बताया गया तथापि बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः (महाभाष्य ३.३.१) इस कारिका में 'तनुदृष्टेः' यहां हेतु में पञ्चमीप्रयोग करने से उपर्युक्त योगविभाग का प्रामाण्य असन्दिग्ध हो जाता है ।

वाचक एवं मनुष्यवाचक (ततः = पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से (आगत इत्यर्थे) 'आगतः' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय (च) भी (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में यथाप्राप्त प्रत्यय होमा। रूप्यप्रत्यय का संग्रह 'च' के कथन से ही हो जायेगा। उदाहरण यथा—

समाद् आगतं सममयम् (सम अर्थात् उचित हेतु से आया हुआ धन आदि कुछ भी वस्तु)। यहां हेतुवाचक पञ्चम्यन्त 'सम ङसिं' से प्रकृत मयट् च (११०२) सूत्र से मयट् प्रत्यय, टकार अनुबन्ध का लोप तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङसिं) का लुक् कर विभक्ति लाने से 'सममयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में गहादित्वात् छप्रत्यय हो कर पूर्ववत् 'समीयम्' बनेगा। 'च' ग्रहण के कारण 'समरूप्यम्'। इस तरह तीन रूप बनेंगे।

विषमाद् आगतं विषममयम् (विषम अर्थात् विपरीत या अनुचित हेतु से आया हुआ धन आदि कुछ भी वस्तु)। यहां भी पूर्वोक्तप्रकारेण विषमप्रातिपदिक से मयट् प्रत्यय हो कर—विषममयम्। पक्ष में—विषमीयम् (१०७८)। 'च' ग्रहण के कारण—विषमरूप्यम्। तीन रूप बनते हैं।

देवदत्ताद् आगतं देवदत्तमयम् (देवदत्त से आया हुआ)। मयट् के अभाव में पूर्ववत् अण् प्रत्यय करने से दैवदत्तम्। 'च' ग्रहण के कारण—देवदत्तरूप्यम्। इसी तरह—यज्ञदत्तमयम्, याज्ञदत्तम्, यज्ञदत्तरूप्यम्।

मयट् प्रत्यय में टकार अनुबन्ध स्त्रीत्व में टिङ्ढाणञ्० (१२५१) सूत्रद्वारा डीप प्रत्यय करने के लिये जोड़ा गया है। यथा—सममयी, विषममयी, देवदत्तमयी आदि।

नोट—ध्यान रहे कि सूत्रकार ने 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यमयटौ' इस प्रकार इकट्ठा सूत्र न बना कर जानबूझ कर पृथक् पृथक् सूत्र बनाये हैं। एक सूत्र बनाने पर यथासंख्यपरिभाषा (२३) प्रवृत्त है जाती। इस से हेतुवाचकों से रूप्यप्रत्यय एवं मनुष्यवाचकों से मयट् प्रत्यय हो जाता, दोनों से दोनों प्रत्यय न हो सकते। अतः मुनि का पृथक् पृथक् सूत्र बनाना ही उचित है।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०३) प्रभवति ।४।३।८३॥

हिमवतः प्रभवति—हैमवती गङ्गा ॥

अर्थः—पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रभवति' (सर्वप्रथम प्रकाशित होना या दिखाई देना) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्रभवति इति क्रियापदम्। ततः ।५।१। (तत आगतः सूत्र से)। अण् ।१।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् सूत्र से)। प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(ततः = पञ्चम्यन्तात्) पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (प्रभवति इत्यर्थे) 'सर्वप्रथम उपलब्ध होना या दिखाई देना' अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

हिमवतः प्रभवति^१—हैमवती गङ्गा (सर्वप्रथम हिमालय में प्रकट होने वाली गङ्गा नदी)। यहां 'हिमवत् इति' से 'प्रभवति सर्वप्रथम प्रकट होना' अर्थ में प्रकृत प्रभवति (११०३) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा आदिवृद्धि करने से 'हैमवत्' बना। अब गङ्गा विशेष्य के कारण स्त्रीत्व में टिड्ढाचम्० (१२५१) सूत्रद्वारा डीपु, अनुबन्धलोप तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'हैमवती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—दरदेभ्यः प्रभवति दारदी सिन्धुः^२ (सर्वप्रथम दरदेश में प्रकाशित होने वाली सिन्धुनदी)।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०४)

तद् गच्छति पथि-दूतयोः। ४।३।८५॥

सुध्नं गच्छति सौध्नः, पन्था दूतो वा ॥

अर्थः—जाने वाला यदि मार्ग वा दूत हो तो द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से 'गच्छति' (जाने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् १५।१। (द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से यहां पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। गच्छति इतिक्रियापदम्। पथिदूतयोः। ७।२। अण् १।१। (प्राग्बी-व्यतोऽण् द्वारा अधिकृत)। प्रत्ययः, परश्च, ऊधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—पन्थाश्च दूतश्च पथिदूतो, तयोः = पथिदूतयोः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से (गच्छति इत्यर्थे) 'जाता है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है (पथि-दूतयोः) यदि जाने वाला या तो रास्ता हो या दूत। उदाहरण यथा—

सुध्नं गच्छति सौध्नः पन्था दूतो वा (सुध्न को जाने वाला मार्ग^३ या सुध्न को जाने वाला दूत)। यहां 'सुध्न अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'गच्छति'

१. भुवः प्रभवः (१.४.३१) इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चमी। प्रभवति = तत्र प्रथमं प्रकाशते इत्यर्थः। अत्रोत्पत्तिवचनस्तु प्रभवतिर्न गृह्यते, तत्र जातः (१०८७) इत्यतो भेदेन निर्देशात्।

२. सिन्धुशब्द नदीवाचक होने पर स्त्रीलिङ्ग होता है। सिन्धुर्वंमथु-देशाग्नि-नदे ना सरिति स्त्रियाम् इति मेदिनी। काश्मीर के उत्तर में स्थित देश का प्राचीन नाम 'दरद' है।

३. मार्ग यद्यपि लक्ष्य तक पहुंचने में करण होता है कर्ता नहीं तथापि सौकर्य आदि के अतिशय को प्रकट करने के लिये 'असिश्छनन्ति, काष्ठानि पचन्ति' आदि की तरह लोक में उसे कर्तृत्वेन व्यपदिष्ट करने का व्यवहार देखा जाता है। उसी की ओर यहां आचार्य का निर्देश है।

(जाने वाला) अर्थ में तद् गच्छति पथिदूतयोः (११०४) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय, सुंप् (अम्) का लुक्, आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'सौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—मथुरां गच्छति माथुरः पन्था दूतो वा ।

'पथिदूतयोः' कथन से 'मथुरां गच्छति रथः' इत्यादियों में शैषिक अण् नहीं होता ।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०५)

अभिनिष्क्रामति द्वारम् ।४।३।८६॥

स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से 'अभिनिष्क्रामति—उस की ओर निकलता है' इस अर्थ में तद्धितसञ्जक अण् प्रत्यय हो यदि द्वार वाच्य हो तो ।

व्याख्या—तत् ।५।१। (तद् गच्छति पथिदूतयोः सूत्र से) । अभिनिष्क्रामति इति क्रियापदम् । द्वारम् ।१।१। अण् ।१।१। (प्राग्बीव्यतोऽण् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ङष्वाप्रतिपदिकाल्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से (अभिनिष्क्रामतीत्यर्थे) 'उस की ओर निकलता है, उस की ओर जाता है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्जक (अण्) अण् प्रत्यय हो (द्वारम्) यदि द्वार वाच्य हो तो । उदाहरण यथा—

स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् (स्रुघ्न की ओर निकलने वाला कन्नौजनगर का द्वार) ।^१ यहां 'स्रुघ्न अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'की ओर निकलने वाला' अर्थ में द्वार की विवक्षा में अभिनिष्क्रामति द्वारम् (११०५) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, सुंप् (अम्) का लुक्, आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—मथुरामभिनिष्क्रामति माथुरं द्वारम् । राष्ट्रम् अभिनिष्क्रामति राष्ट्रियं द्वारम् (राष्ट्रावारपाराद् घञौ १०६६) ।

१. प्राचीन तथा मध्यकाल में नगर के द्वारों का मुख जिस ओर होता था उस के नाम पर उस द्वार (दरवाजे) का प्रायः नामकरण किया जाता था । उदाहरणार्थ जैसे दिल्लीनगर में अजमेर की ओर जिस द्वार से निकल कर जाते थे वह अजमेरी दरवाजा, लाहौर की ओर जिस द्वार से जाते थे वह लाहौरी दरवाजा, काश्मीर की ओर जिस दरवाजे से निकल कर जाते थे वह काश्मीरी-दरवाजा इत्यादिप्रकारेण नाम रखे गये थे जो अब तक प्रचलित हैं । इसीप्रकार प्राचीनकाल में कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर में एक ऐसा द्वार था जो स्रुघ्न की ओर जाता था अर्थात् स्रुघ्न जाने वाले लोग उसी द्वार से हो कर स्रुघ्न जाते थे अतः कान्यकुब्ज नगर का वह द्वार 'स्रौघ्न' कहलाता था ।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि द्वार तो जड़ होता है वह कहीं आ जा नहीं सकता अतः निष्क्रमण अर्थ में प्रत्यय कैसे सम्भव हो सकेगा ? इस का उत्तर यह है कि जैसे 'असिश्छनत्ति' (तलवार अच्छी तरह काट रही है) इस में यद्यपि काटने वाला कोई और पुरुष होता है वह तलवार से काटने का काम लेता है तलवार स्वयं जड़ होने से काट नहीं सकती तथापि 'तलवार काटती है' इस तरह का लौकिक व्यवहार प्रयुक्त होता है वैसे यहां भी समझना चाहिये । द्वार यद्यपि स्वयं जड़ होने से स्रुघ्न की ओर नहीं जाता किन्तु पथिक उस द्वार से निकल कर स्रुघ्न की ओर जाते हैं तथापि 'यह द्वार स्रुघ्न की ओर जाता है' ऐसा लोक में व्यवहार होता है । बस इसी व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए आचार्य ने यह सूत्र बनाया है ।

अब एक अन्य सुप्रसिद्ध शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०६) अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ।४।३।८७॥

शारीरकम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से 'अधिकार कर बनाया हुआ ग्रन्थ' इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अधिकृत्य इति ल्यबन्तं पदम् । कृते ।७।१। ग्रन्थे ।७।१। तत् ।५।१। (तद् गच्छति पथिवृतयोः सूत्र से) । अण् ।१।१। (प्राग्दीव्यतोऽण् अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, इच्छाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तद् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से (अधिकृत्य कृते ग्रन्थे) 'अधिकार कर—प्रस्तुत कर—विषय बना कर बनाये गये ग्रन्थ' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है । अण् सामान्य प्रत्यय है, इस के पूर्वोक्त अपवाद यथास्थान प्रवृत्त होंगे ही ।

जिस को विषय बना कर ग्रन्थ बनाया जाता है उस विषयवाचक शब्द से अण् आदि यथाप्राप्त तद्धित प्रत्यय होते हैं और तब प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय से तन्नामक ग्रन्थ का बोध होता है । उदाहरण यथा—

शारीरकम्^१ अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः (शारीर^२ अर्थात् जीवात्मा को

१. ननु कृत इति कर्मणि निष्ठा । निष्ठया उक्तत्वात् शारीरकम् इत्यत्र कर्मणि द्वितीया न प्राप्नोति इति चेद् ? न । न ह्यत्र निष्ठापेक्षया कर्मत्वं यतोऽभिहितत्वाशङ्का जायेत । अत्र तु 'अधिकृत्य' इति ल्यबन्तापेक्षया कर्मत्वम्, अतः कर्मणोऽभिहितत्वाद् द्वितीया भवत्येव । निष्ठायाः कर्म तु ग्रन्थ एवेति बोध्यम् ।

२. शरीरस्यायं शारीरो जीवात्मा, तस्येवम् (११०६) इत्यण् । शारीर एव शारीरकः, स्वार्थे कन् । यद्वा—कुत्सितं शरीरं शरीरकम्, कुत्सिते (१२३५) इति कप्रत्ययः । शरीरकस्यायं शारीरकः, तस्येवम् (११०६) इत्यण् ।

विषय बना कर रचा गया ग्रन्थ—वेदान्तशास्त्र)। शारीरकशब्द का आदि अच् वृद्धि-संज्ञक है अतः वृद्धिर्यस्याच्चाभाविस्तद् वृद्धम् (१०७५) सूत्र से इस की वृद्धसंज्ञा है। यहां 'शारीरक अम्' इस विषयवाचक द्वितीयान्त प्रातिपदिक से अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (११०६) इस अर्थ में सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर वृद्धाच्छः (१०७७) सूत्र से छ प्रत्यय हो जाता है। अब तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुंपो घातुप्राति-पदिकयोः (७२१) से सुंप् (अम्) का लुक्, आयनेयीनीयि० (१०१३) सूत्र से छ को ईयु तथा यस्येतिचलोप कर विभक्ति लाने से 'शारीरकीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। शारीरे भाष्यमिति त्वभेदोपचारादिति दीक्षितः।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) शकुन्तलामधिकृत्य कृतं नाटकं शाकुन्तलम् (अण्)।
- (२) सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः (अण्)।
- (३) ययातिमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो यायातः (अण्)।
- (४) गिरिमित्रमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो गैरिमित्रः (अण्)।
- (५) भरतानधिकृत्य कृतमाख्यानम् भारतम् (अण्)।
- (६) भीमरथमधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका भीमरथी (अण्, डीप्)।

नोट—आख्यायिका वाच्य हो तो कहीं कहीं तद्धितप्रत्यय का लुप् हो जाता है।^२ यथा—वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका वासवदत्ता। उर्वशीमधिकृत्य कृता-ख्यायिका उर्वशी। कादम्बरीमधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका कादम्बरी। प्रत्यय का लुप् हो जाने पर लुपि युक्तवद् व्यक्तित्ववचने (१०६१) सूत्र से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन हो जाते हैं।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०७) सोऽस्य निवासः।४।३।८६॥

सुध्नो निवासोऽस्य सौध्नः ॥

अर्थः—प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'इस का' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो यदि वह प्रथमान्त निवासस्थान हो तो।

व्याख्या—सः।५।१। ('सः' यह प्रथमान्तों का अनुकरण है। इस से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। अस्य।६।१। निवासः।१।१। अण्।१।१। (प्राग्बोध्यतोऽण् से अधिकृत है)। प्रत्ययः, परश्च, ङ्पाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं।

२. ध्यान रहे कि एक बार शैषिक प्रत्यय किये जाने पर दुबारा उच्च से शैषिक प्रत्यय नहीं होता—यह नियम सरूप शैषिकप्रत्ययों में ही लागू होता है विरूप शैषिकों में नहीं। अत एव यहां शारीरकशब्द यद्यपि तस्येवम् (११०६) द्वारा शैषिक-अण्-प्रत्ययान्त है तथापि उस से पुनः दूसरा शैषिक छप्रत्यय हो जाता है कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

२. सुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम् (वा०)। तादर्थ्यं चतुर्थी।

अर्थः—(सः = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थं प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रथमान्त (निवासः) निवासस्थान हो तो । उदाहरण यथा—

स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रुघ्नः (स्रुघ्न जिस के रहने का स्थान है अर्थात् स्रुघ्न का निवासी) । यहां 'स्रुघ्न सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अस्य निवासः' अर्थ में सोऽस्य निवासः (११०७) इस प्रकृतसूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय, तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (सुं) का लुक्, आदिवृद्धि, तथा यस्येतिबलोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'स्रुघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

मथुरा निवासोऽस्य माथुरः (मथुरा का निवासी) ।

नदी निवासोऽस्य नादेयः (नदी का निवासी) ।^१

राष्ट्रं निवासोऽस्य राष्ट्रियः (राष्ट्र का निवासी) ।^२

ग्रामो निवासोऽस्य ग्राम्यो ग्रामीणो वा (गांव का निवासी) ।^३

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०८) तेन प्रोक्तम् ।४।३।१०१॥

पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् ॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से प्रोक्त अर्थात् प्रथमतः व्याख्यात या प्रथमतः प्रकाशित अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' शब्द से परे पञ्चमी का सूत्र लुक् हुआ है) । प्रोक्तम् ।१।१। अण् ।१।१। (प्राग्बीज्यतोऽण् अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, ङष्पाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से (प्रोक्तमित्यर्थे) प्रोक्त अर्थात् प्रथम प्रवचन किये गये—प्रथम प्रकाशित या व्याख्यात किये गये अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है ।

अण् सामान्य प्रत्यय है । यथावसर इस के अपवाद प्रत्यय इस का बाध कर लेंगे । उदाहरण यथा—

पाणिनिना प्रोक्तम् पाणिनीयं व्याकरणम् (पाणिनिद्वारा प्रथम प्रकाशित अर्थात् शिष्यों के आगे सर्वप्रथम व्याख्यात व्याकरण) ।^४ यहां 'पाणिनि टा' से 'प्रोक्त' (प्रथम-

१. नद्यादिभ्यो ढक् (१०७१) इति ढक् । ढस्य एयादेशः (१०१३) ।

२. राष्ट्रावारपाराद् घस्रौ (१०६६) इति घः । घस्य इयादेशः (१०१३) ।

३. ग्रामाद् य-स्रौ (१०७०) इति यस्त्रौ प्रत्ययो । खस्य ईनादेशः (१०१३) ।

४. पाणिनीयव्याकरण यद्यपि पाणिनि ने ही बनाया है तथापि यहां यह अभिप्राय प्रकट करना अभीष्ट नहीं, उस के लिये कृते ग्रन्थे (४.३.११६) इस प्रकार का पृथक् सूत्र बनाया गया है । यहां तो अध्यापनरूप से या व्याख्यानरूप से प्रथम प्रकाशित

व्याख्यात) अर्थ में तैन प्रोक्तम् (११०८) सूत्रद्वारा सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर बृद्धाच्छः (१०७७) से 'छ' प्रत्यय हो कर सुंल्लुक् तथा आयनेयीनीयिः० (१०१३) से छ को ईय आदेश करने से 'पाणिनि + ईय' हुआ। अब यस्येति च (२३६) से भसञ्जक इकार का लोप कर विभक्तिकार्यं करने से 'पाणिनीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

आपिशलिना प्रोक्तम् आपिशलं व्याकरणम् ।^१

काशकृत्स्निना प्रोक्तं काशकृत्स्नं व्याकरणम् ।

शौनकेन प्रोक्ता शौनकीया शिक्षा (बृद्धाच्छः १०७७) ।

चन्द्रेण प्रोक्तं चान्द्रं व्याकरणम् (अण्) ।

अब अन्तिम सुप्रसिद्ध शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०६) तस्येदम् ।४।३।१२०॥

उपगोरिदम् औपगवम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'इदम्' (यह) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। इदम् ।१।१। अण् ।१।१। (प्राग्बीभ्यतोऽण् अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (इदम् इत्यर्थे) 'यह' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। इसे बाध कर अपवादप्रत्यय यथास्थान प्रवृत्त हो जायेगे। उदाहरण यथा—

अर्थ में प्रत्यय किया जा रहा है। प्रवचनकर्ता चाहे स्वरचित ग्रन्थ का प्रवचन करे या अन्यरचित का, दोनों अवस्थाओं में इस सूत्र से प्रत्यय हो जायेगा। अन्यरचित-ग्रन्थ का उदाहरण यथा—अन्येन कृता माधुरेण प्रोक्ता माधुरी वृत्तिः (महाभाष्य ४.३.१०१)। 'प्रोक्तम्' में 'प्र' जोड़ने का अभिप्राय प्रकर्ष को प्रकट करना है—प्रकर्षेण उक्तम् प्रोक्तम्। कहे हुए की प्रकृष्टता इसी में है कि वह सर्वप्रथम कहा जाये। पाणिनि ने स्वरचित व्याकरण का शिष्यों के आगे स्वयं सर्वप्रथम व्याख्यान किया था अतः इस सूत्र से तत्प्रोक्त व्याकरण का नाम 'पाणिनीय' हुआ। माधुर ने अन्यरचित वृत्ति का सर्वप्रथम शिष्यों के मध्य प्रवचन किया था अतः वह वृत्ति 'माधुरी' नाम से प्रसिद्ध हुई। आजकल यदि हम इस पाणिनीयव्याकरण का शिष्यों को अध्यापन करायेँ तो यह व्याकरण हमारे नाम से नहीं पुकारा जायेगा किन्तु पाणिनिद्वारा सर्वप्रथम प्रोक्त होने से 'पाणिनीय' ही रहेगा।

१. आपिशलम् । अत्र सामान्यप्राप्तमणं प्रबाध्य बृद्धाच्छः (१०७७) इति छः प्राप्तः । तमपि प्रबाध्य इजश्च (४.२.१११) इति पुनरण् । एवं काशकृत्स्नमित्यत्रापि बीभ्यम् ।

उपगोरिदम् औपगवम् (उपगु का यह अर्थात् उपगुसम्बन्धी यह वस्तु) । यहाँ 'उपगु इस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'इदम्' (यह) इस अर्थ में तस्येवम् (११०६) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, सुंञ्जुक, आदिवृद्धि, ओर्गुणः (१००५) से भसंज्ञक उकार के स्थान पर ओकार गुण तथा एञ्चोऽप्यबाध्यावः (२२) से ओकार को अच् आदेश कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'औपगवम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—

- (१) भीमस्य इयम् भैमी बुद्धिः ।^१
- (२) बृहस्पतेरिदं बार्हस्पत्यं नीतिशास्त्रम् ।^२
- (३) अश्वपतेरिदम् आश्वपतं कुलम् ।^३
- (४) देवस्येदं दैव्यं दैवं वा बलम् ।^४
- (५) उत्सस्यायम् औत्सः कलकलः ।^५
- (६) स्त्रिया इदं स्त्रीणं चरितम् ।^६
- (७) पंस इदं पौंसं बलम् ।^७
- (८) गोरिदं गव्यं पयः ।^८
- (९) राष्ट्रस्येदं राष्ट्रियं कार्यम् ।^९
- (१०) अवारपारस्येदम् अवारपारीणं वस्तु ।^{१०}
- (११) नद्या इदं नादेयं जलम् ।^{११}
- (१२) शास्त्रस्यायं शास्त्रीयः सिद्धान्तः ।^{१२}
- (१३) मासस्येदं मासिकं वेतनम् ।^{१३}

१. अण्प्रत्ययान्तात् भैमशब्दात् स्त्रियां टिड्ढाणञ्० (१२५१) इति डीप् । भैम्याः (बुद्ध्याः) व्याख्या भैमीव्याख्या । षष्ठीतत्पुरुषे सामान्याधिकरण्याभावात् पुंवद्भावो न ।

२. वित्यवित्यावित्यपत्युत्तरपदान्यः (६६६) इति प्यः प्रत्ययः ।
३. प्यं प्रबाध्य अश्वपत्याद्विम्यश्च (६६८) इति पुनरण् ।
४. देवाद् यन्नञौ (वा० ६७) इति यन्नञौ प्रत्ययौ ।
५. उत्साद्विम्योऽञ् (१००२) इति अञ् ।
६. स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् (१००३) इति नञ् ।
७. स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् (१००३) इति स्नञ् ।
८. गोरजादिप्रसङ्गे यत् (वा० ७०) इति यत् प्रत्ययः ।
९. राष्ट्रावारपाराद् घञौ (१०६६) इति घः । घस्य इय् आदेशः ।
१०. राष्ट्रावारपाराद् घञौ (१०६६) इति खः । खस्य ईन् आदेशः ।
११. नद्याद्विम्यो ढक् (१०७१) इति ढक् । ढस्य एय् आदेशः ।
१२. बृद्धाच्छः (१०७७) इति छप्रत्ययः । छस्य ईय् आदेशः ।
१३. कालाद् ठञ् (१०८४) इति ठञ् । ठस्येकः (१०२७) ।

अभ्यास [५]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों के सहेतुक उत्तर दीजिये—

- [क] शेषे को अधिकार और विधि उभयविध क्यों मानते हैं ?
- [ख] टघु-टघुल् को तुँट का आगम कब करना उचित है ?
- [ग] ग्रामाब् यस्त्राँ सूत्रोक्त खब् में अकार क्यों जोड़ा गया है ?
- [घ] सायंप्रातिकः, पौनःपुनिकः इन में टघु-टघुल् क्यों नहीं हुए ?
- [ङ] आरातीयः, शाश्वतिकः में टिलोप क्यों नहीं हुआ ?
- [च] 'शारीरकीयः' में दो शैषिक प्रत्यय कैसे हो सकते हैं ?
- [छ] कोशेषु भवं कौशेयम् (वस्त्रम्), यहां अर्थोपपत्ति स्पष्ट करें ?
- [ज] शारीरकं भाष्यम् यह उक्ति कैसे उपपन्न होगी ?

(२) निम्नस्थों पर समुचित टिप्पणी लिखें—

- [क] सम्भूते सूत्र में द्विविध सम्भूतता ।
- [ख] भैमीव्याख्या में पुंवद्भाव का अभाव ।
- [ग] अब्ययानां भमात्रे० में मात्रप्रहण का प्रयोजन ।
- [घ] अब्ययानां भमात्रे० वार्तिक की अनित्यता ।
- [ङ] उभयपदवृद्धि ।
- [च] प्रोक्त और कृत ग्रन्थों का अन्तर ।
- [छ] एष्य में णत्वकरण ।
- [ज] पथिदूतयोः किम् ? मथुरां गच्छति रथः ।

(३) निम्नस्थ वचनों की व्याख्या करें—

- [क] अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम् ।
- [ख] अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषः ।
- [ग] प्राह्णप्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते ।
- [घ] वा नामघेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या ।
- [ङ] अमेहक्वतसिंत्रेभ्य एव ।
- [च] इह प्रकृतिविशेषाद् घादयष्टघुटघुलन्ताः प्रत्ययाः उच्यन्ते । तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते ।
- [छ] शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थकः ।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥

(४) सौघ्न के तद्धितविषयक विभिन्न सात विग्रह दशति हुए सूत्रों का भी निर्देश करें ।

(५) वृद्धसञ्ज्ञाविधायक सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें ।

(६) निम्नस्थ विग्रहों में खब्-अण्-छप्रत्ययान्त रूप सिद्ध करें—

- [क] तवायम्, ममायम् ।
- [ख] युवयोरयम्, आवयोरयम् ।
- [ग] युष्माकमयम्, अस्माकमयम् ।

(७) अन्तर स्पष्ट करें—

प्रावृषेण्यः—प्रावृषिकः । मदीयः—अस्मदीयः । त्वत्पुत्रः—युष्मत्पुत्रः ।

(८) शैषिकप्रकरणस्थ छप्रत्ययविधायक कोई से तीन सूत्र सार्थ सोदाहरण व्याख्यात करें ।

(९) विग्रह दशति हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. तावकः । २. आध्यात्मिकम् । ३. माहेयम् । ४. अमात्यः । ५. पौनः-
पुनिकः । ६. शौल्कशालिकः । ७. जिह्वामूलीयम् । ८. मध्यमः ।
९. ग्रामीणः । १०. पारावारीणः । ११. दार्षदाः । १२. नित्यः ।
१३. दाक्षिणात्यः । १४. औपाध्यायकः । १५. चाक्षुषम् । १६. श्रावणः ।
१७. शारीरकीयः । १८. शालीयः । १९. कौशेयम् । २०. दिव्यम् ।
२१. पारलौकिकम् । २२. समरूप्यम् । २३. सांवत्सरिकम् । २४. माम-
कीनः । २५. पैतृकम् । २६. और्ध्वदेहिकम् । २७. श्वस्त्यम् ।
२८. शाकुन्तलम् । २९. वासवदत्ता । ३०. औपनिषदः ।

(१०) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्तरूप ससूत्र सिद्ध करें—

१. पितामहादागतः । २. पाणिनिना प्रोक्तम् । ३. चतुर्भिर्हृते ।
४. क्वचिद् भवः । ५. अङ्गुल्यां भवम् । ६. चतुर्दश्यां दृश्यते । ७. वारा-
णस्यां जातम् । ८. मूर्ध्नि भवम् । ९. उरगोरिदम् । १०. कवर्गे भवम् ।
११. प्राचि भवम् । १२. इहलोके भवम् । १३. मासस्येदम् । १४. तस्येदम् ।
१५. कादम्बरीमधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका । १६. प्रयोगे भवः । १७. हिम-
वतः प्रभवति । १८. गौरागतम् । १९. आपणादागतः । २०.
उपरिष्ठादागतः ।

(११) निम्नस्थ सूत्रों एवं वार्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. राष्ट्रावारपाराद् घञौ । २. प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ३. सार्थचिरं-
प्राह्णेप्रगे० । ४. शरीरावयवाच्च । ५. ठगायस्थानेभ्यः । ६. दिगादिभ्यो
यत् । ७. अधिकृत्य कृते ग्रन्थे । ८. हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां० । ९. अ-
शक्तिकादीनां च । १०. द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् । ११. ग्रामाद् यञ्जौ ।
१२. युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च । १३. सम्भूते । १४. विद्यायोनि-
सम्बन्धेभ्यो वुञ् । १५. अभिनिष्क्रामति द्वारम् । १६. प्रभवति ।
१७. सोऽस्य निवासः । १८. त्यन्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम् ।

(१२) सहेतुक अणुद्धि-शोधन कीजिये—

- [१] अद्यतनीयं कार्यम् ।^१
 [२] वाराणसीया परीक्षा ।^२
 [३] शारदीय उत्सवः ।^३
 [४] दन्तीयः सकारः ।^४
 [५] राष्ट्रीय समस्या ।^५
 [६] बाल्यकालीना क्रीडा ।^६
 [७] औषसो रागः ।^७
 [८] औदरी पीडा ।^८
 [९] शार्वरं तमः ।^९
 [१०] वर्गीया वर्णाः कादयो भावसानाः ।^{१०}
 [११] प्राच्याः संस्काराः ।^{११}
 [१२] स्वकीयः पक्षः ।^{१२}
 [१३] परीयः सिद्धान्तः ।^{१३}

१. अद्य भवम् अद्यतनम् । सायंभिरं० (१०८६) इति टघुलि तुंडागमः । छप्रत्ययस्य तु प्रसङ्ग एव न ।
 २. नद्याद्विम्बो ढक् (१०७१) इति ढकि 'वाराणसेयाः' इत्युचितम् ।
 ३. शारदि भवः शारदः । सन्धिबेलाद्युतुनक्षत्रेभ्योऽण् (४.३.१६) इत्यणि शारद इति साधु ।
 ४. दन्तेषु भवो दन्त्यः । शरीरावयवाच्छ (१०६४) इति यत् ।
 ५. राष्ट्रस्येयं राष्ट्रिया । राष्ट्रावारपाराद् षक्नौ (१०६९) इति चप्रत्यये षस्य ह्यादेशः ।
 ६. बाल्यकालिकी इत्येवोचितम् । कालाद् ठञ् (१०८४) । टिड्ढाणञ्० (१२५१) इति डीप् ।
 ७. उषसि भव औषसिकः । कालाद् ठञ् (१०८४) इति ठना भवितव्यम् ।
 ८. शरीरावयवाच्छ (१०६४) इति यति स्त्रियां टापि च 'उदर्या' इति साधु ।
 ९. शर्वर्या भवं शार्वरिकम् । कालाद् ठञ् (१०८४) इति ठना भवितव्यम् ।
 १०. द्विगाद्विम्बो यत् (१०६३) इति यति 'वर्ग्याः' इत्युचितम् ।
 ११. कालवाचिनः प्रागित्यव्ययाद् छुप्रागपागुबक्षप्रतीचो यत् (१०७३) इति यतं प्रबाध्य परत्वाद् टघुटघुलौ भवतः, तेन प्राक्तनाः संस्कारा इत्येवोचितम् ।
 १२. स्वस्यायम् इत्यर्थे तस्येबम् (११०६) इत्यणि द्वारादीनां च (७.३.४) इत्यैजागमे 'सौवः' इत्युचितम् । अथवा—स्वशब्दात्स्वार्थे कनि गहादेराकृतिगणत्वाच्चे 'स्वकीयः' इत्यपि साधु ।
 १३. परस्यायमिति विग्रहे गहाद्यन्तर्गतेन कुंजनस्य परस्य च इति गणसूत्रेण छे कुंजागमे च कृते 'परकीयः' इति ।

- [१४] स्वर्गीयाः पितृपादाः ।^१
 [१५] श्रीमदीयोऽनुचरः ।^२
 [१६] पारस्परिकः स्नेहः ।^३
 [१७] इदानीन्तनी जागतिकी स्थितिरुद्वेगं जनयतीव नः ।^४
 [१८] पाश्चात्या विद्वांसः ।^५
 [१९] पैत्रं राज्यं प्रपेदेऽसौ ।^६
 [२०] राजवंश्या अमी जनाः ।^७

[लघु०] इति शैषिकाः ॥

(यहां शैषिक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है।)

—:०:—

१. स्थानविशेषवाचिनः स्वर्गशब्दस्य वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या (वा० ८४) इति वृद्धत्वे वृद्धाच्छः (१०७७) इति छे यद्यपि स्वर्गीयशब्दः सिध्यति तथापि तथाविध-शब्दस्य क्वापि प्रयुक्तत्वाभावादसाधुरिति मन्तव्यम् । ये स्वर्गतास्ते स्वर्गिण इत्युच्यन्ते ।
२. श्रीमतोऽयमिति विग्रहे श्रीमच्छब्दस्य वृद्धत्वाभावाद् वृद्धाच्छः (१०७७) इति छो न प्रवर्तते । यत्तु केचिद् अध्यात्मादेराकृतिगणत्वात् श्रीमच्छब्दाद् ठञि तस्य इत्सु-क्तान्तात्कः (१०५२) इति कादेशे आदिवृद्धौ श्रैमत्करूपं प्रयुञ्जते तदप्यनभि-धानान्न । अतः श्रीमतोऽनुचर इत्येव प्रयोज्यम् ।
३. परस्परं भवः पारस्परिकः । अध्यात्मादेराकृतिगणत्वात् सिद्धेऽपि ठञि नैव शब्दः क्वचित् प्रयुक्तचरः । तेन परस्परमित्येव प्रयोज्यम् ।
४. जगत इयं जागती, शैषिकोऽण् । स्त्रियां टिड्ढाणञ्० (१२५१) इति डीप् ।
५. पश्चात् (पश्चिमायां दिशि) भवाः पाश्चात्याः । दक्षिणापश्चात्पुरसस्यक् (१०७२) इति त्यक् । तकारलोपस्याप्रसक्तोद्धितकारघटितं रूपमिष्यते ।
६. पितुरागतं पित्र्यं पैतृकं वा । ऋतच्छञ् (४.३.७८), पितुर्यञ्च (४.३.७९) इति ठञि यति च रूपद्वयम् ।
७. दिगादिगणे वंशशब्दः पठितो न तु राजवंशः । तेन यतोऽप्रसङ्गः । वृद्धाच्छः (१०७७) इति छप्रत्यये राजवंशीया इत्येवोचितम् । अथवा—राज्ञो वंश्या राजवंश्या इत्येवं विग्रहीतव्यम् ।

अथ विकाराद्यर्थकाः

अब विकार आदि अर्थों में होने वाले प्राग्दीव्यतीय तद्धित प्रत्ययों का वर्णन करते हैं ।

विशेष वक्तव्य—लघुसिद्धान्तकौमुदी के कई संस्करणों में यहां 'अथ प्राग्दीव्य-
तीयाः' ऐसा पाठ मुद्रित मिलता है । वह ठीक प्रतीत नहीं होता कारण कि पीछे सब प्राग्दीव्यतीय ही तो कहते चले आ रहे हैं । अब यहां नये सिरे से 'अथ प्राग्दीव्यतीयाः' कहने में कुछ तुक नहीं । सम्भवतः इस प्रकरण के अन्त में 'इति प्राग्दीव्यतीयाः' को देख कर यहां भ्रान्ति उत्पन्न हुई है । वस्तुतः पिछले सब प्रकरणों को दृष्टि में रखते हुए वहां 'इति प्राग्दीव्यतीयाः' लिखा गया है केवल इस प्रकरण को लक्ष्य में रख कर नहीं ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११०) तस्य विकारः ।४।३।१३२।।

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से विकार अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तस्य १५।१। ('अश्मनो विकारः' इत्यादियों में 'अश्मनः' आदि षष्ठ्यन्तों का अनुकरण 'तस्य' शब्द से किया गया है । इस से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) ।^१ विकारः ।१।१। इत्यर्थे इत्यध्याहार्यम् । अण् ।१।१। (प्राग्दी-
व्यतोऽण् अधिकार से) । प्रत्ययः, परश्च, ङष्ठाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (विकार इत्यर्थे) विकार अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो ।

उपादानकारण (समवायिकारण) जब कार्यरूप में परिणत होता है तो उसे विकार कहते हैं । जैसे मेज, कुर्सी आदि लकड़ी के विकार हैं । ईंटों से बना भवन ईंटों का विकार है । पत्थर से बने पात्र पत्थर का विकार हैं । इस विकार अर्थ को प्रकट करने के लिये उपादानकारणवाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से अण् तद्धितप्रत्यय होता है । अण् यह सामान्य प्रत्यय है, इस के प्राग्दीव्यतीय अपवाद इस का यथास्थान बाध करेंगे ।

उदाहरण यथा—

१. अष्टाध्यायी में यद्यपि तस्येबम् (४.३.१२०) सूत्र से यहां 'तस्य' का अनुवर्तन हो सकता था तथापि यहां पुनः 'तस्य' का ग्रहण शेषाधिकार की निवृत्ति को द्योतित करने के लिये किया गया है । इस से शेषाधिकारोक्त घ आदि विशिष्ट प्रत्यय विकार अर्थ में प्रवृत्त न होंगे । यथा—शेषाधिकार में एक सूत्र आता है—हलसीराद् ठक् (४.३.१२४) । हलस्येदं हालिकम् । सीरस्येदं सैरिकम् । यहां तस्येबम् के अर्थ में ठक् प्रत्यय हुआ है । परन्तु अब इस प्रकरण में 'हलस्य विकारो हालः, सीरस्य विकारः सैरः' इस तरह अण् ही होगा पूर्वोक्त ठक् नहीं ।

अश्मनो^१ विकार आश्मः (अश्मन्=पत्थर का विकार अर्थात् पत्थर से बना कोई पदार्थ) । यहां 'अश्मन् इस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से विकार अर्थ में तस्य विकारः (१११०) इस प्रकृतसूत्र से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक संज्ञा, सुंपो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुंप (इस्) का लुक् एवं तद्धितेष्वचामादेः (९३८) से आदिवृद्धि करने से 'आश्मन् + अ' हुआ । अब नस्तद्धिते (९१९) से नकारान्त भसञ्ज्ञक की टि (अन्) का लोप प्राप्त होता है परन्तु अन् (१०२४) सूत्र से प्रकृतिभाव के कारण वह रुक जाता है । यह अनिष्ट है । इस पर अग्रिमवार्तिकद्वारा पुनः टिलोप का विघ्नान करते हैं—

[लघु०] वा०—(८७) अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः ॥

अश्मनो विकार आश्मः । भास्मनः । मार्त्तिकः ॥

अर्थः—विकारार्थक प्रत्यय के परे रहते भसञ्ज्ञक अश्मन् की टि का लोप कहना चाहिये ।

व्याख्या—यह वार्तिक नस्तद्धिते (९१९) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है । यह अन् (१०२४) सूत्र का अपवाद है ।

'आश्मन् + अ' यहां अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः (वा० ८७) इस प्रकृत-वार्तिक से टि का लोप हो कर—आश्म + अ=आश्म । अब विशेष्यानुसार पुलिङ्ग में विभक्तिकार्य करने से 'आश्मः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । विशेष्य के स्त्रीलिङ्ग होने पर टिङ्ङाणञ्० (१२५१) से झीप् हो जायेगा—आश्मी प्रतिमा (पत्थर से बनी मूर्ति) ।

तस्य विकारः (१११०) के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

भस्मनो विकारो भास्मनः (भस्म का विकार अर्थात् राख से बना कोई पदार्थ) । यहां 'भस्मन् इस्' से विकार अर्थ में तस्य विकारः (१११०) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर प्रातिपदिकसंज्ञा, सुंभ्लुक् और तद्धितेष्वचामादेः (९३८) से आदिवृद्धि करने से 'भास्मनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^२ यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि नस्तद्धिते (९१९) द्वारा प्राप्त टिलोप का अन् (१०२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण निषेध हो जाता है । प्रकृत-वार्तिक की प्रवृत्ति यहां नहीं होती क्योंकि उस में केवल अश्मन् का ही उल्लेख है ।

१. पाषाण-प्रस्तर-प्राबोपलाऽश्मानः शिला वृषद् इत्यमरः ।
पत्थरवाची अश्मन्शब्द नकारान्त पुलिङ्ग होता है । यथा—
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः । (हितोप० प्रस्तावना)
२. नव-नग-वनरेखा-श्याम-मध्याभिराभिः
स्फटिक-कटक-भूमिर्नाटयत्येष शैलः ।
अहिपरिकरभाजौ भास्मनैरङ्गरागै-
रघ्नितघबलिन्नः शूलपाणेरभिव्याम् ॥ (माघ० ४.६५)

मृत्तिकाया विकारो मार्षिकः (मृत्तिका^१ का विकार अर्थात् मिट्टी से बना कोई पदार्थ) । 'मृत्तिका ङस्' से विकार अर्थ में तस्य विकारः (१११०) से अण् प्रत्यय, सुंब्बुक्, आदिवृद्धि एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्जक आकार का लोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'मार्षिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब अवयव अर्थ में प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११११)

अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ।४।३।१३३॥

चाद् विकारे । मयूरस्य अवयवो विकारो वा मायूरः । मौर्वं काण्डं भस्म वा । पैप्पलम् ॥

अर्थः—प्राणिवाचक, ओषधिवाचक एवं वृक्षवाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से अवयव अर्थ में भी अण् तद्धितप्रत्यय हो । 'च' कथन के कारण पूर्वोक्त विकार अर्थ में भी प्रत्यय हो जायेगा ।

व्याख्या—अवयवे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ।५।३। अण् ।१।१। (प्राग्बीभ्यतोऽण् अधिकार से) । तस्य विकारः (१११०) सूत्र का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—प्राणिनश्च ओषधयश्च वृक्षाश्च प्राण्योषधिवृक्षाः, तेभ्यः = प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः । इतरेतर-द्वन्द्वः । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः) प्राणिवाचक, ओषधिवाचक एवं वृक्षवाचक प्रातिपदिकों से (अवयवे विकारे च) अवयव और विकार दोनों अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्जक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है ।

यह विधिसूत्र भी है और अधिकारसूत्र भी ।^१ इस का अधिकार चतुर्थाध्याय के तृतीयपाद के अन्त तक अर्थात् सम्पूर्ण विकारप्रकरण में रहता है । इस विकारप्रकरण में यदि प्राणिवाचक ओषधिवाचक या वृक्षवाचक प्रातिपदिक से किसी भी सूत्रद्वारा प्रत्यय होगा तो वह विकार और अवयव दोनों अर्थों में होगा परन्तु अन्य प्रातिपदिकों

१. मृद्शब्द से स्वार्थ में मृदस्तिक्त् (५.४.३६) सूत्र द्वारा तिकन् प्रत्यय कर स्त्रीत्व में अजाहृतष्टाप् (१२४६) से टाप् करने पर 'मृत्तिका' शब्द निष्पन्न होता है ।
२. अयमधिकारः, तेन वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः प्राण्यादिभ्यस्त्रिभ्योऽर्थद्वयेऽप्येभ्यस्तु विकार एवेति नागेशः । परन्तु इसे केवल अधिकारसूत्र भी नहीं माना जा सकता क्योंकि केवल अधिकारसूत्र रहते इस का कार्य अपनी निश्चित अवधि तक अनुवृत्तिप्रदान करना ही होता, स्वयं में कुछ कार्य करने की शक्ति न होती । इस से मौर्वम्, पैप्पलम् आदि प्रयोग जहां अण् की प्रवृत्ति होती है न बन सकते । इन की सिद्धि तस्य विकारः (१११०) सूत्र से विकार अर्थ में तो हो जाती किन्तु अवयव अर्थ में न हो सकती क्योंकि वहां कोई अग्रिमसूत्र नहीं लगता । अतः इस सूत्र को अधिकारसूत्र और विधिसूत्र दोनों ही मानना उचित है ।

से केवल विकार अर्थ में ही होगा—यह इस अधिकार का अभिप्राय है। जैसाकि नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में कहा है—

प्राप्योषधितचम्यस्तु विकारावयवार्थयोः ।

अन्येभ्यस्तु विकारेऽर्थे प्रत्ययाः स्युरतः परम् ॥

सूत्र के उदाहरण यथा—

मयूरस्य अवयवो विकारो वा मायूरः (मोर के टांग, सिर, गरदन आदि अवयव अथवा मोर के विकार मांस सूप आदि)। मयूरशब्द प्राणिवाचक है अतः 'मयूर इस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से अवयवे च प्राप्योषधिवृक्षेभ्यः (११११) इस प्रकृत अधिकार की सहायता से अवयव या विकार अर्थ में प्राणिरजतादिभ्योऽञ् (४.३.१५२)^१ सूत्रद्वारा अञ् तद्धितप्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुंप् का लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मायूरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^२

इसीप्रकार—कपोतस्यावयवो विकारो वा कपोतः । तित्तिरस्यावयवो विकारो वा तैत्तिरः । इत्यादि ।

मूर्वाया अवयवो विकारो वा मूर्वम् (मूर्वानामक ओषधि का अवयव काण्ड, मूल आदि अथवा मूर्वा का विकार भस्म = राख आदि)। मूर्वा एक ओषधि है अतः 'मूर्वा इस्' इस षष्ठ्यन्त से प्रकृत अवयवे च प्राप्योषधिवृक्षेभ्यः (११११) सूत्रद्वारा अवयव या विकार अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप करने से—मूर्वम् । विशेष्यानुसार लिङ्ग-विभक्ति लाने पर 'मूर्वम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। मूर्वम् मूलम्, मूर्वम् काण्डम्, मूर्वम् भस्म इत्यादि ।

पिप्पलस्यावयवो विकारो वा पीपलम् (पीपल के पेड़ का अवयव मूल काण्ड आदि अथवा पीपल का विकार भस्म-राख आदि)। पीपल एक सुप्रसिद्ध पेड़ है अतः 'पिप्पल इस्' इस षष्ठ्यन्त से पूर्वोक्तप्रकारेण अवयव या विकार अर्थ में प्रकृतसूत्रद्वारा औत्सर्गिक अण् प्रत्यय करने पर सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पीपलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

१. प्राणिरजतादिभ्योऽञ् (४.३.१५२) । अर्थः—प्राणिवाचकों तथा रजतादिगणपठित शब्दों से विकार और अवयव अर्थों में तद्धित अञ् प्रत्यय होता है । लघुसिद्धान्त-कौमुदी में इस सूत्र का उल्लेख नहीं किया गया । वरदराजजी ने शायद यह सोचा होगा कि प्रकृत (११११) सूत्र से अण् प्रत्यय करने पर भी 'मायूरः' सिद्ध हो जाता है क्योंकि अण् और अञ् का भेद तो स्वर लगाने में ही होता है (अञ् करने पर आद्युदात्त तथा अण् करने पर अन्तोदात्तस्वर होता है) और वह स्वरप्रकरण इस ग्रन्थ में रखा ही नहीं गया ।

२. मायूरं व्यजनम् (मोरपंखों का चंवर आदि) । यहां तस्येदम् (११०६) से अण् प्रत्यय समझना चाहिये । क्योंकि मोर के पंखों से बना चंवर या पंखा मोर का न तो विकार है और न ही अवयव ।

अन्य उदाहरण यथा—कारीरं^१ काण्डं भस्मादि वा । खादिरं काण्डं भस्मादि वा । बैल्वं^२ काण्डं भस्मादि वा ।

अब उपर्युक्त दोनों अर्थों में मयट् प्रत्यय का वैकल्पिक विधान दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११२)

मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ।४।३।१४१॥

प्रकृतिमात्राद् मयड् वा स्याद्विकारावयवयोः । अश्ममयम् । आश्मनम् । अभक्ष्येत्यादि किम् ? मौद्गः सूपः । कार्पासम् आच्छादनम् ॥

अर्थः—प्रकृतिमात्र अर्थात् षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में विकल्प कर के मयट् प्रत्यय हो भाषा में, परन्तु वह विकार वा अवयव भक्ष्य (खाने योग्य वस्तु) और आच्छादन (ओढ़ने योग्य वस्तु) न होने चाहियें ।

व्याख्या—मयट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । एतयोः ।७।२। भाषायाम् ।७।१। अभक्ष्याच्छादनयोः ।७।२। तस्य विकारः (१११०) से 'तस्य' पद का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ऋष्पाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—भक्ष्यञ्च आच्छादनं च भक्ष्याच्छादने, तयोः = भक्ष्याच्छादनयोः, न भक्ष्याच्छादनयोः = अभक्ष्याच्छादनयोः, इतरेतरद्वन्द्वपूर्वनञ्त्तत्पुरुषः । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से (एतयोः = प्रकरणप्राप्तयोर्विकारावयवयोः) विकार और अवयव अर्थों में (वा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय हो जाता है (भाषायाम्) भाषा में, परन्तु वह विकार वा अवयव (अभक्ष्याच्छादनयोः) भक्ष्य और आच्छादन न होना चाहिये ।

मयट् में अन्त्य टकार इत् है, 'मय' मात्र शेष रहता है । स्त्रीत्व में टिड्ढाणञ्० (१२५१) द्वारा झीप् प्रत्यय करने के लिये इसे टित् किया गया है ।

मुनिवर पाणिनि के काल में संस्कृतभाषा बोलचाल की भाषा थी अतः आचार्य ने उसे 'भाषा' शब्द से व्यवहृत किया है । उस समय वैदिकभाषा बोलचाल में न आती थी ।

सावधान—इस सूत्र की वृत्ति (संस्कृतार्थ) में 'प्रकृतिमात्रात्' के कथन से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये । यहां भी अवयवे च प्राष्योषधिवृक्षेभ्यः (११११) वाला अधिकार लागू है । प्रकृत मयट् प्रत्यय प्राणी ओषधि और वृक्षों के वाचक प्रातिपदिकों से विकार और अवयव दोनों अर्थों में तथा अन्यो से केवल विकार अर्थ में ही होगा ।^३

१. पलाशादिभ्यो वा (४.३.१३६) सूत्र से अञ् तथा पक्ष में अण् हो कर एकसमान रूप बनते हैं । इसीप्रकार 'खादिरम्' में जानना चाहिये ।
२. यहां अनुवासादेश्च (४.३.१३८) से प्राप्त अञ् प्रत्यय का बाध कर बिल्वादिभ्योञ् (४.३.१३४) से अण् हो जाता है ।
३. अतः इस सूत्र पर दिये उदाहरण 'अश्ममयम्' का अर्थ 'पत्थर का अवयव या विकार' करने वाले व्याख्याकारों से सावधान रहना चाहिये ।

उदाहरण यथा—

अश्मन्शब्द के दो अर्थ हैं । एक—पत्थर, तथा दूसरा—व्यक्तिविशेष । पत्थर-वाचक 'अश्मन्' इस् से पूर्वोक्त अवयवे च प्राण्योषधिबुक्षेभ्यः (११११) अधिकार के अनुसार केवल विकार अर्थ में ही प्रकृत मयट् बैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः (१११२) सूत्रद्वारा विकल्प से मयट् प्रत्यय होगा, अवयव अर्थ में नहीं । मयट्पक्ष में—सुंल्लुक् कर स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) से पदत्व के कारण अश्मन् के नकार का न लोपः-प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) सूत्र से लोप हो जाने से 'अश्ममयम्' (अश्मनो विकारोऽश्ममयम्) रूप सिद्ध हो जायेगा । मयट् के अभावपक्ष में तस्य विकारः (१११०) से औत्सर्गिक अण् हो कर सुंल्लुक्, आदिवृद्धि तथा अन् (१०२४) सूत्रद्वारा प्राप्त प्रकृतिभाव का बाध कर अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः (वा० ८७) से टि (अन्) का लोप कर देने से 'आश्मम्' (अश्मनो विकार आश्मम्) रूप सिद्ध होगा । इस प्रकार विकार अर्थ में 'अश्ममयम्' तथा 'आश्मम्' दो रूप सिद्ध होंगे ।

अश्मन् नामक किसी व्यक्ति का उल्लेख भी महाभारत में आया है ।^१ तब प्राणिवाचक होने से पूर्वोक्त अधिकार के अनुसार प्रकृतसूत्र से अवयव और विकार दोनों अर्थों में मयट् प्रत्यय हो जायेगा—अश्ममयम् । मयट् के अभाव में अवयवे च प्राण्योषधिबुक्षेभ्यः (११११) सूत्र से अण् हो जायेगा । तब सुंल्लुक् और आदिवृद्धि किये जाने पर 'आश्मन् + अ' इस स्थिति में अन् (१०२४) सूत्रद्वारा प्रकृतिभाव हो कर 'आश्मनम्' बनेगा ।^२

शङ्का—इस प्रकृतसूत्र में 'विकारे' और 'अवयवे' की अनुवृत्ति तो पूर्व से आ ही रही थी पुनः इसके लिये सूत्र में 'एतयोः' का कथन क्यों किया गया है ?

समाधान—'एतयोः' के कथन का प्रयोजन यह है कि अष्टाध्यायी में इस सूत्र से आगे के अपवादसूत्रों के विषय में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाये,^३ अन्यथा परत्व के कारण अपने विषय में वे ही प्रवृत्त हो जाते मयट् न हो पाता । यथा—कापोतम् कपोतमयम्; लौहम्-लोहमयम् यहां प्राणिरज्जताबिभ्योऽञ् (४.३.१५२) से अञ् प्रत्यय होता है, इस के विषय में मयट् प्रत्यय भी प्रवृत्त हो जायेगा । इस का विशेष विवेचन पदमञ्जरी आदि में किया गया है ।

अब 'अभक्ष्याच्छादनयोः' के लिये प्रत्युदाहरण दशति हैं—

मुद्गानां विकारो मौद्गः सूपः (मूंगों का विकार अर्थात् मूंग की दाल आदि) ।

१. देखें महाभारत शान्तिपर्व अ० (२७) ।
२. यहां विकार अर्थ में अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः (वा० ८७) से टि का लोप न होगा । कारण कि वार्त्तिक में 'अश्मन्' से प्रसिद्धत्वात् पत्थरवाचक अश्मन् का ही ग्रहण व्याख्याकारों को अभीष्ट है ।
३. पूर्वसूत्रों के विषय में तो परत्व के कारण प्रथम वैकल्पिक मयट् हो कर मयट् के अभावपक्ष में वे भी प्रवृत्त हो चरितार्थ हो जाते हैं ।

यहां 'मुद्ग आम' से विकार अर्थ में बिल्वादिभ्योऽण् (४.३.१३४) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय हो कर सुंभ्लुक, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर सिभक्ति लाने से 'मौद्गः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां विकार अर्थ होने पर भी मूंग के सूप के भक्ष्य पदार्थ होने के कारण मयट् नहीं होता।

कर्पासस्य विकारः कार्पासम् आच्छादनम् (कपास का विकार अर्थात् सूती ओढ़ने का वस्त्र)। यहां 'कर्पास डस्' से विकार अर्थ में बिल्वादिभ्योऽण् (४.३.१३४) सूत्र से अण्प्रत्यय होकर सुंभ्लुक, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'कार्पासम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां आच्छादन होने के कारण मयट् नहीं होता।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा विकाराद्यर्थ में मयट् का नित्य विघ्नन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११३) नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ।४।३।१४२॥

आन्नमयम् । शरमयम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त वृद्धसंज्ञकों तथा शरादिगणपठित षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से यथोचित विकार और अवयव अर्थों में तद्धितसंज्ञक मयट् प्रत्यय नित्य हो भाषा में, परन्तु वह विकार या अवयव भक्ष्य और आच्छादन में वर्तमान न होने चाहियें।

व्याख्या—नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम् । वृद्धशरादिभ्यः ।५।३। तस्य ।५।३। (तस्य विकारः सूत्र से। षष्ठ्यन्त के अनुकरण तस्य' से परे पञ्चमीबहुवचन का सूत्र लुक् हुआ है)। मयट् ।१।१। एतयोः ।७।२। भाषायाम् ।७।१। अभक्ष्याच्छादनयोः ।७।२। (मयट् वृद्धयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः सूत्र से)। समासः— शरः (शरशब्दः) आदिर्येषान्ते शरादयः, वृद्धाश्च शरादयश्च वृद्धशरादयस्तेभ्यः= वृद्धशरादिभ्यः, बहुव्रीहिगर्भद्वन्द्वः । प्रत्ययः, परश्च, ङष्ठाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त जो (वृद्धशरादिभ्यः) वृद्धसंज्ञक एवं शरादिगणपठित प्रातिपदिक, उन से (एतयोः) विकार और अवयव अर्थों में (तद्धितः मयट्) तद्धितसंज्ञक मयट् प्रत्यय (नित्यम्) नित्य हो जाता है (भाषायाम्) भाषा में, परन्तु वह विकार या अवयव (अभक्ष्याच्छादनयोः) भक्ष्य या आच्छादन में वर्तमान न होने चाहियें।

पूर्वसूत्रद्वारा विकल्प से प्राप्त यह मयट् वृद्धसंज्ञकों एवं शरादियों से नित्य किया जा रहा है। जिस शब्द में पहला स्वर वृद्धिसंज्ञक हो उस को वृद्ध कहते हैं (१०७५)। शरादिगण में सात शब्द पढ़े गये हैं—शर, दर्भ, मूद्, कुटी, तृण, सोम और बल्बज। प्रथम वृद्धसंज्ञकों से उदाहरण यथा—

आन्नस्य विकारोऽवयवो वा आन्नमयम् (आन्नवृक्ष का विकार या उसका अवयव)। आन्नशब्द का आदि अच् (आ) वृद्धिसंज्ञक है अतः वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्

१. 'कर्पासी डस्' इत्येवं केचिदाहुः ।

बृद्धम् (१०७५) सूत्रद्वारा 'आम्न' शब्द वृद्धसंज्ञक है। 'आम्न इस्' इस षष्ठ्यन्त वृद्ध-प्रातिपदिक से विकार या अवयव अर्थ में मयट् वैतयोर्भावायामभक्ष्याच्छादनयोः (१११२) इस पूर्वसूत्र से प्राप्त विकल्प का बाध कर नित्यं बृद्धशारादिभ्यः (१११३) सूत्रद्वारा नित्य मयट् प्रत्यय हो जाता है—आम्न इस् + मयट्। अब मयट् के टकार अनुबन्ध का लोप एवं सुंपो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंपु (इस्) का भी लुक् कर विभक्तिकार्य करने से 'आम्नमयम्' यह एक ही प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

शारादियों से उदाहरण यथा—

शरस्य विकारोऽवयवो वा शरमयम् (शर अर्थात् सरकण्डे का विकार या अवयव)। शरशब्द शारादियों में पढ़ा गया है अतः 'शर इस्' से विकार या अवयव अर्थ में प्राप्त विकल्प (१११२) का बाध कर प्रकृत नित्यं बृद्धशारादिभ्यः (१११३) सूत्रद्वारा नित्य मयट् प्रत्यय हो कर सुंल्लुक् और विभक्तिकार्य करने से 'शरमयम्' यह एक ही प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि 'आम्न' वृक्षवाची तथा 'शर' ओषधिवाची प्रातिपदिक हैं अतः अवयवे च प्राण्योषधिबृक्षेभ्यः (११११) अधिकार के अनुसार इन से विकार और अवयव दोनों अर्थों में मयट् हो जाता है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) शाकस्य विकारोऽवयवो वा शाकमयम् (वृद्धत्वान्मयट्)।
- (२) शालस्य विकारोऽवयवो वा शालमयम् (")।
- (३) दर्भस्य विकारोऽवयवो वा दर्भमयम् (शारादित्वान्मयट्)।
- (४) तृणस्य विकारोऽवयवो वा तृणमयम् (")।
- (५) सोमस्य विकारोऽवयवो वा सोममयम् (")।
- (६) कुट्या विकारः कुटीमयम् (")।
- (७) मृदो विकारो मृन्मयम्^१ (")।

पूर्वसूत्र से वैकल्पिक मयट् प्राप्त था ही, यहां इस का पुनर्विधान 'नित्यम्' कथन के विना भी नित्यार्थ समझा जा सकता था तो पुनः प्रकृतसूत्र (१११३) में 'नित्यम्' पद का ग्रहण क्यों किया गया है? इस का उत्तर यह दिया जाता है कि इस तरह सिद्ध हो जाने पर भी जब आचार्य पुनः 'नित्यम्' पद का ग्रहण कर रहे हैं तो इस से यह ज्ञापित होता है कि वे क्वचिद् अन्यत्र भी मयट् का नित्यविधान चाहते हैं। इस से वृत्तिकार आदियों ने विकाराद्यर्थ में प्रत्येक एकाच् प्रातिपदिक से नित्य मयट् का विधान

१. 'मृद् + मय' इस स्थिति में प्रत्यये भाषायां नित्यम् (वा० ११) वार्तिक से दकार को नित्य अनुनासिक नकार हो जाता है। इस अनुनासिक नकार के त्रिपाद्यसिद्ध होने से न तो न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) सूत्रद्वारा उस का लोप होता है और न ही उसे णत्व। अतः 'मृण्मयम्' लिखना अशुद्ध है, 'मृन्मयम्' का ही साधुत्व है।

कहा है ।' यथा—त्वचो विकारः—त्वङ्मयम् । वाचो विकारः—वाङ्मयम् । स्रजो विकारः—स्रङ्मयम् । त्वच्, वाच् और स्रज् तीनों शब्द एकाच् हैं अतः इन से नित्य मयट् हो कर संलुक् षोः कुः (३०६) से कुत्व तथा प्रत्यये भाषायां नित्यम् (वा० ११) से नित्य अनुनासिक डकार हो जाता है । इसीतरह अपां विकारः—अम्मयम् (पदान्त पकार को जश्त्वेन बकार हो कर उसे नित्य अनुनासिक मकार हो जाता है) ।^२

प्रकृतसूत्र में भी 'अभक्ष्याच्छादनयोः' का अनुवर्तन होता है । इस से—शाकस्य विकारः शाक् उपदंशः (सुरा के साथ भक्ष्य शाकनिमित्त चटनी आदि), दर्भाणां विकारो दार्भं वासः (दर्भनिमित्त आच्छादन) इत्यादियों में भक्ष्य वा आच्छादन की वाच्यता में मयट् नहीं होता औत्सर्गिक अण् ही होता है ।

अब गोशब्द से पुरीष अर्थ में मयट् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११४) गोश्च पुरीषे ।४।३।१४३।।

गोः पुरीषं गोमयम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त 'गो' प्रातिपदिक से पुरीष (गोबर) अर्थ में तद्धितसंज्ञक मयट् प्रत्यय नित्य हो ।

व्याख्या—गोः ।५।१। ('गोः पुरीषम्' में षष्ठ्यन्त गोशब्द का यहां अनुकरण किया गया है । इस से आगे पञ्चमी का सूत्र लुक् समझना चाहिये) । च इत्यव्यय-पदम् । पुरीषे ।७।१। नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम् (नित्यं वृद्धशराविभ्यः सूत्र से) । मयट् ।१।१। (मयट् वैत्योर्भाषायाम्० सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ड-घाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(गोः=षष्ठ्यन्ताद् गो-प्रातिपदिकात्) षष्ठ्यन्त 'गो' प्रातिपदिक से परे (पुरीषे) मल अर्थात् गोबर अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय (नित्यम्) नित्य हो जाता है ।

गोबर न तो गौ का अवयव है और न ही विकार, अतः यहां तस्येवम् (११०६) के विषय में मयट् का विधान समझना चाहिये । विकार और अवयव अर्थ में अग्रिम-सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय का विधान करेंगे ।

गोः पुरीषं गोमयम् (गौ का मल अर्थात् गोबर) । 'गो डस्' से पुरीष (मल) अर्थ में प्रकृत गोश्च पुरीषे (१११४) सूत्रद्वारा मयट् प्रत्यय हो कर सुंपो घातुप्राति-

१. नित्यग्रहणं किम् ? यावताऽऽरम्भसामध्यदिव नित्यं भविष्यति । एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति । तदनेन क्रियते—त्वङ्मयम्, स्रङ्मयम्, वाङ्मयमिति ।

(काशिका ४.३.१४२)

२. इसी अर्थ में 'आप्यम्' प्रयोग भी लोक में प्रसिद्ध है । उस की उपपत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—

अपाम् इदम् आपम् [तस्येवम् (११०६) इत्यण्] । अब इस से स्वार्थ में चतुर्बर्जादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम् (वा० ५.१.१२३) द्वारा प्यन् प्रत्यय करने से—आपमेव आप्यम् । अमरकोषकार ने कहा भी है—त्रिषु द्वे आप्यमम्मयम् ।

पदिकयोः (७२१) से सुप् (ङस्) का लुक् तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'गोमयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

विशेष बक्तव्य—विकार और अवयव के इस प्रकरण में गोश्च पुरीषे (१११४) सूत्र आचार्य ने कैसे पढ़ दिया ? इस का उत्तर नागेशभट्ट इस प्रकार देते हैं—गीभुक्ता-हारविकारे गोविकारत्वमारोप्य प्रकरणाऽद्वाधोऽनेति बोध्यम् । (लघुशब्देन्दुशेखरे)

अब गो और पयस् प्रातिपदिकों से विकाराद्यर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघृ०] विधि-सूत्रम्—(१११५) गोपसोर्यत् ।४।३।१५८॥

गव्यम् । पयस्यम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त गो और पयस् प्रातिपदिकों से यथाप्राप्त विकार और अवयव अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गोपयसोः ।५।२। (अनुकृत षष्ठीद्विवचनान्त 'गोपयसोः' से परे पञ्चमी के द्विवचन का सूत्र लुक् हुआ है) । यत् ।१।१। एतयोः ।७।२। (मयङ् बैतयोर्भाषायाम्० सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ङाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(गोपयसोः = षष्ठ्यन्ताभ्यां गोपयस्यशब्दाभ्याम्) षष्ठ्यन्त गो और पयस् प्रातिपदिकों से (एतयोः) विकार और अवयव अर्थों में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है । यत् में तकार इत् है, 'य' मात्र शेष रहता है । तकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है ।

अवयवे च प्राण्योषधिबुक्ष्मेभ्यः (११११) इस अधिकार के अनुसार गोशब्द से विकार और अवयव दोनों अर्थों में तथा पयस्यशब्द से केवल विकार अर्थ में ही यत् प्रत्यय होमा । उदाहरण यथा—

गोविकारोऽव्यवो वा गव्यम् (गौ का विकार या गौ का अवयव) । 'गो ङस्' इस षष्ठ्यन्त से गोषवसोर्यत् (१११५) इस प्रकृतसूत्रद्वारा विकार या अवयव अर्थ में तद्धित यत् प्रत्यय होकर तकार अनुबन्ध का लोप, सुंभुक्, बान्तो यि प्रत्यये (२४) से ओकार को अक् आदेश तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । गव्यं पयः, गव्यं दधि, गव्यं घृतम्, गव्यं सक्थि इत्यादि ।

यद्यपि गोशब्द से विकारादि अर्थ में अण् या अन् प्रत्यय के प्रसङ्ग में गोरजादि-प्रसङ्गे यत् (वा० ७०) बार्तिकद्वारा यत् प्रत्यय करने से भी 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है तथापि मयङ् बैतयोर्भाषायाम्० (१११२) से प्राप्त पाक्षिक मयट् अथवा

१. गौ के दूध आदि को गौ का विकार कैसे माना जा सकता है ? दूध के प्रति गौ को उपादानकारण (समवायिकारण) तो माना नहीं जा सकता । इस का उत्तर भी गोश्च पुरीषे (१११४) सूत्र पर दिये नागेशोक्त उत्तर की तरह जानना चाहिये । अर्थात् गौ के भुक्त आहार में गोत्व का आरोप कर दूध को गौ का विकार समझना चाहिये ।

एकाच्चे नित्यं मयट्प्रत्ययान्ति (वा० ४.३.१४२) द्वारा नित्य मयट् प्रत्यय हो कर कहीं 'गोमयम्' यह अनिष्ट रूप न बन जाये इस के लिये इस सूत्र में पुनः गोशब्द से यत् का विधान किया गया है ।^१

पयस् से यत् का उदाहरण यथा—

पयसो विकारः पयस्यम् (दूध का विकार दही, पनीर आदि) । 'पयस् डस्' से विकार अर्थ में गोपयसोर्यत् (१११५) इस प्रकृतसूत्र से यत् प्रत्यय हो कर सुंब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'पयस्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि यहां यच्चि भम् (१६५) से भसञ्जा के कारण सकार को बँत्व नहीं होता ।

विशेष वक्तव्य—जैसे गोशब्द से गोरजाविप्रसङ्गे यत् (वा० ७०) वाक्तिकद्वारा यत् प्रत्यय के प्राप्त होने पर प्रकृतसूत्र से यत् का पुनर्विधान मयट् प्रत्यय को रोक देता है वैसे पयस् के विषय में सम्भव नहीं । क्योंकि यहां किसी भी तरह पहले यत् प्राप्त न था । अतः यद् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः (१११२) से पक्ष में मयट् में मयट् भी हो जायेगा । मयट् के परे होने पर स्वादिष्वसर्बनामस्थाने (१६४) द्वारा पदत्व के कारण सकार को रँत्व, ह्रिश्च च (१०७) से उत्त्व तथा आद् गुणः (२७) से गुण हो कर 'पयोमयम्' रूप भी बनेगा ।

अभ्यास [६]

- (१) विग्रहनिर्देशपूर्वक निम्नस्थ तद्धितान्तों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. पयस्यम् । २. गव्यम् । ३. भास्मनः । ४. मार्त्तिकः । ५. मायूरः ।
६. मौर्वम् । ७. पैपलम् । ८. आशमः । ९. मृन्मयः । १०. आन्नमयम् ।
- (२) निम्नस्थ सूत्रों और वाक्तिकों की व्याख्या करें—
१. मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः । २. नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ।
३. गोश्च पुरीषे । ४. गोपयसोर्यत् । ५. अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः । ६. तस्य विकारः । ७. अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ।
- (३) अन्तर स्पष्ट करें—
गोमयम्—गव्यम् । आशमः—आशमनः । दाभंम्—दर्भमयम् । शाकः—शाकमयः ।
- (४) मयड् वैतयोर्० सूत्र में 'एतयोः' ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करें ।
- (५) अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः सूत्र को विधि मानें या अधिकार । सहेतुक् स्पष्ट करें ।
- (६) गोपयसोर्यत् में गोशब्द से यत् का विधान क्यों किया गया है जबकि गोरजाविप्रसङ्गे यत् द्वारा वह सिद्ध था ही ?
- (७) 'तस्य' पद पूर्वतः लब्ध होते हुए भी तस्य विकारः में पुनः क्यों गृहीत किया गया है ?

१. सर्वत्र गोरजाविप्रसङ्गे यवस्त्वेषु, मयड्बिषये तु विधीयते—(काशिका) ।

- (८) गोश्व पुरीषे सूत्र विकारप्रकरण में कैसे पढ़ा गया है ?
 (९) अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः वाक्तिक किस का अपवाद है ?
 (१०) नित्यं वृद्धशरादिभ्यः सूत्र में 'नित्यम्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?
 (११) 'अश्ममयम्' का अर्थ 'पत्थर का अवयव' करना कहाँ तक उचित है ?
 (१२) विकाराद्यर्थकप्रकरण को प्राग्दीव्यतीयप्रकरण कहना कहाँ तक उचित है ?
 (१३) निम्नस्थ अशुद्धियों का सहेतुक शोधन कीजिये—
 [क] दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः ।^१
 [ख] काञ्चनी वासयष्टिः (मेघदूते ७६) ।^२
 [ग] दारवं पात्रम् ।^३
 [घ] रजतमयी शूङ्खला ।^४
 [ङ] कार्पासमयानि वस्त्राण्यारोग्याय कल्पन्ते ।^५
 [च] मौक्तिको हारः ।^६
 [छ] आप्याः कणाः ।^७

१. शाकुन्तलचतुर्थाङ्कगतस्य प्रक्षिप्तपद्यस्य द्वितीयोऽयं चरणः । अत्र दार्भंभिति चिन्त्यम् । शरादौ पाठाद् नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (१११३) इति नित्यं मयटि 'दर्भ-मयम्' इत्युचितम् ।
 २. काञ्चनशब्दो हि वृद्धिर्यस्याद्यामादिस्तद् वृद्धम् (१०७५) इति वृद्धसञ्ज्ञः । नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (१११३) इति विकारे मयटि टिड्ढाणञ्० (१२५१) इति ङीपि च कृते 'काञ्चनमयी' इत्युचितम् । स्थितस्य गतिश्चिन्तनीयेति चेद्—अपवादविषयेऽपि क्वचिदुत्सर्गोऽभिनिविशते इत्याश्रित्य औत्सर्गिकेऽणि ततो ङीपि 'काञ्चनी' इति सिध्यति ।
 ३. वृद्धसञ्ज्ञो हि दारुशब्दस्तेन नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (१११३) इति मयटा भाव्यम् । अतो 'दारुमयम्' इत्येव वक्तव्यम् ।
 ४. रजतशब्दाद्विकारेऽर्थे प्राणिरजतादिभ्योऽञ् (४.३.१५२) इति अणि टिड्ढाणञ्० (१२५१) इति ङीपि 'राजती शूङ्खला' इति भवितव्यम् । अनुवासादेश्च (४.३.१३८) इति सिद्धेऽप्यणि पुनरञ्चिधानं मयटो बाधनार्थम् ।
 ५. आच्छादने वर्त्तमानत्वाद्न मयटोऽप्राप्तिः । बिल्वादिभ्योऽण् (४.३.१३४) इत्यणि 'कार्पासानि वस्त्राणि' इति साधु ।
 ६. वृद्धसञ्ज्ञो हि मौक्तिकशब्दः । तेन नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (१११३) इति मयटि मौक्तिकमयो हार इत्येवोचितम् । मौक्तिकानामयम् इति विग्रहे तु वृद्धाच्छः (१०७७) इति शैषिके छे मौक्तिकीयो हार इति वक्तव्यं स्यात् ।
 ७. एकाच् अप्शब्दः । 'अपां विकाराः' इति विग्रहे एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति (वा०) इति नित्यं मयटि 'अम्मयाः कणाः' इति भवितव्यम् । अवयवार्थे तु दुर्लभो मयट् प्राण्योषधिवृक्षेषु अन्यतभाभावात् । आप्या इतीष्टञ्चेद्—अपामिमे आपाः, तस्येवम् (११०६) इति शैषिकोऽण् । आपा एव आप्याः, स्वार्थे ष्यञ् ।

[ज] मुद्गमयः सूपः ।^१

[झ] मृण्मयं पात्रम् ।^२

[ञ] शाक उपदंशः ।^३

[लघु०] इति विकाराद्यर्थकाः ॥

इति प्राग्दीव्यतीयाः ॥

(यहां विकाराद्यर्थक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)

(यहां प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय भी समाप्त हो जाते हैं ।)

—:०:—

अथ ठगधिकारः

अब तद्धितप्रकरणान्तर्गत ठक् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन किया जाता है । ठक् प्रत्यय का विधान तो पीछे रेवत्यादिभ्योष्ठक् (१०२६), अबिसहस्तिभेनोष्ठक् (१०५२) आदि कई सूत्रों के द्वारा किया जा चुका है परन्तु यहां ठक् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन प्रारम्भ कर रहे हैं जो अष्टाध्यायी के चतुर्थाध्याय के चतुर्थपादस्थ प्रथम-सूत्र से प्रारम्भ हो कर इसी पाद के ७६वें सूत्र तक जाता है । ठक् प्रत्ययान्त शब्द संस्कृतभाषा में प्रचुरमात्रा में पाये जाते हैं । हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी संस्कृत से आये ये शब्द बहुप्रचलित हैं ।

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(१११६) प्राग्बहतेष्ठक् ।४।४।१॥

तद्वहति० (४.४.७६) इत्यतः प्राक् ठग् अधिक्रियते ॥

अर्थः—यहां से लेकर तद्वहति रेव्युगप्रासङ्गम् (४.४.७६) इस सूत्र से पूर्व तक ठक् प्रत्यय का अधिकार है ।

१. भक्ष्या हि मुद्गाः, अतो मयद्भवैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः (१११२) इति न भवति मयट् । बिल्वादिभ्योष्ण् (४.३.१३४) इति विकारेऽणि मौद्गः सूप इत्येवं वक्तव्यम् ।
२. मृण्मयमित्यत्र णत्वमसाधु । 'मृद् + मय' इति स्थिते प्रत्यये भाषायां नित्यम् (वा० ११) इति पदान्तदकारस्यानुनासिके नकारे 'मृन्मयम्' इति भवितव्यम् । ध्यातव्यं यदत्र अनुनासिकस्य त्रिषाद्यसिद्धत्वेन न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) इति लोपो न प्रवर्तते । एतस्मादेव कारणाद् ऋवर्जान्नित्य णत्वं वाच्यम् (वा० २१) इत्यस्याप्यप्रवृत्तिः । किञ्च पदान्तस्य (१३६) इत्यनेनापि णत्वं वारयितुं शक्यम् ।
३. यद्यपि शाकशब्दो वृद्धसञ्ज्ञस्तथापि नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (१११३) इति मयट् न । तत्र 'अभक्ष्याच्छादनयोः' इत्यनुवृत्तेः । उपदंशत्वाद् भक्ष्योऽत्र शाकः । उपदंशः = 'चटनी' इति भाषायाम् ।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम् । वहतेः ।५।१। ठक् ।१।१। अर्थः—(वहतेः प्राक्) 'वहति' से पहले (ठक्) ठक् प्रत्यय हो । अष्टाध्यायी के इसी पाद में तद् बहति रथ-युग-प्रासङ्गम् (४.४.७६) सूत्र पढ़ा गया है । उस के 'वहति' शब्द का यहां निर्देश किया गया है । तात्पर्य यह है कि तद्बहति रथयुगप्रासङ्गम् (४.४.७६) सूत्र से पूर्व पूर्व जितने अर्थ दिये गये हैं उन में ठक् प्रत्यय को अधिकृत किया गया है । प्रत्यय न कहे जाने पर उन अर्थों में ठक् तद्धितप्रत्यय हो जायेगा ।

ठक् प्रत्यय में ककार इत् तथा अकार उच्चारणार्थ है, प्रत्यय का 'ट्' मात्र ही शेष रहता है । परन्तु इस ट् का भी किसी शब्द में श्रवण नहीं होता । कारण कि इस ट् की दो गतियां होती हैं । प्रथम—ट् को ठस्येकः (१०२७) से 'इक' आदेश हो जाता है । दूसरी—यदि प्रातिपदिक के अन्त में इस्, उस्, उक्प्रत्याहार या तकार हो तो इसुसुक्तान्तात्कः (१०५२) से ट् को 'क' आदेश हो जाता है ।

अब ठक्-अधिकार में प्रथम सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११७)

तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ।४।४।२॥

अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितं वा—आक्षिकः ॥

अर्थः—खेलने वाला, खोदने वाला, जीतने वाला तथा जीता गया—इन अर्थों में करणतृतीयान्त प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। ('अक्षैर्दीव्यति' आदियों में करणतृतीयान्त^१ का अनुकरण 'तेन' से किया गया है । इस अनुकरण से परे पञ्चमी विभक्ति का सूत्र लुक् समझना चाहिये) । दीव्यति इति दिव् क्रीडाविजिगीषा० (दिवा० परस्मै०) इति धातोर्लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । खनति-इति खनुं अघदारणे (भ्वा० उभय०) इति धातोर्लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । जयति इति जि जये (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लौटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । जितम् ।१।१। ठक् ।१।१। (प्राग्बहतेष्ठक् इस अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = करणतृतीयान्तात्) करणतृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (दीव्यति खनति जयति जितम् इत्येतेष्वर्थेषु) जूआ खेलने वाला, खोदने वाला, जीतने वाला तथा पासों आदि से जीता गया—इन चार अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

१. तेनेति करणे तृतीया । दीव्यत्यादौ कर्तुस्त्वत्वात् । तत्साहचर्याज्जितयोगेऽपि सैव । तेन 'देवदत्तेन जितम्' इत्यत्र न । 'अङ्गुल्या खनति' इत्यादौ तु अनभिधानान्न— इति ब० शब्देन्दुशेखरे नागेशः ।

अक्षैर्दीव्यति^१ इति आक्षिकः, अक्षैः खनति इति आक्षिकः, अक्षैर्जयति इति आक्षिकः, अक्षैर्जित इति आक्षिकः । पासों से खेलने वाला, पासों से खोदने वाला, पासों से जीतने वाला, अथवा पासों से जीता गया—ये सब 'आक्षिक' कहलायेंगे । 'अक्ष भिस्' इस करणतृतीयान्त प्रातिपदिक से प्राग्वहतेष्टक् (१११६) के अधिकार में प्रकृत तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (१११७) सूत्रद्वारा खेलने वाला—खोदने वाला—जीतने वाला—जीता गया इन अर्थों में तद्धित ठक् प्रत्यय हो कर सुंब्लुक्, ठक् के कित् होने से किति च (१००१) से आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ट् को 'इक' आदेश तथा भसंज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप करने पर 'आक्षिक' बना । अब विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से पुलिङ्ग में 'आक्षिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । स्त्रीलिङ्ग में दिङ्ढानञ् (१२५१) सूत्र से झीप् हो कर 'आक्षिकी' बनेगा ।

इसीप्रकार—

- (१) शलाकाभिर्दीव्यति—शालाकिकः (शलाकाओं से खेलने वाला) ।
- (२) हलेन खनति—हालिकः (हल से खोदने वाला) ।
- (३) मुद्गरेण जयति—मौद्गरिकः (मुद्गर से जीतने वाला) ।
- (४) अस्त्रैर्जितम्—आस्त्रिकम् (अस्त्रों से जीता गया) ।
- (५) प्रमाणैर्दीव्यति (व्यवहरति)—प्रामाणिकः (प्रमाणों से व्यवहार करने वाला) ।
- (६) तर्केण दीव्यति (व्यवहरति)—तार्किकः (तर्क से चलने वाला) ।
- (७) अभ्रघा^३ खनति—आभ्रिकः (काष्ठकुद्दाल से खोदने वाला) ।
- (८) कुद्दालेन खनति—कौद्दालिकः (फावड़े से खोदने वाला) ।
- (९) अस्त्रेण जयति—आस्त्रिकः (अस्त्रों से जीतने वाला) ।

देवदत्तेन जितम्, शत्रुणा जितम्—इत्यादियों में करणतृतीया न होने से ठक् नहीं होता । इन स्थानों पर कर्तृकरणयोस्तृतीया (८६५) द्वारा अनभिहित कर्ता में

१. दीव्यति, खनति और जयति अर्थों में संख्या, काल और पुरुष विवक्षित नहीं है केवल कर्तृकारक ही विवक्षित है । इसीप्रकार 'जितम्' में केवल कर्मकारक की ही विवक्षा है भूतकाल आदि की नहीं । इस से अक्षैर्दीव्यत्, अक्षैर्दीव्यति आदि अन्य कालों में तथा अक्षैर्दीव्यसि, अक्षैर्दीव्यामि आदि अन्यपुरुषों और अक्षैर्दीव्यतः, अक्षैर्दीव्यन्ति आदि अन्यवचनों में भी ठक् प्रत्यय हो कर 'आक्षिकः' बन जाता है । इसीप्रकार आगे तरति, चरति, रक्षति, उञ्छति आदि में भी समझ लेना चाहिये । यहां एक बात और भी ध्यातव्य है कि दीव्यति आदि तिङन्तों में यद्यपि क्रिया की प्रधानता परिलक्षित होती है तथापि तद्धितवृत्ति में कर्ता की ही प्रधानता हुआ करती है । जैसाकि निरुक्त में कहा गया है—सत्त्वप्रधानानि नामानि ।

२. अभिः स्त्री काष्ठकुद्दालः—इत्यमरः

तृतीया हुई है। 'अङ्गुल्या खनति' इत्यादियों में करणतृतीया होने पर भी अनभिधान (लोकप्रचलाभाव) के कारण तद्धित की उत्पत्ति नहीं होती।

नोट—ग्रन्थकार ने संक्षेपवश सब अर्थों का एक ही उदाहरण 'आक्षिकः' दिया है।

अब इस अधिकार में अन्य अर्थों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११८) संस्कृतम् ।४।४।३॥

दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारीचिकम् ॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से 'संस्कृतम् = संस्कार किया गया' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तेन दीव्यति खनति जयति जितम् सूत्र से लुप्त-पञ्चम्यन्त पद) । संस्कृतम् ।१।१। ठक् ।१।१। (प्राग्बहतेष्ठक् इस अधिकार से) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घ्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से (संस्कृतम् इत्यर्थे) 'संस्कार किया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है।

सतो गुणाधानं संस्कारः । किसी पदार्थ के गुणाधान करने—उसे उत्कृष्ट बनाने को 'संस्कृत करना' कहते हैं। उदाहरण यथा—

दध्ना संस्कृतं दाधिकम् ओदनम् (दही से संस्कार किया हुआ—दही के सम्पर्क से गुणयुक्त या स्वादिष्ट बनाया गया भात आदि) । यहां 'दधि टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'संस्कृतम्' अर्थ में प्रकृत संस्कृतम् (१११८) सूत्र से तद्धित ठक् (ठ्) प्रत्यय, सुंञ्जुक्, किति च (१००१) से आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश और यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने से—दाध् + इक = दाधिकम् । पुनः विशेष्यानुसार विभक्ति ला कर नपुंसक में 'दाधिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

मरीचैः संस्कृतं मारीचिकम् (कालीमिर्चों द्वारा संस्कृत हुआ भात आदि) । यहां 'मरीच भिस्' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'संस्कृतम्' अर्थ में प्रकृत संस्कृतम् (१११८) सूत्र से ठक् (ठ्) प्रत्यय, सुंञ्जुक्, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा भसञ्ज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) द्वारा लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मारीचिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^१

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. कालीमिर्च के लिये संस्कृतभाषा में 'मरीच' या 'मरिच' शब्द प्रयुक्त होते हैं। ये दोनों नपुंसकलिङ्ग हैं (देखें अमरकोष में भानुजिदीक्षितव्याख्या)। बालमनोरमाकार ने यहां मरीचिभिः संस्कृतम् (किरणों द्वारा संस्कृत) ऐसा विग्रह लिखा है। इस प्रकार मानने से यस्येति च (२३६) द्वारा भसञ्ज्ञक इकार का लोप हो जायेगा।

- (१) शृङ्गबेरेण संस्कृतः—शाङ्गबेरिकः (अदरक से संस्कृत सूप आदि) ।
- (२) शुण्ठया संस्कृतः—शौण्ठिकः (सोंठ से संस्कृत सूप आदि) ।
- (३) शर्करया संस्कृतम्—शार्करिकम् (शक्कर से संस्कृत दुग्ध आदि) ।
- (४) कर्मभिः संस्कृतः—कामिकः (कर्मों से संस्कृत द्विज आदि) ।
- (५) ज्ञानेन संस्कृतः—ज्ञानिको ब्राह्मणः ।
- (६) विद्यया संस्कृतः—वैद्यिको द्विजः ।

यद्यपि इस सूत्र को भी तेन दीव्यति क्षनति जयति जितम् (१११७) सूत्र में डाल कर पढ़ा जा सकता था तथापि अष्टाध्यायी के अग्रिमसूत्र में केवल इसी अर्थ की अनुवृत्ति ले जाने की आवश्यकता के कारण इस का पृथक् उल्लेख किया गया है । अत एव काशिकाकार ने कहा है—योगविभाग उत्तरार्थः ।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११६) तरति ।४।४।५।।

तेनेत्येव । उडुपेन तरति औडुपिकः ॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से 'तैरने वाला—पार करने वाला' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तेन दीव्यति क्षनति जयति जितम् सूत्र से) । तरति इति तु प्लबनसन्तरणयोः (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य धातोर्लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (प्राग्बहतेष्टक् से अधिकृत है) । प्रत्ययः, पररश्च, ऊघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात् प्रातिपदिकात्) तृतीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से (तरति इत्यर्थे) 'तैरने या पार करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा—

उडुपेन तरति—औडुपिकः (उडुप^१ अर्थात् छोटी नौका के द्वारा पार करने वाला) । यहां 'उडुप टा' से 'पार करने वाला' अर्थ में प्रकृत तरति (१११६) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ट् को 'इक' आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'औडुपिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

(१) काण्डप्लवेन तरति—काण्डप्लविकः (काण्डनिर्मित नौकाद्वारा पार करने वाला)

(२) तृणप्लवेन तरति—तार्णप्लविकः (तृणनिर्मितनौकाद्वारा पार करने वाला) ।

(३) शरप्लवेन तरति—शारप्लविकः (शरनिर्मितनौकाद्वारा पार करने वाला) ।

१. उडुपं तु प्लबः कोलः—इत्यमरः । तृणादिनिर्मित क्षुद्रनौका को उडुप कहते हैं । उडुनः (जलात्) पाति = रक्षतीति उडुपम् । प्रयोग यथा—तिततीर्षुर्वुस्तरं मोहा-
डुडुपेनास्मि सागरम् (रघु० १.२) ।

(४) गोपुच्छेन तरति—गौपुच्छिकः ।^१

नोट—नौ (नौका) इस प्रातिपदिक से तथा दो अर्षों वाले प्रातिपदिक से 'तरति' के अर्थ में ठक् के अपवाद नौद्वेषच्छन् (४.४.७) सूत्र से ठ् प्रत्यय हो जाता है। ठ् प्रत्यय नित् है किन्तु नहीं, अतः इस के परे रहते आदिवृद्धि नहीं होती ।^२ यथा—

नावा तरति—नाविकः ।

घटेन तरति—घटिकः ।

प्लवेन तरति—प्लविकः ।

कुम्भेन तरति—कुम्भिकः ।

दृत्या तरति—दृतिकः (मशक से तैरने वाला) ।

बाहुभ्यां तरति—बाहुकः (१०५२) ।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२०) चरति ।४।४।८।

तृतीयान्ताद् 'गच्छति, भक्षयति' इत्यर्थयोष्ठक् स्यात् । हस्तिना चरति—हास्तिकः । दध्ना चरति—दाधिकः ॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'जाने वाला' या 'खाने वाला' अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तेन बीभ्यति स्ननति जयति जितम् सूत्र से) । चरति इति चर गतिभक्षणयोः (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लॅटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (प्राग्बहतेष्ठक् यह अधिकृत है) । प्रत्ययः, परश्च, ङधाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (चरति इत्यर्थे) 'जाने वाला' या 'खाने वाला' इन अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है ।

यह प्रत्यय 'चरति' के अर्थ में विधान किया गया है । चर् घातु के दो अर्थ होते हैं—जाना और खाना । अतः यह प्रत्यय भी 'जाने वाला' और 'खाने वाला' इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है ।

गमन अर्थ में उदाहरण यथा—

हस्तिना चरति (गच्छति)—हास्तिकः (हाथी के द्वारा गमन करने वाला) । यहां 'हस्तिन् टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'जाने वाला' अर्थ में प्रकृत चरति (११२०) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, किति च (१००१) से आदि-वृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश तथा नस्तद्धिते (६१६) से भसञ्ज्ञक

१. यहां गोपुच्छाद् ठम् (४.४.६) सूत्र से ठ् प्रत्यय होता है । ठक् और ठ् में स्वर का भेद होता है । गाय की पूँछ पकड़ कर नदी को पार किया जा सकता है ।

२. किञ्च स्त्रीत्व में भी ठ् प्रत्ययान्त से डीप् न होकर टाप् ही होता है । यथा—नाविका, घटिका आदि ।

टि (इन्) का लोप करने पर—हास्त् + इक् = हास्तिक । अब विशेष्यानुसार विभक्ति-कार्य करने से पुल्लिङ्ग में 'हास्तिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

भक्षण अर्थ में उदाहरण यथा—

दध्ना चरति (भक्षयति)—दाधिकः (दही के साथ खाने वाला) यहां 'दधि टा' इस तृतीयान्त से 'खाने वाला' अर्थ में चरति (११२०) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को 'इक्' आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दाधिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

- (१) शकटेन चरति (गच्छति)—शाकटिकः ।
- (२) विमानेन चरन्ति (गच्छन्ति)—वैमानिकाः ।^१
- (३) वागुरया (मृगबन्धनरज्ज्वा) चरति (गच्छति)—वागुरिकः ।^२
- (४) जालेन चरति (गच्छति)—जालिकः ।
- (५) वीतंसो बन्धनोपायः, तेन चरति—वैतंसिको व्याघ्रः ।
- (६) व्यवहारेण चरति (आचरति)—व्यावहारिकः (प्रक्रियासर्वस्वे) ।^३
- (७) व्यायामेन चरति—व्यायामिकः (प्रक्रियासर्वस्वे) ।

नोट—रथ, अश्व और पाद इन तीन प्रातिपदिकों से चरति के अर्थ में ठक् न होकर पर्षादिभ्यः ष्टन् (४.४.१०) से ष्टन् (ट्)^४ प्रत्यय हो जाता है अतः आदिवृद्धि नहीं होती । किञ्च पर्षादिगणस्थ पादस्य पञ्च इस गणसूत्र से 'पाद' के स्थान पर पद् आदेश भी हो जाता है । यथा—

रथेन चरति—रथिकः (रथसवार) ।

अश्वेन चरति—अश्विकः (घुड़सवार) ।

पादाभ्यां चरति—पदिकः (पैदल) ।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२१) संसृष्टे ।४।४।२२।।

दध्ना संसृष्टं दाधिकम् ॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'संसृष्ट' (मिला हुआ—मिश्रित हुआ) अर्थ में तद्धितसञ्जक ठक् प्रत्यय हो ।

१. वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि । (रघु० १०.४६)

२. द्वौ वागुरिकजालिकौ इत्यमरः ।

३. स्वागतादीनां च (७.३.७) इत्यैच् न । एवं व्यायामिकशब्देऽपि बोध्यम् ।

४. ष्टन् में आदि षकार की षः प्रत्ययस्य (८३६) से इत् संज्ञा हो कर लोप हो जाता है । षकार अनुबन्ध स्त्रीत्व में षिव्गौरादिभ्यश्च (१२५५) द्वारा डीष्विधान के लिये जोड़ा गया है । यथा—रथिकी, अश्विकी, पदिकी ।

व्याख्या—संसृष्टे । ७।१। तेन इति लुप्तपञ्चम्येकवचनान्तं पदम् । (तेन वीभ्यति० सूत्र से) ठक् । १।१। (प्राग्बहतेष्ठक् अधिकार से लब्ध) प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थं प्रतिपदिक से (संसृष्टे) 'मिश्रित हुआ' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है ।

संसृष्टम् एकीभूतम् अभिन्नमिति काशिका । मिश्रित हुए—एक हुए को संसृष्ट कहते हैं । जैसे नमक सूप में एकीभूत हो जाता है या मधु आदि दूध में अथवा खिचड़ी आदि में दही, मिर्च, अदरक आदि । संस्कृत और संसृष्ट में भेद होता है । संस्कृत तो तब होता है जब किसी द्रव्य का गुणाधान किया जाता है परन्तु संसृष्ट में केवल संसर्ग-मात्र अभीष्ट होता है । उदाहरण यथा—

दध्ना संसृष्टं दाधिकम् (दही से युक्त) । यहां 'दधि टा' से संसृष्ट (मिश्रित, मिला हुआ) अर्थ में प्रकृत संसृष्टे (११२१) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, किति च (१००१) से आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ट् को इक आदेश एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'दाधिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । दाधिकमोदनम्—दहीमिला भात ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) मरिचैः संसृष्टम् मारिचिकम् (मरिचों से युक्त) ।
- (२) शृङ्गवेरेण संसृष्टं शार्ङ्गवेरिकम् (अदरक से युक्त) ।
- (३) पिप्पल्या संसृष्टम् वैप्पलिकम् (पिप्पली से युक्त) ।
- (४) तिलैः संसृष्टास्तैलिकास्तण्डुलाः (तिलयुक्त चावल) ।
- (५) मधुना संसृष्टम् माधुकं पयः (मधुयुक्त दूध या जल) ।

लवणशब्द से संसृष्ट अर्थ में हुए ठक् प्रत्यय का लवणास्तुक् (४.४.२४) से लुक् हो जाता है—लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः । लवणा यवागूः । लवणम्पयः ।

१. ननु यद् येन संसृष्टं तत् तेन संस्कृतं भवति, ततश्च संस्कृतम् (४.४.३) इत्येव संसृष्टेऽपि प्रत्ययः सिद्धः । न सिद्ध्यति । सत उत्कर्षाधानं संस्कारः, एकीभावस्तु संसर्गः । न च यत्रासौ तत्रावश्यमुत्कर्षोऽस्ति, अशुचिद्रव्यसंसर्गं प्रत्युत अपकर्ष एव भवति । तस्मात् संसृष्टे (४.४.२२) इति वक्तव्यम् ।

ननु यदि अस्य निबन्धनमावश्यकं तर्हि एतदेवास्तु सूत्रम्, मा भूत् संस्कृतम् (४.४.३) इति । तदप्यवश्यं कर्त्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—विद्यया संस्कृतो वैदिक इति । न ह्यत्र संसर्गोऽस्ति मूर्त्ति-धर्मत्वात् । किञ्च कुलत्थकोपघादण् (४.४.४) इति संस्कृते एव यथा स्यात् संसृष्टे मा भूद् इत्येवमर्थं संस्कृतम् (४.४.३) इत्येतद् भवति ।

(पदमञ्जरी ४.४.२२)

२. इसुसुक्तान्तात् कः (१०५२) इति ठकः कादेशः ।

मुद्गशब्द से संसृष्ट अर्थ में मुद्गाब्ज् (४.४.२५) सूत्र से अण् प्रत्यय होता है जो ठक् का अपवाद है। यथा—मुद्गैः संसृष्टो मीद्ग ओदनः (मूंगमिश्रित भात)।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२२) उञ्छति ।४।४।३२॥

बदराण्युञ्छतीति बादरिकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से 'कण कण बटोरने वाला या चुनने वाला' अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत्—इति लुप्तपञ्चम्येकवचनान्तं पदम् । (तत्प्रत्ययानुपूर्वमीपलोम-कूलम् सूत्र से । द्वितीयान्त के अनुकरण 'तत्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । उञ्छति = इति उञ्छे उञ्छे (तुदा० परस्मै०) इति धातोर्लेटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (प्राग्बहतेष्टक् के अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, इत्याप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से (उञ्छति इत्यर्थे) 'उञ्छन करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है ।

भूमि पर पड़े हुए अनाज आदि के कणों को चुन चुन कर बटोरना या संग्रह करना 'उञ्छन' कहाता है ।^१

सूत्र का उदाहरण यथा—

बदराणि उञ्छतीति बादरिकः (बैरों को चुन चुन कर बटोरने वाला) । यहां 'बदर शस्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'उञ्छन-कर्त्ता—चुन चुन कर बटोरने वाला' अर्थ में प्रकृत उञ्छति (११२२) सूत्र से ठक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् (शस्) का लुक्, किति च (१००१) से आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ट् को इक आदेश एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने से 'बादरिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

- (१) श्यामाकान् उञ्छति—श्यामाकिकः (स्वाकों को बीनने वाला) ।
 - (२) कणान् उञ्छति—काणिकः (कणों को बीनने वाला) ।
 - (३) नीवारान् उञ्छति—नीवारिकः (नीवारकणों को बीनने वाला) ।
 - (४) शाकान् उञ्छति—शाकिकः (शाकों को बीनने वाला) ।
 - (५) व्रीहीन् उञ्छति—व्रीहिकः (चावलकणों को बीनने वाला) ।
 - (६) गोधूमान् उञ्छति—गोधूमिकः (गेहूँ के दानों को बीनने वाला) ।
- ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं —

१. इस विषय पर पीछे तुदादिगणस्थ उञ्छे उञ्छे (तुदा० परस्मै०) धातु पर विस्तृत प्रकाश डाल चुके हैं । विशेषजिज्ञासु उस का पुनरवलोकन करें ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (११२३) रक्षति ।४।४।३३॥

समाजं रक्षतीति सामाजिकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से 'रक्षा करने वाला' अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत्प्रत्ययपूर्वभीपलोलमकूलम् इत्यस्मात् सूत्रात् 'तत्' इति लुप्तपञ्च-
म्यन्तम्पदमनुवर्तते । रक्षति इति रक्ष पालने (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लैटि प्रथमपुरुषै-
कवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (प्राग्बहतेष्ठक् सूत्र से अधिकृत है) । प्रस्थयः, परश्च,
इयाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्)
द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से (रक्षति इत्यर्थे) 'रक्षा करने वाला' अर्थ में (तद्धितः)
तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा —

समाजं रक्षतीति सामाजिकः (समाज की रक्षा करने वाला) । यहां 'समाज
अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'रक्षा करने वाला' अर्थ में प्रकृत रक्षति (११२३)
सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक, आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ठ् को इक
आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्यं करने से
'सामाजिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

- (१) सन्निवेशं रक्षति—सान्निवेशिकः ।^१
- (२) मण्डलं रक्षति—माण्डलिकः (मण्डल का रखवाला) ।
- (३) नगरं रक्षति—नागरिकः (नगरपाल) ।^२
- (४) ग्रामं रक्षति—ग्रामिकः (ग्रामपाल) ।^३
- (५) कुटुम्बं रक्षति—कौटुम्बिकः (कुटुम्ब का पालक) ।
- (६) गोमण्डलं रक्षति—गौमण्डलिकः (गोमण्डल का पालक) ।

१. नगर से बाहर घूमने-खेलने आदि के मैदान को 'सन्निवेश' कहते हैं । इसीशब्द
पर अमरकोष की व्याख्या में क्षीरस्वामी लिखते हैं—समन्तान्निवेशान्तेऽत्र सन्निवेशः
पुराद् बहिर्बिहरणभूः । शब्दरत्नावली में भी लिखा है—

नगराविबहिःस्वैरबिहारवाशभूमिषु ।

तत्र द्वयं निगदितं सन्निवेशो निकर्षणम् ॥

२. प्रयोग यथा—

मद्वचनाबुद्ध्यतां नागरिकः (विक्रमोर्वशीयस्य पञ्चमेऽङ्के पाठभेदोऽयम्) । ततः
प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धं पुरुषमादाय रक्षिणौ च (शाकुन्तले षष्ठाङ्क-
स्यादौ पाठभेदोऽयम्) ।

३. प्रयोग यथा—

ग्रामबोधान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।

शंतेद् ग्रामबशशाय दशशो विंशतीशिने ॥ (मनु० ७.११७)

मुद्गशब्द से संसृष्ट अर्थ में मुद्गावण् (४.४.२५) सूत्र जो ठक् का अपवाद है। यथा—मुद्गैः संसृष्टो मौद्ग ओदनः ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते

१४॥

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२२) उञ्छति

बदराण्युञ्छतीति बादरिकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक वाला अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

ला' अर्थ में

ददुरम् से परे तना० उभय० से अधिकृत।

व्याख्या—तत्—इति लुप्तपञ्चमे कूलम् सूत्र से। द्वितीयान्त के अनुकरण (चाहिये)। उञ्छति=इति उच्छि उञ्च वचनान्तं रूपम्। ठक् १११। प्रा

त हैं। शब्दश्च शब्दददुरम्। अर्थः—

द्वितीयान्त 'शब्द' एवं 'ददुर' (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक्

द्वितीयान्त समर्थं प्रातिपदिक

भागपरिकल्पनया व्युत्पादयति) इति शाब्दिकः।

(तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) में प्रकृति-प्रत्यय के विभाग की परिकल्पना करता है भूमि पर पड़े। यह वैयाकरण के अर्थ में रूढ है। यहाँ 'शब्द अम्' इस करना 'उञ्छन' कह

सूत्र का (११२४) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, किति च (१००१) से बदरा (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा यस्येति च (२२६) से भसञ्ज्ञक 'बदर शस्' कर विभक्तिकार्य करने से 'शाब्दिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अर्थ में ददुरं करोति—दार्दुरिकः। मिट्टी के पात्रविशेष को प्राचीन काल में 'ददुरं' धातु था। उस ददुरं को बनाने वाला कुम्हार 'दार्दुरिक' कहाता था। यहाँ

अत एव शब्दं करोतीति शाब्दिकः खरः—ऐसा न बनेगा। बोपदेव ने अपने कवि-कल्पद्रुमग्रन्थ के प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध आठ वैयाकरणों को शाब्दिक कहा है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽपिशली शाकटायनः ।

पाणिग्यमरजनेन्द्रा जयन्त्यष्टाब्दिशाब्दिकाः ॥

परन्तु कुछेक व्याख्याकार इस से भिन्न मन्तव्य प्रकट करते हैं। वे शब्द करने वाली प्रत्येक वस्तु को ही शाब्दिक कहना पसन्द करते हैं। यथा पुरुषोत्तमदेव अपनी भाषावृत्ति में इस सूत्र पर उदाहरण देते हुए लिखते हैं—शाब्दिकः पटहृष्टान्नो वा। हरिनामामृतव्याकरण में 'शाब्दिको वेणुः' ऐसा उदाहरण दिया गया है।

२. कुछ व्याख्याकार यहाँ ददुरं का अर्थ बांसुरी की तरह बजने वाला एक वाद्य मानते हैं। इस का कुछ भाग मिट्टी से निर्मित होता था जिसे कुम्भकार बनाता था। ददुरंशब्द के अन्य भी अनेक अर्थ कोषों में प्रसिद्ध हैं, जैसाकि अमरकोष की व्याख्या करते हुए भानुजिदीक्षित किसी कोष का वचन उद्धृत करते हैं—ददुरंस्तोपदे भेके वाद्यभाण्डान्निभेवयोः ।

द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'करने वाला = बनाने वाला' अर्थ में प्रकृत (११२४) सूत्र से ठक्, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक, आदिवृद्धि, ट् को इक (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने दू हो जाता है ।

का निरूपण करते हैं—

'११२५) धर्मं चरति ।४।४।४१॥

प्रातिपदिक से 'चरति' (आचरण करने वाला) अर्थ

के अनुकरण 'धर्मम्' शब्द से परे पञ्चमी चर गतौ (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लैटि प्रथम-

१।१। (प्राग्बहतेष्ठक् अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च,

वृद्धताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(धर्मम् = द्वितीयान्ताद्

प्रातिपदिकात्) द्वितीयान्त 'धर्म' प्रातिपदिक से (चरति इत्यर्थे) 'आचरण

करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण

यथा—

धर्मं चरति—धार्मिकः (धर्म का आचरण करने वाला) । यहां 'धर्मं अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'चरति' के अर्थ में प्रकृत धर्मं चरति (११२५) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक, किति च (१००१) से आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ट् को इक आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'धार्मिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१ स्त्रीलिङ्ग में टिड्ढाणञ् (१२५१) से डीप् प्रत्यय हो कर 'धार्मिकी कन्या' बनेगा ।

विशेष वक्तव्य—यहां 'चरति' से आसेवन अर्थात् बार बार करना या स्वभावतः करना अर्थ अभिप्रेत है । दुष्ट पुरुष यदि धर्म का कदाचित् सेवन कर ले तो वह धार्मिक नहीं कहायेगा । अत एव काशिकाकार ने कहा है—चरतिरासेवायां नाऽनुष्ठानमात्रे । सिद्धान्तकोमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका भी यहां द्रष्टव्य है ।

वास्तिककार 'अधर्म' प्रातिपदिक से भी ठक् का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(८८) अधर्माच्चेति वक्तव्यम् ॥

अधर्मं चरति—आधर्मिकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त 'अधर्म' प्रातिपदिक से भी 'चरति' (आचरण करने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—यह वास्तिक महाभाष्य में धर्मं चरति (४.४.४१) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये । ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति (५०)

१. कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् धार्मिकः । (हितोप०)

अव ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२४) शब्दददुरं करोति ।४।४।३४।।

शब्दं करोति—शाब्दिकः । ददुरं करोति—दार्दुरिकः ।।

अर्थः—द्वितीयान्त 'शब्द' और 'ददुर' प्रातिपदिकों से 'करने वाला' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शब्दददुरम् ।५।१। (यहां द्वितीयान्त के अनुकरण 'शब्दददुरम्' से परे पञ्चमी का सूत्र लुक् समझना चाहिये) । करोति इति डुकृञ् करणे (तना० उभय०) इत्यस्य लौटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (प्राग्बहुतेष्ठक् से अधिकृत) । प्रत्ययः, परश्च, इध्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । शब्दश्च ददुरश्चानयोः समाहारः शब्दददुरम्, समाहारद्वन्द्वः । तत् (२.१) = शब्दददुरम् । अर्थः—(शब्दददुरम् = द्वितीयान्ताभ्यां शब्दददुरप्रातिपदिकाभ्याम्) द्वितीयान्त 'शब्द' एवं 'ददुर' प्रातिपदिकों से (करोतीत्यर्थे) 'करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

शब्दं करोति (प्रकृतिप्रत्ययविभागपरिकल्पनया व्युत्पादयति) इति शाब्दिकः । जो शब्द को बनाता अर्थात् उस में प्रकृति-प्रत्यय के विभाग की परिकल्पना करता है उसे 'शाब्दिक' कहते हैं । यह वैयाकरण के अर्थ में रूढ है । यहां 'शब्द अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'करोति = करने वाला = व्युत्पत्ति करने वाला' अर्थ में प्रकृत शब्दददुरं करोति (११२४) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, किति च (१००१) से आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ट् को इक आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शाब्दिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

ददुरं करोति—दार्दुरिकः । मिट्टी के पात्रविशेष को प्राचीन काल में 'ददुर' कहा जाता था । उस ददुर को बनाने वाला कुम्हार 'दार्दुरिक' कहाता था । यहां

१. अत एव शब्दं करोतीति शाब्दिकः खरः—ऐसा न बनेगा । बोपदेव ने अपने कवि-कल्पद्रुमग्रन्थ के प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध आठ वैयाकरणों को शाब्दिक कहा है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽपिशली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजनेन्द्रा जवन्त्यष्टाविशाब्दिकाः ॥

परन्तु कुछेक व्याख्याकार इस से भिन्न मन्तव्य प्रकट करते हैं । वे शब्द करने वाली प्रत्येक वस्तु को ही शाब्दिक कहना पसन्द करते हैं । यथा पुरुषोत्तमदेव अपनी भाषावृत्ति में इस सूत्र पर उदाहरण देते हुए लिखते हैं—शाब्दिकः पटहृच्छात्रो वा । हरिनामामृतव्याकरण में 'शाब्दिको वेणुः' ऐसा उदाहरण दिया गया है ।

२. कुछ व्याख्याकार यहां ददुर का अर्थ बांसुरी की तरह बजने वाला एक वाद्य मानते हैं । इस का कुछ भाग मिट्टी से निर्मित होता था जिसे कुम्भकार बनाता था । ददुरशब्द के अन्य भी अनेक अर्थ कोषों में प्रसिद्ध हैं, जैसाकि अमरकोष की व्याख्या करते हुए भानुजिदीक्षित किसी कोष का वचन उद्धृत करते हैं—ददुरस्तोयवे भेके वाद्यभाण्डाग्निभेदयोः ।

‘दर्दुरं अम्’ इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से ‘करने वाला = बनाने वाला’ अर्थ में प्रकृत शब्दवर्द्धं करोति (११२४) सूत्र से ठक्, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से ‘दारुणिकः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब एक अन्य अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२५) धर्मं चरति ।४।४।४१॥

धर्मं चरति— धार्मिकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त ‘धर्मं’ प्रातिपदिक से ‘चरति’ (आचरण करने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—धर्मम् ।५।१। (द्वितीयान्त के अनुकरण ‘धर्मम्’ शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । चरति इति चर गतौ (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लौटि प्रथम-पुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (प्राग्वहतेष्ठक् अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्पाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(धर्मम् = द्वितीयान्ताद् ‘धर्मं’ इति प्रातिपदिकात्) द्वितीयान्त ‘धर्मं’ प्रातिपदिक से (चरति इत्यर्थे) ‘आचरण करने वाला’ अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

धर्मं चरति—धार्मिकः (धर्म का आचरण करने वाला) । यहां ‘धर्मं अम्’ इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से ‘चरति’ के अर्थ में प्रकृत धर्मं चरति (११२५) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक, किति च (१००१) से आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से ‘धार्मिकः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१ स्त्रीलिङ्ग में टिड्ढाणञ् (१२५१) से ङीप् प्रत्यय हो कर ‘धार्मिकी कन्या’ बनेगा ।

विशेष वक्तव्य—यहां ‘चरति’ से आसेवन अर्थात् बार बार करना या स्वभावतः करना अर्थ अभिप्रेत है । दुष्ट पुरुष यदि धर्म का कदाचित् सेवन कर ले तो वह धार्मिक नहीं कहायेगा । अत एव काशिकाकार ने कहा है—चरतिरासेवायां नाऽनुष्ठानमात्रे । सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका भी यहां द्रष्टव्य है ।

वाक्तिककार ‘अधर्मं’ प्रातिपदिक से भी ठक् का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(८८) अधर्माच्चेति वक्तव्यम् ॥

अधर्मं चरति— आधर्मिकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त ‘अधर्मं’ प्रातिपदिक से भी ‘चरति’ (आचरण करने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—यह वाक्तिक महाभाष्य में धर्मं चरति (४.४.४१) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये । ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति (प०)

१. कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् धार्मिकः । (हितोप०)

इस परिभाषा के अनुसार धर्मशब्द से विहित ठक् अधर्मशब्द से प्राप्त न था अतः इस वास्तिक का आरम्भ किया गया है। उदाहरण यथा—

अधर्मं चरति—आधर्मिकः (अधर्मं अर्थात् पाप का आचरण करने वाला)। यहां 'अधर्मं अम्' से 'आचरण करने वाला' अर्थ में प्रकृत अधर्माच्चेति वक्तव्यम् (वा० ८८) वास्तिकद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा भसंज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'आधर्मिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^१

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२६) शिल्पम् ।४।४।५५॥

मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य—मार्दङ्गिकः ॥

अर्थः—प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'शिल्प है इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शिल्पम् ।१।१। तवस्य पण्यम् (४.४.५१) सूत्र से 'तद् अस्य' पदों का यहां अनुवर्तन होता है। तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तद्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। अस्य ।६।१। ठक् ।१।१। (प्राग्बहतेष्ठक् अधिकार से लब्ध)। प्रत्ययः, परश्च, ङ्पाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत् = प्रथमान्तात् प्रातिपदिकात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से (शिल्पम् अस्य इत्यर्थे) 'शिल्प है इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है।

किसी क्रिया में अभ्यासपूर्वक निपुणता या विशेषज्ञान प्राप्त कर लेना 'शिल्प' कहाता है।^२ जैसे कोई मृदङ्ग (तबला) बजाने में निपुणता प्राप्त कर ले तो 'मृदङ्ग बजाना' उस का शिल्प या हुनर होगा। उदाहरण यथा—

मृदङ्गवादनं^३ शिल्पमस्य इति मार्दङ्गिकः। मृदङ्गबजानेविषयक विशेष नैपुण्य रखने वाला व्यक्ति 'मार्दङ्गिक' कहायेगा (An expert in playing on Mridanga drum)। यहां 'मृदङ्ग सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'शिल्प है इस का' इस अर्थ में शिल्पम् (११२६) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक्, आदिवृद्धि, रपर (२६), ठ् को इक आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य

१. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि 'आधर्मिकः' प्रयोग नञ्त्त्पुरुषसमास से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वैयाकरणों ने 'न धर्मिकः—अधर्मिकः' सिद्ध होगा न कि 'आधर्मिकः'। आधर्मिकशब्द का प्रयोग यथा—

तद्वन्नहन्मि मनुजान् यदि वृत्तिहेतोरधर्मिकः किल ततोऽस्मि न ते शृणुष्याः।

(सोमसुतजातक ५०)

२. अभ्यासपूर्व क्रियासु कौशलं शिल्पम् इति कैयटः। क्रियाभ्यासपूर्वको ज्ञानविशेष इति पदमञ्जरी।

३. मृदङ्गो वाद्यतेऽनेनेति मृदङ्गवादनम् इति न्यासकृत्।

करने से 'मार्दङ्गिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१ स्त्रीत्व में **टिड्ढाणम्** (१२५१) से ङीप् प्रत्यय हो जायेगा—मार्दङ्गिकी कन्या । ध्यान रहे कि 'शिल्प' अर्थ तद्धितकृति के अन्तर्गत हो जाने से पृथक् शब्द से नहीं कहा जाता ।

इसीप्रकार —

- (१) वीणावादनं शिल्पमस्य—बैणिकः ।
- (२) पणववादनं शिल्पमस्य—पाणविकः ।^२
- (३) मुरजवादनं शिल्पमस्य—मौरजिकः ।^३
- (४) घण्टावादनं शिल्पमस्य—घाण्टिकः ।
- (५) मालागुम्फनं शिल्पमस्य —मालिकः ।
- (६) पिठरवादनं शिल्पमस्य—पैठरिकः ।^४

इसी ठगधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२७) प्रहरणम् ।४।४।५७।।

तदस्येत्येव । असिः प्रहरणमस्य—आसिकः । धानुष्कः ।।

अर्थः—प्रथमान्त समर्थं प्रातिपदिक से 'हृथियारं है इस का' इस अर्थ में तद्धित-संज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—प्रहरणम् ।१।१। तदस्य पण्यम् (४.४.५१) सूत्र से यहां 'तद् अस्य' पदों का अनुवर्तन होता है । तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तद्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । अस्य ।६।१। ठक् ।१।१। (प्राग्बहतेष्ठक् अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । प्रह्रियतेऽनेनेति प्रहरणम् । जिस से प्रहार किया जाता है उसे 'प्रहरण' कहते हैं । तलवार, धनुष, चक्र,

१. यहां विग्रह (लौकिक) तो 'मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य' इस प्रकार किया जाता है परन्तु तद्धित की उत्पत्ति 'मृदङ्गवादन' से न हो कर केवल 'मृदङ्ग' शब्द से ही होती है । भाषाओं की शैली ही कुछ इस प्रकार की हुआ करती है कि उन में अनेक स्थानों पर संक्षेप के कारण संक्षिप्तशब्दों का ही प्रचलन हो जाया करता है । संस्कृतभाषा में भी 'मार्दङ्गिकः' आदि शब्दों की प्रकृति मृदङ्गवादन के स्थान पर संक्षेपवश 'मृदङ्ग' शब्द ही प्रचलित हो चुका है । अतः यहां लक्षणाशक्ति से मृदङ्गशब्दद्वारा मृदङ्गवादन अर्थ का बोध हो कर तद्धितप्रत्यय की उत्पत्ति की जाती है । ध्यान रहे कि व्याकरणशास्त्र का उद्देश्य लोकप्रचलित शब्दों की तत्त्वर्थों में व्युत्पत्ति दर्शाना होता है न कि नये नये शब्दों का घड़ना । लक्षणाशक्ति का विवेचन साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में देखें ।

२. पणवः=छोटा ढोल, ढोलक ।

३. मुरजः=मृदङ्ग, तबला ।

४. पिठरः=बटलोई । पिठरः स्थाल्यां ना क्लीबं मुस्तामन्यान्वण्डयोः—इति मेदिनी ।

दण्ड आदि हृथियार 'प्रहरण' कहलाते हैं। अर्थ:—(तत्=प्रथमान्तात् प्रातिपदिकात्) प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से (प्रहरणम् अस्य इत्यर्थे) 'हृथियार है इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है। उदाहरण यथा—

असिः प्रहरणम् अस्येति आसिकः। जिस का हृथियार तलवार है उस पुरुष को 'आसिक' कहते हैं। यहां 'असि सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'हृथियार है इस का' इस अर्थ में प्रकृत प्रहरणम् (११२७) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंब्लुक, किति च (१००१) से आदिवृद्धि, ठत्येकः (१०२७) से ट् को इक आदेश एवं यस्येति च (२३६) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आसिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

धनुः प्रहरणमस्येति धानुष्कः। जिस का हृथियार धनुष् है उस पुरुष को 'धानुष्क' कहते हैं। यहां 'धनुष् सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'हृथियार है इस का' इस अर्थ में प्रकृत प्रहरणम् (११२७) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंब्लुक, आदिवृद्धि तथा इसुसुक्तान्तात्कः (१०५२) से ट् को 'क' आदेश हो कर—धानुष् + क। अब स्वाविष्-सर्बनामस्थाने (१६४) सूत्र से या लुप्तविभक्ति (सुं) के सहारे से 'धानुष्' की पदसंज्ञा हो जाती है और इधर धनुष् में सकार के स्थान पर आदेशप्रत्यययोः (१५०) से हुआ षकार ससञ्ज्ञो हँ: (१०५) की दृष्टि में असिद्ध है, वह इसे पदान्त सकार ही समझता है। तो इस प्रकार ससञ्ज्ञो हँ: (१०५) सूत्र से पदान्त सकार के स्थान पर हँ आदेश होकर रेफ को खरबसानयोर्विसर्जनीयः (६३) से विसर्ग आदेश करने से—धानुः + क। पुनः इष स्थिति में सोऽपबावौ (६८०) सूत्र से विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश प्राप्त होता है परन्तु उस का बाध कर इणः षः (६८१) से विसर्ग को षकार हो जाता है—धानुष्क। अब विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने पर पुलिङ्ग में 'धानुष्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीलिङ्ग में टिड्ढाणञ् (१२५१) से डीप् करने पर 'धानुष्की' बनेगा।

इसीप्रकार—

- (१) चक्रं प्रहरणम् अस्य—चाक्रिकः।
- (२) प्रासः प्रहरणम् अस्य—प्रासिकः।
- (३) पाशः प्रहरणम् अस्य—पाशिकः।
- (४) मुष्टिः प्रहरणम् अस्य—मौष्टिकः।
- (५) दण्डः प्रहरणम् अस्य—दाण्डिकः।
- (६) भुशुण्डी प्रहरणम् अस्य—भौशुण्डिकः।
- (७) शतघ्नी प्रहरणम् अस्य—शातघ्निकः।^१

शक्ति और यष्टि प्रातिपदिकों से 'प्रहरणमस्य' अर्थ में शक्तियष्टपोरीकम् (४.४.५६) सूत्र से ईकक् (ईक) प्रत्यय हो जाता है। तथाहि—

शक्तिः प्रहरणम् अस्य—शावतीकः।

१. प्रासः=भाला। भुशुण्डी=बन्दूक। शतघ्नी=तोप।

यष्टिः प्रहरणम् अस्य—याष्टीकः ।

दोनोँ स्थान पर ईकक् के परे रहते किति च (१००१) से आदिवृद्धि तथा यस्थेति च (२३६) से भसञ्जक इकार का लोप हो जाता है ।

ठक् के अधिकार में पुनः एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२८) शीलम् ।४।४।६१॥

अपूपभक्षणं शीलमस्य—आपूपिकः ॥

अर्थः—प्रथमान्त समर्थं प्रातिपदिक से 'शील है इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्जक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शीलम् ।१।१। तदस्य षण्यम् (४.४.५१) सूत्र से 'तद्, अस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है । तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तद्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । अस्य ।६।१। ठक् ।१।१। (प्राग्बहतेष्ठक् इस अधिकार के कारण लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, ङष्ठाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से (शीलम् अस्य इत्यर्थे) 'शील' है इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्जक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

अपूपभक्षणं शीलमस्य—आपूपिकः । मालपूप खाना जिस का स्वभाव है उस पुरुष को 'आपूपिक' कहते हैं । यहां 'अपूपसुँ' इस प्रथमान्त से 'स्वभाव है इस का' इस अर्थ में प्रकृत शीलम् (११२८) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठस्थेकः (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा अन्त में यस्थेति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आपूपिकः'^२ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) मोदकभक्षणं शीलमस्य—मौदिकिकः । (काशिका)
- (२) शष्कुलीभक्षणं शीलमस्य—शाष्कुलिकः । (काशिका)
- (३) ताम्बूलचर्वणं शीलमस्य—ताम्बूलिकः । (शाकटायन)
- (४) परुषवचनं शीलमस्य—पारुषिकः । (भाषावृत्ति)
- (५) कर्षणा शीलमस्य—कारुणिकः । (अमरकोष व्याख्या)
- (६) ओदनभक्षणं शीलमस्य—औदनिकः । (दयानन्द)
- (७) सक्तुभक्षणं शीलमस्य—साक्तुकः ।^३ (दयानन्द)
- (८) पयोभक्षणं शीलमस्य—पायसिकः । (चारुदेव)
- (९) आक्रोशः शीलमस्य—आक्रोशिकः । (चारुदेव)

१. शीलं प्राणिनां स्वभावः । फलनिरपेक्षा वृत्तिः । (शाकटायनामोवावृत्ती)

२. ध्यान रहे कि यहां तद्धितवृत्ति में अपूपशब्द अपूपभक्षण अर्थ में रूड है अतः ठक्-प्रत्यय अपूपशब्द से ही होता है ।

३. इसुसुक्तान्तात्कः (१०५२) इति ठकः 'क' इत्यादेशः ।

‘तदस्य शीलम्’ के अर्थ में छत्र आदि शब्दों से छत्रादिभ्यो णः (४.४.६२) सूत्रद्वारा ण (अ) प्रत्यय हो जाता है। यथा—छत्रम् (गुरोर्दोषाणामावरणम्) शीलमस्येति छत्रः। तपः शीलमस्येति तापसः। चुरा शीलमस्येति चौरः।

ठक् के अधिकार में पुनः एक अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२६) निकटे वसति ।४।४।७३॥

नैकटिको भिक्षुः ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त ‘निकट’ प्रातिपदिक से ‘रहने वाला’ अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—निकटे ।५।१। (सप्तम्यन्त निकटशब्द के अनुकरण ‘निकटे’ से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। वसति इति वस निवासे (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लैटि प्रथमपुरुषकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (प्राग्बहतेष्ठक् से अधिकृत है)। प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(निकटे = सप्तम्यन्ताद् निकटप्रातिपदिकात्) सप्तम्यन्त निकटप्रातिपदिक से (वसति इत्यर्थे) ‘रहने वाला, निवास करने वाला’ अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

निकटे वसति—नैकटिकः (निकट रहने वाला)। यहां ‘निकट ङि’ इस सप्तम्यन्त से ‘वसति—रहने वाला’ अर्थ में प्रकृतसूत्र निकटे वसति (११२६) से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंलुक्, किति च (१००१) से आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ट् को इक आदेश तथा अन्त में यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से ‘नैकटिकः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है। आट नैकटिकाश्रमान् (भट्टि० ४.१२), नैकटिकानाम् आश्रमान् आट = गतवान् इत्यर्थः।

काशिकाकार का कथन है कि निकट रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति या पदार्थ को नैकटिक नहीं कहना चाहिये किन्तु शास्त्रानुसार निकट रहने का जिस का विधान है उसे ही ‘नैकटिक’ कहा जायेगा। शास्त्र का आदेश है कि भिक्षु (संन्यासी) को ग्राम के निकट अर्थात् एक कोस छोड़ कर दूर रहना चाहिये (भिक्षा मांगने के लिये ही उसे ग्राम में प्रवेश करना चाहिये)। अतः इस प्रकार के भिक्षु को ही ‘नैकटिक’ कहा जायेगा।^१

शेखरकार नागेशभट्ट का कथन है कि ‘भिक्षु को ग्राम से एक कोस दूर रहना चाहिये’ इस शास्त्रमर्यादा का उल्लङ्घन कर जो ग्राम के निकट रहता है उस निन्दित भिक्षु को ही ‘नैकटिक’ कहते हैं।

१. काशिकाकार के इस आशय को नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में इस प्रकार पद्यबद्ध किया है—

ग्रामात्कोशे निवस्तव्यं भिक्षुषेति विधीयते ।

तावद्दुःनिकटवासेऽयं विधिर्नैकटिको यतिः ॥

शाकटायनव्याकरण की चिन्तामणिवृत्ति में लिखा है कि योगाभ्यास के लिये ग्राम के निकट रहने वाले आरण्य भिक्षु (वानप्रस्थ) को 'नैकटिक' कहते हैं।

भोजव्याकरण (सरस्वतीकृष्णभरण) में निकटशब्द के साथ साथ 'वृक्षमूल' और 'श्मशान' प्रातिपदिकों से भी 'वसति' अर्थ में ठक् का विधान किया गया है— वृक्षमूले वसतीति वार्क्षमूलिकः, श्मशाने वसतीति श्माशानिकः। शाकटायनव्याकरण में भी निकटादिषु वसति (शाकटायन० ३.२.७६) सूत्र कहा गया है। वृत्तिकार ने आदिग्रहण से वही भोज वाले उदाहरण दिये हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने व्याकरण में ऐसा ही मन्तव्य व्यक्त किया है।

अभ्यास [७]

- (१) विग्रहनिर्देशपूर्वक निम्नस्थ तद्धितान्तों की ससूत्र सिद्धि दर्शाएं—
१. धानुष्कः । २. आपूपिकः । ३. शाब्दिकः । ४. औडुपिकः । ५. आक्षिकः । ६. दाधिकम् । ७. सामाजिकः । ८. आसिकः । ९. हास्तिकः । १०. मारीचिकम् । ११. नैकटिकः । १२. मार्दङ्गिकः । १३. धार्मिकः । १४. दार्दुरिकः । १५. बादरिकः ।
- (२) निम्नस्थ विग्रहों से सिद्ध होने वाले तद्धितान्त रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. हलेन खनति । २. अस्त्रैर्जितम् । ३. शलाकाभिर्दीव्यति । ४. विद्यया संस्कृतः । ५. रथेन चरति (कन्या) । ६. बाहुभ्यां तरति । ७. लवणेन संसृष्टः । ८. शक्तिः प्रहरणमस्याः । ९. मुद्गेन संसृष्टम् । १०. पादाभ्यां चरति । ११. गोपुच्छेन तरति । १२. करुणा शीलमस्य । १३. वीणावादनं शिल्पमस्य । १४. नावा तरति । १५. कुटुम्बं रक्षति ।
- (३) ठगधिकार के अन्तर्गत किन्हीं दस अर्थों का ससूत्र सोदाहरण विवेचन करें।
- (४) दीव्यति, खनति आदि तिङन्त अर्थनिर्देशों में संख्या, काल, पुरुष और कारक इन में से किस का तद्धितवृत्ति में प्राधान्य माना जाता है? सोदाहरण विवेचन करें।
- (५) तरति सूत्र पर द्व्यच् प्रातिपदिकों के उदाहरण क्यों नहीं दिये जाते ?
- (६) व्याकरणप्रक्रिया में ठक् प्रत्यय की कौन सी दो अवस्थाएं हुआ करती हैं? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें।
- (७) ठक्, ठञ्, ठन्, ष्ठन् और ईकक् प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में कौन कौन से स्त्रीप्रत्यय होते हैं? सप्रमाण स्पष्ट करें।
- (८) टिप्पण लिखें—
- [क] मारीचिकम् का द्विविध विग्रह।

[ख] संस्कृत और संसृष्ट का पारस्परिक अन्तर ।

[ग] चरति सूत्र के प्रतिपाद्य दो अर्थ ।

[घ] 'देवदत्तेन जितम्' में तद्धितप्रत्यय की अनुत्पत्ति ।

[ङ] 'शब्दं करोति रासभः' में तद्धितप्रत्यय की अनुत्पत्ति ।

[च] 'नैकटिकः' के अर्थ में मतभेद ।

[छ] 'तरति' का संग्रह तेन दीव्यति० में न किया जाना ।

(६) 'मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य' इस विग्रह में तद्धितोत्पत्ति 'मृदङ्गवादन' से क्यों नहीं होती ?

(१०) तेन दीव्यति खनति जयति जितम् सूत्र में 'जयति' के होते हुए 'जितम्' का उल्लेख क्यों किया गया है ?

(११) निम्नस्थ सूत्रों तथा वचनों की व्याख्या करें—

१. तेन दीव्यति० । २. प्राग्वहतेष्ठक् । ३. शब्ददर्दुरं करोति । ४. सतो गुणाधानं संस्कारः । ५. संस्कृतमेकीभूतमभिन्नम् । ६. चरतिरासेवायां नानुष्ठानमात्रे । ७. अभ्यासपूर्वं क्रियासु कौशलं शिल्पम् । ८. शीघ्रं प्राणिनां स्वभावः, फलनिरपेक्षा वृत्तिः । ९. गुरोर्दोषाणामावरणं छत्रम्, तच्छीलमस्येति छात्रः ।

[लघु०] इति ठगधिकारः ॥

अर्थः—यहां ठक्प्रत्यय का अधिकार समाप्त होता है ।

व्याख्या—प्राग्वहतेष्ठक् (१११६) के कारण इस प्रकरण को 'प्राग्वहतीय' भी कहा जाता है । प्रक्रियाकौमुदी में इस प्रकरण को इसी नाम से लिखा गया है ।

(यहां पर ठगधिकार का विवेचन समाप्त होता है ।)

—:०:—

अथ यदधिकारः

अब यत् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(११३०) प्राघिताद्यत् ।४।४।७५॥

तस्मै हितम् (५.१.५) इत्यतः प्राग् यद् अधिक्रियते ॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में इस सूत्र से ले कर तस्मै हितम् (५.१.५) सूत्र से पूर्व तक यत् तद्धितप्रत्यय अधिकृत किया जा रहा है ।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम् । हितात् ।५।१। यत् ।१।१। तस्मै हितम् (५.१.५) इस आगे आने वाले सूत्र के 'हित' शब्द का यहां 'हितात्' से निर्देश किया गया है । अर्थः—(हितात् = तस्मै हितम् इत्यस्मात्) तस्मै हितम् सूत्र से (प्राक्) पहले

पहले (यत्) यत् प्रत्यय हो। अर्थात् यहां से लेकर तस्मै हितम् (५.१.५) सूत्र से पूर्व पूर्व यदि प्रत्यय का निर्देश न होगा तो वहां यत् प्रत्यय समझ लिया जायेगा।

यत् प्रत्यय में तकार अनुबन्ध का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है। तकार अनुबन्ध यतोऽनाद्यः (६.१.२०७) द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये तथा क्वचित् 'तिस्स्वरितम्' (६.१.१७६) से स्वरितस्वरार्थ जोड़ा गया है।

अब इसी यदधिकार में अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३१)

तद्वहति रथ-युग-प्रासङ्गम् ।४।४।७६॥

रथं वहति रथ्यः । युग्यः । प्रासङ्ग्यः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त रथ, युग और प्रासङ्ग प्रातिपदिकों से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् ।५।१। ('रथं वहति' आदि में प्रयुक्त द्वितीयान्त पदों का अनुकरण 'तद्' शब्द से किया गया है। इस से परे पञ्चमी का सूत्र लुक् समझना चाहिये)। वहति इति वहँ प्रापणे (भ्वा० उभय०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । रथ-युग-प्रासङ्गम् ।५।१। (रथ, युग और प्रासङ्ग शब्दों के समाहारद्वन्द्व से परे पञ्चमी का सूत्र लुक् हुआ है)। यत् ।१।१। (प्राग्घिताद्यत् से अधिकृत है)। प्रत्ययः, परश्च, ङ्घात्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त (रथ-युग-प्रासङ्गम् = रथयुगप्रासङ्गात्) रथ, युग और प्रासङ्ग प्रातिपदिकों से परे (वहति इत्यर्थे) 'वहन करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

रथं वहति—रथ्यः (रथ को वहन अर्थात् खींच कर आगे ले जाने वाला घोड़ा आदि)। यहां 'रथ अम्' इस द्वितीयान्त से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में प्राग्घिताद्यत् (११३०) के अधिकार में प्रकृत तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् (११३१) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो कर अनुबन्ध तकार का लोप, प्रातिपदिकसंज्ञा (११७) तथा सुंघो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुप् (अम्) का लुक् करने से—रथ + य। यत् प्रत्यय यकारादि है अतः इस के परे रहते यच्चि भम् (१६५) सूत्र से पूर्व की भसञ्ज्ञा हो जाती है। अब यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का चोप कर विभक्तिकार्य करने से 'रथ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। रथ्यो बोद्धा रथस्य यः—इत्यमरः।

युगं वहति—युग्यः। रथ आदि को खींचने के लिये बैल आदि पशु के गले में तिरछी लकड़ी के बने जिस ढांचे को डाला जाता है उसे 'युग' कहते हैं। हिन्दी में इसे 'जुआ' कहा जाता है। इस युग को खींचने वाले बैल, घोड़े आदि को तद्धितवृत्ति के द्वारा 'युग्य' कहा जाता है। यहां 'युग अम्' से 'वहति' (ढोने वाला) अर्थ में तद्वहति

१. धावन्त्यमी मृगजवाऽमयेव रथ्याः । (शाकुन्तल १.८)

रथयुगप्रासङ्गम् (११३१) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् एवं भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'युय्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

प्रासङ्गं वहति—प्रासङ्ग्यः । अशिक्षित बैल, घोड़े आदि पशु को सिधाने के लिये रथ के शिक्षित बैल, घोड़े आदि के युग (जुए) के साथ एक अन्य युग को सम्बद्ध कर उसे अशिक्षितपशु के गले में डाल देते हैं । इस प्रकार के दूसरे युग को 'प्रासङ्ग' कहते हैं ।^२ उस प्रासङ्ग को खींचने वाले अशिक्षित बैल, घोड़े आदि पशु को 'प्रासङ्ग्य' कहा जाता है । यहां 'प्रासङ्ग अम्' से 'वहति' के अर्थ में तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् (११३१) सूत्र से यत् प्रत्यय, सुँब्लुक् एवं भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'प्रासङ्ग्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी अर्थ में यत् प्रत्यय के साथ साथ ढक् प्रत्यय का भी विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३२) धुरो यड्ढकौ ॥४॥७७॥

हलि च (६१२) इति दीर्घे प्राप्ते—

अर्थः—द्वितीयान्त 'धुर्' प्रातिपदिक से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक यत् और ढक् प्रत्यय हों । हलि चेति—हलि च (६१२) सूत्र से उपधादीर्घ के प्राप्त होने पर (अग्रिमसूत्र से निषेध हो जाता है) ।

व्याख्या—धुरः ॥४॥१॥ यड्ढकौ ॥१॥२॥ तत् ॥४॥१॥ (तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् सूत्र से । द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । वहति इति क्रियापदम् (तद्वहति० सूत्र से) । प्रत्ययः, परबच्च, ङधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । यत् च ढक् च यड्ढकौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त (धुरः) धुर् प्रातिपदिक से (वहति इत्यर्थे) 'वहन करने वाला' अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक (यड्ढकौ) यत् और ढक् प्रत्यय हो जाते हैं ।

उदाहरण यथा—

धुरं वहति—धूर्यो धीरेयो वा । युग (जुए) का वह भाग जो पशु के कन्धे पर डाला जाता है 'धुर्' कहलाता है । उस धुर् को वहन करने वाले बैल, घोड़े आदि पशु को तद्धितवृत्ति से 'धूर्यं' या 'धीरेयं' कहा जाता है । यहां 'धुर् अम्' इस द्वितीयान्त से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में प्रकृत धुरो यड्ढकौ (११३२) सूत्र से यत् और ढक् तद्धितप्रत्यय पर्याय से हो जाते हैं । यत्-प्रत्यय के पक्ष में सुप् (अम्) का लुक् हीकर 'धुर् + य' इस स्थिति में हलि च (६१२) सूत्र से रेफ की उपधा उकार को दीर्घ प्राप्त होता है परन्तु यकारादि स्वादि प्रत्यय के परे रहते यच्चि भम् (१६५) से भसञ्जा हो जाने के कारण न भकुर्छुराम् (६७८, ११३३) से भसञ्जक की उपधा को

१. रामं पदातिभालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम् ।

हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरन्दरः ॥ (रघु० १२.८४)

२. कुछ लोगों का कथन है कि बछड़ों के दमन के लिये उन के कन्धे में डाला जाने वाला युगसदृश काष्ठ 'प्रासङ्ग' कहाता है । प्रासङ्गो ना युगान्तरम् इत्यमरः ।

दीर्घ का निषेध हो जाता है—धुर्यं । अब विभक्तिकार्य करने से 'धुर्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

ढक्प्रत्यय के पक्ष में सुंञ्जुक् हो कर किति च (१००१) से आदि-वृद्धि तथा आद्यनेयीनीयियः फट्सछ्छां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) सूत्र से ढप्रत्यय के आदि ढ् को एय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'धीरेयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^२ पूर्वहे धुर्ब-धीरेय-धुरीणाः सधुरन्धरा इत्यमरः ।^३

धुर् को वहन करने वाला पशु सदा रथ आदि के आगे ही रहता है । इसी सादृश्य के कारण धुर्यं आदि शब्दों के अगुआ, कृत्यभार को उठाने वाला, मुख्य, प्रधान, श्रेष्ठ आदि अर्थों में भी लाक्षणिक प्रयोग देखे जाते हैं । यथा—पण्डितधुर्यः, विद्वद्धीरेयः (पण्डितों या विद्वज्जनों में आगे रहने वाला, श्रेष्ठ) । कालिदास के प्रयोग यथा—तस्या भवानपरधुर्यंपदाबलम्बी (रघु० ५.६६), न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय (रघु० ७.७१) ।

अब ग्रन्थकार 'धुर्यः' में हलि च (६१२) द्वारा प्राप्त उपधादीर्घ का निषेध करने वाले पूर्ववर्तित सूत्र का पुनः स्मरण कराते हैं—

[लघु०] किंघ-सूत्रम्—(११३३) न भ-कुर्छुराम् । ८।२।७६॥

भस्य कुर्छुरोरुपधाया दीर्घो न स्यात् । धुर्यः । धीरेयः ॥

अर्थः—भसञ्जक की उपधा एवं कुर् और छुर् की उपधा के स्थान पर दीर्घ आदेश न हो ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । भ-कुर्-छुराम् । ६।३। उपधायाः । ६।१। दीर्घः । १।१। (बोरुपधाया दीर्घ इकः सूत्र से) । समासः—भं च कुर् च छुर् च भकुर्छुरः, तेषाम् = भकुर्छुराम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(भ-कुर्-छुराम्) भसञ्जक एवं कुर् और छुर् की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश (न) नहीं होता । उदाहरण यथा—

'धुर् + य' यहां यकारादि स्वादि प्रत्यय परे होने के कारण यच्चि भम् (१६५)

१. धुर्यशब्द के प्रयोग यथा—

नाविनीतैर्ब्रजेद् धुर्येन च क्षुद्रघाघिपीडितैः । (मनु० ४.६७)

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान् विश्रामयेति सः ।

तामवारोहयत् पत्नीं रथादवततार च ॥ (रघु० १.५४)

२. धीरेयशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

पिशाचमुसधीरेयं सच्छत्रकवचं रथम् ।

युधि कद्रववद्भीमं बभञ्ज षड्जशालिनम् ॥ (भट्टि० ५.१०३)

३. च्चः सर्वधुरात् (४.४.७८) सूत्र के योगविभाग के कारण धुर्शब्द से 'च' प्रत्यय भी हो जाता है । तब आद्यनेयीनीयियः० (१०१३) सूत्रद्वारा प्रत्यय के आदि रवकार को ईन् आदेश हो कर 'धुरीणः' प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है ।

सूत्र से 'धुर्' की भसञ्ज्ञा हो जाती है अतः हलि च (६१२) सूत्रद्वारा प्राप्त इस की उपधा के दीर्घ का प्रकृत न भ-कुर्हुराम् (११३३) सूत्र से निषेध हो कर 'धुर्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

कुर् और छुर् की उपधादीर्घ के निषेध के उदाहरण क्रमशः 'कुर्वन्ति' और 'छुर्यात्' हैं ।

यह सूत्र पीछे तिङन्तप्रकरण में (६७८) सूत्राङ्क पर व्याख्यात है । मन्दबुद्धियों को याद दिलाने के लिये इस का पुनरुल्लेख किया गया है ।

अब तार्यं आदि विशिष्ट अर्थों में कतिपय प्रातिपदिकों से यत् प्रत्यय का विधान दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३४) नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यस्तार्यं-तुल्य-प्राप्य-वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-संमितेषु

।४।४।६१।।

नावा तार्यं नाव्यम् । वयसा तुल्यो वयस्यः । धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् । विषेण वध्यो विष्यः । मूलेन आनाम्यं मूल्यम् । मूलेन समो मूल्यः । सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम् । तुलया सम्मितं तुल्यम् ॥

अर्थः—(१) नौ, (२) वयस्, (३) धर्म, (४) विष, (५) मूल, (६) मूल, (७) सीता और (८) तुला—इन आठ तृतीयान्त प्रातिपदिकों से क्रमशः (१) तार्यं, (२) तुल्य, (३) प्राप्य, (४) वध्य, (५) आनाम्य, (६) सम, (७) समित और (८) संमित—इन आठ अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यः^१ ।५।३। तार्यं-तुल्य-प्राप्य-वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-संमितेषु ।७।३। यत् ।१।१। (प्राग्घिताङ्गत् इस अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, ङष्ठाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । यहां समर्थविभक्ति नहीं दी गई, परन्तु तार्यं आदि अर्थों के साथ तृतीया ही षटित हो सकती है अतः उसे समर्थविभक्ति मान लिया जाता है । यह तृतीया क्वचित् करण में क्वचित् कर्ता में और क्वचित् हेतु या तुल्यार्थयोग में सम्भव होती है । अर्थः—(नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यस्तृतीयान्तेभ्यः) नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता और तुला इन आठ तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिकों से (तार्यं-तुल्य-प्राप्य

१. यहां 'नौ' आदि आठ शब्दों का इतरेतरद्वन्द्व समझना चाहिये । 'मूल' शब्द दो बार आया है तो भी एकशेष नहीं किया गया । कारण कि एकशेष करने से सात शब्द रह जाते, तब इन का आठ अर्थों के साथ यथासंख्य न हो सकता । अथवा—नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल इन पाञ्च शब्दों का तथा मूल, सीता और तुला इन तीन शब्दों का पृथक् पृथक् द्वन्द्वसमास कर पुनः दोनों का द्वन्द्व करना चाहिये । इस प्रकार एकशेष की प्रसक्ति ही न होगी ।

वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-संमितेषु (तार्यं, तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य, सम, समित और संमित इन आठ अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है ।

आठ प्रकृतियां और आठ ही अर्थ हैं अतः यथासंख्य-परिभाषा से क्रमशः अर्थ समझे जायेंगे । इन सब का कोष्ठक यथा—

शब्द	अर्थ	विग्रह	प्रत्यय	निष्पन्न रूप
(१) नौ (नौका)	तार्यं	नावा तार्यम्	यत्	नाव्यम्
(२) वयस् (आयु)	तुल्य	वयसा तुल्यः	"	वयस्यः
(३) धर्म	प्राप्य	धर्मेण प्राप्यम्	"	धर्म्यम्
(४) विष	वध्य	विषेण वध्यः	"	विष्यः
(५) मूल	आनाम्य	मूलेनानाम्यम्	"	मूल्यम्
(६) मूल	सम	मूलेन समः	"	मूल्यः
(७) सीता	समित	सीतया समितम्	"	सीत्यम्
(८) तुला (तराजू)	संमित	तुलया संमितम्	"	तुल्यम्

अब क्रमशः इन की व्याख्या और विस्तृत सिद्धि प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) नावा तार्यम्^१—नाव्यं जलम् । नौकाद्वारा पार किये जा सकने वाला नदी आदि का जल । इसी प्रकार 'नावा तार्या—नाव्या नदी' भी कहा जा सकता है । 'नौ टा' इस करणतृतीयान्त^२ प्रातिपदिक से प्रकृत नौबयोधर्म० (११३४) सूत्रद्वारा तार्यं (पार किये जा सकने वाला) अर्थ में यत् प्रत्यय, तकार अनुबन्ध का लोप, सुंलुक् तथा वान्तो यि प्रत्यये (२४) से औकार को आव् आदेश करने से—'नाव्य' बना । अब विशेष्य के अनुसार लिङ्ग और विभक्ति ला कर 'नाव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^३ नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतार्यम् इत्यमरः ।

(२) वयसा^४ तुल्यः—वयस्यः । आयु में समान मित्र को 'वयस्य' कहते हैं ।^५ यहां 'वयस् टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'तुल्य' (समान, बराबर) अर्थ में प्रकृत नौ-बयो-धर्म० (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप (टा) का लुक् कर विभक्ति लाने से 'वयस्यः' प्रयोग सिद्ध

१. तरीतुं शक्यं तार्यम् । शक्यार्थे ऋहलोर्ष्यत् (७८०) इति कृत्यो ष्यत्प्रत्ययः ।

२. स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तरि वा तृतीयेति नागेशः ।

३. नाव्यशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

नाव्यं पयः केचिदतारिषुर्भुञ्जः । (माघ० १२.७६)

मरुषुष्ठान्युदन्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः ।

विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्स्वाच्छकार सः ॥ (रघु० ४.३१)

४. तुल्याच्चैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् (२.३.७२) इति तुल्ययोगे तृतीया ।

५. 'वयस्य' शब्द मित्र के अर्थ में रूढ हो चुका है अतः आयु में समान शत्रु को 'वयस्य' नहीं कहा जाता । वयस्यः सबयाः सुहृद् इति हैमः ।

हो जाता है ।^१ यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि यच्चि भम् (१६५) द्वारा भसंज्ञा के हो जाने से सकार पदान्त नहीं रहता अतः ससञ्जुषो षः (१०५) से सकार को ह्रस्व नहीं होता ।

(३) धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् । धर्मद्वारा प्राप्त किये जाने वाले मुख, स्वर्ग आदि को 'धर्म्यं' कहते हैं ।^२ 'धर्म टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'प्राप्य' (प्राप्त किये जाने वाले) अर्थ में प्रकृत नौबयोधर्मं० (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंल्लुक् एवं यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'धर्म्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

(४) विषेण वध्यः^३—विष्यः । विषेण वधमर्हतीत्यर्थः । विषद्वारा वध करने योग्य शत्रु आदि को 'विष्य' कहा जाता है । 'विष टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'वध्य' (वध के योग्य) अर्थ में प्रकृत नौबयोधर्मविष० (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंल्लुक् तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'विष्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

(५) मूलेन आनाम्यम्—मूल्यम् । मूल (पूंजी) द्वारा आनाम्य=अभिभवनीय अर्थात् प्राप्त होने वाले लाभ को 'मूल्य' कहा जाता है । व्यापार में मूल धन लगा कर उस से जो लाभांश अर्जित किया जाता है उसे 'मूल्य कहते हैं ।^४ यहां 'मूल टा'

१. 'वयस्य' शब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

अथ भिया भस्तिस्तमत्स्यलाञ्छनः समं वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभिः ।

पुरोपकण्ठोपबनं किलेक्षिता विदेश यानम्य निदेशकारिणः ॥

(नैषध० १.५६)

२. अष्टाध्यायी में इसी अधिकार के अन्तर्गत धर्म-पञ्चर्ष-न्वात्यादनपेते (४.४.६२) सूत्रद्वारा भी धर्मशब्द से यत् होकर 'धर्म्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है (यथा—अथ चेल्वमिमं धर्म्यं संप्राप्तं न करिष्यसि—गीता २.३३) । वहां 'धर्मादनपेतं धर्म्यम्' इस प्रकार विग्रह होता है । वहां उस कार्य को धर्म्य कहा गया है जो धर्म से रहित न हो अर्थात् धर्मानुकूल कार्य । परन्तु 'धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम्' यहां धर्म द्वारा प्राप्त होने वाले सुखादि फल को 'धर्म्य' कहा गया है । यही दोनों में अन्तर है ।

३. वधमर्हतीति वध्यः । वध्वाविम्यो यत् (११४६) इति यत्प्रत्ययः ।

४. परन्तु लोक में जितने धन से माल बेचा जाता है उस सम्पूर्ण (Principal + Profit) धन को मूल्य कहा जाता है । भाषाविज्ञान के अनुसार अर्थविस्तार का यह सुन्दर उदाहरण है । केवल लाभांश में प्रयुक्त यह शब्द धीरे धीरे स्वदिवशात् अपने अर्थ को विस्तृत कर 'मूल + लाभ' में प्रयुक्त होने लगा ।

इस कर्तृतृतीयान्त से आनाम्य^१ (अभिभूत किये जाने वाले—दबाए जाने वाले—दूसरे शब्दों में अर्जित किये जाने वाले) अर्थ में प्रकृत नौबयोधर्मविषमूल० (११३४) सूत्र से यत् प्रत्यय होकर सुंब्लुक् एवं भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मूल्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

(६) मूलेन समः—मूल्यः । मूल अर्थात् अपने उपादानकारण तन्तु आदि के सदृश पट आदि पदार्थ 'मूल्य' कहाएंगे । 'मूल टा' इस तृतीयान्त से सम अर्थात् तुल्य अर्थ में प्रकृत नौबयोधर्मविषमूलमूल० (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, सुंब्लुक् और यस्येतिचलोप से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'तुल्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इस शब्द का ठीक ठीक तात्पर्य तथा संस्कृतवाङ्मय में इस के प्रयोग दोनों ही अन्वेष्य हैं ।^२

(७) सीतया समितम्—सीत्यं क्षेत्रम् । हलाग्र से जोत कर एक समान किया गया खेत । यहां 'सीता टा' से समित (समान किया हुआ) अर्थ में नौबयोधर्मविषमूल-मूलसीता० (११३४) इस प्रकृतसूत्र से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंब्लुक् तथा भसञ्जक आकार का यस्येतिचलोप कर विभक्ति लाने से 'सीत्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^३

१. आङ्पूर्वक नम् धातु से इसी सूत्र के निपातनद्वारा ण्यत् प्रत्यय हो जाता है, वरन् पोरकुपधात् (७७५) से यत् ही प्राप्त था । आनाम्यम् का अर्थ है—अभिभवनीयम्—अभिभूत किये जाने योग्य—दबाये जाने योग्य । मूलद्वारा हमेशा लाभ दबाया जाता है । दबाने का अर्थ है—उसे अपना अङ्ग बनाना । पूंजीद्वारा अर्जित लाभ सदा पूंजी का ही अङ्ग बन जाता है । अत एव लोक में कहा भी जाता है कि इस मूल पर इतना लाभ हुआ । मूल अङ्गी और लाभ उस का अङ्ग समझा जाता है । बस पूंजीद्वारा लाभ का यही दबाया जाना है । काशिका में कहा भी है—मूल्यं हि सगुणं मूलं करोति, अर्थात् लाभ पूंजी का अङ्ग बन कर उसे गुणान्वित (वर्धित) कर देता है । इसी भाव को प्रक्रियासर्वस्वकार ने इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

अंशभूतं किलानाम्यमिति वृत्तावदोरितम् ।

मूलद्रव्याङ्गभूतस्वास्वाभस्थात्रास्ति मूल्यता ॥

२. काशिकाकार ने इस का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'उपादानेन समानफल इत्यर्थः' ऐसा लिखा है । उत्तरवर्ती व्याख्याता भी प्रायः इन शब्दों को दोहराते चले गये । खोल कर किसी ने यहां का अभिप्राय व्यक्त नहीं किया ।

३. पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र ने 'सीता' का अर्थ 'हलाग्रम्' किया है । भट्टोजिदीक्षित ने भी अपने शब्दकौस्तुभ में इसी वा अनुसरण किया है । अमरकोषकार ने सीता लाङ्गलपद्धतिः कहा है । इस में हलद्वारा भूमि पर खींची गई रेखा को 'सीता' कहा गया है । रभसकोष में भी सीता लाङ्गलरेखा स्यात् कह कर यही अभिप्राय व्यक्त किया गया है । परन्तु नागेशभट्ट का कथन है कि हलद्वारा भूमि के कृष्ट हो जाने पर उसके ऊपर भूमि के समीकरणार्थ जो लकड़ी चलाई जाती है उसे सीता कहते हैं—सीता कृष्टक्षेत्रसमीकरणार्थः काष्ठविशेषो 'मई' इति मध्यदेशप्रसिद्धः (शेखरे) । चाहे कुछ हो हल की जोत में आया क्षेत्र 'सीत्यम्' कहलाता है—सीत्यं कृष्टं च हल्यवद् इत्यमरः ।

(८) तुलया सम्मितम्—तुल्यम्। तुला (तराजू) द्वारा परिच्छिन्न—तोला गया।^१ यहां 'तुला टा' इस तृतीयान्त से सम्मित (तोला गया) अर्थ में नौबयोधर्मविषमूलमूल-सीतात्तुलाम्यस्तायं० (११३४) इस प्रकृतसूत्र से यत् प्रत्यय, तकार अनुबन्ध का लोप, सुंप् (टा) का लुक् तथा भसञ्जक आकार का यस्येति च (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'तुल्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^२

अब सप्तम्यन्त से साधु (प्रवीण वा योग्य) अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३५) तत्र साधुः । ४। ४। ६८।।

अग्रे साधुः—अग्रघः । सामसु साधुः—सामन्यः । ये चाऽभावकर्मणोः (१०२३) इति प्रकृतिभावः । कर्मण्यः । शरण्यः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'साधु' (प्रवीण वा योग्य) अर्थ में तद्धितसञ्जक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम् (सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से परे पञ्चमी का सूत्र लुक् समझना चाहिये) । साधुः । १। १। यत् । १। १। (प्राग्घितात् से अधिकृत है) । प्रत्ययः, परश्च, ङधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात् प्रातिपदिकात्) सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से (साधुरित्यर्थे) 'प्रवीण या योग्य' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्जक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है ।

यहां 'साधुः' का अर्थ 'निपुण = प्रवीण = योग्य' लिया जाता है । साधु का एक अर्थ हितकारी भी होता है परन्तु उस में परत्वात् तस्मै हितम् (११३६) सूत्र की प्रवृत्ति होती है ।

सूत्र के उदाहरण यथा—

अग्रे साधुः—अग्रघः (आगे रहने में प्रवीण या योग्य) । यहां 'अग्र ङि' इस सप्तम्यन्त से साधु (प्रवीण या योग्य) अर्थ में प्रकृत तत्र साधुः (११३५) सूत्र से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंब्लुक् तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप हो विभक्तिकार्य करने से 'अग्रघः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

१. यहां तुला में आग्रह नहीं करना चाहिये । तुल्यशब्द सदृश के अर्थ में रूढ हो चुका है । यहां उस की केवल व्युत्पत्तिमात्र प्रदर्शित की जा रही है ।

२. काशिकाकार ने 'सम्मितम्' का अर्थ 'परिच्छिन्नम्' नहीं किया । वे 'सम्मितम्' का 'सदृशम्' अर्थ ही करते हैं । उन के मन्तव्यानुसार तराजू के समान कार्य करने वाली वस्तु 'तुल्य' कहलाती है । जैसे तराजू परिमेय को परिच्छिन्न करती है वैसे तुल्यवस्तु भी अपने प्रतियोगी को परिच्छिन्न करती है । शब्दकौस्तुभ में दीक्षित ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं । परन्तु तत्त्वबोधिनीकार ने काशिकोक्त अभिप्राय से भिन्न उपर्युक्त अभिप्राय व्यक्त किया है । नागेशभट्ट ने भी इसी का अनुसरण किया है ।

सामसु साधुः—सामन्यः (साम अर्थात् सामगान में प्रवीण वा योग्य) । यहां 'सामन् सुप्' इस सप्तम्यन्त से साधु (योग्य या प्रवीण) अर्थ में प्रकृत तत्र साधुः (११३५) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप एत्रं सुप् (सुप्) का लुक् करने पर 'सामन् + य' हुआ । अब यहां यच्चि भम् (१६५) से भसंज्ञा हो कर नस्तद्धिते (६१६) सूत्रद्वारा टि (अन्) का लोप प्राप्त होता है । परन्तु ये चाऽभावकर्मणोः (१०२३) सूत्र से प्रकृतिभाव के कारण उस का वारण हो जाता है । इस तरह 'सामन्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

कर्मसु साधुः—कर्मण्यः (कर्मों के करने में प्रवीण वा योग्य) । यहां 'कर्मन् सुप्' से पूर्ववत् साधु (योग्य वा प्रवीण) अर्थ में तत्र साधुः (११३५) से यत् प्रत्यय, सुंभ्लुक् तथा नस्तद्धिते (६१६) से प्राप्त टिलोप का ये चाऽभावकर्मणोः (१०२३) से वारण हो कर णत्व (१३८) और विभक्तिकार्य करने से 'कर्मण्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

शरणे (त्राणे) शरण्यः—शरण्यः (रक्षा करने में प्रवीण, योग्य या समर्थ) । यहां 'शरण डि' से साधु अर्थ में तत्र साधुः (११३५) सूत्र से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शरण्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

इसी प्रकार—

वेमनि साधुः—वेमन्यः (खड़ी के काम में प्रवीण) ।

अब तत्र साधुः के अर्थ में सभाशब्द से 'य' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३६) सभाया यः ।४।४।१०५।।

सभ्यः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त 'सभा' प्रातिपदिक से 'साधु' (निपुण-प्रवीण-योग्य) अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'य' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—सभायाः ।५।१। यः ।१।१। तत्र साधुः (४.४.६८) सूत्र का पीछे से अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (सभायाः) 'सभा' प्रातिपदिक से (साधुरित्यर्थे) 'प्रवीण वा योग्य' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यः) 'य' प्रत्यय हो जाता है ।

पूर्वसूत्र से यत् प्रत्यय प्राप्त था उस का अपवाद यह 'य' प्रत्यय विधान किया जा रहा है । यत् और य में स्वर का ही अन्तर पड़ता है । उदाहरण यथा—

सभायां साधुः—सभ्यः (सभा में निपुण वा योग्य) । यहां 'सभा डि' इस सप्तम्यन्त से साधु (प्रवीण वा योग्य) अर्थ में प्रकृत सभाया यः (११३६) सूत्रद्वारा 'य' प्रत्यय हो कर यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक आकार का लोप तथा अन्त में विभक्ति-

१. शरणं गृहरक्षित्रोर्बध्नरणयोरपि—इति मेदिनी ।

२. लवणत्रासितः स्तोमः शरण्यं त्वामुपस्थितः । (उत्तरराम० १.५०)

कार्य करने से 'सभ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

व्युत्पन्न जिज्ञामु विद्यार्थियों के बोधार्थ इस प्राग्वितीयप्रकरण के कुछ अन्य उपयोगी सूत्र यहाँ संक्षेप से प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

[१] शकटादण् (४.४.८०) ॥

अर्थ:—द्वितीयान्त शकट प्रातिपदिक से 'वहति' के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अणु प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

शकटं वहति—शाकटो वृषः (छकड़े को खींचने वाला बैल) ।

[२] वशं गतः (४.४.८६) ॥

अर्थ:—द्वितीयान्त 'वश' प्रातिपदिक से 'गतः' (गया हुआ) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

वशं गतो वश्यः (अधीन, वशवर्ती, आज्ञाकारी) । प्रयोग यथा—

पुष्यतीर्थे कृतं येन तपः स्वाप्यतिवृष्करम् ।

तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ (हितोप० १६)

[३] धर्मपण्यर्धन्यायादनपेते (४.४.९२) ॥

अर्थ:—धर्म, पथिन्, अर्थ और न्याय इन पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'अनपेत' (न हटा हुआ, अवियुक्त, अपृथग्भूत) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

धर्माद् अनपेतं धर्म्यम् आचरणम् ।

पथः (वैद्योपदेशाद्) अनपेतम् पथ्यं भोजनम् ।^२

अर्थादनपेतम् अर्थ्यं वचः (अर्थयुक्त वचन) ।

न्यायादनपेतो न्याय्यः पन्थाः ।^३

[४] प्रतिजनादिभ्यः खञ् (४.४.९६) ॥

अर्थ:—सप्तम्यन्त प्रतिजन आदि प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक खञ् प्रत्यय हो जाता है ।

उदाहरण यथा—जनं जनं प्रति प्रतिजनम् (वीप्सायामभ्ययीभावः) । प्रतिजने साधुः प्रातिजनीनः । सर्वो जनः सर्वजनः (कर्मधारयसमासः) । सर्वजने साधुः सार्वजनीनः । संयुगे (युद्धे) साधुः (कुशलः) सांयुगीनः । सांयुगीनो रणे साधुरित्यमरः । संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः (कुमार० २.५७) । प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश हो जाता है (१०१३) ।

१. सभ्यशब्द का प्रयोग यथा—

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्तलजेन्द्रियाः ।

अहंणामहंते चक्रुर्मुनयो नयच्छक्षुषे ॥ (रघु० १.५५)

२. नस्तद्धिते (९१६) से भसञ्ज्ञक टि (इन्) का लोप हो जाता है ।

३. न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पथं न धीराः । (नीतिशतक ७४)

[५] परिषदो ष्यः (४.४.१०१) ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त परिषद् (सभा) प्रातिपदिक से 'साधु' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ष्य (य) प्रत्यय हो जाता है ।

उदाहरण यथा—परिषदि साधुः पारिषद्यः (सभा में निपुण) । क्वचित् 'ण' प्रत्यय भी देखा जाता है । परिषदि साधु पारिषदम् । सर्वदेवपारिषदं हीवं शास्त्रम्— (महाभाष्य २.१.५८) ।

[६] कथादिभ्यष्ठक् (४.४.१०२) ॥

अर्थः—कथा आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो जाता है ।

उदाहरण यथा—कथासु साधुः (कुशलः) काथिकः (बातचीत करने में निपुण) । जनवादे साधुः—जानवादिकः । आयुर्वेदे साधुः (कुशलः)—आयुर्वेदिकः । वितण्डायां साधुः—वैतण्डिकः (वितण्डा^१ करने में निपुण) । ठकार को ठस्येकः (१०२७) से 'इक्' आदेश हो जाता है ।

[७] गुडादिभ्यष्ठम् (४.४.१०३) ॥

अर्थः—गुड आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ङ्क् प्रत्यय हो जाता है ।

उदाहरण यथा—गुडे साधुः—गौडिक इक्षुः (गुड़निर्माण में उपयुक्त गन्ना) । सक्तुषु साधवः साक्तुका^२ यवाः (सत्तुनिर्माण में उपयुक्त जौ) । संग्रामे साधुः सांग्रामिकः (युद्ध में निपुण) ।

[८] पथ्यतिथि-वसति-स्वपतेर्ढम् (४.४.१०४) ॥

अर्थः—पथिन्, अतिथि, वसति (निवास) और स्वपति—इन चार सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ढम् प्रत्यय हो जाता है । प्रत्यय के भिन्न के कारण आदिवृद्धि हो जाती है । प्रत्यय के आदि ढकार को आयनेयीनीयिः० (१०१३) से एय् आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

पथि साधु पाथेयम् (मार्ग में उपयुक्त खाद्य वस्तु) ।

अतिथिषु साधुः—आतिथेयः (अतिथिसेवा में निपुण) ।^३

१. पक्षशून्यो जल्पो वितण्डा । जब अपना पक्ष स्थापित किये बिना दूसरों के पक्ष का खण्डन या निषेध किया जाता है तो उसे 'वाद' न कह कर 'वितण्डा' कहा जाता है । वितण्डा करने में निपुण को 'वैतण्डिक' कहते हैं । कहा भी है—वैतण्डिकः प्रयतते निजपक्षसिद्धयै ताञ्चैव वेद परपक्षनिषेधलभ्याम् ।

२. इसुसुक्तान्तात् कः (१०५२) इति ठस्य कादेशः ।

३. प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः—(रघु० ५.२) ।

वासती (निवासे) साधु वासतेयं गृहम् (निवास में उपयुक्त घर आदि) ।^१
स्वपती साधु स्वापतेयम् (अपने मालिक के लिये उपकारक, धन) ।^२

[६] समानतीर्थं वासी (४.४.१०७) ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'समानतीर्थं' प्रातिपदिक से 'वासी = रहने वाला' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है ।

समानं च तत् तीर्थम्—समानतीर्थम्, कर्मधारयसमासः । समानतीर्थं वासी सतीर्थ्यः । तीर्थशब्द से यहां 'गुरु' अभिप्रेत है ।^३ समानतीर्थं अर्थात् एक ही गुरु के समीप रह कर अध्ययन करने वाले छात्र परस्पर 'सतीर्थ्यं' कहते हैं । यत् प्रत्यय की विवक्षा में तीर्थं ये (६.३.८६)^४ सूत्रद्वारा समानशब्द के स्थान पर 'स' आदेश हो जाता है ।

[१०] समानोदरे शयित ओ बोवास्तः (४.४.१०८) ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'समानोदर' प्रातिपदिक से 'शयितः' (स्थित) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है तथा समानोदरशब्द का ओकार भी उदात्त हो जाता है ।

उदाहरण यथा—समाने उदरे शयितः सोदर्यः । जो एक ही माता के पेट में रह चुका है अर्थात् सगा भाई । यकारादि प्रत्यय की विवक्षा में 'समान + उदर' में कर्मधारयसमास हो कर बिभाषोदरे (६.३.८७)^५ सूत्र से समानशब्द के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है । जहां सकार आदेश नहीं होता वहां प्रकृतसूत्र से 'समानोदर्यः' सिद्ध हो जाता है । स-आदेशपक्ष में 'सोदर' से अग्रिमसूत्रद्वारा 'य' तद्धितप्रत्यय का विधान करते हैं—

[११] सोदराद् यः (४.४.१०९) ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'सोदर' प्रातिपदिक से 'शयितः' (स्थित) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'य' प्रत्यय हो जाता है ।

उदाहरण यथा—समाने उदरे शयितः सोदर्यः (सगा भाई) । एकं प्रसूयते माता

१. वनेषु वासतेयेषु निवसन् पर्णसंस्तरे ।
शब्दोत्थायं मृगान्बिध्यन् नातिथेयो विचक्रमे ॥ (भट्टि० ४.८) ।
२. ब्रह्मं विल्लं स्वापतेयं रिक्थमृषभं धनं वसु—इत्यमरः ।
३. तरन्त्यनेनेति तीर्थम् । तरतेस्वक् (उणा० २.७) । तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्याय-मन्त्रिषु । योनौ जलावतारे चेति विश्वः । इह तूपाध्यायवाचिनः एव ब्रह्मं नाऽन्यस्य, सञ्ज्ञाधिकाराद् इति तत्त्वबोधिण्यां ज्ञानेन्द्रस्वामी ।
४. तीर्थं ये (६.३.८६) । अर्थः—यकारादि प्रत्यय की विवक्षा में 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश हो जाता है यदि तीर्थशब्द उत्तरपद में हो तो ।
५. बिभाषोदरे (६.३.८७) । अर्थः—यकारादि प्रत्यय की विवक्षा में उदरशब्द के परे रहते समानशब्द के स्थान पर 'स' आदेश विकल्प से हो जाता है ।

द्वितीयं वाक् प्रसूयते । वाग्जातमधिकं प्राहुः सोदर्यादपि बान्धवात् (पञ्चतन्त्र ४.६) ।'

अभ्यास [८]

(१) विग्रहप्रदर्शनपूर्वकं निम्नस्थ तद्वितान्तों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—

१. रथ्यः । २. अर्ध्यं (वचः) । ३. नाव्यम् । ४. सीत्यम् । ५. सभ्यः ।
६. सोदर्यः । ७. शरष्यः । ८. समानोदर्यः । ९. धीरेयः । १०. धर्म्यम् ।
११. अवग्रथः । १२. आतिथेयः । १३. धुर्यः । १४. माल्यानि (पुष्पाणि) ।
१५. पथ्यम् । १६. वैतण्डिकः । १७. सार्वजनीनः । १८. प्रासङ्ग्यः ।
१९. सतीर्ध्यः । २०. युग्यः ।

(२) प्रत्ययों और तद्विधायक सूत्रों का निर्देश करते हुए निम्नस्थ विग्रहों के तद्वितान्त रूप निर्दिष्ट करें—

१. वयसा तुल्यः । २. सामसु साधुः । ३. शकटं बहति । ४. स्वपती साधुः ।
५. वशं गतः । ६. संयुगे साधुः । ७. न्यायादनपेतम् । ८. पथि साधुः ।
९. वसती साधुः । १०. विषेण वध्यः । ११. मूलेन समः । १२. मूलेनानाम्यम् ।
१३. गुडे साधुः । १४. आयुर्वेदे साधुः । १५. कषासु साधुः ।

(३) निम्नस्थ प्रश्नों का सहेतुक उत्तर दीजिये—

- [क] तत्र साधुः में 'साधुः' से क्या अभिप्रेत है ?
- [ख] 'तीर्थम्' का 'गुह' अर्थ कहां और कैसे किया जाता है ?
- [ग] 'धुर्यः' में हलि च से उपधादीर्घ क्यों नहीं होता ?
- [घ] धर्मादनपेतं धर्म्यम्, धर्मात्प्राप्यं धर्म्यम्—दोनों में क्या अन्तर है ?
- [ङ] पारिषद्यम्, पारिषदम्—दोनों में कौन सा रूप शुद्ध है ?
- [च] 'धुरीणः' में किस सूत्रद्वारा कौन सा प्रत्यय किया जाता है ?

१. सगे भाई के अर्थ में प्रसिद्ध 'सोदर' शब्द इस से भिन्न है । वह 'सह + उदर' के बहुव्रीहिसमास से निष्पन्न होता है । सह (समानम्) उदरं (मातृशुदरम्) यस्य स सोदरः सहोदरो वा । यहां बहुव्रीहिसमास में बोधसर्जनस्य (६.३.८१) सूत्रद्वारा 'सह' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है । सोदरशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।

अपन्यानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥ (अनर्घराघव ४)

सहोदरशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः ।

न शारदावेशमपास्य दृष्टस्तेषां यद्वन्यत्र मया प्ररोहः ॥

(विक्रमाङ्कदेवचरित १.२१)

[छ] 'आनाम्यम्' से क्या अभिप्रेत है ?

[ज] भ्रातृवाचक सोदर और सहोदर शब्दों की निष्पत्ति कैसे होती है ?

[झ] 'सीत्यम्' का नागेशभट्टोक्त अर्थ क्या है ?

(४) तुलया सम्मितं तुल्यम्—यहां का काशिकोक्त तथा तत्त्वबोधिनीकारोक्त आशय स्पष्ट कीजिये ।

(५) 'वयसा तुल्यः शत्रुः' इस आशय के लिये क्या 'वयस्यः' का प्रयोग हो सकता है या नहीं ? सहेतु टिप्पण करें ।

(६) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—

१. तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् । २. धुरो यद्बकौ । ३. नौवयोधर्म० ।
४. सभाया यः । ५. धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते । ६. समानोदरे शयित ओ
चोदात्तः । ७. समानतीर्थे वासी । ८. पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्बन् । ९. तत्र
साधुः । १०. परिषदो ष्यः ॥

[लघु०] इति यतोऽवधिः ॥

अर्थः—यहां यत् प्रत्यय का अधिकार समाप्त होता है ।

व्याख्या—प्राग्घिताच्छत् (११३०) के कारण इस प्रकरण को 'प्राग्घतीय' भी पुकारा जाता है । प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में इसे इसी नाम से व्यवहृत किया गया है ।

(यहां यत् प्रत्यय का अधिकार समाप्त होता है ।)

—:०:—

अथ द्वयतोरधिकारः

अब छ और यत् प्रत्ययों का अधिकार प्रारम्भ हो रहा है । यह यहां विशेष ध्यातव्य है कि अष्टाध्यायीस्थ पञ्चमाध्याय के प्रत्यय अब प्रारम्भ किये जा रहे हैं ।

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(११३७) प्राक् क्रीताच्छः ।५।१।१॥

तेन क्रीतम् (११४४) इत्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते ॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में यहां से ले कर तेन क्रीतम् (५.१.३६) सूत्र से पूर्व पूर्व 'छ' प्रत्यय अधिकृत किया जा रहा है ।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम् । क्रीतात् ।५।१। (तेन क्रीतम् सूत्र के क्रीतशब्द का यहां निर्देश किया गया है) । छः ।१।१। प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(क्रीतात् प्राक्) यहां से ले कर अष्टाध्यायी में तेन क्रीतम् (५.१.३६) सूत्र से पूर्व (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय अधिकृत किया जाता है ।

तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी में इस सूत्र से ले कर आगे आने वाले तेन क्रीतम् (५.१.३६) सूत्र से पूर्व तक जहां जहां अर्थनिर्देश तो किया गया हो परन्तु प्रत्यय न बताया गया हो वहां वहां 'छ' प्रत्यय का अधिकार होगा। यथा आगे तस्मै हितम् (११३६) सूत्र पर प्रत्यय नहीं कहा गया, केवल अर्थ ही बताया गया है तो वहां 'छ' प्रत्यय होगा। वत्सेभ्यो हितो वत्सीयः। इस की सिद्धि और व्याख्या आगे उसी सूत्र पर देखें।

अब इसी अवधि तक प्रकृतिविशेष से यत् प्रत्यय के अधिकार का निरूपण करते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(११३८) उगवादिभ्यो यत्।५।१।२।।

प्राक् क्रीतादित्येव। उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात्। छस्यापवादः। शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु। गव्यम्।।

अर्थः—उवर्णान्त प्रातिपदिक से परे तथा गवादिगणपठित प्रातिपदिकों से परे प्राक्क्रीतीय अर्थों में यत् तद्धितप्रत्यय अधिकृत किया जाता है। यह पूर्वोक्त छप्रत्यय का अपवाद है।

व्याख्या—उगवादिभ्यः।५।३। यत्।१।१। 'प्राक् क्रीतात्' का पूर्वसूत्र से अनुवर्तन होता है। प्रत्ययः, परश्च, इयांप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—गोशब्द आदिर्येषान्ते गवादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। उश्च गवादयश्च उगवादयः, तेभ्यः=उगवादिभ्यः। इतरेतरद्वन्द्वः। 'उ' को 'प्रातिपदिक का विशेषण मान कर तदन्तर्विधि करने से 'उवर्णान्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—यहां से ले कर (प्राक् क्रीतात्) तेन क्रीतम् सूत्र से पहले के अर्थों में (उगवादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः) उवर्णान्त तथा गवादिगणपठित प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है।

पूर्वसूत्र से प्राक्क्रीतीय अर्थों में 'छ' प्रत्यय प्राप्त था। अब इस सूत्र से उवर्णान्त तथा गवादियों से यत् प्रत्यय ही होगा छप्रत्यय नहीं। हां ! शेषों से यदि कोई अपवाद न हो तो 'छ' ही होगा। यत् में तकार अनुबन्ध है जो स्वरार्थ जोड़ा गया है।

उवर्णान्त का उदाहरण यथा—

शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु (शङ्कु = कीली = खूटी के लिये हितकर = उपयोगी लकड़ी)। यहां 'शङ्कु डे' इस उवर्णान्त चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से तस्मै हितम् (११३६) के अर्थ में प्राक् क्रीताच्छः (११३७) द्वारा प्राप्त छप्रत्यय का बाध कर प्रकृत उगवादिभ्यो यत् (११३८) सूत्र से उवर्णान्तमूलक यत् प्रत्यय हो जाता है। यत् के तकार अनुबन्ध का लोप होकर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा सुंपो घस्तुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप (डे) का लुक् करने से 'शङ्कु + य' बना। पुनः यच्चि भम् (१६५) द्वारा भसञ्ज्ञक उकार को ओर्गुणः (१००५) सूत्र से गुण—ओकार तथा वान्तो चि प्रत्यये (२४) से ओकार को अच् आदेश करने पर—शङ्कव्य। अब विशेष्य (दारु) के अनुसार नपुंसक

मैमीव्याख्ये श्रौतयां लघुसिद्धान्तकौमुद्यां

(२३४) तथा अग्नि पूर्वः (१३५)

[छ] 'आनाम्यम्' से क्या अभिप्रेत

[ज] भ्रातृवाचक सोदर औ

[झ] 'सीत्यम्' का नाम

(४) तुलया सम्मितं आशय स्पष्ट

(५) 'वयसा सुक

(६)

घाना: (सन्तुओं के लिये उपयुक्त घानी) ।
 कण्डलु मृत (कमण्डलु के लिये उपयुक्त मिट्टी) ।
 कर्पास: (रूई के लिये उपयुक्त कपासझाड़) ।
 अय: (कुल्हाड़े के लिये उपयुक्त लोहा) ।
 चरुओं के लिये उपयुक्त चावल) ।
 (२) वरुणो हितो गवादिगण यथा—
 गवादिगणों का उदाहरण यथा—
 गोभ्यो हितं गव्यं शष्पम् (गौओं के लिये हितकर तृणघास आदि) । यहाँ 'गो' शब्द 'इत्' श्रुत्यात् गवादिगणो यत् (११३६) के अर्थ में अधिकृत छप्रत्यय का बाध कर उगवादिभ्यो यत् (११३८) से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंब्जुक तथा वान्तो वि प्रत्यये (२४) से ओकार को अब् आदेश कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।
 अब प्रत्यकार गवादिगण में पठित एक गणसूत्र को उद्धृत करते हैं—

[लघु०] गणसूत्रम्—नाभि नभं च ॥
 नभ्योऽक्षः । नभ्यम् अञ्जनम् ॥

अर्थः—यत् प्रत्यय करते समय नाभिशब्द नभआदेश को प्राप्त हो जाता है ।
 व्याख्या—यह गवादिगण में पढ़ा गया एक गणसूत्र है । नाभि ।१।१। नभम् ।२।१। च इत्यव्ययपदम् । यत्प्रत्यये क्रियमाणे नाभिशब्दो 'नभ' इत्यादेशं प्रपद्यत इत्यर्थः ।
 अर्थः—यत् प्रत्यय करने पर (नाभि) नाभिशब्द (नभं च) 'नभ' आदेश को भी प्राप्त होता है । यत् प्रत्यय गवादित्वात् उगवादिभ्यो यत् (११३८) सूत्र से होता है । उदाहरण यथा—

नाभये हितो नभ्योऽक्षः । रथचक्र की नाभि के लिये हितकर = उपयुक्त = हित
 अक्ष (रथ के पहियों का दण्ड) ।^३ 'नाभि डे' यहाँ तस्मै हितम् (११३६) के अर्थ में प्राक् क्रीताच्छः (११३७) से प्राप्त छप्रत्यय का बाध कर उगवादिभ्यो यत् (११३८)

१. कर्पासिस्तु बाधः स्यात् पिचव्य इति हैमे ।
२. अनवस्रावितान्तरूपमाक ओदनश्चरति याशिकाः । याज्ञिक लोग ऐसे भात को 'चरु' कहते हैं जिस से माण्ड न निकाला गया हो और जो भीतरी भाग से पकाया गया हो । कैयट उपाध्याय का कथन है—स्थालीवाची चरुशब्दः तात्स्थ्यादोत्ते भाक्त इति । अर्थात् 'चरु' का मुख्य अर्थ पाकपात्र है परन्तु उस में पकने वाले भात को भी 'चरु' कह दिया जाता है ।
३. रथचक्राङ्गं सच्छिद्रं—नाभिः । तदनुप्रविष्टः कार्ष्वविशेषोऽक्षः । स च तदनु- गुणत्वात् तस्मै हित इति तत्त्वबोधिन्यां ज्ञानेन्द्रस्वामी ।

प्रत्यय, नाभि नभं च इस गणसूत्र से नाभि के स्थान पर 'नभ' सवदिश, सुंब्लुक
रेति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने से — नभ् + य = नभ्य । अब
अनुसार पुलिङ्ग के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'नभ्यः' प्रयोग
जाता है ।

इसीप्रकार नाभये हितं नभ्यम् अञ्जनम् । तैलसिञ्चन को 'अञ्जन' कहते हैं ।
नाभि के लिये हितकर तैलसिञ्चन को यहां 'नभ्य' कहा गया है । तैल-लगाने से नाभि
और तद्द्वारा रथचक्र सरलता से घूमता है इसलिये इसे नाभि के लिये हितकर कहा
गया है ।^१

गवादिगण^२ के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) हविषे हितं हविष्यम् आज्यम् (हविः के लिये हितकर घृतादि) ।
- (२) मेघायै हितं मेघ्यं चूर्णम् (बुद्धि के लिये हितकर चूर्ण) ।
- (३) अध्वने हितम् अध्वन्यं^३ मोदकम् (मार्ग के लिये हितकर मोदक) ।
- (४) शुने हितं शून्यं शून्यं वा (कुत्ते के लिये हितकर—एकान्तस्थान) ।^४
- (५) स्रुचे हितं स्रुच्यं काष्ठम् (स्रुवा के लिये उपयुक्त लकड़ी) ।
- (६) ऊग्रसे हितम् ऊग्रन्यम् (चड्डे के लिये हितकर वस्तु) ।^५

अब इस प्रकरण के अर्थविधायक सुप्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

१. रथ आदि की नाभि का ही गवादिगण में पाठ समझना चाहिये । शरीरस्थ नाभि के हितकर में तो परत्व के कारण शरीरावयवाच्छत् (११४०) सूत्रद्वारा केवल यत् प्रत्यय ही होगा नभ आदेश नहीं । नाभये हितं नाभ्यं तैलम् (उदरस्थ नाभि के लिये हितकर तैल आदि) ।
२. गवादिगण यथा—
गो । हविस् । अक्षर । विष । बहिस् । अष्टका (इष्टका इति प्रक्रियासर्वस्वे) । स्वदा (स्वद इति काशिकायाम्) । युग । मेघा । स्रुच् (स्रज् इति काशिकायाम्) । नाभि नभं च (गणसूत्रम्) । शूनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वं तत्सन्नियोगेन चाभतोदात्तत्वम् (ग. सूत्रम्) । ऊग्रसो नङ् च (ग. सूत्रम्) । कूप । खद (खट इति काशिकायाम्) । दर (उदर इति काशिकायाम्) । खर । असुर । अध्वन् । क्षर । वेद । बीज । दीप्त (दसि) । स्कन्द ॥
३. ये चाऽभावकर्म्मणोः (१०२३) इति प्रकृतिभावेन नस्तद्धिते (९१९) इति टिलोपो बाध्यते ।
४. 'श्वन् + य' इति स्थितो शूनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम् इति गणसूत्रेण वकारस्य सम्प्रसारणे, पूर्वरूपे, वा च दीर्घे कृते शून्यं शून्यञ्चेति सिध्यतः । गणसूत्रस्थचकारेण प्रकृतिभावः समुच्चीयते । तेन दीर्घतदभावयोष्टिलोपो न ।
५. ऊग्रशब्दाद् यति ऊग्रसो नङ् चेतिगणसूत्रेण सकारस्य नङि अनुबन्धलोपे प्रकृतिभावे च विहिते रूपं सिध्यति ।

के प्रथमैकवचन में सुं प्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश (२३४) तथा अभि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'शङ्कव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

- (१) सक्तुभ्यो हिताः सक्तव्या घानाः (सक्तुओं के लिये उपयुक्त घानी) ।
- (२) कमण्डलवे हिता कमण्डलव्या मृत् (कमण्डलु के लिये उपयुक्त मिट्टी) ।
- (३) पिचवे हितः पिचव्यः कर्पासः (रूई के लिये उपयुक्त कपासझाड़) ।^१
- (४) परशवे हितं परशव्यमू अयः (कुल्हाड़े के लिये उपयुक्त लोहा) ।
- (५) चरुभ्यो हिताश्चरव्यास्तण्डुलाः (चरुओं के लिये उपयुक्त चावल) ।^२

गवादियों का उदाहरण यथा—

गोभ्यो हितं गव्यं शष्पम् (गौओं के लिये हितकर तृणघास आदि) । यहां 'गोभ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त गोशब्द से तस्मै हितम् (११३६) के अर्थ में अधिकृत छप्रत्यय का बाध कर उगवादिभ्यो यत् (११३८) से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक् तथा वान्तो यि प्रत्यये (२४) से ओकार को अद् आदेश कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब ग्रन्थकार गवादिगण में पठित एक गणसूत्र को उद्धृत करते हैं—

[लघु०] गणसूत्रम्—नाभि नभं च ॥

नभ्योऽक्षः । नभ्यम् अञ्जनम् ॥

अर्थः—यत् प्रत्यय करते समय नाभिशब्द नभआदेश को प्राप्त हो जाता है ।

व्याख्या—यह गवादिगण में पढ़ा गया एक गणसूत्र है । नाभि ।१।१। नभम् ।२।१। च इत्यव्ययपदम् । यत्प्रत्यये क्रियमाणे नाभिशब्दो 'नभं' इत्यादेशं प्रपद्यत इत्यर्थः । अर्थः—यत् प्रत्यय करने पर (नाभि) नाभिशब्द (नभं च) 'नभ' आदेश को भी प्राप्त होता है । यत् प्रत्यय गवादित्वात् उगवादिभ्यो यत् (११३८) सूत्र से होता है । उदाहरण यथा—

नाभये हितो नभ्योऽक्षः । रथचक्र की नाभि के लिये हितकर = उपयुक्त = ङित अक्ष (रथ के पहियों का दण्ड) ।^३ 'नाभि डे' यहां तस्मै हितम् (११३६) के अर्थ में प्राक् क्रीताच्छः (११३७) से प्राप्त छप्रत्यय का बाध कर उगवादिभ्यो यत् (११३८)

१. कर्पासस्तु बाबरः स्यात् पिचव्य इति हैमे ।

२. अनवस्त्रावितान्तरूष्मपाक ओदनश्चररिति याज्ञिकाः । याज्ञिक लोग ऐसे भात को 'चरु' कहते हैं जिस से माण्ड न निकाला गया हो और जो भीतरी भाप से पकाया गया हो । कैयट उपाध्याय का कथन है—स्थालीवाची चरुशब्दः तात्स्थ्यादोदने भाक्त इति । अर्थात् 'चरु' का मुख्य अर्थ पाकपात्र है परन्तु उस में पकने वाले भात को भी 'चरु' कह दिया जाता है ।

३. रथचक्राङ्गं सच्छिद्रं—नाभिः । तदनुप्रविष्टः काष्ठविशेषोऽक्षः । स च तदनुगुणत्वात् तस्मै हिद्य इति तत्त्वबोधिन्यां ज्ञानेन्द्रस्वामी ।

से यत् प्रत्यय, नाभि नभं च इस गणसूत्र से नाभि के स्थान पर 'नभ' सवदिश, सुँबुक् तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप करने से — नभ् + य = नभ्य । अब विशेष्य के अनुसार पुलिङ्ग के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'नभ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार नाभये हितं नभ्यम् अञ्जनम् । तैलसिञ्चन को 'अञ्जन' कहते हैं । नाभि के लिये हितकर तैलसिञ्चन को यहां 'नभ्य' कहा गया है । तैल-लगाने से नाभि और तद्द्वारा रथचक्र सरलता से घूमता है इसलिये इसे नाभि के लिये हितकर कहा गया है ।'

गवादिगण^२ के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) हविषे हितं हविष्यम् आज्यम् (हविः के लिये हितकर घृतादि) ।
- (२) मेघायै हितं मेघ्यं चूर्णम् (बुद्धि के लिये हितकर चूर्ण) ।
- (३) अध्वने हितम् अध्वन्यं^३ मोदकम् (मार्ग के लिये हितकर मोदक) ।
- (४) शुने हितं शून्यं शून्यं वा (कुत्ते के लिये हितकर—एकान्तस्थान) ।^४
- (५) स्रुचे हितं स्रुच्यं काष्ठम् (स्रुवा के लिये उपयुक्त लकड़ी) ।
- (६) ऊधसे हितम् ऊधन्यम् (चड्डे के लिये हितकर वस्तु) ।^५

अब इस प्रकरण के अर्थविधायक सुप्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

१. रथ आदि की नाभि का ही गवादिगण में पाठ समझना चाहिये । शरीरस्थ नाभि के हितकर में तो परत्व के कारण शरीरावयवात् (११४०) सूत्रद्वारा केवल यत् प्रत्यय ही होगा नभ आदेश नहीं । नाभये हितं नाभ्यं तैलम् (उदरस्थ नाभि के लिये हितकर तैल आदि) ।
२. गवादिगण यथा—
गो । हविस् । अक्षर । विष । बहिस् । अष्टका (इष्टका इति प्रक्रियासंबन्धे) । स्वदा (स्वद इति काशिकायाम्) । युग । मेघा । स्रुच् (स्रज् इति काशिकायाम्) । नाभि नभं च (गणसूत्रम्) । शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वं तत्सन्नियोगेन चाभ्तोदात्तत्वम् (ग. सूत्रम्) । ऊधसो नङ् च (ग. सूत्रम्) । कूप । खद (खट इति काशिकायाम्) । दर (उदर इति काशिकायाम्) । खर । असुर । अध्वन् । क्षर । वेद । बीज । दीप्त (दसि) । स्कन्द ॥
३. ये चाऽभावकर्मणोः (१०२३) इति प्रकृतिभावेन नस्तद्धिते (६१६) इति टिलोपो बाध्यते ।
४. 'श्वन् + य' इति स्थितो शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम् इति गणसूत्रेण वकारस्य सम्प्रसारणे, पूर्वरूपे, वा च दीर्घे कृते शून्यं शून्यञ्चेति सिध्यतः । गणसूत्रस्थचकारेण प्रकृतिभावः समुच्चीयते । तेन दीर्घतदभावयोष्टिलोपो न ।
५. ऊधसश्चाब्दाद् यति ऊधसो नङ् चेतिगणसूत्रेण सकारस्य नङि अनुबन्धलोपे प्रकृतिभावे च विहिते रूपं सिध्यति ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३६) तस्मै हितम् ।५।१।५।।

वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक् ॥

अर्थः—चतुर्थ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से 'हित = हितकर' अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'छ' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तस्मै ।५।१। (चतुर्थ्यन्त के अनुकरण 'तस्मै' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । हितम् ।१।१। छः ।१।१। (प्राक् क्रीताच्छः से अधिकृत है) । प्रत्ययः, पररथ, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तस्मै = चतुर्थ्यन्तात् प्रातिपदिकात्) चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से (हितमित्यर्थे)^१ 'हित करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—
वत्सेभ्यो हितः—वत्सीयः (गोधुक्) ।^२ (बछड़ों के लिये हितकारी ग्वाला) ।
यहां 'वत्सेभ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से 'हितकर' अर्थ में प्रकृत तस्मै हितम् (११३६) सूत्र से छ प्रत्यय, तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा, सुंपो धातु-प्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंब्लुक्, आयनेवीनीयियः० (१०१३) से प्रत्यय के आदि छकार को ईय् आदेश तथा यस्वेति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वत्सीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि उकारान्तों और गवादियों से तो यत् ही होगा जैसाकि उगवादिभ्यो यत् (११३८) सूत्र पर बताया जा चुका है । वहां के उदाहरण भी इस सूत्र के उदाहरण समझने चाहियें—शङ्कव्यम्, गव्यम् आदि ।

प्रकृतसूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) करभेभ्यो हितः करभीय उष्ट्रः ।

(२) मात्रे हितो मात्रीयः पुत्रः ।

(३) पित्रे हितः पित्रीयः पुत्रः ।

१. हि गतिवृद्धयोः (स्वा० परस्मै०) या इधाञ् धारणपोषणयोः (जुहो० उभय०) धातु से कर्ता या कर्म में क्तप्रत्यय करने पर 'हित' शब्द सिद्ध होता है । हितशब्द का मूल अर्थ— गया हुआ, बढ़ा हुआ, गतिशील, वृद्धिशील, धारण किया गया, रखा गया, पुष्ट किया गया इत्यादि समझने चाहियें । परन्तु यह शब्द अब अर्थविस्तार को प्राप्त कर अन्यविध अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है । यथा— पथ्य, सुखकारक, किसी के प्रति अच्छा, हितकर, लाभप्रद, उपयुक्त (Fit), अनुकूल, भला इत्यादि इस के अर्थ हैं । यथास्थान और यथावसर इन में से कोई हितशब्द का अर्थ ग्रहण करना चाहिये । सूत्रकार ने हितशब्द का इन्हीं अर्थों में प्रयोग किया है ।
२. गां दोग्धीति गोधुक् । गोकर्मण्युपपदे क्विप् च (८०२) इति कर्तरि क्विप् । इस की सुंबन्तप्रक्रिया 'दुह्' शब्द के समान समझनी चाहिये । बछड़ों को तुप्त करा कर बाद में बोहन करने वाला अथवा बछड़ों के लिये पर्याप्त दूध छोड़ने वाला ग्वाला बछड़ों के लिये हितकर होता है ।

स्त्रियं हितं स्त्रैणम्, पुंसे हितं पौंसम् । इन में स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्त्रिभौ भवनात् (१००३) सूत्रद्वारा क्रमशः नञ् और स्त्रिन् प्रत्यय होते हैं ।

वृष्णे हितम्, ब्राह्मणाय हितम् इत्यादियों में वाक्य ही अभीष्ट है तद्धितवृत्ति नहीं, अतः छप्रत्यय नहीं होता ।^१

अब शरीरावयववाचकों से यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४०) शरीरावयवाद् यत् ।५।१।६॥^२

दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् ॥

अर्थः—शरीर के अवयव के वाचक चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से 'हित' (हितकर) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शरीरावयवात् ।५।१। यत् ।१।१। तस्मै हितम् सूत्र का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—शरीरस्य अवयवः शरीरावयवः, तस्मात् = शरीरावयवात् । षष्ठीतत्पुरुष-समासः । शब्दानुशासनस्य अधिकृतत्वात् तद्वाचकादिति गम्यते । अर्थः—(तस्मै = चतुर्थ्यन्तात्) चतुर्थ्यन्त (शरीरावयवात्) शरीरावयववाची प्रातिपदिक से (हितम् इत्यर्थे) हितकर अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है । दन्त, कण्ठ, नासिका, ओष्ठ, चक्षुस् आदि शरीरावयववाची प्रातिपदिक हैं । यह सूत्र छप्रत्यय का अपवाद है । उदाहरण यथा—

दन्तेभ्यो हितं दन्त्यम् (दान्तों के लिये हितकारी मञ्जन आदि) । दन्तशब्द शरीरावयववाचक है अतः 'दन्त भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से 'हित = हितकर' अर्थ में प्रकृत शरीरावयवाच्चत् (११४०) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, सुँलुक् तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'दन्त्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी तरह—कण्ठाय हितं कण्ठ्यम् (कण्ठ के लिये हितकर) ।

नासिकार्यं हितं नस्यम् (नासिका के लिये हितकर) । यहां 'नासिका डे' इस चतुर्थ्यन्त से प्रकृत शरीरावयवाच्चत् (११४०) सूत्रद्वारा 'हित = हितकर' अर्थ में यत् प्रत्यय हो कर सुँप् (डे) का लुक् करने से 'नासिका + य' हुआ । अब नस् नासिकाया यत्-तस्-क्षुब्रेण (वा०^३) इस वार्तिक से नासिका के स्थान पर नस् सर्वादेश कर विभक्ति-

१. वृषन्-ब्राह्मण-राजाऽऽचार्येभ्यो हितप्रत्ययो नेष्टः (प्रक्रियासर्वस्वे) ।

२. पीछे शैषिकप्रकरण में शरीरावयवाच्च (१०६४) सूत्रद्वारा तत्र भवः (१०६२) के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान दर्शाया जा चुका है परन्तु यहां शरीरावयवाच्चत् (११४०) सूत्र से तस्मै हितम् (११३६) के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । दोनों सूत्रों तथा उन के अर्थों के अन्तर को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है । इन में विद्यार्थी प्रायः भ्रान्त हो जाते हैं ।

३. यह वार्तिक पद्मन्मोक्षा० (६.१.६१) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है । 'यत्, तस् और क्षुद्र—इन के परे रहते नासिकाशब्द के स्थान पर 'नस्' आदेश हो जाता है' यह इस का अर्थ है ।

कार्य करने से 'नस्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि यहाँ यच्चि भम् (१६५) से भसञ्ज्ञा हो जाने के कारण सकार को ससञ्चो षः (१०५) से ढँव नहीं होता।

सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) ओष्ठाभ्यां हितम् ओष्ठधम् (होठों के लिये हितकर)।
- (२) चक्षुष्यां हितं चक्षुष्यम् (आंखों के लिये हितकर)।
- (३) नाभये हितं नाभ्यम् (नाभि के लिये हितकर)।^१
- (४) मूर्ध्ने हितं मूर्धन्यम् (मस्तक के लिये हितकर)।^२

अब आत्मन् आदि प्रातिपदिकों से 'हित = हितकर' अर्थ में 'ख' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४१)

आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् खः ।५।१।१६॥

अर्थः—आत्मन्, विश्वजन तथा भोगोत्तरपद (भोगशब्द जिस में उत्तरपद है यथा—मातृभोग आदि)—इन चतुर्थ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'हित' (हितकर) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'ख' प्रत्यय हो।

व्याख्या—आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् ।५।१। खः ।१।१। तस्मै हितम् (५.१.५) सूत्र का अनुवर्तन हो रहा है। प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—भोगः (भोगशब्दः) उत्तरपदं यस्य स भोगोत्तरपदः, बहुव्रीहिसमासः। आत्मा च विश्वजनश्च भोगोत्तरपदश्चैषां समाहारः—आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदम्, तस्मात् = आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्, समाहारद्वन्द्वः।^३ अर्थः—(तस्मै = चतुर्थ्यन्तात्) चतुर्थ्यन्त (आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्) आत्मन्, विश्वजन और भोगोत्तरपद प्रातिपदिक से (हितम् इत्यर्थे) 'हित = हितकर' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (खः) 'ख' प्रत्यय हो जाता है।

यह सूत्र औत्सर्गिक 'छ' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

आत्मने हितम् आत्मनीनम् (अपने लिये हितकर)। यहाँ 'आत्मन्' 'ङे' इस चतुर्थ्यन्त से 'हित = हितकर' अर्थ में प्रकृत आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् खः (११४१) सूत्र से 'ख' प्रत्यय हो जाता है। अब सुंप् (ङे) का लुक् हो कर आयनेयीनीयिष्ः० (१०१३) सूत्र से प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश करने पर—आत्मन् + ईन्

१. यहाँ का वक्तव्य पीछे (२१७) पृष्ठ पर लिख चुके हैं।

२. ये चाऽभावकर्मणोः (१०२३) इति प्रकृतिभावेन नस्तद्धिते (६१६) इति टिलोपो न।

३. इस समाहारद्वन्द्व में स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये आत्मन् के नकार का लोप नहीं किया गया। अत एव काशिकाकार ने कहा है—

आत्मन् इति नलोपो न कृतः प्रकृतिपरिमाणज्ञापनार्थम्। तेनोत्तरपदग्रहणं भोग-शब्देनैव सम्बध्यते न तु प्रत्येकम्।

अ=आत्मन्+ईन । पुनः इस स्थिति में यच्च भम् (१६५) से भसञ्ज्ञा के कारण नस्तद्धिते (६१६) सूत्रद्वारा टि (अन्) का लोप प्राप्त होता है जो अनिष्ट है । इस पर उस के वारणार्थ अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४२) आत्माऽध्वानौ खे ।६।४।१६६॥

एतौ खे प्रकृत्या स्तः । आत्मने हितम् आत्मनीनम् । विश्वजनीनम् । मातृभोगीणः ॥

अर्थः—‘ख’ प्रत्यय के परे रहते आत्मन् और अध्वन् शब्द प्रकृतिभाव से रहते हैं ।

व्याख्या—आत्माऽध्वानौ ।१।२। खे ।७।१। प्रकृत्या ।३।१। (प्रकृत्यैकाच् सूत्र से) । समासः—आत्मा च अध्वा च आत्माध्वानौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(आत्माऽध्वानौ) आत्मन् और अध्वन् शब्द (प्रकृत्या) प्रकृति से रहते हैं (खे) ‘ख’ प्रत्यय परे हो तो ।

यदि टि (अन्) का लोप हो जाये तो आत्मन् और अध्वन् शब्दों की प्रकृति अर्थात् स्वरूप में विकृति आ जायेगी अतः प्रकृति से रहने का यही तात्पर्य है कि इन के अन् का लोप न हो ।

‘आत्मन्+ईन’ यहां ख (ईन) प्रत्यय के परे रहने से आत्माऽध्वानौ खे (११४२) इस प्रकृतसूत्र से आत्मन् की टि के लोप का निषेध हो कर विभक्ति लाने से ‘आत्मनीनम्’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

‘ख’ परे रहते अध्वन् का उदाहरण है—अध्वानम् अलङ्गामी अध्वनीनः’ (यात्रा करने वाला) । इसे सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में देखना चाहिये ।

पूर्वसूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

विश्वे जनाः—विश्वजनाः, कर्मधारयसमासः । विश्वजनेभ्यो हितम्—विश्वजनीनम् (सब लोगों के लिये हितकर वस्तु) । यहां ‘विश्वजन भ्यस्’ इस चतुर्थ्यन्त से ‘हित = हितकर’ अर्थ में आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपवात्कः (११४१) सूत्रद्वारा खप्रत्यय हो जाता है । अब सुप् (भ्यस्) का लुक्, आयनेयीनीयिः० (१०१३) से प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश तथा भस्येति ख (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति-कार्य करने से ‘विश्वजनीनम्’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

१. अध्वनो यत्सौ (५.२.१६) इति खप्रत्ययः ।

२. कर्मधारयान्वेष्यते (काशिका) । अर्थात् विश्वजनशब्द यदि कर्मधारयसमास से उपपन्न हुआ हो तभी उस से खप्रत्यय करना अभीष्ट है अन्यथा (षष्ठीतत्पुरुष या बहुव्रीहि होने पर) औत्सर्गिक ‘छ’ प्रत्यय ही किया जायेगा । यथा—विश्वस्य जनो विश्वजनो वैद्यादिः, तस्मै हितं विश्वजनीयम् । यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास के कारण ‘छ’ प्रत्यय ही होता है । इसीप्रकार विश्वो जनो यस्य स विश्वजनः, तस्मै हितम्—विश्वजनीयम् । यहां बहुव्रीहिसमास के कारण ‘छ’ ही होता है ‘ख’ नहीं ।

मातृभोगः (शरीरम्) ^१ = मातृभोगः, षष्ठीतत्पुरुषः । मातृभोगाय हितो मातृ-भोगीणः (आहारः) । माता के शरीर के लिये हितकर आहार आदि । यहां 'मातृभोग डे' इस चतुर्थ्यन्त से 'हित = हितकर' अर्थ में आत्मन्-विरवजन-भोगोत्तरपदात् खः (११४१) सूत्रद्वारा 'ख' प्रत्यय, सुंभ्लुक्, ख् को ईन् आदेश (१०१३), यत्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप तथा अटकुप्वाङ्नुभ्यबायेऽपि (१३८) से नकार को णकार^२ कर विभक्ति लाने से 'मातृभोगीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार— पितृभोगीणः, राजभोगीणः, आचार्यभोगीणः,^३ स्वभोगीणः आदि की सिद्धि समझ लेनी चाहिये ।

इस सूत्र पर दो वार्तिक बहुत प्रसिद्ध हैं—

[१] सर्वजनाद् ठम् खश्च (वा०) ॥

अर्थ.—चतुर्थ्यन्त 'सर्वजन' शब्द से 'हित = हितकर' अर्थ में ठम् और ख तद्धित — प्रत्यय हो जाते हैं । उदाहरण यथा—

सर्वो जनः सर्वजनः, कर्मधारयसमासः । सर्वजनाय हितम्—सर्वजनिकम् (ठम् प्रत्यय, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा यत्येतिचलोप), सर्वजनीनम् (खप्रत्यय, ख्

१. यद्यपि भोगः सुखे स्त्र्यादिभूतावहेश्च फणकाययोर् इत्यमरेण अहेरित्युक्तं तथापि प्रयोगबाहुल्याभिप्रायं तत् । शक्तिस्तु शरीरमात्रे इत्याकरः ।

२. ध्यान रहे कि अटकुप्वाङ्० (१३८) सूत्रद्वारा समानपद अर्थात् अखण्डपद में णत्व होता है । जिस पद के खण्ड अर्थात् टुकड़े कर उन का स्वतन्त्ररूप से प्रयोग न किया जा सके उसे अखण्डपद कहते हैं । यथा— रामेण अखण्डपद है, इस के खण्ड नहीं किये जा सकते । इसलिये यहां णत्व हो जाता है । रघुनाथः, रमानाथः, रामनाथ—ये अखण्डपद नहीं, इन के खण्ड हो सकते हैं । रघु और नाथ इन दोनों खण्डों का स्वतन्त्र प्रयोग किया जा सकता है अतः इन में णत्व नहीं हुआ ।

जिस पद का एक खण्ड हो सके परन्तु दूसरा न हो सके वह भी अखण्डपद समझना चाहिये । यथा— खरं पातीति खरपः, खरपस्यापत्यं खारपायणः (नडादित्वात् फक्) इत्यादि अखण्डपद हैं । इसीप्रकार— वारिणा, श्रीपेण आदि में समझना चाहिये । प्रकृत में 'मातृभोगीणः' भी अखण्डपद है, इस के खण्ड भी नहीं किये जा सकते । मातृशब्द का यद्यपि स्वतन्त्र प्रयोग होता है तथापि 'भोगीण' का नहीं होता क्योंकि ख (ईन्) प्रत्यय केवल भोगशब्द से न होकर भोगोत्तरपद से विधान किया गया है । इस प्रकार 'मातृभोगीणः' में णत्वविधि निर्बाध सिद्ध हो जाती है । कुछ लोग यहां कुमति च (८.४.१३) से णत्व दर्शाया करते हैं जो नितान्त अशुद्ध है । उस का अर्थ विचारते ही अशुद्धि समझ में आ जाती है ।

३. आचार्यादिणत्वं च (आचार्यशब्दात् परस्य भोगीणशब्दस्य नस्य णत्वं न इत्यर्थः) इस वार्तिक से यहां णत्व का निषेध हो जाता है । परन्तु 'राजभोगीणः' में अनिष्ट जकार के व्यवधान के कारण णत्व का अभाव समझना चाहिये ।

को ईन् आदेश तथा यस्येतिचलोप) । ये दोनों प्रत्यय भी कर्मधारय से ही इष्ट हैं । अन्य समास होगा तो छप्रत्यय हो कर 'सर्वजनीयम्' बनेगा ।

[२] सर्वाणो वेति वक्तव्यः (वा०) ॥

अर्थः—चतुर्थ्यन्त 'सर्व' शब्द से 'हित = हितकर' अर्थ में तद्धित 'ण' प्रत्यय विकल्प से हो जाता है । 'ण' में णकार इत् है, 'अ' मात्र शेष रहता है । उदाहरण यथा—

सर्वस्मै हितः सार्वः (सब के लिये हितकर) । 'ण' के अभाव में औत्सर्गिक 'छ' हो जायेगा—सर्वस्मै हितः सर्वीयः ।

प्रकृतसूत्र के कुछ साहित्यगत उदाहरण यथा—

(१) क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते । (माघ० १.४१)

(२) नैवात्मनीनमथवा क्रियते मदान्वैः । (माघ० ५.४४)

(३) आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः सम्भवन्ति विरमन्ति चाप्यः ।

(किरात० १३.६६)

(४) लब्धां ततो विश्वजनीनवृत्ति-

स्तामात्मनीनामुद्रोढ रामः । (भट्टि० २.४८)

(५) अभितम्पचमीशानं सर्वभोगीणमुत्तमम् ।

आबयोः पितरं विद्धि ख्यातं वशरथं भुवि ॥ (भट्टि० ६.६८)

(६) सौमित्रे ! मामुपायंस्थाः कन्नामिच्छुर्वंशंबदाम् ।

स्वभोगिनीं सहचरीमशङ्कः पुरुषायुषम् ॥ (भट्टि० ४.२०)

अभ्यास [६]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—

[क] छप्रत्यय का अधिकार कहां तक जाता है ?

[ख] आत्मन्विश्वजन० सूत्र में 'भोग' शब्द किस का वाचक है ?

[ग] 'मातृभोगीणः' को अखण्डपद मान कर कैसे णत्व हो जाता है ?

[घ] 'आचार्यभोगीनः' में णत्व क्यों नहीं हुआ ?

[ङ] 'आत्मनीनः' में टि का लोप क्यों नहीं हुआ ?

[च] 'मूर्धन्यः' में नस्तद्धिते की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

[छ] शरीरावयववाचियों से यत् प्रत्यय कहां कहां होता है ?

(२) अन्तर स्पष्ट करें—

नाभ्यम्—नभ्यम् । विश्वजनीनम्—विश्वजनीयम् । सार्वजनिकम्—सर्वजनीयम् ।

(३) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—

१. आत्मन्विश्वजन० । २. उगवादिभ्यो यत् । ३. तस्मै हितम् । ४. शरीरावयवाद्यत् । ५. आत्माध्वानो खे । ६. नाभि नभं च । ७. ऊघसो

नङ् च । ८. शुनः सम्प्रसारणं० । ९. सर्वाणो वेति वक्तव्यम् । १०. सर्व-
जनाट् ठञ् खश्च ।

- (४) विग्रह का निर्देश करते हुए निम्नस्थ प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. मातृभोगीणः । २. विश्वजनीनम् । ३. आत्मनीनम् । ४. वत्सीयः ।
५. गव्यम् । ६. शङ्खव्यम् । ७. सार्वजनिकम् । ८. सार्वः । ९. नस्यम् ।
१०. दन्त्यम् ।
- (५) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप सिद्ध करें ।
१. कण्ठाय हितम् । २. ऊग्रसे हितम् । ३. शुने हितम् । ४. नाभये
हितम् । ५. पशुभ्यो हितम् । ६. अघ्वने हितम् । ७. मेघायै हितम् ।
८. मात्रे हितः । ९. राज्ञे हितः । १०. पुंसे हितम् । ११. आचार्याय
हितम् । १२. स्त्रीभ्यो हितम् । १३. सक्तुभ्यो हिताः ।

[लघु०] इति छयतोरधिकारः ॥

(यहां छ और यत् प्रत्ययों के अधिकार का विवेचन समाप्त होता है।)

—:०:—

अथ ठञ् अधिकारः

अब ठञ् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(११४३) प्राग्वतेष्ठञ् ।५।१।१८॥

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वर्तिः (५.१.११४) इति वर्ति वक्ष्यति, ततः प्राक्
ठञ् अधिक्रियते ॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में तेन तुल्यं क्रिया चेद्वर्तिः (५.१.११४) सूत्रद्वारा वर्तिप्रत्यय
का विधान आगे कहा जायेगा । उस से पूर्व ठञ् प्रत्यय का अधिकार किया जा रहा है ।
अर्थात् उस से पूर्व कहे अर्थों में ठञ् प्रत्यय होगा ।

व्याख्या—प्राग् इत्यव्ययपदम् । वतेः ।५।१। ठञ् ।१।१। अर्थः—(वतेः प्राक्)
वर्तिप्रत्यय से पूर्व तक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय अधिकृत है । वर्तिप्रत्यय का विधान तेन तुल्यं
क्रिया चेद्वर्तिः (११५१) सूत्रद्वारा आगे किया जायेगा । उस सूत्र से पूर्व ठञ् प्रत्यय
का अधिकार है । अर्थात् यहां से ले कर तेन तुल्यं क्रिया चेद्वर्तिः (११५१) सूत्र से पूर्व
तक जहां जहां अर्थनिर्देश किया गया होगा और प्रत्यय नहीं बताया गया होगा वहां वहां
ठञ् तद्धितप्रत्यय हो जायेगा । यथा—तेन क्रीतम् (११४४) । यहां अर्थ का निर्देश तो
किया गया है परन्तु प्रत्यय का नहीं, अतः यहां ठञ् प्रत्यय होगा । यथा—सप्तत्या क्रीतं
साप्ततिकम् । इस का विवेचन अगले सूत्र पर देखें ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४४) तेन क्रीतम् ।५।१।३६॥

सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् । प्रास्थिकम् ॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से 'क्रीत = खरीदा हुआ' इस अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सूत्र लुक् समझना चाहिये) । क्रीतम् ।१।१। ठञ् ।१।१। (प्राग्बतेष्ठञ् इस अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, ङघ्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थं प्रातिपदिक से (क्रीतम् इत्यर्थे) 'खरीदा गया' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् (सत्तर से खरीदी गई वस्तु) । यहां 'सप्तति टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'क्रीत = खरीदा गया' अर्थ में प्राग्बतेष्ठञ् (११०३) के अधिकार में तेन क्रीतम् (११४४) सूत्रद्वारा तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय होकर अनुबन्ध-लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप (टा) का लुक्, तद्धितेण्वचामादेः (६३८) से आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ट् को इक आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'साप्ततिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रस्थेन क्रीतं प्रास्थिकम् (प्रस्थ भर वजन की वस्तु दे कर खरीदी हुई वस्तु) । यहां 'प्रस्थ टा' से 'क्रीत' अर्थ में पूर्ववत् तेन क्रीतम् (११४४) सूत्र से ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक, आदिवृद्धि, ट् को इक आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'प्रास्थिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

वणिजा क्रीतम्, देवदत्तेन क्रीतम्, पाणिना क्रीतम् इत्यादि स्थानों पर इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । यह प्रत्यय मूल्यवाचक करणतृतीयान्त से ही प्रवृत्त होता है । द्विवचनान्त और बहुवचनान्त मूल्यवाचकों से भी इस की प्रवृत्ति नहीं होती । यथा—प्रस्थाभ्यां क्रीतम्, प्रस्थैः क्रीतम् । हां ! जहां एक से क्रय सम्भव नहीं होता वहां बहुवचनान्तों से भी इस की प्रवृत्ति हो जाती है । यथा—मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकम्, माषैः क्रीतं माषिकम् । यहां एक मूंग या एक माष के दाने से क्रय सम्भव नहीं होता—(काशिका) ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) गोपुच्छेन क्रीतम् — गौपुच्छिकम् (गाय की पूंछ से खरीदी वस्तु) १ ।

१. गौपुच्छिक उस वस्तु को कहा गया है जो गोपुच्छ के बदले में ली जाती थी । डा० भण्डारकर ने गोपुच्छ को अदलाबदली या सिक्कों की तरह क्रयविक्रय का साधन माना है । किन्तु गोपुच्छ का अर्थ गाय की पूंछ नहीं, गौ ही है । गाय के लिये जो चराई का शुल्क दिया जाता है उसे आज भी 'पुच्छी' कहते हैं । प्राचीन प्रथा के अनुसार गाय को बेचते समय उस का स्वाम्यपरिवर्तन उसी समय पूरा होता था जब बेचने वाला गाय की पूंछ को खरीदने वाले के हाथ में पकड़ा देता था ।

ल० प० (१५)

- (२) अशीत्या क्रीतम्—आशीतिकम् (अस्सी से खरीदी वस्तु) ।
 (३) षष्ट्या क्रीतम्— षाष्टिकम् (साठ से खरीदी वस्तु) ।
 (४) पणेन क्रीतम्— पाणिकम् (एक पण से खरीदी वस्तु) ।
 (५) निष्केण क्रीतम्— नैष्किकम् (निष्क से खरीदी वस्तु) ।
 (६) पावेन क्रीतम्— पादिकम् (पाव से खरीदी वस्तु) ।
 (७) माषैः क्रीतम्— माषिकम् (उड़दों से खरीदी वस्तु) ।
 (८) मुद्गैः क्रीतम्— मूद्गिकम् (मूंगों से खरीदी वस्तु) ।
 (९) वस्त्रेण क्रीतम्— वास्त्रिकम् (वस्त्र से खरीदी वस्तु) ।

सावधान — तेन क्रीतम् (११४४) सूत्र के उदाहरण विद्यार्थी अपनी इच्छा से नहीं घड़ सकते । ठक् का अधिकार अनेक प्रकार के अपवादों की उलझनों से भरा पड़ा है । विशेषपजिज्ञासु काशिकावृत्ति का अवलोकन करें ।^३

अब 'सर्वभूमि' और 'पृथिवी' प्रातिपदिकों से अर्थविशेष में अण् और अञ् प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् — (११४५) तस्येश्वरः । ५।१।४१॥

सर्वभूमि-पृथिवीभ्याम् अणञौ स्तः ॥

अर्थः—सर्वभूमि और पृथिवी इन षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से 'ईश्वर' (स्वामी) अर्थ में क्रमशः अण् और अञ् तद्धितप्रत्यय हों ।

व्याख्या—तस्य । ५।२। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी के द्विवचन 'भ्याम्' का यहां सौत्रलुक् समझना चाहिये) । ईश्वरः । १।१। सर्वभूमि-

१. असमासे निष्कादिभ्यः (५.१.२०) इति निष्कादित्वाद् ठक् । एवं नैष्किकम्, पादिकम्, माषिकम् इत्येतेष्वपि बोध्यम् ।
२. आर्हादिगोपुच्छसंख्यापरिमाणाद् ठक् (५.१.१६) इति ठक् । एवं वास्त्रिकम् इत्यत्रापि बोध्यम् ।
३. अष्टाध्यायी में प्राग्बतेष्ठञ् (५.१.१८) से ले कर वर्तिप्रत्ययपर्यन्त ठञ्प्रत्यय का अधिकार चला कर उस अधिकार के अन्तर्गत आर्हादिगोपुच्छसंख्यापरिमाणाद् ठक् (५.१.१६) सूत्र से तबर्हति (५.१.६२) सूत्र के अन्त तक ठक् का अधिकार चलाया गया है । तेन क्रीतम् (५.१.३६) सूत्र भी उसी ठक् प्रत्यय के अधिकार में आता है । ठक्-अधिकार के आरम्भ में 'अगोपुच्छसंख्यापरिमाणात्' कहा गया है । अर्थात् गोपुच्छशब्द से एवं संख्यावाचक और परिमाणवाचक शब्दों से ठक् नहीं होता, अन्यो से ठक् होता है । इसप्रकार गोपुच्छ आदियों से क्रीत आदि अर्थों में ठञ् होगा और शेषों से ठक् । ठक् और ठञ् का भेद केवल स्वर में ही होता है और स्वरप्रकरण लघुसिद्धान्तकौमुदी में दिया ही नहीं गया, अतः ग्रन्थकार (वरदराज) विद्यार्थियों की सुविधा के लिये ठक् और ठञ् के झगड़े में नहीं पड़े ।

पृथिवीभ्यामणञौ (५.१.४०) इस पिछले पूरे सूत्र का यहां अनुवर्त्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ऊघाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । सर्वा भूमिः सर्व-भूमिः, कर्मधारये पूर्वपदस्य पुंवद्भावः^१, सर्वभूमिश्च पृथिवी च सर्वभूमिपृथिव्यौ, ताभ्याम् = सर्वभूमिपृथिवीभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अण् च अञ् च अणञौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः— (तस्य = षष्ठ्यन्ताभ्याम्) षष्ठ्यन्त (सर्वभूमिपृथिवीभ्याम्) सर्वभूमि तथा पृथिवी प्रातिपदिकों से (ईश्वर इत्यर्थे) 'स्वामी' अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (अणञौ) अण् और अञ् प्रत्यय होते हैं ।

दो प्रकृतियां तथा दो ही प्रत्यय दिये गये हैं, अतः यथासंख्यमनुवेशः समानाम् (२३) से क्रमशः प्रत्यय होंगे । सर्वभूमिशब्द से अण् एवं पृथिवीशब्द से अञ् प्रत्यय किया जायेगा । अण् और अञ् में स्वर का ही अन्तर पड़ता है । अण्प्रत्ययान्त अन्तोदात्त तथा अञ्प्रत्ययान्त आद्युदात्त होता है । सूत्र के उदाहरण यथा—

सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः (सारी भूमि का स्वामी अर्थात् चक्रवर्ती राजा) । 'सर्वभूमि इस्' इस षष्ठ्यन्त से 'ईश्वर = स्वामी' अर्थ में प्रकृत तत्पेश्वरः (११४५) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर णकार अनुबन्ध का लोप तथा सुंपो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् = इस् का लुक् करने से 'सर्वभूमि + अ' हुआ । अब यहां पूर्व तथा उत्तर दोनों पदों में वृद्धि करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४६) अनुशक्तिकादीनां च ।७।३।२०।।

(एषामुभयपदवृद्धिर्त्रिति णिति किति च तद्धिते) । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । पार्थिवः ॥

अर्थः—जित्, णित् या कित् तद्धित के परे रहते अनुशक्तिक आदि गण में पठित शब्दों के पूर्व और उत्तर दोनों पदों के आदि अच् के स्थान पर वृद्धि आदेश हो ।

व्याख्या—यह सूत्र पीछे शैषिकप्रकरण में (१०६५) पर व्याख्यात हो चुका है । पुनः स्मरण कराने के लिये वरदराज ने इसे दुबारा पढ़ा है ।

'सर्वभूमि + अ' यहां णित् तद्धित परे है, 'सर्वभूमि' शब्द का अनुशक्तिकादिगण में पाठ भी आया है, अतः अनुशक्तिकादीनां च (११४६) सूत्र से 'सर्व' और 'भूमि' दोनों पदों के आदि अच् को वृद्धि हो जाती है—सार्वभौमि + अ । अब यस्येति च (२३६) से भ्रसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'सार्वभौमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

पृथिवीशब्द का उदाहरण यथा—

पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः (पृथिवी का स्वामी अर्थात् राजा) । यहां 'पृथिवी इस्' से 'ईश्वर = स्वामी' अर्थ में तत्पेश्वरः (११४५) सूत्र द्वारा अण्प्रत्यय; अकार अनुबन्ध का लोप, सुंभ्लुक्, तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से ऋकार को वृद्धि, रपर एवं

१. पुंभत् कर्मधारयजातीयवेशीयेषु (६.३.४१) इति पुंभद्भावः ।

यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पार्थिवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

नोट— तस्येश्वरः (५.१.४१) के बाद अष्टाध्यायी में तत्र विदित इति च (५.१.४२) सूत्र पढ़ा गया है । इस का अर्थ है—सर्वभूमि और पृथिवी इन सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'विदितः' (प्रसिद्ध या विख्यात) अर्थ में क्रमशः अण् और अञ् प्रत्यय होते हैं । यथा—सर्वभूमौ विदितः सार्वभौमः (सारी पृथिवी पर प्रसिद्ध) । पृथिव्यां विदितः पार्थिवः (पृथिवी पर प्रसिद्ध) ।

अब पङ्क्ति आदि दस शब्दों का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४७) पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशत्-चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम् । ५।१।५८॥

एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते ॥

अर्थ—पङ्क्ति (पाञ्च पादों वाला वैदिक छन्दविशेष), विंशति (बीस); त्रिंशत् (तीस), चत्वारिंशत् (चालीस), पञ्चाशत् (पचास), षष्टि (साठ), सप्तति (सत्तर), अशीति (अस्सी), नवति (नब्बे) और शत (सौ)—ये दस रूढ शब्द 'अस्य परिमाणम्' (परिमाण है इस का) इस अर्थ में निपातन किये जाते हैं ।

व्याख्या—पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशत्-चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तति-अशीति-नवति-शतम् । १।१। षड्कत्यादीनां दशानां समाहारद्वन्द्वः । तदस्य परिमाणम् (५.१.५६) सूत्र की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है । अर्थः—(तदस्य परिमाणम् इति विषये) 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में (पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशत्-चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम्) पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति और शत—ये दस शब्द लोक में प्रयुक्त होते हैं ।

पङ्क्ति आदि दस शब्द अपने अपने विशिष्ट अर्थों में रूढ अर्थात् लोकप्रचलित हैं । प्रकृतसूत्र में इन दस शब्दों का निपातन किया गया है । तात्पर्य यह कि मुनिवर पाणिनि ने प्रकृति, प्रत्यय तथा अन्य विशिष्ट कार्य स्वयं सम्पन्न कर बने-बनाये प्रयोगार्ह दस शब्द यहां प्रस्तुत किये हैं । इन में जो जो प्रकृति, प्रत्यय तथा अन्य प्राप्त वा अप्राप्त कार्य किये गये हैं उन का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये ।

(१) पङ्क्ति (स्त्रीलिङ्ग)

पङ्क्ति एक वैदिक छन्द का नाम है जिस में पाञ्च पाद तथा प्रत्येक पाद में आठ आठ अक्षर होते हैं । इस प्रकार इस छन्द में कुल चालीस अक्षर होते हैं ।^१ पञ्च

१. चत्वारिंशदक्षरा पङ्क्तिः, पञ्चपदाऽष्टाक्षरपादा (निदानसूत्र प्रथम पटल) । उदाहरण के लिये ऋग्वेद ८.४६.२४ मन्त्र को देखें । वृत्तरत्नाकर आदि में सुप्रतिष्ठाजातिगत भ्गो गिति पङ्क्तिः छन्द अर्वाचीन है । इस का पिङ्गलछन्दः-सूत्र में कहीं उल्लेख नहीं आता । प्राकृत में इस का नाम 'सम्मोहा' है (देखें प्राकृतपिङ्गल २.३४) । समवृत्तों में प्रतिपाद दशाक्षरा जाति का नाम भी 'पङ्क्ति' है । जैसाकि वृत्तरत्नाकर में केदारभट्ट ने कहा है—

उक्ताऽप्युक्ता तथा मध्या प्रतिष्ठाऽन्या सुपूर्विका ।

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ॥ (प्रथमाध्याये)

(पादाः) परिमाणमस्येति पङ्क्तिः, पाञ्च पाद परिमाण हैं जिस का ऐसा छन्द । यहां 'पञ्चन् जस्' से तदस्य परिमाणम् (वह है परिमाण इस का) इस अर्थ में 'ति' प्रत्यय, सुंञ्जुक् तथा प्रकृति के टि (अन्) भाग का लोप करने पर—पञ्च् + ति । षोः कुः (३०६) से कुत्व और निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यन्वयः इस न्याय के अनुसार अकार को नकार होकर—पन्क् + ति । अब नश्चाऽपदान्तस्य झलि (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार एवम् अनुस्वारस्य यञि परसवर्णः (७९) से अनुस्वार को परसवर्ण डकार कर विभक्ति लाने से 'पङ्क्तिः' प्रयोग सिद्ध हुआ है । यहां पञ्चन् से 'ति' प्रत्यय तथा प्रकृति की टि का लोप ये दो कार्य निपातन से समझने चाहियें, शेष सब सामान्य-प्रक्रिया से प्राप्त थे ।

पङ्क्तिशब्द के अन्य भी अनेक अर्थ लोक में प्रचलित हैं । यथा—ब्राह्मण-पङ्क्तिः, पिपीलिकापङ्क्तिः । यहां 'पङ्क्तिः' का अर्थ क्रमसन्निवेश या कतार है । 'पङ्क्ति का अर्थ दस संख्या भी होता है अत एव 'दशरथः' को 'पङ्क्तिरथः' भी कहा जाता है—नूपतेः प्रतिषिद्धमेव तत् कृतवान् पङ्क्तिरथो बिलङ्घ्य यत् (रघु० ९.७४) । कुछ वैयाकरण 'द्वौ पञ्चतौ' परिमाणमस्येति पङ्क्तिः' इसप्रकार द्विपञ्चत् शब्द से निपातनद्वारा इसे सिद्ध करते हैं ।

(२) विशतिः

द्वौ दशतौ परिमाणमस्य सङ्घस्येति विशतिः । दो दशत् (दहाई) जिस का परिमाण है ऐसा समूह अर्थात् बीस । 'द्विदशत्' शब्द से 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में शतिच् (शति) प्रत्यय, प्रकृति (द्विदशत्) को चिन् सर्वादेश^३ तथा नश्चा-पदान्तस्य झलि (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार कर विभक्तिकार्य करने से 'विशतिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इस का उच्चारण मतिशब्द की तरह होता है ।

(३) त्रिशत्

त्रयो दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति त्रिशत् । तीन दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् तीस । यहां त्रिदशत् से शत् प्रत्यय तथा प्रकृति (त्रिदशत्) को चिन् सर्वादेश हो अपदान्त नकार को अनुस्वार और अन्त में विभक्तिकार्य करने से

- कुछेक वैयाकरणों तथा कोशव्याख्याताओं ने क्रमसन्निवेश (कतार) अर्थ वाले पङ्क्तिशब्द को पश्चिं व्यक्तीकरणे (भ्वा० आत्मने०) घातु से कितन् प्रत्यय ला कर सिद्ध किया है । कारण कि उपर्युक्त व्युत्पत्तिद्वारा यह अर्थ उपपन्न नहीं होता ।
- पाञ्च के वर्ग (समूह) को पञ्चत् तथा दस के वर्ग को दशत् कहते हैं । पाणिनि ने इन दोनों का पञ्चद्-दशतौ वर्ग वा (५.१.५९) सूत्रद्वारा निपातन किया है । ये दोनों शब्द पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ।
- चिन् के नकार की अपदान्ता भी निपातनद्वारा समझ लेनी चाहिये ।

‘त्रिंशत्’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस का उच्चारण स्त्रीलिङ्ग सरित्शब्द की तरह होता है।

(४) चत्वारिंशत्

चत्वारो दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति चत्वारिंशत् । चार दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् चालीस। यहां ‘चतुर्दशत्’ शब्द से शत् प्रत्यय और प्रकृति (चतुर्दशत्) को चत्वारिन् सर्वादेश हो जाता है। इस का उच्चारण भी स्त्रीलिङ्ग सरित्शब्द की तरह होता है।

(५) पञ्चाशत्

पञ्च दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति पञ्चाशत् । पाञ्च दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् पचास। यहां पञ्चदशत् शब्द से शत्प्रत्यय और प्रकृति (पञ्चदशत्) को ‘पञ्चा’ सर्वादेश हो जाता है। पञ्चाशत् का उच्चारण भी स्त्रीलिङ्ग ‘सरित्’ शब्द के समान होता है।

(६) षष्टिः

षट् दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति षष्टिः । छः दशत् (दहाई) परिमाण-वाला समूह अर्थात् साठ। यहां ‘षट्दशत्’ शब्द से ‘ति’ प्रत्यय, प्रकृति षट्दशत् को षष् सर्वादेश एवं निपातन से पदत्वाभाव के कारण जश्त्वाभाव तथा अन्त में ष्टुना ष्टुः (६४) से ष्टुत्वेन तकार को टकार कर विभक्ति लाने से ‘षष्टिः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस का उच्चारण स्त्रीलिङ्ग ‘मति’ शब्द के समान जानना चाहिये।

(७) सप्ततिः

सप्त दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति सप्ततिः । सात दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् सत्तर। यहां ‘सप्तदशत्’ शब्द से ‘ति’ प्रत्यय तथा प्रकृति (सप्तदशत्) को ‘सप्त’ सर्वादेश कर विभक्ति लाने से ‘सप्ततिः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(८) अशीतिः

अष्ट दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति अशीतिः । आठ दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् अस्सी। यहां अष्टदशत् शब्द से ‘ति’ प्रत्यय तथा प्रकृति को ‘अशी’ सर्वादेश हो जाता है।

(९) नवतिः

नव दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति नवतिः । नौ दशत् (दहाई) परिमाणवाला समूह अर्थात् नव्वे। यहां ‘नवदशत्’ शब्द से ‘ति’ प्रत्यय तथा प्रकृति को ‘नव’ सर्वादेश हो कर विभक्ति लाने से ‘नवतिः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(१०) शतम्

दश दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति शतम् । दस दशत् (दहाई) परिमाण वाला

समूह अर्थात् सौ (सैंकड़ा) । यहां 'दशदशत्' शब्द से 'त' प्रत्यय तथा प्रकृति को 'श' सर्वादेश हो जाता है ।

ये सब प्रकृति-प्रत्ययों की कल्पनाएं येन-केन-प्रकारेण इष्ट रूप सिद्ध करने के लिये ही की गई हैं । इस के विपरीत प्रकृतिप्रत्यय की कल्पना भी की जा सकती है । भत एव काशिकाकार ने कहा है—'विशत्यादयो गुणशब्दाः', ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्याः । नाऽत्रावबवाचोऽभिनिवेष्टव्यम् इति ।

नोट—'शत' शब्द को छोड़ शेष विशति आदि आठों शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं, शतशब्द नपुंसक है । परन्तु इन सब का (शत का भी) एकवचन में ही प्रयोग किया जाता है न कि संब्येय (विशेष्य) के अनुसार द्विवचन या बहुवचन में । यथा—गवां विशतिः (गौओं का बीसा), ब्राह्मणानां त्रिशत् (ब्राह्मणों का तीसा), फलानां शतम् (फलों का सैंकड़ा) । परन्तु जब समूह के द्वित्व या बहुत्व की विवक्षा होती है तब द्विवचन और बहुवचन में भी प्रयोग किया जाता है । यथा—गवां द्वे विशती (गौओं के दो बीसे), छात्राणां द्वे त्रिशती (विद्यार्थियों के दो तीसे), फलानां त्रीणि शतानि (फलों के तीन सैंकड़े) । सङ्घ और सङ्घी का अभेद मान कर 'विशति-गर्वाः, त्रिशद् ब्राह्मणाः, शतं फलानि' इत्यादिप्रकारेण सङ्ख्येयपरक भी प्रयोग होते हैं । एतद्विषयक एक हिन्दीटिप्पण इस व्याख्या के तृतीयभागस्थ कृदन्तप्रकरण में (८१८) सूत्र पर तथा दूसरा संस्कृतटिप्पण चतुर्थभागस्थ समासप्रकरण में (९७०) सूत्र पर लिखा जा चुका है । वे टिप्पण भी यहां पुनः ध्यातव्य हैं ।

अब आर्हादिगोपुच्छ० (५.१.१६) सूत्रद्वारा प्रवर्तित आर्हाधिकार के प्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् — (११४८) तदर्हति । ५।१।६२॥

'लब्धुं योग्यो भवति' इत्यर्थे द्वितीयान्ताट्ठआदयः स्युः । श्वेतच्छत्र-मर्हति—श्वैतच्छत्रिकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'प्राप्त करने के योग्य होना' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् आदि प्रत्यय हों ।

व्याख्या—तत् । ५।१। (द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । अर्हति इति अर्हं पूज्यायाम् (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लोटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठञ् । १।१। (प्राग्बतेष्ठञ् से अधिकृत है) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्राप्तिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अर्हति इत्यर्थे) 'अर्हति' के अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है ।

पीछे बताया जा चुका है कि इस ठञ् के अधिकार के अन्तर्गत आर्हादिगोपुच्छ-संख्यापरिमाणाट्ठक् (५.१.१६) सूत्र से 'अर्हति' के अर्थ की समाप्ति तक ठक् का

१. रुद्विभन्दा इति भावः ।

अधिकार किया गया है। इस ठक् के भी ठन्, यत्, कन् आदि अनेक अपवाद हैं। अतः प्रकृतसूत्र से यथायोग्य प्रत्यय समझना चाहिये। अत एव मूल में 'ठवादयः' कहा गया है।

'अहंति' धातु के दो अर्थ सुप्रसिद्ध हैं। (१) योग्य होना। इस अर्थ में वह अकर्मक है। इस के प्रयोग यथा—

- (१) अनुद्योगेन तैलानि तिलेष्यो नाप्तमहंति (हितोप०)।
- (२) तं सन्तः श्रोतुमहंति सबसद्ब्यक्तिहेतवः (रघु० १.१०)।
- (३) भक्तं शक्तं च मां राजन्नाबन्नातुं स्वमहंसि (हितोप०)।
- (४) विनात्मव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमहंति (गीता० २.१७)।

दूसरा अर्थ है—पाने के योग्य होना। इस अर्थ में वह सकर्मक है। इस के प्रयोग यथा—

- (१) न स्त्री स्वातन्त्र्यमहंति (मनु० ६.३)।
- (२) स खलु गर्भः पित्र्यं रिष्वमहंति (शाकुन्तल ६)।
- (३) सर्वे ते अपयस्त्रय कलां नाहंति षोडशीम् (मनु० २.८६)।
- (४) अध्यापयन् गुस्तुतो गुस्वन्मानमहंति (मनु० २.२०८)।

यहां प्रकृतसूत्र में 'अहंति' का दूसरा अर्थ (पाने के योग्य होना) ही सङ्गत हो सकता है क्योंकि यहां द्वितीयान्त समर्थ से प्रत्यय का विधान किया गया है। उदाहरण यथा—

श्वेतच्छत्रम् अहंतीति श्वेतच्छत्रिकः (श्वेत छत्र को प्राप्त करने योग्य व्यक्ति)। यहां 'श्वेतच्छत्र अम्' इस द्वितीयान्त से तबहंति (११४८) सूत्रद्वारा 'प्राप्त करने योग्य' अर्थ में आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिभाषादृक् (५.१.१६) से ठक् तद्धितप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुंभ्लुक, ठस्येकः (१०२७) से ठ् को इक आदेश एवं किति च (१००१) से आदिबुद्धि और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'श्वेतच्छत्रिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) प्रस्थमहंतीति प्रास्थिकः (ठम्)। (तस्वबोधिन्याम्)
- (२) वस्त्रयुग्ममहंतीति वास्त्रयुग्मिकः (आर्हीयष्ठक्)^२ (काशिकायाम्)
- (३) दध्योदनमहंतीति दाध्योदनिकः (आर्हीयष्ठक्)। (जैनेन्द्रवृत्ती)
- (४) छत्रमहंतीति छात्रिकः (आर्हीयष्ठक्)। (भोजवृत्ती)
- (५) चमरमहंतीति चामरिकः (आर्हीयष्ठक्)। (भोजवृत्ती)

१. इस प्रकार के अर्थ वाले अहं, धातु के प्रयोग में शक-धुष-ज्ञा-ग्ला-घट-रभ-सभ-कम-सहार्हास्त्र्येषु तुमुन् (३.४.६५) सूत्रद्वारा तुमुन् प्रत्यय हुआ करता है। यथा—सोढुमहंति, द्रष्टुमहंति, भोक्तुमहंति, गन्तुमहंति इत्यादि।

२. वास्त्रयुग्मिकः = वर आदि। विवाह में वर को वस्त्रों का जोड़ा दिया जाता है।

- (६) वस्त्रमर्हतीति वास्त्रिकः (आर्हीयष्टक्) । (भोजवृत्तौ)
 (७) अभिगममर्हतीति आभिगामिकः (आर्हीयष्टक्) ।^१ (प्रक्रियासर्वस्वे)
 (८) शतमर्हतीति शतिकः शत्यो वा^२ ।
 (९) स्त्रियमर्हतीति स्त्रैणो युवा (१००३) ।
 (१०) पुमांसमर्हतीति पौंस्नी युवतिः (१००३, वा० १०१) ।

नोट—भोजनमर्हतीति अनभिधानान्न भवतीति जेनेन्द्रवृत्तौ । भोजनपानाद्विषु
 अनभिधानान्नेति शाकटायनवृत्तौ ।

अब 'तदर्हति' के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सुत्रम्—(११४६) दण्डादिभ्यो यत् । ५।१।६५।^३

एभ्यो यत् स्यात् । दण्डमर्हति दण्डयः । अर्घ्यः । वध्यः ॥

अर्थः—दण्डादिगणपठित द्वितीयान्त प्रातिपदिकों से 'अर्हति' (पाने के योग्य होना) के अर्थ में तद्वितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—दण्डादिभ्यः । ५।१। यत् । १।१। यहां पूर्वोक्त तदर्हति (५.१.६२) सूत्र का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङाभ्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—दण्डशब्द आदिर्येषान्ते दण्डादयः, तेभ्यः = दण्डादिभ्यः; तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तेभ्यः) द्वितीयान्त (दण्डादिभ्यः) दण्डादिगणपठित प्रातिपदिकों से (अर्हति इत्यर्थे) 'पाने के योग्य होना' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्वितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है । यत् में तकार अनुबन्ध है, उस का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है । उदाहरण यथा—

दण्डमर्हतीति दण्डयः^४ (सञ्जा पाने के योग्य व्यक्ति) । यहां 'दण्ड अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से दण्डादिभ्यो यत् (११४६) सूत्रद्वारा 'अर्हति=पाने के योग्य होना' के अर्थ में यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (अम्) का लुक् तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दण्डयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^५

१. अनुशक्तिकादीनां च (१०६५) इत्युभयपदवृद्धिः । आभिगामिकः—अर्थात् जिसे मिलने के लिये आगे बढ़ना चाहिये, आचार्य आदि गुरुजन ।
२. शताब्ध ठन्यतावशते (५.१.२१) इति ठन्-यतौ प्रत्ययो ।
३. कैयट, हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित आदि अनेक वैयाकरण दण्डादिभ्यः इतना मात्र ही सूत्र मानते हैं तथा यत् का अनुवर्तन पिछले (शीर्षच्छेदाद् यत् ५.१.६५) सूत्र से करते हैं । काशिकाकार ने दण्डादिभ्यो यः इस प्रकार से सूत्र पढ़ा तथा व्याख्यात किया है । परन्तु अष्टो यत् (३.१.६७) सूत्रस्थ भाष्य के पर्यालोचन से 'य' प्रत्यय का विधान ठीक प्रतीत नहीं होता ।
४. अत्र दण्डो दमनं न तु यष्टिरिति वर्धमानः ।
५. स्थित्यै दण्डयतो दण्डयान् (रघु० १.२५) ।
 नादण्डयो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मं न तिष्ठति (मनु० ८.३३५) ।

अर्घम् = पूजाविधिम्^१ अर्हतीति अर्घ्यः (पूजाविधि को पाने के योग्य अर्थात् पूज्य) । अर्घ्यशब्द दण्डादिगण में पढ़ा गया है । अतः 'अर्घं अम्' इस द्वितीयान्त से 'अर्हति = पाने के लिये योग्य होना' अर्थ में दण्डादिभ्यो यत् (११४६) से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंलुक् एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'अर्घ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^२

वधम् अर्हतीति वध्यः (वध को पाने के योग्य, मृत्युदण्ड दिये जाने के योग्य) । वधशब्द भी दण्डादिगण में पढ़ा गया है । अतः द्वितीयान्त वधप्रातिपदिक से दण्डादिभ्यो यत् (११४६) सूत्रद्वारा 'अर्हति' के अर्थ में यत् प्रत्यय होकर सुंलुक् तथा यस्येतिचलोप करने से 'वध्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^३

दण्डादियों से यत् के कुछ अन्य उदाहरण यथा —

- (१) कशामर्हतीति कश्योऽश्वः ।
- (२) इभम् (हस्तिनम्) अर्हतीति इभ्यो धनी ।^४
- (३) मुसलमर्हतीति मुसल्यः ।
- (४) मधुपर्कमर्हतीति मधुपर्कयो वरः ।
- (५) युगमर्हतीति युग्यो वृषभः ।
- (६) मेघमर्हतीति मेघ्यः कालः ।
- (७) उदकमर्हतीति उदक्या कृषिः ।
- (८) स्तवमर्हतीति स्तव्यो देवः ।

दण्डादिगण यथा—

दण्ड । मुसल । मधुपर्क । कशा । अर्घ । मेघा । मेघ । युग । उदक । वध । गुहा । भाग । इभ । शाकटायनगणपाठ में सुवर्ण, भङ्ग और युध ये तीन शब्द अधिक पढ़े गये हैं । 'पितृदेवता' शब्द गणरत्नमहोदधि में अधिक हैं । माधवीयघातुवृत्ति में ष्टुञ् स्तुतौ (अदा० उभय०) धातु पर आत्रेय के नाम से 'स्तव' शब्द और गिनाया गया है । वर्धमान और माधव इसे आकृतिगण मानते हैं ।

अब ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

१. मूल्ये पूजाविधावर्घ इत्यमरः ।
२. अर्घ्यशब्द अन्य प्रकार से भी सिद्ध होता है । अर्घाय इदम् अर्घ्यम्, पादार्घ्याम् च (५.४.२५) इति यत् । अतिथि आदि के पूजाविधान में जो दूर्वा-अक्षत-पुष्पादि-मिश्रित जल प्रयुक्त किया जाता है उसे भी 'अर्घ्यं' कहते हैं । यथा— तान् अर्घ्यान् अर्घ्यमावाय दूरात् प्रत्युद्ययौ गिरिः (कुमार० ६.५०) । यहां प्रथम अर्घ्य-शब्द पूज्य अर्थ में तथा दूसरा पूजाद्रव्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसीप्रकार— अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गोक्तसामचित्तमर्चयित्वा (कुमार० १.१८) ।
३. अत्रापि बध्यमानां बध्यः को नेच्छति शिलां मे (मुद्राराक्षसप्रथमाङ्के) ।
४. इम्य आढयो धनी इत्यमरः ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५०) तेन निर्वृत्तम् ।५।१।७८॥

अह्ला निर्वृत्तम् आह्लिकम् ॥

अर्थः—तृतीयान्त कालवाचक प्रातिपदिक से निर्वृत्त (बनाया गया, पूरा किया गया, सम्पन्न किया गया, समाप्त किया गया) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये) । निर्वृत्तम् ।१।१। (अत्र अन्तर्भावितण्यर्थो वृत्तुः प्रयुक्तः) । कालात् ।५।१। (यह पूर्वतः अधिकृत है) । ठञ् ।१।१। (प्राग्बन्धेऽठञ् के अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, पररश्च, इष्याप्सास्तिषविकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त (कालात्) कालवाचक प्रातिपदिक से (निर्वृत्तम् इत्यर्थे) 'बनाया गया—पूर्ण किया गया—सम्पन्न किया गया—समाप्त किया गया' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

अह्ला^१ निर्वृत्तम् आह्लिकम् (एक दिन से सम्पन्न किया गया कार्य आदि^२) । 'अहन् टा' इस करणतृतीयान्त कालवाची अहन् प्रातिपदिक से निर्वृत्त (सम्पन्न किया गया) अर्थ में प्रकृत तेन निर्वृत्तम् (११५०) सूत्रद्वारा ठञ् प्रत्यय, अकार अनुबन्ध का लोप, सुंल्लुक्, ठस्येकः (१०२७) से ट् को इक आदेश, आदिबुद्धि तथा भसञ्ज्ञा हो अल्लोपोऽनः (२४७) से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आह्लिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि नस्तद्धिते (९१९) सूत्रद्वारा प्राप्त टिलोप अह्ल्ठञ्कारेव (६४.१४५) से 'ट' और 'ख' प्रत्ययों में ही नियमित होने से नहीं होता ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) मासेन निर्वृत्तं मासिकम् (एक महीने से समाप्त होने वाला) ।
- (२) अर्धमासेन निर्वृत्तम् आर्धमासिकम् (अर्धमास से सम्पन्न होने वाला) ।
- (३) संबत्सरेण निर्वृत्तं संबत्सरिकम् (एक वर्ष से सम्पन्न होने वाला) ।
- (४) पक्षेण निर्वृत्तं पाक्षिकम् (एक पखवाड़े से सम्पन्न होने वाला) ।
- (५) सप्ताहेन निर्वृत्तं साप्ताहिकम् (एक सप्ताह से सम्पन्न होने वाला) ।
- (६) मुहूर्त्तेन निर्वृत्तं मौहूर्त्तिकम् (मुहूर्त्त भर से सम्पन्न होने वाला) ।

नोट—चातुरार्थिकप्रकरण में भी तेन निर्वृत्तम् (१०५७) सूत्र पढ़ा जा चुका है । वहां 'तेन' के द्वारा कर्तृ-तृतीयान्त का अनुकरण किया गया था परन्तु यहां करण-तृतीयान्त का । इस के अतिरिक्त यहां 'कालात्' का अधिकार भी आ रहा है । अतः यहां 'तेन' से करणतृतीयान्त कालवाचक प्रातिपदिक का ग्रहण किया जाता है ।

१. यहां करण में तृतीया जाननी चाहिये ।
२. महाभाष्य में प्रकरणों का विभाग आह्लिकों के द्वारा दर्शाया गया है । जितना आशय एक दिन में पूरा किया जाता था उसे आह्लिक कह देते थे । यही सञ्ज्ञा अब तक व्यवहृत हो रही है । सम्पूर्ण महाभाष्य में इस समय (८४) आह्लिक हैं ।

‘निवृत्तम्’ में दोनों जगह अन्तर्भावितण्यर्थं वृत्तं धातु से कर्मणि क्तप्रत्यय किया गया है अतः ‘निवृत्तम्’ का अर्थ है—निर्वत्तितम् । वृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट ने भी यही कहा है—

“तेन निवृत्तम् । तेन करणेन निर्वत्तितमित्यर्थः । चतुरर्घ्यन्तवन्ते तेन निवृत्तम् (४.२.६८) इत्यत्र तेन कर्त्रेत्यर्थः । उभयत्राप्यन्तर्भावितण्यर्थाद् वृत्तेः कर्मणि क्तः ।”

अभ्यास [१०]

- (१) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. तेन क्रीतम् । २. तदहंति । ३. तत्र विदित इति च । ४. पङ्क्ति-
विंशति० । ५. दण्डादिभ्यो यत् । ६. तस्येश्वरः । ७. आर्हादिभोपुच्छ० ।
८. तेन निवृत्तम् । ९. अनुशतिकादीनां च । १०. प्राग्तेष्ठम् ।
- (२) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्तरूप ससूत्र सिद्ध करें—
१. मासेन निवृत्तम् । २. कशामहंति । ३. षष्ट्या क्रीतम् । ४.
पृथिव्यां विदितः । ५. प्रस्थमहंति । ६. सर्वभूमेरीश्वरः । ७. दश दशतः
परिमाणमस्य । ८. स्त्रियमहंति । ९. गोपुच्छेन क्रीतम् । १०. अभि-
गममहंति । ११. पुमांसमहंति ।
- (३) विग्रह दशति हुए निम्नस्थ तद्धितान्तरूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. वध्यः । २. विंशतिः । ३. अर्घ्यः । ४. पङ्क्तिः । ५. पार्थिवः ।
६. आशीतिकम् । ७. दण्डघः । ८. प्रास्थिकम् । ९. पञ्चाशत् ।
१०. सांवत्सरिकम् । ११. इभ्यः । १२. वास्त्रयुग्मिकः ।
- (४) तेन निवृत्तम् सूत्र अष्टाध्यायी में दो बार क्यों पढ़ा गया है ?
- (५) विंशति आदि शब्द किस लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ? इन का द्विवचनान्त
और बहुवचनान्त प्रयोग कब और कैसे किया जाता है ?
- (६) अर्घ्यशब्द का द्विविध विग्रह और ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें ।
- (७) निम्नस्थ प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—
[क] आर्हीयठक् से क्या अभिप्रेत है ?
[ख] ‘भोजनमहंति’ विग्रह का तद्धितान्तरूप (?) क्या बनेगा ?
[ग] ‘आङ्गिकम्’ में टिलोप क्यों नहीं हुआ ?
[घ] दण्डमहंति दण्डघः—यहां ‘दण्ड’ से क्या अभिप्रेत है ?
[ङ] प्रस्थैः क्रीतम्—यहां तद्धितवृत्ति क्यों नहीं होती ?
- (८) अहंति के सुप्रसिद्ध द्विविध प्रयोग दशति हुए तदहंति में सकर्मक का ही
प्रयोग क्यों माना जाता है ? कारण बताएं ।

[लघु०] इति ठञोऽधिकारः ॥

(यहां ठञ् प्रत्यय के अधिकार का विवेचन समाप्त होता है ।)

अथ त्वतलोरधिकारः

अब प्रातिपदिकों से होने वाले भाव और कर्मविषयक त्व और तल् प्रत्ययों के अधिकार का निरूपण करते हैं। ये प्रत्यय हिन्दी आदि अनेक भारतीयभाषाओं में संस्कृत से जा कर बहुत प्रचलित हुए हैं। यथा—महत्त्व, मनुष्यत्व, नेतृत्व, मातृत्व, पशुत्व, कृतघ्नता, विद्वत्ता, सुन्दरता, दासता, मूर्खता, स्वातन्त्र्य, सौन्दर्य, वैदुष्य आदि। परन्तु इन के अतिरिक्त इस प्रकरण के आदि में तुल्यार्थक एवं सादृश्यार्थक वृत्तिप्रत्यय का भी निरूपण किया गया है। यद्यपि वृत्तिप्रत्यय इस प्रकरण के उपयुक्त नहीं ठहरता तथापि अन्यत्र क्वचित् संगृहीत न होने तथा अतीव संग्राह्य होने के कारण उस का यहां सर्वप्रथम अवतरण किया जा रहा है।—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५१)

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वृत्तिः ।५।१।११४॥

(तृतीयान्तात् तुल्यमित्यर्थे वृत्तिप्रत्ययः, यत्तुल्यं तत् क्रिया चेत्) ।
ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवदधीते । क्रिया चेदिति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत्—
पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'तुल्य' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वृत्तिप्रत्यय हो परन्तु जो तुल्य हो वह क्रिया ही हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । तुल्यम् ।१।१। (सामान्ये नपुंसकम्) । क्रिया ।१।१। चेत् इत्यव्ययपदम् । वृत्तिः ।१।१। प्रत्ययः, परश्च, ङष्ठाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिष्ठत हैं । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (तुल्यम् इत्यर्थे) तुल्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वृत्ति) वृत्तिप्रत्यय हो (चेत्) यदि तुल्य होने वाला पदार्थ (क्रिया) क्रिया हो तो ।

वृत्तिप्रत्यय में इकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'वत्' ही शेष रहता है । उदाहरण यथा—

ब्राह्मणेन^१ तुल्यमधीते—ब्राह्मणवदधीते (ब्राह्मण के समान पढ़ता है) । 'ब्राह्मण टा' इस तृतीयान्त से तुल्य अर्थ में तेन तुल्यं क्रिया चेद्वृत्तिः (११५१) इस प्रकृतसूत्रद्वारा तद्धितसञ्ज्ञक वृत्तिप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण उस के अवयव सुंप (टा) का भी लुक् हो जाता है—ब्राह्मणवत् । अब तद्धितश्चाऽसंबन्धितः

१. सम्भवतः इसीलिये मध्यसिद्धान्तकौमुदी में वरदराज ने इस प्रकरण का नाम त्व-तलोरधिकारः न रख कर नञ्स्मञ्जोरधिकारः रखा है । लघुसिद्धान्तकौमुदी में भी क्वचित् ऐसा ही मुद्रितपाठ मिलता है ।
२. अत्र तुल्यार्थरतुलोपभाष्यामन्वतरस्याम् (२.२.७२) इति तुल्ययोमे तृतीया बोध्या ।

(३६८) से वर्तिप्रत्ययान्त के अव्ययसङ्गक हो जाने के कारण इस से परे प्रथमा के एकवचन सुं का अव्ययार्थार्थः (३७२) से लुक् हो कर 'ब्राह्मणवत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि क्रिया की क्रिया के साथ ही तुल्यता होती है द्रव्य या गुण के साथ नहीं । 'ब्राह्मणवदधीते' में अव्ययनक्रिया की तुल्यता ब्राह्मण के साथ नहीं की जा रही अपितु ब्राह्मण के अध्ययन के साथ की जा रही है । ब्राह्मण के अध्ययन के समान अध्ययन करता है—यह यहां अभिप्रेत है । ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनेन तुल्यं यथा भवति तथाऽधीत इत्यर्थः । ब्राह्मणवत् में ब्राह्मणशब्द ब्राह्मणकर्तृकाध्ययन अर्थ में लाक्षणिक है ।

स्त्रिया तुल्यं स्त्रीवद् वर्तते, पुंसा तुल्यं पुंवद् वर्तते—यहां स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञ्चौ भवनात् (१००३) सूत्रद्वारा वर्ति के विषय में नञ्-स्नञ् प्रत्यय नहीं होते । इस में स्त्रीपुंवञ्च (१.२.६६), स्त्रीवन्मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम् (महाभाष्य पस्पशा) इत्यादि निर्देश ज्ञापक हैं । पीछे (१००३) सूत्र पर इस का विवेचन कर चुके हैं, वहीं देखें ।

क्रिया चेविति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत्—पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ।

सूत्र में क्रिया चेत् कहा गया है, अतः जहां क्रिया की तुल्यता नहीं होती अपितु गुण या द्रव्य की तुल्यता होती है वहां प्रकृतसूत्र से वर्तिप्रत्यय नहीं होता । यथा—पुत्रेण तुल्यः स्थूलो देवदत्तः (पुत्र के समान देवदत्त मोटा है) । यहां स्थूलत्वगुण की तुल्यता दिखाई गई है क्रिया की नहीं अतः वर्तिप्रत्यय नहीं होता । 'पुत्रवत् स्थूलः' प्रयोग अशुद्ध है । इसीप्रकार 'ब्राह्मणेन तुल्यः क्षत्रियः' इस अर्थ में 'ब्राह्मणवत् क्षत्रियः' प्रयोग करना अशुद्ध है । इसीतरह 'महानसेन तुल्यः पर्वतः' इस अर्थ में 'महानसवत् पर्वतः' कहना अशुद्ध है । 'गवा तुल्यो गवयः' इस अर्थ में 'गोवद् गवयः' भी अशुद्ध है ।

इस सूत्र के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) विषयान् विषवत् त्यजेत् ।

विषयों को विष के समान छोड़ दे । यहां त्यजनक्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । विषकर्मकत्यजनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा विषयान् त्यजेदित्यर्थः ।

(२) अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति (मनु० २.२०८) ।

अध्यापन करने वाले गुरुपुत्र का गुरु के समान मान करना चाहिये । यहां 'मानमर्हति' क्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । गुरुकर्मकसत्करणक्रियया तुल्यं यथा भवति तथाऽध्यापयन् गुरुपुत्रः सत्कर्त्तव्य इति भावः ।

(३) अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत् (हितोप० प्रस्तावना) ।

बुद्धिमान् पुरुष को अजर और अमर की तरह विद्या और धन का चिन्तन करना चाहिये । यहां चिन्तनक्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । अजरामरकर्तृकचिन्तनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेदित्यर्थः ।

(४) प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् (चाणक्य०) ।

जब पुत्र सोलह वर्ष का हो जाये तो उस के साथ मित्र के समान आचरण करना चाहिये । यहां आचरणक्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । मित्रकर्मकाचरणक्रियया तुल्यं यथा स्यादेवं पुत्रमाचरेदिति भावः ।

(५) मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ (हितोप० १.१४)

जो व्यक्ति पराई स्त्रियों को माता की तरह, पराये धनों को मिट्टी के डेले की तरह तथा सब प्राणियों को अपने आप के समान देखता है वह पण्डित है । यहां दर्शन-क्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । मात्रादिविषयकदर्शनेन तुल्यं यथा भवति तथा पण्डितेन परदारादिविषयकदर्शनं विधेयमिति भावः ।

(६) चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च (सुभाषित) ।

दुःख और सुख रथ के पहियों के समान घूमते रहते हैं । यहां परिवर्तनक्रिया की तुल्यता दिखाई गई है । चक्रवत् परिवर्तनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा दुःखानि सुखानि च परिवर्तन्त इत्यर्थः ।

(७) न ह्यकूपारवत् कूपा वर्धन्ते विषुकान्तिभिः ।

चन्द्रमा की किरणों से जैसे समुद्र उछलता है वैसे कूप नहीं उछला करते । यहां वर्धनक्रिया की तुल्यता दर्शा कर पुनः उस का निषेध किया गया है । चन्द्रकिरणैः समुद्रकर्तृकवर्धनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा कूपा न वर्धन्त इति भावः ।

(८) पूर्ववत् सनः (७४२) ।

पाणिनीयमिदं सूत्रम् । अत्र आत्मनेपदम् इत्यनुवर्तते । सन् से पूर्व जो धातु, उस के समान सन्नन्त से भी आत्मनेपद होता है । यहां भवनक्रिया की समानता दर्शाई गई है । पूर्वधातोरआत्मनेपदभवनक्रियया तुल्यं यथा स्यात् तथा सन्नन्तादप्यात्मनेपदं भवतीति भावः ।

विशेष वक्तव्य— यदि क्वचित् ऐसे वर्तिप्रत्ययान्त प्रयोग देखे जायें जहां क्रिया न कही गई हो तो वहां वर्तिप्रत्यय के रक्षणार्थ किसी यथायोग्य क्रिया का अध्याहार कर उस की तुल्यता समझ लेनी चाहिये । 'पर्वतो वह्निमान् धूमवस्त्वाद् महानसवत्' इत्यादि स्थलों पर 'भवितुमर्हति' क्रिया का अध्याहार कर वर्तिप्रत्यय का साधुत्व सिद्ध किया जाता है ।

अब अग्रिमसूत्र से वर्तियों का पुनर्विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५२) तत्र तस्येव ॥१॥११५॥

(सप्तम्यन्तात् षष्ठ्यन्ताच्च इवार्थे वर्तितः प्रत्ययः स्यात्) । मथुराया-मिव—मथुरावत् स्रुध्ने प्राकारः । चैत्रस्येव—चैत्रवन्मैत्रस्य गावः ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से इव (सदृश) के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वर्ति प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम् (सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से परे षञ्चमी

का लुक् समझना चाहिये) । तस्य १५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी का सूत्र लुक् हुआ है) । इव इत्यव्ययपदम् । वतिः ११।१। (तेन तुल्यं क्रिया चेट्वतिः सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अत्रिकृत हैं । अर्थः (तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त तथा (तस्य = षष्ठ्यन्ताच्च) षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से (इव इत्यर्थे) 'इव' के अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वतिः) वतिं प्रत्यय हो जाता है ।

'इव' का अर्थ है—सदृश । इस प्रकार सदृश अर्थ में सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से इस सूत्रद्वारा वतिंप्रत्यय का विधान किया जा रहा है । पूर्वसूत्र से क्रिया की तुल्यता में वतिं का विधान किया गया था परन्तु इस सूत्र में ऐसा किसी तरह का बन्धन नहीं है, द्रव्य और गुण की तुल्यता में भी सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त से वतिं प्रत्यय किया जा रहा है । सप्तम्यन्त का उदाहरण यथा—

मथुरायामिव^१—मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः । मथुरा (में) की तरह स्रुघ्ननगर में प्राकार (परकोटा) है । यहां 'मथुरा डि' इस सप्तम्यन्त से इव (सदृश) के अर्थ में तत्र तस्येव (११५२) इस प्रकृतसूत्र से वतिं प्रत्यय, अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुंल्लुक् तथा पूर्ववत् अव्ययसञ्ज्ञा होकर अव्ययाबाप्तुंषुः (३७२) से सुंविभक्ति का लुक् करने से 'मथुरावत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यहां द्रव्य (प्राकार) की तुल्यता दर्शाई गई है^२ किसी क्रिया की नहीं अतः पूर्वसूत्र से वतिं के प्राप्त न होने पर इस सूत्र से उस का विधान किया गया है ।

षष्ठ्यन्त का उदाहरण यथा—

चैत्रस्येव—चैत्रवद् मैत्रस्य गावः । चैत्रनामक व्यक्ति की तरह मैत्रनामक

१. यहां यह ध्यातव्य है कि इवशब्द का प्रयोग होने पर उपमान और उपमेय में एक समान विभक्तियां प्रयुक्त होती हैं । यथा—

- (क) चैत्र इव मैत्रोऽधीते । (दोनों में प्रथमा प्रयुक्त हुई है)
- (ख) पुत्रमिव शिष्यं मन्यते गुरुः । (दोनों में द्वितीया प्रयुक्त हुई है)
- (ग) देवदत्तेनेव यज्ञदत्तेन कार्यमकारि । (दोनों में तृतीया प्रयुक्त हुई है)
- (घ) शत्रवे इव भ्रात्रे द्रुह्यति । (दोनों में चतुर्थी प्रयुक्त हुई है)
- (ङ) आचार्यादिव अग्रजादधीते । (दोनों में पञ्चमी प्रयुक्त हुई है)
- (च) देवदत्तस्येव यज्ञदत्तस्य दन्ताः । (दोनों में षष्ठी प्रयुक्त हुई है)
- (छ) पितरीव ज्येष्ठे भ्रातरि वर्तितव्यम् । (दोनों में सप्तमी प्रयुक्त हुई है)

२. ध्यान रहे कि यहां मथुरा और स्रुघ्न का सादृश्य नहीं बताया जा रहा अपितु प्राकारों का ही सादृश्य विवक्षित है । तात्पर्य यह है कि मथुरा में जैसा प्राकार है वैसा स्रुघ्न में है । मथुरायाम् यादृशः प्राकारस्तेन तुल्यः प्राकारः स्रुघ्ने—इति तत्त्व-बोधिनी । मथुरासम्बन्धिप्राकारसदृशः स्रुघ्नस्य प्राकार इति बोधः—इति बास-मनोरमा ।

व्यक्ति की गीएँ हैं । यहां 'चैत्र इस्' इस षष्ठ्यन्त से इव (सदृश) के अर्थ में तत्र तस्येव (११५२) इस प्रकृतसूत्र से वतिं प्रत्यय होकर अनुबन्धलोप, सुँब्लुक, पूर्ववत् अव्ययसंज्ञा तथा अन्त में अव्ययत्वात् सुँ का लुक कर देने से 'चैत्रवत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यहां गौओं की तुल्यता दर्शाई गई है किसी क्रिया की नहीं, अतः तेन तुल्यं क्रिया चोद्धतिः (११५१) सूत्र से वतिं न हो सकता था इस सूत्र से विधान किया गया है ।

इस इवार्थक वतिं के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम् (४८०) ।

तासौ इव—तास्वत् ।

(२) आद्यन्तवहेकस्मिन् (२७८) ।

आद्यन्तयोरिव आद्यन्तवत् ।

(३) देवदत्तस्येव—देवदत्तवत् तस्य दन्ताः ।

(४) क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगान्
उदधिमहति राज्ये काठयवद् बुविगाहे ।

गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः

कवय इव महीपारिचन्तयन्त्यर्थजातम् ॥ (माघ० ११.६)

काव्ये इव—काव्यवत् ।

(५) क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते स्वयि ।

पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवञ्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥

कक्षे इव—कक्षवत् ।

(रघु० ११.७५)

अब भावार्थक प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५३)

तस्य भावस्त्वतलौ ।५।१।१६॥

प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः । (षष्ठ्यन्ताद् भावेऽर्थे त्वप्रत्ययः, तलप्रत्ययश्च स्यात्) । गोभाविः—गोत्वं, गोता । त्वान्तं क्लीबम् । तलन्तं स्त्रियाम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थं प्रातिपदिक से भाव अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक त्व और तल् प्रत्यय हों । त्वान्तं क्लीबम्—त्व-प्रत्ययान्तशब्द नपुंसक में प्रयुक्त होता है । तलन्तं स्त्रियाम्—तल्-प्रत्ययान्तशब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है ।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक समझना चाहिये) । भावः ।१।१। त्व-तलौ ।१।२। प्रत्ययः, परश्च, ङाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिभूत हैं । त्वश्च तल् च त्वतलौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात् प्रातिपदिकात्) षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से (भाव इत्यर्थे) भाव अर्थ में (त्व-तलौ) तद्धितसञ्ज्ञक 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय हो जाते हैं । तल् में लकार इत् है जो स्वरार्थ जोड़ा गया है ।

यहां 'भाव' का अर्थ अभिप्राय, आशय या धात्वर्थ आदि नहीं है। इस का अर्थ है—प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः। अर्थात् प्रकृति^१ से उत्पन्न होने वाले बोध (ज्ञान) में जो विशेषणतया प्रतीत होता है उसे 'भाव' कहते हैं। यथा 'गो' यह प्रकृति है। इसके श्रवण से गोत्वयुक्त व्यक्ति का बोध होता है।^२ इस प्रकार के बोध में 'गोत्व' विशेषणतया प्रतीत होता है अतः यह भाव कहाता है। तात्पर्य यह है कि यहां शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त^३ को ही भाव कहा गया है। जातिशब्दों में जाति ही प्रवृत्तिनिमित्त या भाव हुआ करती है। यथा - गोत्वम्, पशुत्वम्, घटत्वम् आदि गो, पशु, घट आदि शब्दों के भाव हैं। कृदन्त, तद्धितान्त और समासों में सम्बन्ध ही भाव होता है। यथा—कृदन्तों में 'पाचकत्वम्' यहां पाचनक्रिया के साथ कर्तृत्वसम्बन्ध ही भाव है। तद्धितान्तों में 'ओपगवत्वम्' यहां उपगु के साथ पुत्रत्वसम्बन्ध ही भाव है। समासों में 'राजपुरुषत्वम्' यहां राजा के साथ पुरुष का स्वस्वामिभावसम्बन्ध ही भाव है। शुक्ल आदि शब्द जब गुणवाचक होते हैं तब तद्गत जाति ही उन का भाव है। यथा—शुक्ले गुणे शुक्लत्वं नाम जातिर्भावः। जब शुक्ल आदि शब्द गुणिवाचक होते हैं तब शुक्ल आदि गुण ही उन का भाव होता है। यथा—शुक्ले पटे शुक्लत्वं नाम शुक्लो गुणः। डित्थ, डवित्थ, देवदत्त आदि सञ्ज्ञाशब्दों में तत्तत्पिण्डस्वरूप ही उन का भाव होता है। कुत्वं चुत्वम् आदि में भी कवर्ग, चवर्ग आदि का स्वरूप ही भाव समझना चाहिये। इस का विस्तृत विचार महाभाष्यस्थ प्रदीपोद्योतटीका में देखें।

१. प्रत्ययात् पूर्वं क्रियते इति प्रकृतिः। जो प्रत्यय से पूर्व की जाती है अर्थात् जिस से प्रत्यय विघ्नान किया जाता है उसे 'प्रकृति' कहते हैं। यथा—'ओपगवः' में 'उपगु' प्रकृति है, 'गोत्वम्' में 'गो' और 'दाशरथिः' में 'दशरथ' प्रकृति है।
२. क्या कारण है कि एक गोव्यक्ति को देखने से संसार भर की गीओं का ज्ञान हो जाता है? एक सिंह को देख कर संसार भर के सिंह ज्ञात हो जाते हैं? इस का उत्तर यही है कि किसी एक गाय को देखने से केवल उस गोव्यक्ति का ज्ञान नहीं होता बल्कि उस के साथ साथ गोओं में रहने वाली गोत्वजाति का भी ज्ञान हो जाता है। उस गोत्वजाति के ज्ञात हो जाने से सब गीओं में उस जाति के रहने से 'यह गौ है, यह भी गौ है' इस प्रकार संसार भर की प्रत्युत आगे पैदा होने वाली भी गीओं का ज्ञान हो जाता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य सब कालों में स्थित गोव्यक्तियों में एक समानता रहती है जिसे 'गोत्व' (गायपना) कहते हैं। उसके एक बार पहचाने जाने से संसार भर की गीओं का ज्ञान हो जाता है। अत एव न्यायवैशेषिक ग्रन्थों में कहा है—नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्।
३. जिस जात्यादि धर्म के कारण शब्द का लोक में प्रचलन होता है उसे प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। यह व्युत्पत्तिनिमित्त से सर्वथा भिन्न होता है। जैसाकि साहित्यदर्पण के द्वितीयपरिच्छेद में कहा है—अन्यच्छब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम् अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। प्रवृत्तिनिमित्त का विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ (२४६) सूत्र पर कर चुके हैं वही देखें।

सूत्र का उदाहरण यथा—

गोर्भावो गोत्वं गोता वा । गौ (गाय या बैल) का भाव गौपना या गोत्व जाति । यहां 'गो ङस्' से भाव अर्थ में तत्त्व भावस्त्वतलौ (११५३) इस प्रकृतसूत्र से 'त्व' या 'तल्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् (ङस्) का लुक् हो जाता है । त्वप्रत्ययान्तशब्द नपुंसक में तथा तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं—ऐसा पाणिनीयलिङ्गानुशासन का आदेश है ।' अतः त्वप्रत्ययान्तों से विभक्तिकार्य में प्रसङ्ग में सुंप्रत्यय ला कर उसे अतोऽम् (२३४) से अम् आदेश तथा अम् पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'गोत्वम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । तल्प्रत्ययान्तों के स्त्रीत्व के कारण अजाद्यतष्टाप् (१२४६) से टाप्, अनुबन्धलोप तथा अकः सर्वर्षे दीर्घः (४२) से सर्वर्षदीर्घ करने पर—गोता । सुंप्रतिपदिक का ह्रस्वलोपः (१७६) द्वारा लोप हो कर 'गोता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

ह्रीप्रकार—घटस्य भावो घटत्वं घटता वा । पशोर्भावः पशुत्वं पशुता वा । त्व और तल् के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

- (१) अहो बुरन्ता बलबद्धिरोधिता । (किरात० १.२३)
 - (२) अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम् । (हितोप० १.१३३)
 - (३) विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्ववेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥ (पञ्च० २.५६)
 - (४) सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनघंत्वावक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ (हितोप०)
 - (५) काश्मीरजस्य कटुताऽपि नितान्तरम्या । (सुभाषितरत्न०)
 - (६) विद्या ददाति बिनयं विवयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ (हितोप०)
 - (७) मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥ (नीतिशतक)
 - (८) यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविबेकिता ।
एकैक्यमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥ (हितोप०)
 - (९) पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते । (हितोप० १.६६)
 - (१०) साधुः समत्वेन भयाद्धिमुच्यते । (भागवत०)
- अब 'त्व' और तल् प्रत्ययों का अधिकार चलाते हैं—

१. तलन्तः (लिङ्गानु० १७) । अर्थः—तल्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं ।
त्वष्यन्नो तद्धितौ (लिङ्गानु० १२०) । अर्थः—भाव में विहित तद्धितसञ्ज्ञक जो त्व और ष्यल् प्रत्यय, तदन्त शब्द नपुंसक होते हैं ।

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(११५४) आ च त्वात् ।५।१।११६॥

ब्रह्मणस्त्वः (५.१.१३५) इत्यतः प्राक् त्व-तलो अधिक्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् । चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः । स्त्रिया भावः—स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता । पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता ॥

अर्थः—ब्रह्मणस्त्वः (५.१.१३५) सूत्र से पहले पहले 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों का अधिकार किया जा रहा है । अपवादः सह—अपवादों (इमनिच् आदि प्रत्ययों) के साथ त्व और तल् प्रत्ययों का भी समावेश हो सके इसलिये यह अधिकार चलाया गया है । चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि—सूत्र में 'च' के ग्रहण का यह प्रयोजन है कि नञ् और स्नम् प्रत्ययों के साथ भी त्व और तल् प्रत्ययों का समावेश हो जाये ।

व्याख्या—आ इत्यव्ययपदम् । च इत्यप्यव्ययपदम् । त्वात् ।५।१। त्व-तलो ।१।२। (तस्य भावस्त्वतलो सूत्र से) । 'आ' यह मर्यादा अर्थ में आङ् का प्रयोग किया गया है । आङ् मर्यादावचने (१.४.८८) से इस की कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञा हो कर इस के योग में पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२.३.१०) द्वारा 'त्वात्' में पञ्चमी विभक्ति आई है । 'त्वात्' के 'त्व' शब्द से ब्रह्मणस्त्वः (५.१.१३५) सूत्र का निर्देश किया गया है । अर्थः—(आ त्वात्) ब्रह्मणस्त्वः इस सूत्र से पूर्व तक (च) भी (त्वतलो) त्व और तल् प्रत्यय अधिकृत किये जा रहे हैं । अर्थात् यहां से ले कर ब्रह्मणस्त्वः (५.१.१३५) सूत्र तक जितने सूत्र कहेंगे उन में त्व और तल् प्रत्ययों का विधान होगा । उन उन सूत्रों में अपने अपने प्रत्यय तो विधान किये ही हैं परन्तु उन के साथ त्व और तल् प्रत्यय भी हो जायेंगे—यह इस अधिकार का प्रयोजन है । यथा आगे पृथ्वादिभ्य इमनिच्वा (११५५) सूत्र से इमनिच् प्रत्यय का विधान किया गया है, परन्तु इस अधिकार के कारण उस के साथ त्व और तल् प्रत्यय भी हो जायेंगे । पृथोर्भावः—प्रथिमा (इमनिच्), पृथुत्वम् (त्व), पृथुता (तल्) । इन उदाहरणों का विवेचन वा सिद्धि आगे उसी सूत्र पर देखें ।

यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि त्व और तल् प्रत्ययों का विधान तो तस्य भावस्त्वतलो (११५३) से किया ही जा चुका है पुनः इन के लिये इस अधिकार को चलाने की क्या आवश्यकता ? इस पर ग्रन्थकार इस शङ्का का निवारण करते हुए लिखते हैं—

अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् ।

यदि त्व और तल् प्रत्ययों का प्रकृतसूत्र से अधिकार न चलाते तो अगले सूत्रों में इमनिच् आदि प्रत्ययों के द्वारा तस्य भावस्त्वतलो (११५३) से प्राप्त होने वाले त्व और तल् प्रत्ययों का बाध हो जाता जो अनिष्ट था । परन्तु अब अधिकार के व्यर्थ हो जाने के भय से उन उन प्रत्ययों के साथ त्व और तल् प्रत्ययों का भी समावेश हो

जाता है। इस अधिकार को चलाने का यही प्रयोजन है।^१

अब पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'आ च स्वात्' सूत्र के स्थान पर 'आ त्वात्' सूत्र बनाने से भी तो त्व और तल् प्रत्ययों का अधिकार चल सकता था पुनः सूत्र में 'च' के ग्रहण की क्या आवश्यकता ? इस का उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं—

चकारो नञ्स्नञ्म्यामपि समावेशार्थः ।

तात्पर्य यह है कि 'च' का प्रयोग समुच्चय के लिये किया जाता है। यथा— देवदत्तश्च भुङ्क्ते (देवदत्त भी खाता है) इस कथन में 'च' के ग्रहण के कारण किसी अन्य व्यक्ति का भी 'भुङ्क्ते' से सम्बन्ध समझ लिया जाता है। इसी प्रकार आ च स्वात् (ग्रहणस्त्वः तक भी त्व और तल् अधिकृत हैं) सूत्र में 'च' के ग्रहण से यह प्रतीत होता है कि त्व और तल् क्वचिद् अन्यत्र भी अधिकृत हैं। इन के अधिकार का वह कौन सा स्थान है ? इस का महाभाष्यसम्मत स्थान स्त्रीपुंसान्यां नञ्स्नञौ भवनात् (१००३) सूत्र का विषय है। भवन अर्थात् धान्यानां भवने ओत्रे सञ् (११६४) तक के सब अर्थों में स्त्रीशब्द से नञ् और पुंसशब्द से स्नञ् प्रत्यय अधिकृत है। इन अभवनीय अर्थों में तस्य भावस्त्वतलौ (११५३) द्वारा प्रतिपादित 'भाव' भी एक अर्थ है। इस भाव अर्थ में त्व-तल् का बाध कर नञ् और स्नञ् प्राप्त होते थे परन्तु अब आ च स्वात् (११५४) में 'च' के ग्रहण से उन के अधिकार में भी इन त्व और तल् प्रत्ययों की प्रवृत्ति हो जायेगी।^२ इस तरह भाव अर्थ में स्त्रीशब्द से नञ्, त्व और तल् और पुंसशब्द से स्नञ्, त्व और तल् तीन तीन प्रत्यय प्रत्येक से हो जायेंगे। तथाहि—

स्त्रिया भावः—स्त्रैर्न स्त्रीत्वं स्त्रीता वा (स्त्री का भाव, स्त्रीपना, जनानापन)।

यहां 'स्त्री इस्' से भाव अर्थ की विवक्षा में स्त्रीपुंसान्यां नञ्स्नञौ भवनात् (१००३) से नञ् प्रत्यय, सुंल्लुक, प्रत्यय के त्वत्त्व के कारण आदिवृद्धि एवम् अट्कुच्चाड्-नुम्यबायेऽपि (१३८) से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'स्त्रैणम्' प्रयोग सिद्ध

१. इस अधिकार का एक और प्रयोजन भी महाभाष्य और काशिका आदि ग्रन्थों में बताया गया है—कर्मणि च विधानार्थम्। इस का तात्पर्य यह है कि आगे गुणवचनत्राहणान्तरिम्यः कर्मणि च (११६०) आदि सूत्रों में जब भाव और कर्म दोनों में प्रत्यय विधान किये जायेंगे तो उन के साथ ये दोनों त्व-तल् प्रत्यय भी भाव और कर्म दोनों अर्थों में प्रवृत्त हो जायेंगे केवल भाव में ही नहीं। इस का स्पष्टीकरण आगे उसी सूत्र पर देखें।

२. भाव अर्थ में त्व-तल् द्वारा नञ्-स्नञ् का बाध ही क्यों न मान लिया जाये ? ऐसी शक्या नहीं करनी चाहिये। क्योंकि भाव अर्थ में यदि नञ्-स्नञ् करने अभीष्ट न होते तो सूत्रकार स्त्रीपुंसान्यां नञ्स्नञौ भवनात् के स्थान पर 'स्त्रीपुंसान्यां नञ्स्नञौ भावात्' ही सूत्र बनाते। 'भवनात्' कथन का अभिप्राय ही यह है कि नञ्स्नञ्विधि में भाव अर्थ भी संगृहीत हो जाये। अतः भाव अर्थ में नञ्-स्नञ् के साथ त्व-तल् का समावेश ही होता है बाध नहीं।

हो जाता है। आ च त्वात् (११५४) में 'च' ग्रहण के कारण पक्ष में त्व और तल् भी हो जायेंगे—स्त्रीत्वम्, स्त्रीता। इस प्रकार—स्त्रीणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता ये तीन रूप बनेंगे।

पुंसो भावः—पौंसम् पुंस्त्वम् पुंस्ता वा (पुरुषपना, मर्दानापन, मर्दानगी)। यहां 'पुंस् इस्' से भाव अर्थ में स्त्रीपुंसान्यां नञ्स्त्वौ भवनात् (१००३) से स्त्व् प्रत्यय, सुंलुक् तथा प्रत्यय के जित्त्व के कारण तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से आदिवृद्धि करने पर—पौस् + स्न। अब स्वादिष्वसर्बनामस्थाने (१६४) द्वारा पद-संज्ञा होने के कारण संयोगान्तस्य लोपः (२०) से संयोगान्त सकार का लोप' तथा निमित्तापाये नैमित्तिक-स्याप्यपायः इस न्यायानुसार अनुस्वार को मकारं हो कर—पौम् + स्न। नश्चापदान्तस्य झलि (७८) से अपदान्त मकार को पुनः अनुस्वार कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'पौंसम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^१ आ च त्वात् (११५४) में 'च' ग्रहण के कारण पक्ष में त्व और तल् भी हो जायेंगे। त्व और तल् में सुंलुक् हो कर संयोगान्तलोप, पुमः ऋध्यम्परे (६४) से मकार को हँत्व, पूर्व को अनुनासिक आदेश (६१), अनुस्वार का आगम (६२), रेफ को विसर्गदिश तथा सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः (वा० १५) से विसर्ग को सकारादेश करने से 'पुंस्त्वम्-पुंस्त्वम्, पुंस्ता-पुंस्ता' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।^३

अब अग्रिमसूत्रद्वारा भाव अर्थ में इमनिञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

१. अनुस्वार की गणना भी हल्प्रत्याहार में हो कर हलोऽनन्तराः संयोगः (१३) से संयोगसञ्ज्ञा हो जाती है। एतद्विषयक एक टिप्पण इस व्याख्या के प्रथमभाग में पुंसोऽसुंङ् (३५४) सूत्र पर लिखा जा चुका है वह यहां पुनर्घातव्य है।
२. 'पौंसम्' में संयोगान्तलोप करने पर पुमः ऋध्यम्परे (६४) सूत्रद्वारा हँत्व और तत्पश्चात् अनुनासिक-अनुस्वार (६१, ६२) एवं सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः (वा० १५) से विसर्ग को सकार आदेश हो जाता है—इस प्रकार का उल्लेख सिद्धान्त-कौमुदी की बालमनोरमाटीका में यहां मुद्रित मिलता है जो नितान्त अशुद्ध है। भला 'पौम् + स्न' इस स्थिति में पुमः ऋध्यम्परे (६४) कैसे प्रवृत्त होगा? खय परे कहां है? आश्चर्य तो यह है कि मद्रास्, लवपुर, वाराणसी, दिल्ली आदि कई महानगरों से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है और मुखपृष्ठ पर लिखे अनुसार कई बड़े बड़े ख्यातनामा वैयाकरण इस के सम्पादक एवं संशोधक रहे हैं, परन्तु किसी का इस ओर ध्यान ही नहीं गया। इस के अतिरिक्त बालमनोरमाटीका के मुद्रित-संस्करणों में अन्यत्र भी बीसियों स्थान अशुद्ध हैं। इन के लिये हमारा लघुकाय-ग्रन्थ बालमनोरमाभ्रान्तिद्विग्वर्शन देखना चाहिये। यह ग्रन्थ श्रीमी-प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हो चुका है।
३. अत्र ह्रस्वात् तावौ तद्धिते (८.३.१०१) इति प्राप्तस्य षत्वस्य सवनादित्वाद् (८.३.११०) निषेधो भवतीति नागेशः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५५) पृथ्वादिभ्य इमनिँच्वा ।५।१।१२१।।

(भावे पृथ्वादिभ्य इमनिँच् तद्धितप्रत्ययो वा स्यात्) । वाचनम् अणादिसमावेशार्थम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थं पृथुआदि प्रातिपदिकों से भाव अर्थ में विकल्प से इमनिँच् तद्धितप्रत्यय हो । वाचनम्—विकल्प का कथन अण् आदि प्रत्ययों के समावेश के लिये है ।

व्याख्या—पृथ्वादिभ्यः ।५।३। इमनिँच् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । तस्य ।५।३। भावः ।१।१। (तस्य भावस्त्वतलौ सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, इध्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—पृथुः (पृथुशब्दः) आदिर्येषां ते पृथ्वादयः, तेभ्यः=पृथ्वादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । पृथ्वादि एक गण है जो गणपाठ में पढ़ा गया है^१ । अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (पृथ्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः) पृथुआदि प्रातिपदिकों से (भाव इत्यर्थे) भाव अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इमनिँच्) इमनिँच् प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है ।

इमनिँच् में अनुनासिक इकार और अन्त्य चकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'इमन्' मात्र शेष रहता है । चकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है । इमनिँच्-प्रत्ययान्तशब्द संस्कृत में पुलिङ्ग होते हैं । हिन्दीभाषा की देखादेखी इन को स्त्रीलिङ्ग समझना भूल है । इन की सुँबन्तप्रक्रिया तथ्य रूपमाला राजन्शब्द की तरह होती है ।

प्रकृतसूत्र में 'वा' का ग्रहण किया गया है अतः यह सूत्र विकल्प से इमनिँच् का विधान करता है । परन्तु वह विकल्प तो प्रकारान्तरेण सिद्ध है ही, इस के लिये 'वा' कथन की आवश्यकता नहीं । तथाहि—त्व-उल् अधिकृत हैं ही, उन का भी इमनिँच् के साथ समावेश होना है ऐसा पूर्वसूत्र पर बताया जा चुका है । इस तरह इमनिँच् तो स्वतः ही विकल्प से होगा इस के लिये 'वा' का ग्रहण अनावश्यक है । इस शङ्का को मन में रख कर इस का समाधान करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

वा-वचनम् अणादिसमावेशार्थम् ।

सूत्र में 'वा' (विकल्प) का कथन त्व और तल् के समावेश के लिये नहीं किया गया । उन का समावेश तो आ च स्वात् (११५४) अधिकार के कारण सिद्ध ही था । इस का कथन इस प्रकरण के अन्यसूत्रोंद्वारा प्राप्त होने वाले अण् आदि प्रत्ययों के समावेश के लिये किया गया है । अतः इमनिँच् के वैकल्पिक होने से पक्ष में यथाप्राप्त वे प्रत्यय भी हो जायेंगे । यथा इस प्रकरण का एक सूत्र है—इगन्ताच्च लघुपूर्वात् (११५६) अर्थात् लघु वर्ण जिस के पूर्व है ऐसा जो इक्, तदन्त प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थों

१. पृथ्वादिगण यथा—

पृथु । मृदु । महत् । पटु । तनु । लघु । बहु । साधु । आशु । उरु । गुरु । बहुल । खण्ड । दण्ड । चण्ड । अकिञ्चन । बाल । होड । पाक । वत्स । मन्द । स्वादु । ह्रस्व । दीर्घ । प्रिय । वृष । ऋजु । क्षिप्र । क्षुद्र । अणु ।

में अण् प्रत्यय हो । पृथु आदि कई प्रातिपदिक इस के घेरे में आते हैं, अतः इमनिच् के अभावपक्ष में उन से अण् प्रत्यय भी हो जायेगा^१ ।

पृथुशब्द से इमनिच् प्रत्यय करने पर रविधि तथा टिलोप हुआ करते हैं अतः ग्रन्थकार सर्वप्रथम तद्विधायक सूत्रों को दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५६) र ऋतो हलादेर्लघोः ।६।४।१६१॥

हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्याद् इष्टेमेयस्सु परतः ॥

अर्थः—हलादि अङ्ग के लघु ऋकार के स्थान पर 'र' (र् + अ) यह आदेश हो इष्टन् इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय परे हों तो ।

व्याख्या -- रः ।१।१। ऋतः ।६।१। हलादेः ।६।१। लघोः ।६।१। इष्टेमेयस्सु ।७।३। (तुरिष्टेमेयस्सु सूत्र से) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । समासः—हल् आदिर्यस्य तद् हलादि, तस्य = हलादेः । 'हलादेः' यह अङ्गस्य का विशेषण है । अर्थः—(हलादेः) हल् जिस का आदि वर्ण है ऐसे (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (लघोर् ऋतः) लघु ऋकार के स्थान पर (रः) 'र' यह सस्वर आदेश हो जाता है (इष्टेमेयस्सु) इष्ट, इम, ईयस् परे हो तो ।

इष्ट से इष्टन्, इम से इमनिच् और ईयस् से ईयसुन् प्रत्ययों की ओर निर्देश किया गया है ।

'र' यह सस्वर आदेश होता है, केवल 'र्' नहीं । पृथु, मृदु आदि हलादि शब्दों में यह सूत्र प्रवृत्त होता है । इन में ऋकार लघुसंज्ञक है अतः इमनिच् आदि के परे रहते ऋकार को 'र' आदेश हो जाता है । ऋजु आदि शब्द हलादि नहीं अजादि हैं अतः वे इस सूत्र का विषय नहीं । कृष्ण आदि शब्दों में ऋकार लघु नहीं, वह संयोगे गुण (४४९) से गुरु है । अतः ऐसे शब्द भी इस सूत्र का विषय नहीं हैं ।

वार्तिककार ने इस सूत्र के विषय का परिगणन कर दिया है । पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ और परिवृढ इन छः शब्दों में ही उन्होंने 'र' का विधान माना है अन्य शब्दों

१. पृथु आदि शब्दों में इमनिच् के अभावपक्ष में—

(क) क्वचित् इगन्ताच्छ लघुपूर्वात् (११५८) से अण् हो जाता है । यथा—पृथु, मृदु, पटु आदि में ।

(ख) क्वचित् गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (११६०) से प्यञ् हो जाता है । यथा—चण्ड, खण्ड आदि गुणवचनों में ।

(ग) क्वचित् प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् (५.१.१२८) से अञ् हो जाता है । यथा—बाल, वत्स आदि वयोवाचियों में ।

(घ) क्वचित् किसी अन्य सूत्र से कोई अन्य प्रत्यय प्राप्त हो जाता है और कभी नहीं भी होता ।

इसीलिये तो मूल में 'अणादिसमावेशार्थम्' में 'आदि' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

में नहीं। आगे मूल में ही इस विषय का वार्तिक पढ़ा गया है। काशिकाकार ने इस परिगणन को इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च ।

परिपूर्वं वृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत् ॥

अब इष्टन् आदि प्रत्ययों में टि के लोप का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५७) टेः ।६।४।१५५॥

भस्य टेलोपे इष्टेमेयस्सु ॥

अर्थः—इष्टन्, इमनिच् या ईयसुन् प्रत्यय परे हो तो भसञ्जक टि का लोप हो ।

व्याख्या—टेः ।६।१। भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। लोपः ।१।१। (अल्लो-पोऽनः सूत्र से)। इष्टेमेयस्सु ।७।३। (तुरिष्ठेमेयस्सु सूत्र से) अर्थः—(भस्य टेः) भसञ्जक टि का (लोपः) लोप हो जाता है (इष्टेमेयस्सु) इष्टन्, इमनिच् अथवा ईय-सुन् प्रत्यय परे हो तो ।

अब रविधि के लिये परिगणनवार्तिक लिखते हैं—

[लघु०] वा०—(८६) पृथु-मृदु-भृश-कृश-वृढ-परिवृढानामेव रत्वम् ॥

पृथोर्भावः प्रथिमा । (इमनिचोऽभावे—)

अर्थः—इष्टन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययों के परे रहते पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ और परिवृढ इन छः शब्दों के ही ऋवर्ण को 'र' आदेश होता है अन्यो के ऋवर्ण को नहीं ।

व्याख्या—यह वार्तिक महाभाष्य में र ऋतो ह्लादेल्लघोः (११५६) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक ही समझना चाहिये । इस की व्याख्या र ऋतो ह्लादेल्लघोः (११५६) सूत्र पर की जा चुकी है । इस परिगणन के कारण अन्यत्र रत्व नहीं होता । यथा - कृतम् आचष्टे कृतयति, मातरम् आचष्टे मातयति, भ्रातरम् आचष्टे भ्रातयति—इत्यादियों में प्रातिपदिकाद् घात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च (वा०) द्वारा इष्टवत्ता के कारण णिच् के परे रहते रविधि नहीं होती । इस का विशेष विवेचन व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखना चाहिये ।

अब यहाँ प्रकरणप्राप्त पृथु आदि शब्दों से इमनिच् आदि प्रत्ययों की सिद्धि दर्शाते हैं—

पृथोर्भावः प्रथिमा (विस्तृतपना, विस्तार, विशालता, मोटापन, महत्ता आदि) ।

'पृथु डस्' से भाव अर्थ में पृथ्वाविभ्य इमनिच्वा (११५५) सूत्रद्वारा विकल्प से इमनिच् प्रत्यय होकर सुँब्लुक् करने से—पृथु + इमन् । र ऋतो ह्लादेल्लघोः (११५६) से पृथु के ऋकार को 'र' आदेश हो कर—प्रथु + इमन् । टेः (११५७) सूत्रद्वारा भसञ्जक टि (उ) का लोप करने से—प्रथ् + इमन् = प्रथिमन् । अब प्रथिमा का एकवचन सुँप्रत्यय

ला कर राजन्शब्द की तरह पुलिङ्ग में उपधादीर्घ (१७७), ह्रस्वादिलोप (१७६) तथा न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से नकार का भी लोप करने पर 'प्रथिमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में जहां इमनिच् नहीं होता वहां अभिमसूत्र से अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५८)

इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ।५।१।१३०॥'

(लघुपूर्वादिगन्तात् षष्ठ्यन्तप्रातिपदिकाद् भावे कर्मणि चाण् प्रत्ययः स्यात्) । पार्थवम् । अदिमा । मार्दवम् ॥

अर्थः—लघुवर्ण जिस के पूर्व तथा इक् जिस के अन्त में हो ऐसे षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

उदाहरण—इगन्तात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । लघुपूर्वात् । ।५।१। तस्य ।५।१। भावे ।७।१। (तस्य भावस्त्वत्तलौ सूत्र से) । कर्मणि ।७।१। (गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च सूत्र से) । अण् ।१।१। (हायनान्तयुवादिभ्योऽण् सूत्र से) । प्रत्ययः, परस्व, इयाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—लघुः पूर्वः= अचाम्पूर्वो यस्य तत् लघुपूर्वं प्रातिपदिकम्, तस्मात्= लघुपूर्वात्, बहुव्रीहिसमासः । इक् अन्तोऽन्तावयवौ यस्य तद् इगन्तम्प्रातिपदिकम्, तस्मात्= इगन्तात्, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(लघुपूर्वात्) जिस के अर्चों का पहला अच् लघु हो तथा (इगन्तात्) इक् प्रत्याहार जिस का अन्त वर्ण हो तो ऐसे (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (भावे, कर्मणि) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है । अण् में णकार अनुबन्ध है जो आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् । मुनेर्भावः कर्म वा मौनम् । शुचि और मुनि प्रातिपदिकों के अर्चों का पहला अच् लघुसञ्ज्ञक है तथा इन का अन्त वर्ण इक्प्रत्याहारान्तगत इकार है अतः इन से अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि एवं यस्येतिचलोप करने से उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हुए हैं ।^२

प्रकृत में पृथुशब्द लघुपूर्वं इगन्त है अतः जिस पक्ष में इमनिच् नहीं हुआ उस पक्ष में भाव में प्रकृत इगन्ताच्च लघु-पूर्वात् (११५८) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर सुंभुक्, प्रत्यय के णित्त्व के कारण आदिवृद्धि (६३८), रपर (२६) तथा ओर्गुणः (१००५) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक उकार को ओकार गुण और एचोऽयवायावः (२२) से ओकार को

१. क्वचिल्लघुकौमुदीसंस्करणेषु नेदं सूत्रमुपलभ्यते । परं सर्वत्र 'पार्थवम्' इत्युदाहरण-दर्शनादस्योल्लेख आवश्यकोऽत्रेति प्रतिभाति ।

२. कवेर्भावः कर्म वा काव्यम् । कविशब्द लघुपूर्वं इगन्त है अतः प्रकृतसूत्र से अण् हो कर 'कावम्' बनना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं होता । कारण कि ब्राह्मणादिगण के आकृतिगण होने से उस में कविशब्द का पाठ मान लेने से गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (११६०) सूत्रद्वारा ष्यञ् प्रत्यय हो जाता है, अण् नहीं ।

अव् आदेश करने पर—पार्थव । नपुंसक^१ में विभक्तिकार्य करने से 'पार्थवम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । आ च त्वात् (११५४) द्वारा त्व और तल् के भी अधिकृत होने से 'पृथुत्वम्, पृथुता' प्रयोग भी बनेंगे । इस प्रकार—प्रथिमा, पार्थवम्, पृथुत्वम्, पृथुता—ये चार रूप बनेंगे ।

इसी तरह—

- (१) मृदोर्भावः—मृदिमा, मार्दवम्, मृदुत्वम्, मृदुता ।
- (२) पटोर्भावः—पटिमा, पाटवम्, पटुत्वम्, पटुता ।
- (३) लघोर्भावः—लघिमा, लाघवम्, लघुत्वम्, लघुता ।
- (४) तनोर्भावः—तनिमा, तानवम्, तनुत्वम्, तनुता ।
- (५) गुरोर्भावः—गरिमा,^२ गौरवम्, गुरुत्वम्, गुरुता ।
- (६) ऋजोर्भावः—ऋजिमा, आर्जवम्, ऋजुत्वम्, ऋजुता ।
- (७) अणोर्भावः—अणिमा, आणवम्, अणुत्वम्, अणुता ।
- (८) बहोर्भावः—भूमा^३, बाहवम्, बहुत्वम्, बहुता ।
- (९) महतो भावः—महिमा,^४ महत्त्वम्, महत्ता ।
- (१०) साधोर्भावः—साधिमा, साधुत्वम्, साधुता ।
- (११) स्वादोर्भावः—स्वादिमा, स्वादुत्वम्, स्वादुता ।

१. भाव या कर्म में हुआ अण् प्रत्यय जिन के अन्त में हो वे शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं । तथाहि—

यद्-य-ढम्-यग्-अम् —अण्-वृज्-छाश्च (लिङ्गानुशासन) ।

अर्थः—भाव अथवा कर्म में विहित जो यत्, य, ढक्, यक्, अम्, अण्, वृज् और छ प्रत्यय, तदन्त शब्द नपुंसक लिङ्ग होते हैं ।

२. प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र-दीर्घ-वृन्दारकाणां प्र-स्थ-स्फ-वर्-बंहि-गर्-वर्षि-त्रप्-द्राधि-वृन्दाः (६.४.१५७) ।

अर्थः—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक—इन दस अङ्गों के स्थान पर क्रमशः प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राधि, वृन्द—ये दस आदेश हो जाते हैं, इच्छन् इमनिँच् या ईयसुन् प्रत्यय परे हो तो । इस सूत्र से यहां गुरु को गर् आदेश हो कर 'गरिमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

३. बहोर्लोपो भू च बहोः (१२२७) । अर्थः—बहुशब्द से परे इच्छन्, इमनिँच् या ईयसुन् प्रत्ययों के आदि इवर्ण का लोप हो जाता है तथा उस 'बहु' के स्थान पर 'भू' यह सवदिश भी हो जाता है । इस सूत्र से इमनिँच् के आदि इकार का लोप तथा बहुशब्द के स्थान पर 'भू' आदेश हो कर 'भूमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

४. यहां टेः (११५७) सूत्रद्वारा 'महत्' की टि (अत्) का लोप हो जाता है । इसी प्रकार—साधिमा, स्वादिमा में भी समझना चाहिये ।

- (१२) ह्रस्वस्य भावः—ह्रसिमा^१, ह्रस्वत्वम्, ह्रस्वता ।
 (१३) क्षिप्रस्य भावः—क्षेपिमा, क्षिप्रत्वम्, क्षिप्रता ।
 (१४) क्षुद्रस्य भावः—क्षोदिमा, क्षुद्रत्वम्, क्षुद्रता ।
 इन के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—
 (१) श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
 वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ (हितोप०)
 (२) तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।
 हिमांशुमाशु ब्रसते तत् तनिम्नः स्फुटं फलम् ॥ (माघ० २.४६)
 (३) तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चायिषु नृपाः ॥ (भर्तृहरि०)
 (४) आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः । (किरात०)
 (५) भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः । (मालतीमाधव १.४)
 (६) इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रस्थापितैर्गुणैः । (सुभाषित)
 (७) निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्याः स्मरन्ति विद्विंसः ।
 यत्कमपि बहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति ॥ (पञ्च० १.३१)
 (८) मानुषतासुलभो लघिमा प्रश्नकर्म्मणि मां नियोजयति । (कादम्बरी)
 (९) अयि मलयज महिमाऽयं कस्य निरामस्तु विष्वक्स्ते । (भामिनी०)
 (१०) सेवां लाघवकारिणीं कृतघ्नियः स्थाने शब्दार्त्त विदुः । (मुद्रा०)
 अब अग्रिमसूत्रद्वारा भाव में प्यञ् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५६)

वर्ण-दृढादिभ्यः प्यञ् च ।५।१।१२२॥

चाद् इमनिच् । शौक्यम्, शुक्लिमा । दाढर्धम्, द्रढिमा ॥

अर्थः—वर्ण (रङ्ग) वाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से तथा दृढादिगणपठित षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से भाव अर्थ में तद्धितसंज्ञक प्यञ् प्रत्यय भी हो जाता है ।
 चाविमनिच्—‘भी’ कथन के कारण पूर्वोक्त इमनिच् प्रत्यय भी होगा ।

व्याख्या—वर्णदृढादिभ्यः ।५।३। प्यञ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । तस्य भावस्त्वतलौ (११५३) सूत्र से ‘तस्य भावः’ का अनुवर्त्तन होता है । इस से षष्ठी समर्भविभक्ति और ‘भाव’ अर्थ उपलब्ध हो जाता है । ‘च’ ग्रहण के कारण पिछले

१. स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः (६.४.१५६) ।

अर्थः—स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र और क्षुद्र—इन छः शब्दों का परला यणादि भाग लुप्त हो जाता है तथा उस यणादिभाग से पूर्व को यथासम्भव गुण हो जाता है इष्टन्, इमनिच्, या ईयसुन् प्रत्यय परे हो तां । इस सूत्र से इमनिच् के परे रहते ‘ह्रस्व’ शब्द में ‘व’ का, क्षिप्रशब्द में ‘र’ का एवं क्षुद्रशब्द में भी ‘र’ का लोप हो जाता है । क्षिप्र और क्षुद्र शब्दों में यणादिभाग से पूर्व इकार उकार को गुण भी हो जाता है ।

पृञ्वादिभ्य इमनिञ्च्वा (११५५) सूत्र से इमनिञ्च् का भी संग्रह हो जाता है। प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। दृढादि एक गण है^१। 'वर्ण' से वर्णविशेष के वाचक शुक्ल आदि शब्दों का यहां ग्रहण अभीष्ट है। समासः— दृढः (दृढशब्दः) आदिर्येषां ते दृढादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। वर्णाश्च दृढादयश्च वर्णदृढादयः, तेभ्यः=वर्णदृढादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(भाव इत्यर्थे) भाव अर्थ में (तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (वर्णदृढादिभ्यः) वर्णविशेषवाचकों तथा दृढादिगण-पठित प्रातिपदिकों से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (ष्यञ्) ष्यञ् (च) और (इमनिञ्च्) इमनिञ्च् प्रत्यय हो जाते हैं।

ष्यञ्प्रत्यय के आदि षकार की षः प्रत्ययस्य (८३९) सूत्र से तथा अन्त्य ञकार की ह्रलन्त्यम् (१) से इत्सञ्ज्ञा हो कर दोनों का लोप हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है। ञकार अनुबन्ध आदिवृद्धि के लिये तथा षकार अनुबन्ध षिद्गौरादिभ्यश्च (१२५५) द्वारा स्त्रीत्व में डीष् प्रत्यय के विधान के लिये जोड़ा गया है।^२ उदाहरण यथा—

शुक्लस्य भावः शौक्ल्यं शुक्लिमा वा (शुक्लपना, सुफेदपना, सुफेदी)। शुक्ल-शब्द वर्णविशेष का वाचक है अतः 'शुक्ल इस्' से भाव अर्थ में प्रकृत वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च (११५९) सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा, उस के अवयव सुंप् (इस्) का लुक् (७२१), आदिवृद्धि और भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शौक्ल्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इमनिञ्चपक्ष में सुंलुक् हो कर टेः (११५७) सूत्रद्वारा टि (अ) का लोप करने से पुं० के प्रथमैक-वचन में 'शुक्लिमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। आ च त्वात् (११५४) अधिकार के कारण त्व और तल् प्रत्यय भी होंगे—शुक्लत्वम्, शुक्लता।

इसीप्रकार—

१. दृढादिगण यथा—

दृढ । वृड । परिवृढ । भृश । कृश । शुक्र । चक्र (चुक्र) । आम्र । लवण । ताम्र । अम्ल । शीत । उष्ण । जड । बधिर । पण्डित । मधुर । मूर्ख । मूक । धैर्यति-लाभ-मति-मनः-शारदानाम् (गणसूत्रम्) । समो मतिमनसोर्भवने (गणसूत्रम्) । बाल । तरुण । मन्द । स्थिर । बहुल । दीर्घ । मूढ । आकृष्ट ॥

२. स्व-ष्यञ्चौ तद्धितौ (लिङ्गानुशासन) इस वचन से भावार्थक-ष्यञ्प्रत्ययान्त शब्द यद्यपि नपुंसक में प्रयुक्त होने चाहिये तथापि ष्यञ् का षित्करण इस बात का ज्ञापक है कि लक्ष्यानुरोध से ये शब्द क्वचित् स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयुक्त होते हैं। स्त्रीलिङ्ग में ष्यञ्न्तों से डीष् (१२५५) हो कर यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का तथा ह्रलस्तद्धितस्य (१२५३) से उपधाभूत यकार का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार—मधुरस्य भावो माधुरी, चतुरस्य भावश्चातुरी, उचितस्य भाव औचित्य, निपुणस्य भावो नैपुणी, विशारदस्य भावो वैशारदी, मित्रस्य भावो मैत्री, शीलस्य भावः शैली इत्यादि रूप सिद्ध हो जाते हैं।

- (१) कृष्णस्य भावः—काष्ण्यम्, कृष्णिमा ।
- (२) हरितस्य भावः—हारित्यम्, हरितिमा ।
- (३) लोहितस्य भावः—लौहित्यम्, लोहितिमा ।
- (४) श्वेतस्य भावः—श्वैत्यम्, श्वेतिमा ।
- (५) धवलस्य भावः—धावल्यम्, धवलिमा ।
- (६) कालस्य भावः—काल्यम्, कालिमा^१ ।
- (७) पीतस्य भावः—पैत्यम्, पीतिमा ।

दृढादियों से—

दृढस्य भावो दार्ढ्यं द्रढिमा वा (दृढपना, दृढता) । दृढशब्द दृढादिगण का पहला शब्द है अतः 'दृढ इस्' से भाव अर्थ में वर्णदृढादिभ्यः घ्यञ् च (११५६) सूत्र से घ्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंल्लुक, आदिवृद्धि, रपर (२६) और यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर नपुंसक में विभक्तिकार्य करने से 'दार्ढ्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इमनिञ्चपक्ष में सुंल्लुक, र ऋतो ह्लावेर्लघोः (११५६) से ऋवर्ण को 'र' आदेश और टेः (११५७) से भसञ्जक टि (अ) का लोप करने पर—द्रढिमन् । राजन-शब्द की तरह पुलिङ्ग में विभक्तिकार्य करने से 'द्रढिमा' प्रयोग बनता है ।

दृढादिगण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) शीतस्य भावः—शैत्यम्, शीतिमा ।
- (२) उष्णस्य भावः—औष्ण्यम्, उष्णिमा ।
- (३) बधिरस्य भावः—बाधिर्यम्, बधिरिमा ।
- (४) जडस्य भावः—जाड्यम्, जडिमा ।
- (५) मधुरस्य भावः—माधुर्यम्, मधुरिमा ।
- (६) तरुणस्य भावः—तारुण्यम्, तरुणिमा^२ ।
- (७) मन्दस्य भावः—मान्द्यम्, मन्दिमा ।
- (८) मूढस्य भावः—मौढ्यम्, मूढिमा ।
- (९) मूर्खस्य भावः—मौर्ख्यम्, मूर्खिमा ।
- (१०) पण्डितस्य भावः—पाण्डित्यम्, पण्डितिमा ।
- (११) विमनसो भावः—वैमनस्यम्, विमनिमा (टि = अस् का लोप) ।
- (१२) विशारदस्य भावः—वैशारद्यम्, विशारदिमा ।
- (१३) विमतेर्भावः—वैमत्यम्, विमतिमा ।
- (१४) क्रुशस्य भावः—काश्र्यम्, क्रुशिमा (११५६) ।
- (१५) स्थिरस्य भावः—स्थैर्यम्, स्थेमा ('स्थ' आदेश) ।
- (१६) दीर्घस्य भावः—दैर्घ्यम्, द्राधिमा ('द्राधि' आदेश) ।

१. कालिमा कालकूटस्य नाऽपैतीश्वरसंगमात् । (सुभाषित)

२. अद्यः पश्यसि किं वृद्धे ! पतितं तव किं भुवि ।

रे रे मूढ न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम् ॥ (सुभाषित)

नोट—अधिकृत (११५४) होने से त्व और तल् भी सर्वत्र हो जायेंगे—
दृढत्वम्, दृढता । शीतत्वम्, शीतता । उष्णत्वम्, उष्णता । बधिरत्वम्, बधिरता ।
इत्यादि ।

पुनः ष्य् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६०)

गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ।५।१।१२३॥

चाद् भावे । जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम् । मूढस्य भावः कर्म वा
मौढ्यम् । ब्राह्मण्यम् । आकृतिगणोऽयम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त गुणवाचकों एवं ब्राह्मणादिगणपठित प्रातिपदिकों से भाव और
कर्म अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ष्य् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः ।५।३। कर्मणि ।७।१। च इत्यभ्ययपदम् ।
तस्य भावस्त्वतलो (११५३) सूत्र से 'तस्य' और 'भावः' पदों का अनुवर्तन होता है ।
ष्य् ।१।१। (वर्णदृढादिभ्यः ष्य् च सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ङष्ठाप्प्रातिपदिकात्,
तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । गुणम् उक्तवन्त इति गुणवचनाः । ब्राह्मणः
(ब्राह्मणशब्दः) आदिर्येषान्ते ब्राह्मणादयः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । गुणवचनाश्च
ब्राह्मणादयश्च गुणवचनब्राह्मणादयः, तेभ्यः=गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः ।
गुणवचन वे शब्द होते हैं जो पहले गुण अर्थ में प्रवृत्त हो कर बाद में गुण-गुणी के
अभेदोपचार या मर्तुब्लुक के कारण उस गुण से युक्त द्रव्य के वाचक हो जाते हैं । इन
का विवेचन पीछे समासप्रकरणस्थ (६२५) सूत्राङ्क पर कर चुके हैं । ब्राह्मणादि एक
गण है । जिसे आकृतिगण माना जाता है^१ । अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त

१. ब्राह्मणादिगण यथा—

ब्राह्मण । वाडव । माणव । अर्हृतो नुम् च (गणसूत्रम्) । चोर । धूर्त । आराधय ।
विराधय । अपराधय । उपराधय । एकभाव । द्विभाव । त्रिभाव । अन्यभाव ।
अक्षेत्रज्ञ । संवादिन् । संवेशिन् । संभाषिन् । बहुभाषिन् । शीर्षघातिन् । शीर्षपातिन्
(का.) । विघातिन् । समस्थ । विषमस्थ । परमस्थ । मध्यमस्थ । अनीश्वर । कुशल ।
चपल । निपुण । पिशुन । कुतूहल । क्षेत्रज्ञ । निश्च । बालिश । अलस । दुष्पुरुष ।
कापुरुष । राजन् । गणपति । अधिपति । गडुल । दायद । विशस्ति । विषम ।
विपात । निपात । सर्ववेदाविभ्यः स्वार्थे (गणसूत्रम्) । चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च (गण-
सूत्रम्) । शौटीर । मूक । कपि । विशसि । पिशाच । विशाल । धनपति । नरपति ।
निव । निघान । विष । स्वभाव । निघातिन् । राजपुरुष । विशाय । विशात ।
विजात । नयात । सुहित । दीन । विदग्ध । उचित । समग्र । शील । तत्पर ।
इदम्पर । यथातथा । पुरस् । पुनःपुनः । अभीक्ष्ण । तरतम । प्रकाम । यथाकाम ।
निष्कुल । स्वराज । महाराज । युवराज । सम्राज् । अविदूर । अपिशुन ।
अनृशंस । अयथातथ । अयथापुर । स्वधर्म । अनुकूल । परिमण्डल । विश्वरूप ।
ऋत्विज् । उदासीन । ईश्वर । प्रतिभू । साक्षिन् । मानुष । आस्तिक । नास्तिक ।
युगपद् । पूर्वाधर । उत्तराधर । आकृतिगणः ॥

(गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः) गुणवचनों तथा ब्राह्मणादिगणपठित प्रातिपदिकों से (कर्मणि भावे च) कर्म तथा भाव अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ष्यञ्) ष्यञ् प्रत्यय हो जाता है ।

अष्टाध्यायी में यहां से पूर्व केवल भाव में ही प्रत्यय विधान किये गये थे परन्तु अब यहां ष्यञ्प्रत्यय भाव और कर्म दोनों में विधान किया जा रहा है । आ च त्वात् (११५४) अधिकार के कारण त्व और तल् प्रत्यय भी भाव और कर्म दोनों में यहां हो जायेंगे । ष्यञ् के अनुबन्धों का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है—यह पीछे बताया जा चुका है ।

उदाहरण यथा—

जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम् (जड़ का भाव—जड़ता, जड़पना; अथवा जड़ का कर्म = क्रिया) । जडशब्द गुणवाची है अतः 'जड इस्' से भाव या कर्म अर्थ में गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (११६०) इस प्रकृतसूत्र से ष्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा सुंप् (इस्) का भी लुक् हो कर—जड + य । अब तद्धितेष्वच्चाभादेः (६३८) से आदिवृद्धि एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'जाड्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है' । अधिकृत होने से त्व और तल् भी हो जायेंगे—जडत्वम्, जडता । दृढादिगण में पाठ के कारण इमर्निच् भी हो जायेगा—जडिमा, परन्तु वह केवल भाव में ही होगा कर्म में नहीं । इसीप्रकार मूढस्य भावः कर्म वा मूढ्यम्, मूढत्वम्, मूढता । केवल भाव में दृढादित्वात् इमर्निच् हो कर 'मूढिमा' भी ।

ब्राह्मणादियों से ष्यञ् का उदाहरण यथा—

ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा ब्राह्मण्यम् (ब्राह्मण का भाव अर्थात् ब्राह्मणपना, अथवा ब्राह्मण का कर्म याग आदि) । ब्राह्मणशब्द ब्राह्मणादिगण का प्रथम शब्द है । अतः 'ब्राह्मण इस्' इस षष्ठ्यन्त से भाव या कर्म अर्थ में गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (११६०) सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंब्लुक्, आदिवृद्धि तथा यस्येतिचलोप कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'ब्राह्मण्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । त्व और तल् के अधिकार के कारण 'ब्राह्मणत्वम्, ब्राह्मणता' ये दो रूप भी बनेंगे ।

ब्राह्मणादियों से ष्यञ् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) चोरस्य भावः कर्म वा—चौर्यम्, चोरत्वम्, चोरता ।
- (२) मूकस्य भावः कर्म वा—मौक्यम्, मूकत्वम्, मूकता ।
- (३) चपलस्य भावः कर्म वा—चापल्यम्, चपलत्वम्, चपलता ।
- (४) कुशलस्य भावः कर्म वा—कौशल्यम्, कुशलत्वम्, कुशलता ।
- (५) निपुणस्य भावः कर्म वा—नैपुण्यम्, निपुणत्वम्, निपुणता ।

१. जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम् । (नीतिशतक १६)

- (६) विदग्धस्य भावः कर्म वा—वैदग्ध्यम्, विदग्धत्वम्, विदग्धता ।
 (७) दीनस्य भावः कर्म वा—दैन्यम्, दीनत्वम्, दीनता ।
 (८) ईश्वरस्य भावः कर्म वा—ऐश्वर्यम्, ईश्वरत्वम्, ईश्वरता ।
 (९) आस्तिकस्य भावः कर्म वा—आस्तिक्यम्, आस्तिकत्वम्, आस्तिकता ।
 (१०) अधिपतेर्भावः कर्म वा—अधिपत्यम्, अधिपतित्वम्, अधिपतिता ।
 (११) विषमस्य भावः कर्म वा—वैषम्यम्, विषमत्वम्, विषमता ।
 (१२) नरपतेर्भावः कर्म वा—नारपत्यम्, नरपतित्वम्, नरपतिता ।

इसी तरह औदासीन्यम्, पौर्वापर्यम्, तात्पर्यम्, पीनःपुन्यम्, स्वातन्त्र्यम्, आलस्यम्, औचित्यम् (औचित्ती), आनुकूल्यम्, पैशुन्यम्, आनुशंस्यम्, योगपद्यम् इत्यादि ष्यञ्प्रत्ययान्त समझ लेने चाहियें ।

आकृतिगणोऽयम् । ब्राह्मणादिगण को आकृतिगण माना गया है । अर्थात् लोक में शिष्टप्रयोगों में जहां ष्यञ् प्रयुक्त हुआ मिले और उस का विधायक कोई सूत्र या वचन न हो तो उसे भी ब्राह्मणादियों में परिगणित कर लेना चाहिये ।

अब भाव और कर्म अर्थों में सखिशब्द से 'य' प्रत्यय का बिधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६१) सख्युर्थः ।५।१।१२५॥

(षष्ठ्यन्तात् सखिप्रातिपदिकात् कर्मणि भावे च तद्धितो यः प्रत्ययः स्यात्) । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त सखि (मित्र) प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थों में तद्धित-सञ्ज्ञक 'य' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—सख्युः ।५।१। यः ।१।१। तस्य भावस्त्वतलो (११५३) से 'तस्य भावः' का तथा गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (११६०) से 'कर्मणि' का अनुवर्त्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अनुवर्त्तित 'भावः' को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर 'भावे' बना लिया जाता है । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (सख्युः प्रातिपदिकात्) 'सखि' प्रातिपदिक से (भावे कर्मणि च) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यः) 'य' प्रत्यय हो जाता है । यह प्रत्यय न तो भित्-णित् है और न ही कित्, अतः इस के परे रहते अङ्ग को आविवृद्धि नहीं होती ।

उदाहरण यथा—

सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् (मित्रता, मित्रपना, मैत्री; अथवा मित्र का कर्म) । 'सखि इस्' यहां षष्ठ्यन्त सखिप्रातिपदिक से भाव या कर्म अर्थ में प्रकृत सख्युर्थः (११६१) सूत्र से 'य' प्रत्यय हो कर सुंब्लुक् एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने पर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य कर लेने से 'सख्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । त्व और तल् के अधिकृत (११५४) होने से 'सखित्वम्' और

१. कुर्बनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।

उष्णो बहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥ (हितोप० १.८०)

समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ॥ (पञ्चतन्त्र १ ३०५)

‘सखिता’ भी बनेंगे ।

अब भाव-कर्म अर्थों में कपि (वानर) और ज्ञाति (बन्धु) प्रातिपदिकों से ढक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६२) कपि-ज्ञात्योढक् ।५।१।१२६॥

(षष्ठ्यन्ताभ्यां कपि-ज्ञातिप्रातिपदिकाभ्यां भावे कर्मणि च तद्धितो ढक् प्रत्ययः स्यात्) । कापेयम् । ज्ञातेयम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त कपि और ज्ञाति प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में तद्धितसंज्ञक ढक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कपिज्ञात्योः ।६।२। ढक् ।१।१। ‘भावे’ और ‘कर्मणि’ का पीछे से अनुवर्तन हो रहा है । प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिष्कृत हैं । कपिश्च ज्ञातिश्च कपिज्ञाती, तयोः=कपिज्ञात्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । यहां पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग प्राचीन व्याकरणों के अनुकरण के कारण किया गया है अथवा किसी प्राचीन व्याकरण का यह सूत्र पाणिनि ने यथावत् उद्धृत कर लिया है । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्ताभ्याम्) षष्ठ्यन्त (कपिज्ञात्योः = कपिज्ञातिभ्याम्) ‘कपि’ और ‘ज्ञाति’ प्रातिपदिकों से (भावे कर्मणि च) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है ।

ढक् में ककार अनुबन्ध किति च (१००१) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है । ढक् के आदि ढकार को आयनेयीनीयियः० (१०१३) द्वारा एय् आदेश हो जाता है ।

कपि और ज्ञाति यद्यपि दो प्रातिपदिक हैं और इधर भाव और कर्म दो अर्थ भी हैं तथापि इन में यथासंख्य नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानना प्रकरण और लोक के सर्वथा विरुद्ध है । व्याकरण का कार्य शिष्टप्रयोगों का साधुत्व प्रदर्शन करना होता है न कि नये नये प्रयोगों वा अर्थों का षड़ना । अतः दोनों अर्थों में ही दोनों प्रातिपदिकों से ढक् होगा । उदाहरण यथा—

कपेर्भावः कर्म वा कापेयम् (कपि का भाव अर्थात् वानरपना या वानर का कर्म अनुकरणशीलता आदि) । यहां ‘कपि ङस्’ से भाव या कर्म अर्थ में प्रकृत कपिज्ञात्योढक् (११६२) सूत्र से ढक् प्रत्यय, अनुबन्ध ककार का लोप, सुँब्लुक, आयनेयीनीयियः० (१०१३) से प्रत्यय के आदि ढकार को एय् आदेश, किति च (१००१) से आदिवृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने से—काप् एय् अ = कापेय । अब नपुंसक के प्रथमैकवचन में सुँप्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश (२३४) तथा अस्मि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर ‘कापेयम्’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।’

ज्ञातेर्भावः कर्म वा ज्ञातेयम् (बन्धुता या बन्धु का कर्म) । यहां भी ‘ज्ञाति ङस्’

१. एतदप्यस्य कापेयं यद्वर्कमुपतिष्ठति (महाभाष्य १.३.२५) । अर्थः—यह इस का वानरभाव (अन्धानुकरणशीलता) है जो यह सूर्योपस्थान सा कर रहा है ।

से पूर्ववत् भाव या कर्म में ङक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभुक्, ङ् को एय् आदेश, पञ्चन्य-वल्लक्षणप्रवृत्तिन्याय से आदिवृद्धि तथा अन्त में यस्येति च (२३६) से भसञ्चक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ज्ञातेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।'

अब कुछेक प्रातिपदिकों से भाव-कर्म में यक् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६३)

पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ।५।१।१२७॥

(षष्ठ्यन्तेभ्यः पत्यन्तेभ्यः पुरोहितादिभ्यश्च भावे कर्मणि च यक् तद्धितः स्यात्) । सेनापत्यम् । पौरोहित्यम् ॥

अर्थः—पत्यन्त एवं पुरोहितादि षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—पत्यन्त-पुरोहितादिभ्यः ।५।३। यक् ।१।१। यहां तस्य भावस्वतन्त्रो (११५३) सूत्र से 'तस्य' और 'भावः' पदों का तथा गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (११६०) सूत्र से 'कर्मणि च' पदों का अनुवर्त्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—पतिः (पतिशब्दः) अन्तः (अन्तावयवः) येषां तानि पत्यन्तादीनि, बहुव्रीहिसमासः । पुरोहितः (पुरोहितशब्दः) आदियेषां तानि पुरोहितादीनि, बहुव्रीहिसमासः । पत्यन्तानि च पुरोहितादीनि च पत्यन्तपुरोहितादीनि (प्रातिपदिकानि) । तैभ्यः=पत्यन्तपुरोहितादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । अनुवर्त्तित 'भावः' को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर 'भावे' बना लिया जाता है । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (पत्यन्त-पुरोहितादिभ्यः) पतिशब्दान्त एवं पुरोहितादि प्रातिपदिकों से (भावे कर्मणि च) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (यक्) यक् प्रत्यय हो जाता है ।

यक् में ककार अनुबन्ध है जो आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है ।

पत्यन्तों से यक् का उदाहरण यथा—

सेनायाः पतिः सेनापतिः, षष्ठीतत्पुरुषः । सेनापतेर्भावः कर्म वा सेनापत्यम् (सेनापति का भाव या सेनापति का कर्म) । 'सेनापति' शब्द के अन्त में 'पति' शब्द विद्यमान है अतः यह पत्यन्त प्रातिपदिक है । 'सेनापति ङस्' इस षष्ठ्यन्त से भाव या कर्म अर्थ में पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (११६३) सूत्र से यक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुंपु (ङस्) का लुक्, किति च (१००१) द्वारा आदिवृद्धि से एकार को ऐकार तथा अन्त में यस्येति च (२३६) से भसञ्चक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'सेनापत्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार—गृहपतेर्भावः कर्म वा गार्हपत्यम् । प्रजापतेर्भावः कर्म

१. एष प्रावृषिजाम्भोदनादी भ्राता विरौति ते ।

ज्ञातेयं कुच सौमित्रे ! भयात् त्रायस्व राघवं ॥ (भट्टि० ५.५४)

वा प्राजापत्यम् ।^१

पुरोहितादि एक गण है ।^२ पुरोहितादि से यक् का उदाहरण यथा—

पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम् (पुरोहितपना या पुरोहिताई) । पुरोहित-शब्द पुरोहितादिगण का प्रथम शब्द है । अतः 'पुरोहित इस्' इस षष्ठ्यन्त से भाव या कर्म अर्थ में प्रकृत पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (११६३) सूत्र से यक् प्रत्यय, सुंब्लुक, वाचिवृद्धि से उकार को औकार तथा अन्त में यस्येतिषलोप कर विभक्ति लाने से 'पौरोहित्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^३

इसीप्रकार—राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम् (राजपना या राजा का कर्म) ।^४ ये षाऽभावकर्मणोः (१०२३) सूत्र में 'अभावकर्मणोः' कहा गया है अतः भाव-कर्म में प्रकृति-भाव नहीं होता, नस्तद्धिते (६१६) से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप हो जाता है ।^५

१. यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि पत्यन्त होते हुए भी अधिपति, धनपति, गणपति और नरपति शब्दों से यक् नहीं होता । कारण कि इन का ब्राह्मणादियों में पाठ किया गया है अतः गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (११६०) से प्यञ् ही होता है । प्यञ् और यक् में रूपसिद्धि तो एक जैसी होती है किन्तु स्वर में अन्तर पड़ता है (यदि कहीं स्त्रीत्व विवक्षित होगा तो उस में भी अन्तर पड़ सकता है) ।

२. पुरोहितादिगण यथा—

पुरोहित । राजाऽसे (गणसूत्रम्) । संग्रामिक (ग्रामिक) । पिण्डिक । सुहित । बाल । मन्द (बालमन्द) । खण्डिक । दण्डिक । वर्मिक (वर्मित) । कर्मिक । धर्मिक । शिल्पिक (शीलिक) । सूतिक । मूलिक । तिलक (तिलिका) । अञ्जलिक । अञ्ज-निक (अञ्जलिका) । ऋषिक (रूपिक) । पुत्रिक (पुत्रक) । अषिक । छत्रिक । पषिक । पथिक (पथिका) । चर्मिक । प्रतिक । सारथि (सारथिक) । आस्तिक । सूचिक । संरक्ष । सूचक (संरक्षसूचक) । नास्तिक । अजानिक । शाकवर (राकवर) । नागर । चूडिक । एषिक । मिलिक । स्तनिक । चूडितिक । कृषिक । पूतिक । पत्रिक । सलनिक । पक्षिक । जलिक । शर्मिक । तिथ्विक । प्रचिक । प्रविक । परीक्षक (परिक्षक) । पूजनिक । मूचिक । स्वरिक ।

३. नरकाय मतिस्ते चेतुः पौरोहित्यं समाचर ।

वर्षं यावत् किमन्येन भठच्चिन्तां दिनत्रयम् ॥ (पञ्चतन्त्र २.७०)

४. स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपक्षाधिकं बभौ ।

दिनान्ते निहितं तेजः सावित्रेव हुताशनः ॥ (रघु० ४.१)

राज्ञः कर्म राज्यं प्रजापालनात्मकमिति मल्लिनाथः ।

५. पुरोहितादिगण में राजाऽसे (असमास में ही राजनशब्द पुरोहितादियों में गिना जाना चाहिये) यह एक गणसूत्र आया है । अतः असमास अवस्था में ही इस से यक् प्रत्यय होता है । समासावस्था में ब्राह्मणादित्वात् इस से प्यञ् (११६०) होता है । यथा—सुराज्ञो भावः कर्म वा सौराज्यम् । यौवराज्यम् । माहाराज्यम् । आधि-राज्यम् । इत्यादि ।

अभ्यास [११]

- (१) निम्नस्थ स्थलों की अपने शब्दों में व्याख्या करें—
- [क] क्रिया चेदिति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् ।
 [ख] प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः ।
 [ग] त्वान्तं क्लीबम् ।
 [घ] अपवादः सह समावेशार्थमिदम् ।
 [ङ] चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः ।
 [च] वाचनम् अणादिसमावेशार्थम् ।
 [छ] यद्-य-ङ्-यग्-अञ्-अण्-बुञ्-छाश्च ।
- (२) निम्नस्थ प्रयोगों की समूह सिद्धि प्रदर्शित करें—
१. सैनापत्यम् । २. कापेयम् । ३. सख्यम् । ४. जाड्यम् । ५. ब्राह्मण्यम् ।
 ६. दाढ्यम्-द्रढिमा । ७. प्रथिमा-पार्थवम् । ८. ब्राह्मणवदधीते । ९. मधु-
 रावत् क्षुब्धे प्राकारः । १०. गोत्वम् । ११. पौंस्यम्-पुंस्त्वम् । १२.
 पीरोहित्यम् । १३. शौक्यम्-शुक्लिमा ।
- (३) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्त रूप निर्दिष्ट करें—
१. स्त्रिया भावः । २. पुंसो भावः । ३. मृदोर्भावः । ४. मूढस्य भावः
 कर्म वा । ५. ज्ञातेर्भावः कर्म वा । ६. राज्ञो भावः कर्म वा । ७. बहोर्भावः ।
 ८. गुरोर्भावः । ९. क्षुद्रस्य भावः । १०. ह्रस्वस्य भावः ।
- (४) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. र ऋतो हलादेर्लघोः । २. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ।
 ३. वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च । ४. आ च त्वात् । ५. तत्र तस्येव । ६. तेन
 तुल्यं क्रिया चेदिति । ७. तस्य भावस्त्वतलौ । ८. इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ।
 ९. पृथ्वादिभ्य इमर्निञ्वा । १०. पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । ११. टेः ।
- (५) भावे ष्यञ्प्रत्ययान्त एवम् इमर्निञ्प्रत्ययान्त कोई से दस प्रयोग लिखिये ।
- (६) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—
- [क] षडेतान् रबिधी स्मेरत्—वे छः कौन कौन से हैं ?
 [ख] ष्यञ् को षित् करने का क्या प्रयोजन है ?
 [ग] स्त्रीवत् ऋद्धति—यहां नञ्प्रत्यय क्थों नहीं होता ?
 [घ] त्व, तल्, ष्वञ् और इमर्निञ् प्रत्ययान्त शब्द किस किस लिङ्ग में
 प्रयुक्त होते हैं ?
- (७) निम्नस्थ विग्रहों में कौन सा तद्धित प्रत्यय करना उचित होगा ।
१. राज्ञो भावः कर्म वा । २. सुराज्ञो भावः कर्म वा ।
- (८) पर्वतो वह्निमान् धूमवस्वान्महानसवत्—यहां क्रिया के अभाव में वर्ति-
 प्रत्यय कैसे उपपन्न हो सकता है ?

[लघु०] इति त्वतलोरधिकारः ॥

(यहां त्व और तल् प्रत्ययों के अधिकार का विवेचन समाप्त होता है।)

—:०:—

अथ भवनाद्यर्थकाः

अब अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय के द्वितीयपादस्थ तद्धित प्रत्ययों का विवेचन प्रारम्भ हो रहा है। इस पाद के प्रत्ययों को दो भागों में बांटा जा सकता है। जहाँ प्रथम भाग में भवन (उत्पत्तिस्थान) आदि विविध अर्थों में अनेक प्रत्ययों का वर्णन है वहाँ इसके द्वितीय भाग में मत्वर्थीय प्रत्ययों का सुव्यवस्थित प्रकरण है। कौमुदीकार भी इन दोनों का इसी क्रम से वर्णन करते हुए प्रथम भवनाद्यर्थक प्रत्ययों को प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६४)

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ॥५॥२॥१॥

भवत्यस्मिन्निति भवनम् । (धान्यानां भवने क्षेत्रेऽर्थे षष्ठ्यन्तेभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तद्धितः खञ् प्रत्ययः स्यात्) । मुद्गानां भवनं क्षेत्रम् मौद्गीनम् ॥

अर्थः—धान्यों के उत्पत्तिस्थान क्षेत्र अर्थ में धान्य-विशेष के वाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से तद्धितसञ्ज्ञक खञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—धान्यानाम् ॥६॥३॥ भवने ॥७॥१॥ क्षेत्रे ॥७॥१॥ खञ् ॥१॥१॥ प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। भवति = जायते = उत्पद्यते अस्मिन्निति भवनम् । यहाँ उत्पत्त्यर्थक भूधातु से अधिकरण में करणाधिकरणयोश्च (३.३.११७) सूत्रद्वारा ल्युट् प्रत्यय हो कर 'भवन' शब्द निष्पन्न होता है। इस का अर्थ है—जिस में उत्पन्न होता है अर्थात् उत्पत्तिस्थान । 'धान्यानाम्' में कृद्योगे कर्त्ता में षष्ठी समझनी चाहिये । 'भवने' पद 'क्षेत्रे' का विशेषण है। इस प्रकार 'धान्य-विशेषों के उत्पत्तिस्थान खेत' अर्थ में यह प्रत्यय विधान किया जा रहा है। किस समर्थविभक्ति से यह प्रत्यय हो? इसके लिये यहाँ बृहीत 'धान्यानाम्' के कारण षष्ठ्यन्त धान्यविशेषवाचकों से ही इस प्रत्यय का विधान माना जाता है। अर्थः—(धान्यानाम् = षष्ठ्यन्तेभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः) धान्यविशेषवाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से (भवने क्षेत्रे) उन के उत्पत्तिस्थान खेत अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (खञ्) खञ् प्रत्यय हो जाता है ।

खञ् में अकार अनुबन्ध तद्धितेऽङ्घाप्प्राप्तेः (६३८) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। 'ख' के आदि वर्ण खकार को आद्यनेमीनीभियः फल्लसङ्घां प्रत्यया-दीनाम् (१०१३) से ईन् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—Google

मुद्गानां भवनं क्षेत्रम्—मौद्गीनम् (मूंगधान्य का उत्पत्तिस्थान खेत) । यहां 'मुद्ग आम' इस धान्यविशेषवाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'उत्पत्तिस्थान क्षेत्र' इस अर्थ में प्रकृत धान्यानां भवने क्षेत्रे खम् (११६४) सूत्र से खम् प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुप् (आम्) का लुक्, प्रत्यय के आदि खकार को आयनेयीनीधियः० (१०१३) से ईन् आदेश तथा तद्धितेष्व-ष्णामावेः (६३८) सूत्रद्वारा आविवृद्धि करने पर—'मौद्ग + ईन् अ = मौद्ग + ईन्' हुआ । अब यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मौद्गीनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

- (१) गोधूमानां भवनं क्षेत्रं गौधूमिनम् (गेहूँ का खेत) ।
- (२) कुलत्थानां भवनं क्षेत्रं कौलत्थीनम् (कुल्थी का खेत) ।
- (३) कौद्रवाणां भवनं क्षेत्रं कौद्रवीणम् (कोदों का खेत) ।
- (४) नीवाराणां भवनं क्षेत्रं नीवारीणम् (स्वांक चावलों का खेत) ।
- (५) सर्षपाणां भवनं क्षेत्रं सर्षपीणम् (सरसों का खेत) ।

स्कन्दपुराण में धान्यों के अठारह प्रकार गिनाये गये हैं—

यव-गोधूम-धान्यानि तिलाः कङ्गु-कुलत्थकाः ।

भाषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः श्याम-सर्षपाः ॥

गवेषुकाश्च नीवारा आढक्यश्च सतीनकाः ।

चणकाश्चीणकाश्चैव धान्यान्यष्टादशैव तु ॥

सूत्र में 'धान्यानाम्' इस बहुवचननिर्देश से यह सूचित होता है कि यहां धान्य-शब्द से स्वरूप का ग्रहण अभीष्ट नहीं, धान्यविशेषवाचकों से ही प्रत्यय करना वाञ्छित है । किञ्च 'धान्यानाम्' कथन के कारण 'तृणानां भवनं क्षेत्रम्' इस अर्थ में खम् प्रत्यय नहीं होता ।

सूत्रगत 'भवन' शब्द से 'गृह = घर' अर्थ न समझ लिया जाये इसलिये 'क्षेत्रे' शब्द का प्रयोग किया गया है । अत एव 'मुद्गानां भवनं कुसूलम्' (मूंगधान्यों को रखने का कोठा) इस अर्थ में प्रत्यय नहीं होता । यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि 'क्षेत्रे' कथन के कारण ही 'भवन' में भूधातु को उत्पत्त्यर्थक मान कर उस का अर्थ उत्पत्ति-स्थान किया जाता है ।

लोक में इस समय भी धान्यविशेषों के उत्पत्तिस्थान के लिये ऐसे प्रयोग बहुधा पाये जाते हैं । जैसे जिस खेत में तिल बोये जाते हैं उसे प्रान्तीयभाषा में तिल-वाड़ा कहा जाता है ।

अब धान्यविशेषवाची व्रीहि (चावल) और शालि (शालीधान्य) प्रातिपदिकों से खम् के अपवाद ढक्प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६५) व्रीहि-शाल्योर्ढक् ।५।२।२॥

(षष्ठ्यन्ताभ्यां व्रीहि-शालि-प्रातिपदिकाभ्यां भवने क्षेत्रे तद्धितो ढक् प्रत्ययः स्यात्) । व्रैहेयम् । शालेयम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त व्रीहि और शालि प्रातिपदिकों से उन के उत्पत्तिस्थान खेत अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ढक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—व्रीहि-शाल्योः ।६।२। ढक् ।१।१। 'भवने क्षेत्रे' पदों का पूर्वसूत्र से अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परंश्च, ङ्याप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—व्रीहिश्च शालिश्च व्रीहिशाली, तयोः = व्रीहिशाल्योः । इतरतर-द्वन्द्वः । अर्थः—(व्रीहिशाल्योः = षष्ठ्यन्ताभ्यां व्रीहिशालिभ्याम्) षष्ठ्यन्त व्रीहि और शालि प्रातिपदिकों से (भवने क्षेत्रे) उन के उत्पत्तिस्थान खेत अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है । यह पूर्वोक्त खञ् प्रत्यय का अपवाद है ।

ढक् में ककार अनुबन्ध किति च (१००१) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है । 'ढ' प्रत्यय के आदि वर्ण ढकार के स्थान पर आयनेयीनीयियः० (१०१३) से एय् आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

व्रीहिणां भवनं क्षेत्रं व्रीहेयम् (चावलों का उत्पत्तिस्थान खेत) । यहां 'व्रीहि आम्' इस धान्यवाचक षष्ठ्यन्त से 'भवन क्षेत्र' अर्थ में धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (११६४) से प्राप्त खञ् का बाध कर प्रकृत व्रीहिशाल्योर्ढक् (११६५) सूत्रद्वारा ढक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंल्लुक्, आयनेयीनीयियः० (१०१३) से प्रत्यय के आदि ढकार को एय् आदेश और किति च (१००१) से आदिवृद्धि करने पर—'व्रीहि + एय् अ = व्रीहि + एय्' हुआ । अब यस्म्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'व्रीहेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

शालीनां भवनं क्षेत्रं शालेयम् (शाली चावलों का उत्पत्तिस्थान खेत) । यहां 'शालि + आम्' से प्रकृतसूत्रद्वारा ढक्, सुंल्लुक्, ढ् को एय् आदेश तथा पर्जन्यवल्लक्षण-प्रवृत्तिन्याय से आदिवृद्धि कर—शालि + एय् । अब यस्म्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शालेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अष्टाध्यायी के कुछ अन्य सूत्रों के अनुसार—

यवानां भवनं क्षेत्रम्—यव्यम् ।^१

तिलानां भवनं क्षेत्रम्—तिल्यं तैलीनं वा ।^२

माषाणां भवनं क्षेत्रम्—माष्यं माषीणं वा ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'हैयङ्गवीन' शब्द का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६६)

हैयङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम् ।५।२।२३॥

१. यव-यवक-षष्टिकाद् अत् (५.२.३) इति यत् ।

२. विभाषा तिल-माषीमा-भङ्गाऽणुभ्यः (५.२.४) इति वा यत् ।

पक्षे खञ् । एवमप्रेऽपि बोध्यम् ।

ह्योगोदोहशब्दस्य ह्रियङ्गुरादेशः, विकारेऽर्थे खञ् च निपात्यते ।
दुह्यते इति दोहः—क्षीरम् । ह्योगोदोहस्य विकारः—ह्रियङ्गवीनम् = नवनी-
तम् ॥

अर्थः—विकार अर्थ में षष्ठ्यन्त ह्योगोदोह (गत कल को दुहा गया गो-दुग्ध^१)
शब्द से तद्धितसञ्ज्ञक खञ् प्रत्यय हो तथा 'ह्योगोदोह' शब्द के स्थान पर 'ह्रियङ्गु'
सर्वदिश भी हो ।

व्याख्या—ह्रियङ्गवीनम् ।१।१। सञ्ज्ञायाम् ।७।१। अर्थः—(ह्रियङ्गवीनम्)
'ह्रियङ्गवीन' यह शब्दस्वरूप (सञ्ज्ञायाम्) सञ्ज्ञा में निपातन किया जाता है । लोक में
यह शब्द उस ताजे घृत या नवनीत (माखन) का वाचक है जो कल के दुहे गोदुग्ध से
बनाया गया हो । इस निपातन से यह सूचित होता है कि मुनिवर पाणिनि 'ह्योगोदोह'
शब्द से 'तस्य विकारः' के अर्थ में खञ् प्रत्यय तथा प्रकृति (ह्योगोदोह) को 'ह्रियङ्गु'
आदेश का विधान कर रहे हैं । आदिवृद्धि, गुण आदि अन्य कार्य तो स्वतः सामान्य
नियमों के अन्तर्गत सिद्ध हैं ही । तथाहि—

ह्योगोदोहस्य विकारो ह्रियङ्गवीनम् । 'ह्योगोदोह इस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक
से ह्रियङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम् (११६६) इस निपातन के कारण विकार अर्थ में तद्धित खञ्
प्रत्यय तथा प्रकृति को 'ह्रियङ्गु' आदेश हो कर सुब्लुक करने से 'ह्रियङ्गु + ख' हुआ ।
अब आयनेयोनीयियः० (१०१३) सूत्र से खप्रत्यय के आदिवर्ण खकार को ईन् आदेश,
तद्धितेष्वचामादेः (६३८) से आदिवृद्धि एवम् ओर्गुणः (१००५) से भसञ्ज्ञक उकार
को ओकार गुण करने से -ह्रियङ्गो + ईन । अन्त में एचोऽयवायावः (२२) सूत्रद्वारा
ओकार को अच् आदेश कर विभक्ति लाने से 'ह्रियङ्गवीनम्' (कल के दुहे गोदुग्ध का
विकार—माखन या घृत) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

भाष्यकार तथा अमरकोषकार आदि ताजे गोघृत का नाम 'ह्रियङ्गवीनम्'
बताते हैं ।^२ परन्तु हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित आदि इसे गौ के ताजे माखन का वाचक
मानते हैं । इस का साहित्यगत प्रयोग यथा—

ह्रियङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।

नामधेयानि पृच्छन्तो वन्यानां मार्गशास्त्रिणाम् ॥ (रघु० १.४५)

अब इस प्रकरण के एक सुप्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६७)

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ॥५॥२॥३६॥

१. दुह् (दोहना) धातु से अर्कर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् (३.२.१६) सूत्रद्वारा कर्म में
घञ् प्रत्यय करने पर 'दुह्यते इति दोहः (दुग्धम्)' इस प्रकार दुग्धवाची 'दोह'
शब्द निष्पन्न होता है । गोर्दोहः—गोदोहः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः । ह्यः (ह्यस्तनः)
गोदोहः—ह्योगोदोहः (कल का दुहा गोदुग्ध), सुँसुँपासमासः ।
२. तत्तु ह्रियङ्गवीनं यद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम् इत्यमरः ।

(प्रथमान्तेभ्यस्तारकादिभ्यः सञ्जातमस्य इत्यर्थे तद्धित इतच् प्रत्ययः स्यात्) । तारकाः सञ्जाता अस्य—तारकितं नभः । पण्डितः । आकृतिगणोऽयम् ॥

अर्थः—प्रथमान्त तारकाआदिगणपठित प्रातिपदिकों से 'सञ्जातमस्य' (उत्पन्न हो गया है इस का) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक इतच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत् १५।३। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तत्' से परे पञ्चमी के बहुवचन का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । अस्य १६।१। सञ्जातम् १।१। तारकादिभ्यः १५।३। इतच् १।१। प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । तारका (तारकाशब्दः) आदिर्येषां तानि तारकादीनि (प्रातिपदिकानि), तेभ्यः = तारकादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । तारकादि एक गण है जिस का प्रथम शब्द 'तारका' है । अर्थः—(सञ्जातम् अस्य इत्यर्थे) 'उत्पन्न हो गया है इस का' इस अर्थ में (तत् = प्रथमान्तेभ्यः) प्रथमान्त (तारकादिभ्यः) तारकादि प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इतच्) इतच् प्रत्यय हो जाता है ।

इतच् प्रत्यय का अन्त्य चकार हलन्त्यम् (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'इत' मात्र शेष रहता है । चकार अनुबन्ध चितः (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

तारकाः संजाता अस्य (नभसः)—तारकितं नभः (तारे उत्पन्न हो गये हैं इस के, ऐसा आकाश) । यहां 'तारका जस्' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'सञ्जाता अस्य' (उत्पन्न हो गये हैं इस के) इस अर्थ में प्रकृत तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्

१. तारकादिगण यथा—

तारका । पुष्प । कर्णक । मञ्जरी । ऋजीप । क्षण । सूच (सूचक) । मूत्र । निष्क्रमण । पुरीष । उच्चार । प्रचार । विचार । कुड्मल (वड्मल) । कण्टक । मुसल । मुकुल । कुसुम । कुतूहल । स्तवक (स्तवक) । किसलय । पल्लव । खण्ड । वेग । निद्रा । मुद्रा । बुभुक्षा । धेनुष्या । पिपासा । श्रद्धा । अन्न । पुलक । अङ्गारक । वर्णक । द्रोह । बोह । सुख । दुःख । उत्कण्ठा (उत्कण्ठ) । भर । व्याधि । वर्मन् । व्रण । गौरव । शास्त्र । तरङ्ग । तिलक । चन्द्रक (चन्द्र) । अन्धकार । गर्व । मुकुर (कुमुर) । हर्ष । उत्कर्ष । रण । कुवलय । गर्ध । क्षुध् (क्षुधा) । सीमन्त । ज्वर । गर । रोग । रोमाञ्च । पण्डा । कञ्जल । तूष् । कोरक । कल्लोल । स्थपुट । फल । कञ्चुक । शृङ्गार । अङ्कुर । शैवल । बकुल । श्वभ्र । आराल । कलङ्क । कदम्ब । कन्दल । मूर्च्छा । अङ्गार । हस्तक (हस्त) । प्रतिबिम्ब । विघ्न-तन्त्र (विघ्न, तन्त्र) । प्रत्यय । दीक्षा । गर्ज । गर्भादिप्राणिनि (गणसूत्रम्) । तन्द्रा । स्रवक । कर । आन्दोल । गोर । राग । आकृतिगणोऽयम् ॥

२. 'सञ्जातम्' में लिङ्ग और वचन अविवक्षित हैं । इसीतरह 'अस्य' में भी समझने चाहिये ।

(११६७) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक इतच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (जस्) का सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से लुक् हो जाता है—तारका+इत। अब यच्चि भम् (१६५) से भसञ्ज्ञा एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप कर विशेष्यानुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'तारकितम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पण्डा' सञ्जाता अस्य (पुरुषस्य) — पण्डितः पुरुषः (सत् और असत् का विवेक करने वाली बुद्धि उत्पन्न हो गई है जिस की, ऐसा पुरुष)। यहां 'पण्डा सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'सञ्जाता अस्य' के अर्थ में तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् (११६७) सूत्र से इतच् प्रत्यय, सुंलुक् तथा भसञ्ज्ञक आकार का यस्येति च (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'पण्डितः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समर्द्धाशिनः—(गीता ५.१८)।

तारकादि आकृतिगण है। गण में न पढ़े जाने पर भी लौकिक शिष्टप्रयोगों को देख कर इतच् की प्रवृत्ति समझ लेनी चाहिये।

तारकादियों से इतच् के कुछ अन्य उदाहरण—

- (१) पुष्पाणि संजातानि अस्य—पुष्पितो वृक्षः।
- (२) कुसुमानि संजातानि अस्याः—कुसुमिता लता।
- (३) बुभुक्षा सञ्जाताऽस्य—बुभुक्षितो बालः।^१
- (४) पिपासा संजाताऽस्य—पिपासितः पुरुषः।
- (५) पुलकाः संजाता अस्य—पुलकितं वपुः।
- (६) व्याधिः संजातोऽस्य—व्याधितः पुरुषः।
- (७) उत्कण्ठा सञ्जाताऽस्य—उत्कण्ठितो नरः।
- (८) तरङ्गाः सञ्जाता अस्य—तरङ्गितः सागरः।
- (९) विघ्नाः सञ्जाता अस्य—विघ्नितं कार्यम्।^२
- (१०) निद्रा सञ्जाताऽस्य—निद्रितो बालः।
- (११) रोमाञ्चः संजातोऽस्य—रोमाञ्चितो देहः।
- (१२) अभ्राणि^३ संजातान्यस्य—अभ्रितं नभः।
- (१३) गर्वः सञ्जातोऽस्य—गर्वितो मूर्खः।^४
- (१४) कलङ्कः सञ्जातोऽस्याः—कलङ्कितो युवतिः।

१. सदसद्विवेकशालिनी बुद्धिः पण्डा।

२. बुभुक्षितैर्भ्यांकरणं न भुज्यते पिपासितैः काभ्यरसो न पीयते।

न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवाध्यायं निष्कला गुणाः॥

(सुभाषिरत्नभाष्यागार)

३. जहार सीतां पक्षीन्प्रयासक्षञ्चिन्तितः। (रघु० १२.५३)

४. अभ्रं मेघो वारिबाहूः स्तनयित्नुर्बलाहकः इत्यमरः।

५. कोऽर्यान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः। (हितोप० २.१५३)

- (१५) मूच्छां सञ्जाताऽस्य—मूच्छितः पुमान् ।
 (१६) फलानि सञ्जातान्यस्य—फलितो द्रुमः ।
 (१७) दुःखं सञ्जातमस्य—दुःखितो राजा ।
 (१८) सुखं सञ्जातमस्य—सुखितः पुरुषः ।
 (१९) तन्द्रा सञ्जाताऽस्य—तन्द्रितो नरः ।
 (२०) दीक्षा सञ्जाताऽस्य—दीक्षितो ब्राह्मणः ।

अब प्रमाणवाचकों से प्रमेय का बोध कराने के लिये तीन प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६८)

प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः । ५ । २ । ३७ ।

तदस्येत्यनुवर्तते । (तत्प्रमाणमस्य इत्यर्थे प्रमाणे वर्तमानात् प्रथमान्तात् प्रातिपदिकाद् द्वयसच् दघ्नच् मात्रच् इत्येते त्रयस्तद्धिताः प्रत्ययाः स्युः) । ऊरु प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम् ॥

अर्थः—प्रमाण में वर्तमान प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'वह प्रमाण है इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय हों ।

व्याख्या—प्रमाणे ७।१। द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः । १।३। 'तद्, अस्य' इन दो पदों का तदस्य संज्ञात् तारकादिभ्य इत्च् (११६७) सूत्र से अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिभूत हैं । समासः—द्वयसच् च दघ्नच् च मात्रच् च द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(प्रमाणे) प्रमाण में वर्तमान (तत् = प्रथमान्तेभ्यः) प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) 'प्रमाण है इस का' इस अर्थ में (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः) द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय हों ।

इस नदी में घुटने घुटने जल है, यहां ऊरु जितना जल है, यहां कन्धों कन्धों जल है—इत्यादिप्रकारेण जब जानु आदि प्रमाण (माप) द्वारा जल आदि प्रमेय का बोध कराना अभीष्ट होता है तब तत्प्रमाण में प्रयुक्त शब्दों से इन प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है ।

द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् इन तीनों का अन्त्य चकार इत् है । चकार अनुबन्ध चितः (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है ।

उदाहरण यथा—

ऊरु प्रमाणञ् अस्य—ऊरुद्वयसम् ऊरुदघ्नम् ऊरुमात्रं वा (ऊरु अर्थात् पट्ट है प्रमाण जिस का ऐसा नदीजल आदि) । यहां प्रमाण में प्रयुक्त 'ऊरु सुं' इस प्रथमान्त से 'प्रमाण है इस का' इस अर्थ में प्रकृत प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः (११६८) सूत्रद्वारा द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय पर्याय से लाने पर अनुबन्ध चकार का लोप, सुंलुक् तथा विशेष्यानुसार नपुंसक में विभक्तिकार्य करने से 'ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्,

ऊरुमात्रम्' ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। ऊरुद्वयसमस्या नञा जलम् ऊरुद्वयसम् ऊरुमात्रं वा।

इसीप्रकार—

जानु प्रमाणमस्य—जानुद्वयसम्, जानुदघ्नम्,^१ जानुमात्रम् (घुटने जितना प्रमाण वाला जल आदि), नाभिः प्रमाणमस्याः—नाभिद्वयसी, नाभिदघ्नी, नाभिमानी^२ (नाभि जितने प्रमाणवाली परिखा, भीत आदि)। सौधः प्रमाणमस्य—सौधद्वयसः, सौधदघ्नः, सौधमात्रः (महल जितना ऊँचा वृक्ष आदि)। अंसः प्रमाणमस्य—अंसद्वयसः, अंसदघ्नः, अंसमात्रः (कन्धे जितने प्रमाण वाला क्षुप आदि)।

नोट—प्रमाण (माप) कई प्रकार के होते हैं। कुछ प्रमाण दीवार, जल आदि ऊँची वस्तुओं को मापते हैं, कुछ प्रमाण पट, खेत आदि फैली वस्तुओं को और कुछ भार-वजन आदि के परिमापक होते हैं। यहां किस प्रकार के मान में ये प्रत्यय हों? इस का समाधान महाभाष्य में इस तरह दिया गया है—

प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतो मम ॥

अर्थात् प्रथम (द्वयसच्) और द्वितीय (दघ्नच्) प्रत्यय ऊँचाई के मान में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे 'जानुदघ्नं जानुद्वयसं वा जलम्' अर्थात् घुटने जितने ऊँचा जल है। परन्तु मात्रच् प्रत्यय सब प्रकार के मानों में प्रयुक्त होता है। यथा—जानुमात्रं जलम्, प्रस्थमात्रमन्नम्, हस्तमात्रः पटः, आदि। अतः किसी कपड़े के मापने में 'हस्तद्वयसः' या 'हस्तदघ्नः पटः' लिखना अशुद्ध है, इस के लिये मात्रच् का ही प्रयोग करना चाहिये।

अब परिमाण में वर्तमान यद्, तद् और एतद् शब्दों से प्रमेय का बोध कराने के लिये वतुप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

१. कियन्मात्रं जलं विप्र ! जानुदघ्नं नराधिप ! ।

तथापीयम्बस्था ते, नहि सर्वे भवावृषाः ॥

यहां एक दन्तकथा प्रसिद्ध है कि एक बार किसी नदी के किनारे महाराज भोज ने किसी निर्धन फटेवस्त्र ब्राह्मण से पूछा—कियन्मात्रं जलं विप्र (हे ब्राह्मण ! इस नदी का जल कितना गहरा है?) ब्राह्मण ने उत्तर दिया—जानुदघ्नं नराधिप (हे राजन् ! इस का जल घुटने-प्रमाण है)। राजा ने ब्राह्मणद्वारा प्रयुक्त दघ्नच् प्रत्यय के प्रयोग से भांप लिया कि यह ब्राह्मण व्याकरणशास्त्र का अच्छा ज्ञाता है। तब उन्होंने उस से पुनः कहा—तथापीयम्बस्था ते (तुझ जैसे विद्वान् की यह बुद्धिशा !)। इस पर ब्राह्मण ने उत्तर दिया—न हि सर्वे भवावृषाः (राजन् ! सब लोग आप जैसे विद्वत्पारखी नहीं होते अतः मेरी यह दुर्दशा है)।

२. जब विशेष्य स्त्रीलिङ्ग होता है तब द्वयसच्-अदिप्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में टिड्ढाणञ्-द्वयसञ्-दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कम्-ववरपः (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय लाकर यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप हो जाता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६६)

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वर्तुप् १५।२।३६॥

(‘तत्परिमाणमस्य’ इत्यर्थे परिमाणे वर्त्तमानेभ्यः प्रथमान्तेभ्यो यत्तदेतेभ्यस्तद्धितसञ्ज्ञो वर्तुप् प्रत्ययः स्यात्) । यत् परिमाणमस्य यावान् । तावान् । एतावान् ॥

अर्थः—परिमाण में वर्त्तमान यद्, तद् और एतद्—इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से ‘वह है परिमाण इस का’ इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वर्तुप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—यत्तदेतेभ्यः १५।३। परिमाणे ७।१। वर्तुप् १।१। तदस्य सञ्ज्ञातं तारकादिभ्य इतच् (११६७) सूत्र से ‘तदस्य’ पदों का अनुवर्त्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङधाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । यत् च तत् च एतच्च, तेभ्यः = यत्तदेतेभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(परिमाणे) परिमाण में वर्त्तमान (तत् = प्रथमान्तेभ्यः) प्रथमान्त (यत्तदेतेभ्यः) यद्, तद् और एतद् प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) ‘वह परिमाण है इस का’ इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वर्तुप्) वर्तुप् प्रत्यय हो जाता है ।

वर्तुप् में उकार और पकार इत् हैं, इतों का लोप हो कर ‘वत्’ मात्र शेष रहता है । उकार अनुबन्ध उगित्कार्यों के लिये तथा पकार अनुवात्तो सुंप्पितौ (३.१.४) द्वारा अनुदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

यत् परिमाणमस्य—यावान् (जो परिमाण है इस का अर्थात् जितना) । परिमाण में वर्त्तमान ‘यद् सुं’ इस प्रथमान्त यद् प्रातिपदिक से ‘परिमाण है इस का’ इस अर्थ में यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वर्तुप् (११६६) सूत्र से वर्तुप् प्रत्यय, उकार पकार अनुबन्धों का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुंप् का लुक् करने से—यद् + वत् । अब आ सर्वनाम्नः (३४८) से वर्तुप् के परे रहते यद् सर्वनाम्न के दकार को आकार आदेश तथा अकः सवर्णं दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर ‘यावत्’ शब्द निष्पन्न होता है । यह शब्द विशेष्य के अनुसार लिङ्ग को धारण करता है । पुलिङ्ग की विवक्षा में प्रथमा के एकवचन में सुं प्रत्यय को ला कर अत्वसन्तस्य चाऽघातोः (३४३) से उपधादीर्घ, उगिद्वर्णां सर्वनामस्थानेऽघातोः (२८६) से नुंम् आगम (यावान्त् + स्), हल्ङ्घादिलोप (१७६) एवं संयोगान्तलोप (२०) कर देने से ‘यावान्’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में उगित्परश्च (१२५०) द्वारा डीप् प्रत्यय हो कर विभक्तिकार्य करने से—यावती । नपुंसक में स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) द्वारा सुं का लुक् कर देने से—यावत् । यावत्, यावती, यावन्ति ।

इसीप्रकार—तत् परिमाणमस्य तावान् (पुं०) । स्त्रीलिङ्ग में—तावती, तावत्यौ, तावस्यः । नपुंसक में—तावत्, ताम्बही, ताम्बि ।

एतत् परिमाणमस्य—एतावान् (पुं०) । स्त्रीलिङ्ग में—एतावती, एतावत्यौ, एतावत्यः । नपुंसक में—एतावत्, एतावती, एतावन्ति ।

इन के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा —

[क] एतावानस्य महिमा

अतो ज्यायांश्च पूरुषः ॥ (ऋग्वेद १०.६.३)

[ख] एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे

प्रतिस्वनेनास्य गृहागतेन ।

शिल्पोच्चयोऽपि क्षितिपालमुर्ध्वः

प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेषु ॥ (रघु० २.५१)

[ग] यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।

तावान् सर्वेषु देवेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ (गीता २.४६)

[घ] स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।

यावत्तंषां समाप्येरन् यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ॥ (रघु० १७.१७)

[ङ] पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम् ।

दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते ॥ (कुमार० २.३३)

[च] यावता सम्भवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ (मनु० ८.१५५)

अब परिमाण में वर्तमान किम् और इदम् प्रातिपदिकों से प्रकारान्तरेण घतुंप् प्रत्यय का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७०) किमिदम्भ्यां वो घः ।५।२।४०॥

आभ्यां वतुंप्, वकारस्य घश्च ॥

अर्थः—परिमाण में वर्तमान किम् और इदम् इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वतुंप् प्रत्यय हो तथा वतुंप् के वकार को घकार आदेश भी हो ।

व्याख्या—किमिदम्भ्याम् ।५।२। वः ।६।१। घः ।१।१। (घकारादकार उच्चारणार्थः) । परिमाणे ।७।१। वतुंप् ।१।१। (यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुंप् सूत्र से) । तदस्य सञ्ज्ञातं तारकादिभ्य इतच् (११६७) सूत्र से 'तदस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाःप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(परिमाणे) परिमाण में वर्तमान (किमिदम्भ्याम्) किम् और इदम् (तत् = प्रथमान्ताभ्याम्) प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वतुंप्) वतुंप् प्रत्यय हो तथा उस के (वः) वकार के स्थान पर (घः) घ आदेश भी हो ।

पूर्ववत् वतुंप् का 'वत्' मात्र शेष रहता है । वत् के वकार को घकार आदेश हो कर 'घत्' बन जाता है । पुनः आयनेयीनीयियः फट्सञ्ज्ञां प्रथयादीनाम् (१०१३) सूत्र से घत् के आदि घ् को इय् आदेश हो कर—'इय् अत् = इयत्' प्रत्यय बन जाता है ।

किम् से वतुंप् का उदाहरण यथा—

किम् परिमाणमस्य—कियान् (क्या है परिमाण इस का अर्थात् कितना, How much) । यहां परिमाण में वर्तमान 'किम् सुँ' इस प्रथमान्त से किञ्चिदन्त्यां वो घः (११७०) इस प्रकृतसूत्रद्वारा 'बह परिमाण है इस का' इस अर्थ में वर्तुप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा वर्तुप् के आदि वकार को घकार आदेश कर सुँप् का लुक् करने से—किम् + घत् । अब आयनेयीनीयियः० (१०१३) से घत् प्रत्यय के आदि वर्ण घ् को इय् आदेश हो जाता है—किम् + इयत् । इस स्थिति में 'अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७१) इदंकिमोरीशकी । ६।३।८६॥

दृग्दृशवर्तुषु इदम् ईश्, किमः की स्यात् । कियान् । इयान् ॥

अर्थः—दृक् दृश या वर्तुं परे हो तो इदम् के स्थान पर 'ईश्' तथा किम् के स्थान पर 'की' सवदिश हो ।

व्याख्या—इदंकिमोः । ६।२। ईश्-की इति लुप्तप्रथमाद्विवचनान्तं रूपम् । दृग्दृशवर्तुषु । ७।३। (दृग्दृशवर्तुषु सूत्र से) । ईश् च की च ईशकी, इतरेतरद्वन्द्वे सौत्रत्वाद्विभक्तेर्लुक् । अथवा 'ईश्, की' इत्येवं द्वे पदे बोध्ये । अर्थः—(दृग्दृशवर्तुषु) दृक्, दृश या वर्तुं परे हो तो (इदंकिमोः) इदम् और किम् के स्थान पर (ईशकी) 'ईश्' और 'की' ये आदेश हो जाते हैं ।

यथासंख्यमनुवेशः समानाम् (२३) से इदम् के स्थान पर 'ईश्' तथा किम् के स्थान पर 'की' आदेश होगा । ईश् में शकार इत् है अतः शित्त्व के कारण अनेकालिप्तार्थस्य (४५) सूत्रद्वारा यह आदेश इदम् शब्द के स्थान पर सवदिश होगा । 'की' आदेश भी अनेकाल् होने से किम् के स्थान पर सवदिश होगा ।

'किम् + इयत्' यहां एकदेशबिकृतजनन्यवर्तुषु के अनुसार वर्तुं के परे रहते प्रकृत इदंकिमोरीशकी (११७१) सूत्र से 'किम्' के स्थान पर 'की' सवदिश हो कर—'की + इयत्' हुआ । अब यस्येति च (२३६) से भसञ्जक ईकार का लोप करने से 'क् + इयत् = कियत्' शब्द निष्पन्न होता है । 'पुं० की विवक्षा में प्रथमा के एकवचन में इस से परे सुँ ला कर उपधादीर्घ (३४३), नुंम् का आबम (२८६), हल्ङ्यादिलोप तथा अन्त में संयोजनान्तलोप (२०) कर देने से 'कियान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । धीमत् शब्द के समान इस की पुलिङ्ग में रूपमात्ता चलती है—कियान्, कियन्ती,

१. 'की' आदेश में ईकार रखने का बहाना यहाँ सवदिश के सिवाय अन्य कोई उपबोध नहीं तथापि दृक् और दृश में क्रमशः कीदृश् और कीदृश् बनाने में इस का उपबोध स्पष्ट है ।

२. कियत् शब्द का साहित्यिक प्रयोग क्या—

विद्यन्तु तुष्यन्तरत्तं अकल्प्यः तथोक्तं पञ्चात्म्यं हेकल्प्यः ।

तथासंख्यमेव तुष्यन्तीतलैर्भेदकीभिः कल्प्योक्तः कियान् ॥

(नैषध० १.१३०)

कियन्तः । स्त्रीत्व की विवक्षा में उगितश्च (१२५०) से डीप् हो कर कियती, कियत्यौ, कियत्यः । नदीवत् । नपुंसक में 'कियत्, कियती, कियन्ति' शकृत्शब्दवत् ।

इदम् से वर्तुप् का उदाहरण यथा—

इदं प्रमाणमस्य—इयान् (यह है परिमाण इस का अर्थात् इतना) । यहां 'इदम् सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में किमिदम्भ्यां बो धः (११७०) सूत्र से वर्तुप् प्रत्यय तथा साथ ही उस के वकार को घकार आदेश हो कर सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् का लुक् हो जाता है—इदम् + घत् । अब आद्यनेयीनीयिभ्यः० (१०१३) से घ् को इय् आदेश एवम् इदंकिमोरीशकी (११७१) द्वारा इदम् को ईश् सवदिश करने पर 'ई + इयत्' इस स्थिति में यस्येति च (२३६) से भसञ्जक ईकार का लोप करने से 'इयत्' शब्द निष्पन्न हो जाता है । पुनः इस से पूर्ववत् पुलिङ्ग में विभक्तिकार्य करने से—इयान्, इयन्तौ, इयन्तः । स्त्रीलिङ्ग में डीप् (१२५०) कर—इयती, इयत्यौ, इयत्यः । नपुंसक में इयत्, इयती, इयन्ति ।

विशेष वक्तव्य—इयत् शब्द की सिद्धि में 'इदम्' प्रकृति को प्रथम ईश् (ई) आदेश हो पुनः उस का भी यस्येति च (२३६) द्वारा लोप करने से केवल प्रत्ययमात्र 'इयत्' ही शेष रह जाता है, प्रकृति का कहीं नामोनिशान नहीं रहता । इस प्रकृतिलयता तथा प्रत्ययमात्र की अवशिष्टतारूप सादृश्य को ले कर एक चमत्कारपूर्ण प्राचीन पद्य बहुधा उद्धृत किया जाता है—

उदितवति परस्मिन् प्रत्यये शास्त्रयोनी
गतवति विलयं च प्राकृतेऽपि प्रपञ्चे ।
तपदि पदमुधीते केवलः प्रत्ययो यत्
तद्वियदिति मिमीते को हृवा पण्डितोऽपि ॥ (प्रौढमनोरमा)

यह मालिनी छन्द है । श्लेषद्वारा व्याकरण और वेदान्त दोनों पक्षों में इस का अर्थ किया जाता है । तथाहि—

व्याकरणपक्ष में—व्याकरणप्रक्रिया के अनुसार प्रकृति से परे प्रत्यय ला कर जब सम्पूर्ण प्रकृति का लोप हो एक ऐसा पद उत्पन्न हो जाता है जो केवल प्रत्ययमात्र ही होता है, तो वह पद 'इयत्' ही है इसे पण्डित होता हुआ भी कौन हृदय से पहचान पाता है ?

वेदान्तपक्ष में—शास्त्राभ्यासद्वारा जब पराकोटि ज्ञान का उदय हो कर प्रकृति (माया) का सम्पूर्ण जञ्जाल छिन्नभिन्न हो जाता है तब एक ऐसा पद उत्पन्न हो जाता है जो केवल ज्ञानमात्र ही होता है । वह इतना है अर्थात् उस की इयत्ता का कौन पण्डित पुरुष भी हृदय से अनुमान कर सकने में समर्थ हो सकता है ?

अब अवयवपरक संख्यावाचकों से अवयवी का बोध कराने के लिये तयप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७२)

संख्याया अवयवे तयप् ।५।२।४२।।

[अवयवे वर्तमानात् संख्यावाचकात् प्रथमान्तात् प्रातिपदिकाद् अस्ये-
त्यर्थे तद्धितस्तयप् प्रत्ययः] । पञ्च अवयवा अस्य—पञ्चतयम् ।।

अर्थः—अवयव में वर्तमान संख्यावाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अवयव हैं
इस के' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तयप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—संख्यायाः ।५।१। अवयवे ।७।१। तयप् ।१।१। तदस्य संज्ञात् तारका-
बिम्ब इतच् (११६७) सूत्र से 'तदस्य' पदों का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च,
ञ्चाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधि कृत हैं । अर्थः—(अवयवे) अवयव में
वर्तमान (तत् = तस्मात् = प्रथमास्तात्) प्रथमान्त (संख्यायाः) संख्यावाचक प्रातिपदिक
से (अस्य इत्यर्थे) 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तयप्) तयप्
प्रत्यय हो जाता है ।

तयप् का पकार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'तय'
मात्र शेष रहता है । पकार अनुबन्ध अनुदासौ सुंप्पितौ (३.१.४) सूत्रद्वारा अनुदात्तस्वर
के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

पञ्च अवयवा अस्य—पञ्चतयम् (पांच अवयव हैं इस के, अर्थात् पाञ्च
अवयवों वाला अवयवी) । यहां अवयव में वर्तमान 'पञ्चन् जस्' इस संख्यावाचक
प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में संख्याया अवयवे तयप् (११७२)
सूत्र से तयप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त के कारण प्रातिपदिकसञ्ज्ञा
हो कर सुंप् का लुक कर देने से—पञ्चन् + तय । अब स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४)
द्वारा पदसञ्ज्ञा के कारण पदान्त नकार का न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से
लोप कर नपुंसक में विभक्तिकार्य करने से 'पञ्चतयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।
स्त्रीत्व की विवक्षा में टिड्हाणञ्द्वयसञ्ज्ञान्मात्रञ्चापञ्चञ्चञ्चरपः (१२५१) सूत्र
से डीप् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'पञ्चतयी' बनेगा ।'

१. तयप्प्रत्ययान्तों अथवा अयच्प्रत्ययान्तों का जब सामान्यतः धर्मप्रधान निर्देश किया
जाता है तब नपुंसकलिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग के द्वारा ही निर्देश हुआ करता है ।
यथा—चित्तवृत्तीनां पञ्चतयम्, चित्तवृत्तीनां पञ्चतयी । वर्णानां चतुष्टयम्,
वर्णानां चतुष्टयी । लोकानां त्रयम्, लोकानां त्रयी । पक्षयोर्द्वयम्, पक्षयोर्द्वयी ।
समासद्वारा भी कहा जा सकता है—मुनीनां त्रयं मूनित्रयम् । परन्तु जब धर्म-
प्रधान निर्देश विवक्षित होता है तब विशेष्य के अनुसार लिङ्ग हुआ करता है ।
यथा—त्रयाः त्रये वा लोकाः, त्रय्यः स्थितयः, त्रयाणि जगन्ति । द्वये प्राजापत्या
देवाश्चासुराश्च (ब्राह्मण०) दोनों प्रजापति की सन्तान हैं, देवता और असुर ।
त्रये, त्रयाः, द्वये, द्वयाः—ये प्रथमा के बहुवचन जस् के परे रहते प्रथमचरमतयाल्पा-
र्थकतिपयनेमाश्च (१६०) सूत्रद्वारा वैकल्पिक सर्वनामसञ्ज्ञा के कारण बनते हैं ।
अन्यत्र सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से सर्वनामकार्य नहीं होते—द्वयानाम्, त्रयाणाम्,
पञ्चतयानाम् आदि ।

इसीप्रकार—

चत्वारोऽवयवा अस्य—चतुष्टयम् ।^१

षड् अवयवा अस्य—षट्त्तयम् ।^२

सप्त अवयवा अस्य—सप्ततयम् ।

अष्टौ अवयवा अस्य—अष्टतयम् ।

नव अवयवा अस्य—नवतयम् । इत्यादि ।

अब द्वि और त्रि शब्दों से परे तयप् के स्थान पर वैकल्पिक अयच् का विधान दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७३)

द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ।५।२।४३॥

[द्वित्रिभ्यां परस्य तयस्य 'अयच्' इत्यादेशो वा स्यात्] । द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् ॥

अर्थः—द्वि और त्रि प्रातिपदिकों से परे 'तय' के स्थान पर विकल्प कर के 'अयच्' आदेश हो ।

व्याख्या—द्वित्रिभ्याम् ।५।२। तयस्य ।६।१। अयच् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । द्विश्च त्रिश्च द्वित्री, ताम्भ्याम् = द्वित्रीभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(द्वित्रिभ्याम्) द्वि और त्रि प्रातिपदिकों से परे (तयस्य) 'तय' के स्थान पर (वा) विकल्प से (अयच्) अयच् आदेश हो जाता है ।

अयच् का चकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है । यह चित्तः (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । अनेकाल् होने से अयच् आदेश सम्पूर्ण अय के स्थान पर होगा । उदाहरण यथा—

द्वौ अवयवौ अस्य—द्वयं द्वितयं वा (दो अवयव हैं इस के अर्थात् दो अवयवों वाला अवयवी) । यहां अवयव में वर्तमान 'द्वि औ' से 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में संख्याया अवयवे तयप् (११७२) सूत्र से तयप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप तथा सुंपो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् (औ) का भी लुक् हो कर—द्वि + तय । पुनः द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा (११७३) इस प्रकृतसूत्र के द्वारा 'तय' के स्थान पर विकल्प से अयच् आदेश हो कर चकार अनुबन्ध का लोप करने से—द्वि + अय । अब

१. चतुर् के रेफ को विसर्ग तथा विसर्गवीथस्य छः (१०३) से उसे सकारादेश हो कर ह्रस्वात्तावौ तद्धिते (८.३.१०१) से षत्व हो जाता है—चतुष् + तय । पुनः ष्टुना ष्टुः (६४) द्वारा ष्टुत्व कर विभक्ति जाने से उभर्भुक्त रूप सिद्ध हो जाता है ।

२. 'षष् + तय' इस स्थिति में पदान्त में चश्त्व-चर्त्वं हो जाते हैं । ष्टुत्व के प्राप्ति होने पर न पदान्ताद्दोरन्ताम् (६५) से उस का निषेध हो जाता है ।

यच्चि भम् (१६५) से भसञ्ज्ञा तथा यस्येति च (२३६) से भञ्जक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'द्वयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अयच् के अभाव में—द्वितयम् । इस तरह 'द्वयम्' और 'द्वितयम्' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं ।^१

इसीप्रकार—त्रयोऽवयवा अस्य—त्रयं त्रितयं वा (तीन अवयव हैं इस के अर्थात् तीन अवयवों वाला अवयवी) । यहां 'त्रिं जस्' से पूर्ववत् तयप् प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, सुंक्लुक् तथा तय को वैकल्पिक अयच् आदेश कर यस्येति च (२३६) द्वारा इकार का लोप करने पर 'त्रयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अयच् के अभाव में 'त्रितयम्' बनेगा ।^२

विशेष वक्तव्य—पिछले सूत्र से तयप् की अनुवृत्ति ला कर उसे विभक्ति-विपरिणामद्वारा षष्ठ्यन्त बना लेने से जब यहां 'तयपः' प्राप्त हो सकता था तो पुनः इस सूत्र में 'तयस्य' का ग्रहण क्यों किया गया है ? इस का उत्तर यह है कि यदि यहां 'तयस्य' न कहते तो अयच् को तयप् का अपवाद प्रत्ययान्तर समझ लिया जाता जो अनिष्ट था। क्योंकि तब टिड्ढाणञ्द्वयसञ्चनञ्मात्रषत्तयपठ्ठञ्कञ्क्वरपः (१२५१) सूत्रद्वारा द्वयी, त्रयी आदि में तयप् के न होने से डीप् न हो सकता जो अब स्थानिवद्भाव के कारण हो जाता है। इसीप्रकार प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च (१६०) द्वारा जस् में होने वाली वैकल्पिक सर्वनामसञ्ज्ञा भी अयच् में प्रवृत्त न हो सकती जो अब स्थानिवद्भाव के कारण निर्बाध हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा उभ (दोनों) शब्द से परे तयप् को नित्य अयच् आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७४) उभाद्बुदात्तो नित्यम् । ५।२।४४॥

उभशब्दात् तयपोऽयच् स्यात् स चाद्युदात्तः । उभयम् ॥

अर्थः—'उभ' प्रातिपदिक से परे तयप् को नित्य अयच् आदेश हो तथा उभ अयच् का आदि अकार उदात्त भी हो ।

१. साहित्यगत प्रयोग यथा—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समाममप्रार्थनया पिनाकिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

(कुमार० ५.७१)

अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव संगतम् ।

पबमृद्धमजेन पैतृकं विनयेमास्व नबं च यौवनम् ॥ (रघु० ८.६)

२. साहित्यगत प्रयोग यथा—

माता मित्रं पिता चेति स्वभावात् त्रितयं हितम् ।

कार्यकारणतश्चान्ये भवन्ति हितबुद्धयः ॥ (हितोप० १.३८)

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृत-संमिताक्षरम् ।

अवेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥ (रघु० ३.१६)

व्याख्या—उभात् १५।१। उदात्तः ११।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैक-
वचनान्तम् । तयस्य १६।१। अयच् ११।१। (द्वित्रिभ्यां तयस्यायञ्चा सूत्र से) । अर्थः—
(उभात्) उभशब्द से परे (तयस्य) 'तय' के स्थान पर (अयच्) अयच् आदेश (नित्यम्)
नित्य होता है तथा उस का आदि अच्' (उदात्तः) उदात्त भी हो जाता है ।

उभशब्द लौकिकी संख्या नहीं अतः इस से परे संख्याया अवयवे तयप् (११७२)
सूत्रद्वारा तयप् प्राप्त न था । परन्तु इस सूत्र में उस के स्थान पर अयच् के विधान के
कारण उभ से परे भी तयप् करना मुनिसम्मत प्रतीत होता है । उदाहरण यथा—

उभौ अवयवौ अस्य—उभयम् (दोनों हैं अवयव इस के अर्थात् दो अवयवों
वाला अवयवी) । यहां अवयव अर्थ में वर्तमान 'उभ औ' इस प्रथमान्त से 'अवयव हैं
इस के' इस अर्थ में संख्याया अवयवे तयप् (११७२) से तयप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध
का लोप तथा सृप् (औ) का भी लुक् करने पर—उभ + तय । अब प्रकृत उभाद्वात्तो
नित्यम् (११७४) सूत्र से 'तय' को नित्य अयच् सवदेश कर—उभ + अय । यस्वेति च
(२३६) से भसञ्जक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'उभयम्' प्रयोग सिद्ध हो
जाता है ।^१ उभयो मणिः—पीत और लोहित आदि दो अवयवों वाली मणि । 'उभय'
में भकारोत्तर अकार उदात्त रहता है शेष अच् अनुदात्तम्पदमेकवर्जम् (६.१.१५२) से
अनुदात्त । परन्तु उदात्तावनुदात्तस्य स्वरितः (८.४.६५) द्वारा उदात्त से परे अनुदात्त

को स्वरित हो जाता है—उभयः । स्त्रीत्व की विवक्षा में स्थानिवद्भाव के कारण
तयप्रत्ययान्त मान लिये जाने से टिड्ढाणञ्० (१२५१) से डीप् हो जाता है—उभयी ।
उभयी प्रवृत्तिः । उभयीं सिद्धिमुभाववापत्तुः (रघु० ८.२३) । उभयशब्द का द्विवचन
में प्रयोग नहीं होता—यह पीछे (१५५) सूत्र पर कहा जा चुका है ।

अब द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि पूरणी (क्रमसूचक) संख्याओं का निरूपण
करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७५) तस्य पूरणे डट् १५।२।४८॥

(संख्यावाचकात् षष्ठ्यन्तात् पूरणेऽर्थे तद्धितो डट् प्रत्ययः स्यात्) ।
एकादशानां पूरण एकादशः ॥

अर्थः—संख्यावाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में तद्धितसंज्ञक डट्
प्रत्यय हो ।

१. अयच् में दो अच् हैं किसे उदात्त माना जाये ? दोनों का उदात्तत्व तो अनुदात्त-
म्पदमेकवर्जम् (६.१.१५२) से बाधित है और अन्त का उदात्तत्व चित्तः
(६.१.१५७) द्वारा सिद्ध है ही, इस के लिये सूत्र में उदात्तत्वविधान की आव-
श्यकता नहीं । अतः यहां आदि को ही उदात्तत्व होता है यही निश्चित होता है ।
विशेषजिज्ञासु आकरग्रन्थों का अवलोकन करें ।

२. किं कथ्यते श्रीकृष्णस्य तस्य । (कुमार० ७.७८)

व्याख्या— तस्य १५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। पूरणे ७।१। उट् १।१। संख्यायाः । १५।१। (संख्याया गुणस्य निम्नाने मयद् सूत्र से)। प्रत्ययः, पररश्च, ऊधाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (संख्यायाः) संख्यावाचक प्रातिपदिक से (पूरणे) पूरण अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (उट्) उट् प्रत्यय होता है।

पूर्यतेऽनेनेति पूरणः। पूरणतेर्ष्यन्तात् करणे ल्युट्। जिस से संख्या पूरी हो जाती है वह उस संख्या का पूरण होता है। जैसे एकादश संख्या दस व्यक्तियों तक पूरी नहीं होती किन्तु जब उस में ग्यारहवां जुड़ता है तो वह पूरी हो जाती है। इस प्रकार ग्यारह व्यक्ति के समूह का पूरण (पूरा करने वाला अवयव) ग्यारहवां व्यक्ति ही होता है। इसीप्रकार अन्य संख्याओं के गुणों में भी अन्तिम को पूरण समझना चाहिये। यहाँ समूह को प्रकृत्यर्थ तथा उस का पूरक अवयव प्रत्ययार्थ होता है।

उट् प्रत्यय का उकार षुट् (१२६) सूत्रद्वारा तथा टकार हलन्त्यम् (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है। डित् करने का प्रयोजन डेः (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप करना एवं टित् करने का प्रयोजन स्त्रीत्व की विवक्षा में टिङ्ढाणम् (१२५१) सूत्रद्वारा झीप् करना है। उदाहरण यथा—

एकादशानां पूरणः—एकादशः (ग्यारह संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् ग्यारहवां)।^१ यहाँ 'एकादशन् आम' इस संख्यावाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में तस्य पूरणे उट् (११७५) इस प्रकृतसूत्र से उट् प्रत्यय, उकार और टकार अनुबन्धों का लोप एवं सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुंप (आम्) का लुक् कर देने पर 'एकादशन् + अ' हुआ। अब डित् के परे रहते डेः (२४२) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक टि (अन्) का लोप करने पर—एकादश् + अ = एकादश। विभक्ति लाने से 'एकादशः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। एकादशः, एकादशी, एकादशाः—पुं० में रामवत् रूपमाला चलेगी। स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्वात् टिङ्ढाणम् (१२५१) सूत्र से झीप् हो कर भसञ्ज्ञक अकार का यत्येतिबलोप करने से 'एकादशी' बनेगा, रूपमाला नदीवत् चलेगी। नपुंसक में ज्ञानवत् रूपमाला होगी—एकादशम्, एकादशे, एकादशानि।

इसीप्रकार—द्वादशानां पूरणः—द्वादशः। त्रयोदशानां पूरणः—त्रयोदशः। चतुर्दशानां पूरणः—चतुर्दशः। पञ्चदशः। षोडशः। सप्तदशः। अष्टादशः आदि।

१. ग्यारहवां व्यक्ति एकादशसंख्या का पूरण नहीं होता अपितु एकादशत्व का ही पूरण हुआ करता है। अतः यहाँ संख्याओं से तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्त संख्याओं का ही ग्रहण समझना चाहिये। इस से 'एकादशानां षटानां पूरणो जलादिः' ऐसे स्थलों पर उट् की प्रवृत्ति नहीं होती। विशेषज्ञिज्ञासु आकरग्रन्थों का अन्वेषण करें।

अब असंख्यादि^१ नकारान्त संख्यावाचकों से परे डट् को मँट् का आगम विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७६) नान्तावसंख्यादेर्मँट् । ५।२।४६।।

डटो मँडागमः । पञ्चानां पूरणः—पञ्चमः । नान्तात् किम् ?—

अर्थः—जिस के आदि में कोई संख्याशब्द न जुड़ा हो तो ऐसे नकारान्त संख्यावाचक प्रातिपदिक से परे डट् प्रत्यय को मँट् का आगम हो ।

व्याख्या—नान्तात् ५।१। असंख्यादेः ५।१। मँट् ५।१। डटः ५।१। (तस्य पूरणे डट् सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । समासः—न् अन्तो यस्य तत् नान्तात्, तस्मात् = नान्तात्, बहुव्रीहिसमासः । संख्या आदिर्यस्य तत् संख्यादि, बहुव्रीहिसमासः । न संख्यादि असंख्यादि, तस्माद् असंख्यादेः, नञ्त्पुरुषः । अर्थः—(असंख्यादेः) संख्या जिस के आदि में न हो ऐसे (नान्तात्) नकारान्त प्रातिपदिक से परे (डटः) डट् का अवयव (मँट्) मँट् हो जाता है ।

मँट् में टकार और अनुनासिक अकार इत् हैं, इतों का लोप हो कर 'म्' मात्र शेष रहता है । मँट् टित् है अतः आद्यन्तौ टकितौ (८५) के अनुसार यह डट्प्रत्यय का आद्यवयव बनता है । डट् को जब मँट् का आगम होगा तो 'म् + अ = म' बन जायेगा ।

उदाहरण यथा—

पञ्चानां पूरणः—पञ्चमः (पाञ्च संख्या अर्थात् पञ्चत्व को पूर्ण करने वाला, पाञ्चवां) । यहां 'पञ्चन् आम्' से पूरण अर्थ में तस्य पूरणे डट् (११७५) सूत्रद्वारा डट् प्रत्यय, डकार धीर टकार अनुबन्धों का लोप तथा सुंपो धातुप्रातिपदिकबोः (७२१) से सुंप् (आम्) का भी लुक् करने से—पञ्चन् + अ । अब अन्तरङ्ग होने से टिलोप (२४२) का बाध कर नान्तावसंख्यादेर्मँट् (११७६) इस प्रकृतसूत्रद्वारा डट् को मँट् का आगम हो जाता है—पञ्चन् + मँट् अ = पञ्चन् + म् अ = पञ्चन् + म । अब स्वादिष्वसर्बनामस्थाने (१६४) से पदत्व के कारण न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से पञ्चन् के नकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पञ्चमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^२

इसीप्रकार—सप्तमः । अष्टमः । नवमः । दशमः ।

नान्तात् किम् ?

सूत्र में नकारान्त से परे डट् को मँट् का आगम कहा गया है । यदि संख्या-

१. एकादशन्, द्वादशन्, त्रयोदशन् आदि जुड़वा संख्याएं संख्यादि संख्याएं कहाती हैं क्योंकि इन के आदि में एक, द्वि, त्रि आदि संख्याएं जुड़ी हुई हैं । परन्तु द्वि, त्रि, चतुर, पञ्चन् आदि असंख्यादि संख्याएं हैं क्योंकि इन से पूर्व अन्य कोई संख्या जुड़ी हुई नहीं है ।
२. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि मँट् आगम के कारण प्रत्यय के अजादि न रहने से भसञ्ज्ञा नहीं होती अतः डेः (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप नहीं होता ।

वाचक प्रातिपदिक नकारान्त न होगा तो मेट् का आगम न होगा। इसे प्रत्युदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (११७७) ति विशतेर्डिति । ६।४।१४२॥

विशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपो डिति परे । विशः । असंख्यादेः किम् ? एकादशः ॥

अर्थः—डित् परे रहते 'विशति' के अवयव भसञ्जक 'ति' का लोप हो ।

व्याख्या—'ति' इति लुप्तषष्ठीकं पदम् । विशतेः । ६।१। डिति । ७।१। लोपः । १।१। (अस्लोपोऽनः सूत्र से) । भस्य । ६।१। (यह अधिकृत है) । ड् इद् यस्य स डित्, तस्मिन्=डिति, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(डिति) डित् प्रत्यय के परे होने पर (विशतेः) विशतिशब्द के अवयव (भस्य) भसञ्जक (ति=तेः) 'ति' का (लोपः) लोप हो जाता है ।

यहां 'ति' के ग्रहण के सामर्थ्य से सम्पूर्ण 'ति' का लोप होता है, अलोऽन्त्य-परिभाषा से केवल अन्त्य इकार का नहीं, अन्यथा 'ति' ग्रहण की आवश्यकता ही न थी' ।

उदाहरण यथा—

विशतेः पूरणः—विशः (बीस अर्थात् विशतित्व संख्या को पूर्ण करने वाला, बीसवां) । यहां 'विशति डस्' से पूरण अर्थ में तस्य पूरणे डट् (११७५) से डट् प्रत्यय, अनुबन्धों का लोप तथा सुंधो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) सूत्रद्वारा सुंधु (डस्) का भी लुक् करने पर 'विशति + अ' हुआ । यहां डित् प्रत्यय परे है, पूर्व की यच्चि भम् (१६५) से भसञ्जा भी है अतः प्रकृत ति विशतेर्डिति (११७७) सूत्र से विशति के अवयव भसञ्जक 'ति' का लोप हो जाता है—विश + अ । अब यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप प्राप्त होता है परन्तु असिद्धबदनाभात् (५६२) द्वारा आभीय होने के कारण 'ति' का लोप असिद्ध है अतः यस्येतिचलोप प्रवृत्त नहीं हो सकता^१ । पुनः अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश कर विभक्ति लाने से 'विशः' प्रयोग सिद्ध

१. अथवा—नाऽनर्थकेऽलाऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे इति परिभाषयाऽलोऽन्त्यविधिर्न प्रवर्तत इति ।
२. असिद्धबदनाभात् (५६२) अर्थात् समानाश्रय दो आभीय कार्यो में पहला किया गया कार्य दूसरे कार्य के करने में असिद्धवत् माना जाता है । यहां डट् (अ) को मान कर 'ति' का लोप पहले किया जा चुका है, अब पुनः उसी डट् को मानकर यस्येति च (२३६) द्वारा दूसरा कार्य अकार का लोप प्राप्त हो रहा है—दोनों कार्य आभीय हैं अतः इस दूसरे कार्य की कर्त्तव्यता में प्रथम किया गया 'ति' का लोप असिद्ध हो जायेगा । इस प्रकार मध्य में 'ति' के आ जाने से डट् परे नहीं रहता और परिणामतः अकार का लोप नहीं होता । आभीय कार्यो का विवेचन पीछे (५६२) सूत्र पर विस्तार से कर चुके हैं उसे पुनः हृदयङ्गम कर लें ।

हो जाता है' । इस प्रयोग में यह बात विशेष ध्यातव्य है कि विंशतिशब्द नकारान्त नहीं इकारान्त है अतः नान्तादसंख्यादेर्मेट् (११७६) से मेट् का आगम नहीं हुआ ।

असंख्यादेः किम् ? एकावशः ।

नान्तादसंख्यादेर्मेट् (११७६) सूत्र में 'असंख्यादेः' क्यों कहा है ? इसलिये कि ऐसे नकारान्त संख्यावाचक प्रातिपदिकों से परे डट् को मेट् का आगम न हो जिस के आदि में कोई और संख्या जुड़ी हुई हो । एकादशन्, द्वादशन्, त्रयोदशन् आदि ऐसी संख्याएं हैं जिन के आदि में एक, द्वि, त्रि आदि अन्य संख्याएं जुड़ी रहती हैं अतः इन जुड़वा संख्याओं से परे मेट् का आगम न होगा । यथा—एकादशानां पूरणः—एकादशः, यहां मेट् का आगम नहीं हुआ । इसीतरह द्वादशन्, त्रयोदशन्, चतुर्दशन् आदि के विषय में मेट् की अप्रवृत्ति समझनी चाहिये ।

अब डट् के परे रहते षष् आदि को थुंक् का आगम विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७८)

षट्-कति-कतिपय-चतुरां थुंक् ।५।२।५१॥

एषां थुंगागमः स्याड्डटि । षण्णां पूरणः—षष्ठः । कतिथः । कतिपय-शब्दस्याऽसंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकाड् डट् । कतिपयथः । चतुर्युः ॥

अर्थः—डट् प्रत्यय के परे रहते, षष् (छः), कति (कितने), कतिपय (कुछेक) और चतुर् (चार) — इन चार प्रातिपदिकों को थुंक् का आगम हो । कतिपयशब्दस्य—कतिपयशब्द यद्यपि संख्यावाचक नहीं तथापि प्रकृतसूत्र में उस से थुंक्विधान करने से उस से भी पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय हो जाता है—यह ज्ञापित होता है ।

व्याख्या—षट्-कति-कतिपय-चतुराम् ।६।३। थुंक् ।१।१। डटि ।७।१। (तस्य पूरणे डट् से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । समासः—षट् च कतिश्च कतिपयश्च चतुश्च षट्कतिकतिपयचतुरः, तेषाम् = षट्-कति-कतिपय-चतुराम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(डटि) डट् प्रत्यय के परे रहते (षट्-कति-कतिपय-चतुराम्) षष्, कति, कतिपय और चतुर् प्रातिपदिकों का अवयव (थुंक्) थुंक् हो जाता है ।

थुंक् में ककार और उकार अनुबन्ध हैं, इन का लोप हो कर 'थ्' मात्र शेष रहता है । उकार उच्चारणार्थ है । कित् होने से यह आगम आद्यन्तौ डकितौ (८५) परिभाषाद्वारा षष् आदियों का अन्तावयव बनता है । उदाहरण यथा—

षण्णां पूरणः—षष्ठः (छः संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् छठा) । यहां 'षष् आम्' इस षष्ठ्यन्त संख्यावाचक से पूरण अर्थ में तस्य पूरणे डट् (११७५) सूत्र-द्वारा डट् प्रत्यय हो कर डकार-टकार अनुबन्धों का लोप तथा सुंपो धातु-प्रातिपदि-

१. विंशत्याविभ्यस्तमसंख्यतरस्याम् (५.२.५६) सूत्रद्वारा विंशति आदि शब्दों से परे डट् को तर्मेट् का आगम विकल्प से होता है । जहां तर्मेट् होता है वहां 'विंशति-तमः' बनता है, भसञ्ज्ञा न रहने से 'ति' का लोप नहीं होता । तर्मेट् के अभाव-पक्ष में यहां 'विंशः' प्रयोग सिद्ध किया गया है ।

कयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का भी लुक् कर देने से 'षष् + अ' हुआ। यहां डट् प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृत षट्कतिकतिपयचतुरां थुंक् (११७८) सूत्र से षष् को थुंक् का आगम हो जाता है जो कित्त्व के कारण षष् का अन्तावयव बनता है—षष्थुंक् + अ, अनुबन्धों का लोप होकर—षष्थ् + अ। अब ष्टुना ष्टुः (६४) द्वारा ष्टुत्वेन थकार को ठकार हो—षष्ट् + अ। विभक्ति लाने से पुल्लिङ्ग में 'षष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में टिड्ढाणम्० (१२५१) से डीप् लाने पर 'षष्ठी' बनेगा।^१

कतीनां पूरणः—कतिथः (कितनों का पूरण अर्थात् कितनवां)। कतिशब्द यद्यपि लौकिकी संख्या नहीं है तथापि इतिप्रत्ययान्त होने से बहुगणवर्तुडिति संख्या (१८६) द्वारा संख्यासंज्ञक है। अतः पूरण अर्थ में 'कति आम्' से तस्य पूरणे डट् (११७५) सूत्र से डट् प्रत्यय हो अनुबन्धों का लोप करने पर 'कति आम् + अ' हुआ। अब प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् कर डट् के परे रहते प्रकृत षट्कतिकतिपयचतुरां थुंक् (११७८) सूत्र से 'कति' को थुंक् का आगम हो जाता है—कतिथ् + अ = कतिथ। विभक्ति लाने पर 'कतिथः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

कतिपयानां पूरणः—कतिपयथः (कुछेक का पूरण अर्थात् कुछेकवां)। कतिपयशब्द संख्यावाचक नहीं, न तो शास्त्र में इस की संख्यासंज्ञा की गई है और न ही लोक में यह संख्यावाचक समझा जाता है। अतः इस से परे डट् कैसे होगा क्योंकि उस की प्रवृत्ति तो संख्यावाचकों से ही कही गई है? इस का उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं—

कतिपयशब्दस्याऽसंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकाद् डट्।

अर्थात् जब प्रकृतसूत्र में डट् के परे रहते इसे थुंक् का आगम विधान किया जा रहा है तो असंख्या होते हुए भी इस से परे डट् प्रत्यय अवश्य होगा, अन्यथा इसे थुंक् का आगम विधान करना व्यर्थ हो जायेगा। मुनि सर्वज्ञ था उस का कोई वचन निरर्थक वा व्यर्थ नहीं है, अतः इस विधानसामर्थ्य से ही कतिपयशब्द से पूरण अर्थ में डट् हो जायेगा। 'कतिपय आम् + डट्' इस अवस्था में अनुबन्धलोप तथा सुँप् (आम्) का

१. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि मुनि ने मूँट का आगम जैसे डट् प्रत्यय को विधान किया है वैसे थुंक् का आगम डट् को विधान नहीं किया अपितु प्रकृति को ही किया है। वैसा करने से यद्यपि 'कतिथः' और 'कतिपयथः' तो सिद्ध हो जाते तथापि 'षष्ठः' और 'चतुर्थः' की सिद्धि न हो सकती। क्योंकि प्रथम में 'षष् + थ' इस अवस्था में पदान्त षकार को झलां जशोऽन्ते (६७) द्वारा जश्त्वेन ठकार प्राप्त होता जो अनिष्ट था। इसीप्रकार दूसरे 'चतुर् + थ' में भी पदान्त रेफ को विसर्ग और उसे पुनः सकारादेश कर 'चतुस्थः' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। अतः मुनि ने डट् की बजाय प्रकृति को ही थुंक् का आगम विधान करना उचित समझा। इस से मुनि की महती सूक्ष्मेक्षिका व्यक्त होती है।

भी लुक् करने पर—कतिपय + अ । अब षट्कतिकतिपयचतुरां षुक् (११७८) सूत्र से कतिपय को षुक् का आगम हो जाता है—कतिपयथ् + अ = कतिपयथ । विभक्ति ला कर 'कतिपयथः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

चतुर्णां पूरणः—चतुर्थः (चार संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् चौथा) । 'चतुर् आम्' इस षष्ठ्यन्त से पूरण अर्थ में तस्य पूरणे ङट् (११७५) सूत्र से ङट् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा सुंप् (आम्) का भी लुक् करने से—चतुर् + अ । अब षट्कतिकतिपयचतुरां षुक् (११७८) से चतुर् को षुक् का आगम हो कर विभक्तिकार्य करने से 'चतुर्थः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

चतुर्शब्द से पूरण अर्थ में ङट् प्रत्यय के अतिरिक्त चतुरश्छयत्तौ आद्यक्षर-लोपश्च (वा०) वास्तिकद्वारा छ और यत् प्रत्यय भी होते हैं और इन के साथ साथ चतुर् के आद्यक्षर (च) का लोप भी हो जाता है । छप्रत्यय के आदि छकार को आयने-धीनीयिबः० (१०१३) से ईय् आदेश हो जाता है । इसप्रकार छप्रत्यय में—तुर् + ईय् अ = 'तुरीयः' तथा यत् में—तुर् + य = 'तुर्यः' प्रयोग भी बनते हैं ।^२

अब द्वि (दो) संख्या में पूरण अर्थ में ङट् के अपवाद 'तीय' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(११७६) द्वेस्तीयः ।५।२।५४॥

डटोऽपवादः । द्वयोः पूरणः—द्वितीयः ॥

अर्थः—संख्यावाचक षष्ठ्यन्त द्वि (दो) प्रातिपदिक से परे पूरण अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'तीय' प्रत्यय हो । डटोऽपवादः—यह ङट् का अपवाद है ।

व्याख्या—द्वेः ।५।१। तीयः ।१।१। संख्यायाः ।५।१। (संख्याया गुणस्य निमाने मयद् सूत्र से) । तस्य ।५।१। पूरणे ।७।१। (तस्य पूरणे ङट् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, इथाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(संख्यायाः = संख्या-वाचकात्) संख्यावाचक (तस्य = तस्मात् = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (द्वेः) 'द्वि' प्रातिपदिक से (पूरणे) पूरण अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तीयः) 'तीय' प्रत्यय हो जाता है । तस्य पूरणे ङट् (११७५) द्वारा प्राप्त ङट् प्रत्यय का यह अपवाद है । उदाहरण यथा—

द्वयोः पूरणः—द्वितीयः (दो संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् दूसरा) । 'द्वि ओस्' इस षष्ठ्यन्त से पूरण अर्थ में तस्य पूरणे ङट् (११७५) से प्राप्त ङट् का बाध कर प्रकृत द्वेस्तीयः (११७६) सूत्र से 'तीय' प्रत्यय, सुंब्लुक् एवं विभक्तिकार्य करने से

१. प्रथमे नाजिता विद्या द्वितीये नाजितं धनम् ।

तृतीये नाजितं पुष्यं चतुर्थे किं करिष्यति ॥ (सुभाषितरत्न०)

२. गुहा त्रीणि निहिता मेङ्गवन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या बह्वन्ति । (महाभाष्य पस्पशा) प्रथमाङ्घ्रिसमो बस्य तृतीयश्चरणो भवेत् ।

द्वितीयस्तुर्यंबद् वृत्तं तदर्थसममुच्यते ॥ (वृत्तरत्नाकर १.१५)

‘द्वितीयः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में अञ्जास्यतष्ठाप् (१२४६) से टाप् (आ) प्रत्यय ला कर सर्वर्णदीर्घ करने से ‘द्वितीया’ बनेगा।

अब ‘त्रि’ से भी पूरण अर्थ में तीयप्रत्यय तथा उस के साथ त्रि को सम्प्रसारण का भी विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८०) त्रैः सम्प्रसारणं च ।५।२।५५॥

तृतीयः ॥

अर्थः—संख्यावाचक ‘त्रि’ प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ‘तीय’ प्रत्यय तथा ‘त्रि’ को सम्प्रसारण भी हो।

व्याख्या—त्रैः ।६।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । तीयः ।१।१। (द्वेस्तीयः सूत्र से) । संख्यायाः ।५।१। (संख्यावा गुणस्य निम्नाने भवद् सूत्र से) । ‘तस्य’ और ‘पूरणे’ पदों की अनुवृत्ति तस्य पूरणे ङट् (११७५) सूत्र से होती है। ‘त्रैः’ पद की आवृत्ति की जाती है और एक को पञ्चम्यन्त तथा दूसरे को षष्ठ्यन्त माना जाता है। प्रत्ययः, पररथ, ङघाप्प्रातिपदिकाल्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(संख्यायाः) संख्यावाचक (तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (त्रैः) ‘त्रि’ प्रातिपदिक से परे (पूरणे) पूरण अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तीयः) तीय प्रत्यय हो जाता है (च) और (त्रैः) त्रि के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण भी हो जाता है।

यह भी तस्य पूरणे ङट् (११७५) से प्राप्त ङट् प्रत्यय का अपवाद है। ‘त्रि’ को सम्प्रसारण करना है। इग्यञः सम्प्रसारणम् (२५६) के अनुसार यण् के स्थान पर होने वाले इक् (इ, उ, ऋ, लृ) को सम्प्रसारण कहते हैं। अतः त्रिशब्द के यण् = रेफ के स्थान पर इक् = ऋकार करना ही सम्प्रसारण होगा। उदाहरण यथा—

त्रयाणां पूरणः—तृतीयः (तीन संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् तीसरा)। यहां ‘त्रि आम’ इस संख्यावाचक षष्ठ्यन्त से पूरण अर्थ में तस्य पूरणे ङट् (११७५) से प्राप्त ङट् प्रत्यय का बाध कर त्रैः सम्प्रसारणं च (११८०) सूत्रद्वारा तीय प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा त्रि को सम्प्रसारण अर्थात् त्रि के रेफ को ऋकार आदेश करने से—तृइ + तीय। अब सम्प्रसारणाच्च (२५८) से ‘ऋ + इ’ के स्थान पर ‘ऋ’ यह पूर्वरूप एकादेश हो कर ‘तृतीय’ शब्द निष्पन्न होता है। विभक्ति लाने से ‘तृतीयः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीत्व में अञ्जास्यतष्ठाप् (१२४६) से टाप् हो कर ‘तृतीया’ बनेगा। ध्यान रहे कि तीयप्रत्ययान्त इन द्वितीय तृतीय शब्दों की डित् विभक्तियों में तीयस्य डित्सु वा (वा० १६) द्वारा सर्वनामसञ्ज्ञा का विकल्पविधान किया जा चुका है।

१. द्वितीयमायुवो भागं कृतदारो गृहे वसेत् । (मनु० ५.१६६)

२. तृतीयशब्द का प्रयोग यथा—

सावन्न गच्छामि हसन्न ज्ञाने मत्तं न शोचामि कृतं न मन्वे ।

द्राम्यां तृतीयो न भवामि राजन् ! किं कारणं भोज ! भक्षामि खूनं ॥

(कियदर्शी)

शङ्का—‘त्रि’ को सम्प्रसारण और पूर्वरूप कर चुकने पर ‘तृ+तीय’ इस स्थिति में अङ्ग के अवयव हल् से परे सम्प्रसारण को हलः (८१६) सूत्रद्वारा दीर्घ होना चाहिये था ?

समाधान—हलः (८१६) सूत्र में पूर्वपादस्थ ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (११२) सूत्र से ‘अणः’ की अनुवृत्ति ला कर ‘हल् से परे सम्प्रसारण जो अण् उसे दीर्घ हो’ ऐसा अर्थ करेंगे। अण् प्रत्याहार अणुवित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः (११) सूत्र को छोड़ सर्वत्र पूर्वं णकार से ही लिया जाता है। अतः ऋकार के अण् के अन्तर्गत न होने से हलः (८१६) द्वारा दीर्घ न होगा। अथवा—अण् के अनुवर्तन की आवश्यकता ही नहीं। कर्तृकरण-योस्तृतीया (८६५), तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (६२५), विभाषा तृतीयाविष्वाचि (२०७) इत्यादि अनेक निर्देशों से यहां सम्प्रसारण को दीर्घ न करना ज्ञापित हो जायेगा।

यदि ङट्प्रकरण के तीन और सूत्र समझ लिये जायें तो प्रत्येक संख्या का पूरणप्रत्ययान्त रूप छात्रों को आसानी से समझ में आ सकता है। वे तीन सूत्र इस प्रकार हैं—

(१) विशत्याविभ्यस्तमैड्यतरस्याम् (५.२.५६)।

अर्थः—विशति आदि से परे ङट् को विकल्प से तमैट् का आगम हो जाता है। तमैट् ङट्=तम् अ=तम। इस तरह विशति आदि से परे ‘तम’ लग कर पूरणप्रत्ययान्त रूप सिद्ध हो जाता है। यथा—विशतितमः, एकविशतितमः, त्रिशत्तमः, एकत्रिशत्तमः, चत्वारिंशत्तमः, एकचत्वारिंशत्तमः, पञ्चाशत्तमः, एकपञ्चाशत्तमः आदि। जहाँ तमैट् का आगम न होगा वहाँ ङट् के परे रहते विशति में तो भसंज्ञक ‘ति’ का (११७७) तथा अन्यत्र भसंज्ञक टि का (२४२) लोप हो जायेगा। यथा—विशः, एकविशः, त्रिशः, एकत्रिशः, चत्वारिंशः, एकचत्वारिंशः, पञ्चाशः, एकपञ्चाशः आदि।

(२) षष्ट्यादेश्चाऽसंख्यादेः (५.२.५८)।

अर्थः—षष्टि आदि संख्याओं से परे ङट् को तमैट् का आगम नित्य होता है परन्तु ये षष्टि आदि संख्याएं जुड़वां संख्याएं न होनी चाहियें। अन्यथा पूर्वसूत्र से तमैट् की वैकल्पिक प्रवृत्ति होगी। यथा—षष्टितमः, सप्ततितमः, अशीतितमः, नवतितमः। जुड़वां संख्याओं से तमैट् का विकल्प होगा। यथा—एकषष्टितमः-एकषष्टः, एकसप्ततितमः, एकसप्ततः, एकाशीतितमः—एकाशीतः, एकनवतितमः-एकनवतः।

(३) शतादिभासार्धभाससंवत्सराच्च (५.२.५७)।

अर्थः—शत आदि संख्याएं चाहे जुड़वां या अजुड़वां हों इन से परे ङट् को नित्य तमैट् का आगम हो जाता है। यथा—शततमः, एकशततमः, सहस्रतमः, अयुततमः। लक्षतमः इत्यादि।

छात्रों के अभ्यास के लिये एक से लेकर सौ संख्याओं के पूरणप्रत्ययान्त रूपों की यहां एक तालिका दी जा रही है—

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
एक ^१	प्रथमः	प्रथमा	प्रथमम्
द्वि	द्वितीयः	द्वितीया	द्वितीयम्
त्रि	तृतीयः	तृतीया	तृतीयम्
चतुर्	चतुर्थः	चतुर्थी	चतुर्थम्
	तुरीयः	तुरीया	तुरीयम्
	तुर्यः	तुर्या	तुर्यम्
पञ्चन्	पञ्चमः	पञ्चमी	पञ्चमम्
षष्	षष्ठः	षष्ठी	षष्ठम्
सप्तन्	सप्तमः	सप्तमी	सप्तमम्
अष्टन्	अष्टमः	अष्टमी	अष्टमम्
नवन्	नवमः	नवमी	नवमम्
दशन्	दशमः	दशमी	दशमम्
एकादशन्	एकादशः	एकादशी	एकादशम्
द्वादशन्	द्वादशः	द्वादशी	द्वादशम्
त्रयोदशन्	त्रयोदशः	त्रयोदशी	त्रयोदशम्
चतुर्दशन्	चतुर्दशः	चतुर्दशी	चतुर्दशम्
पञ्चदशन्	पञ्चदशः	पञ्चदशी	पञ्चदशम्
षोडशन्	षोडशः	षोडशी	षोडशम्
सप्तदशन्	सप्तदशः	सप्तदशी	सप्तदशम्
अष्टादशन्	अष्टादशः	अष्टादशी	अष्टादशम्
नवदशन्	नवदशः	नवदशी	नवदशम्
एकोनविंशति	एकोनविंशतितमः	एकोनविंशतितमी	एकोनविंशतितमम्
विंशति	एकोनविंशः	एकोनविंशी	एकोनविंशम्
	विंशतितमः	विंशतितमी	विंशतितमम्
	विंशः	विंशी	विंशम्
एकविंशति	एकविंशतितमः	एकविंशतितमी	एकविंशतितमम्
	एकविंशः	एकविंशी	एकविंशम्
द्वाविंशति	द्वाविंशतितमः	द्वाविंशतितमी	द्वाविंशतितमम्
	द्वाविंशः	द्वाविंशी	द्वाविंशम्
त्रयोविंशति	त्रयोविंशतितमः	त्रयोविंशतितमी	त्रयोविंशतितमम्
	त्रयोविंशः	त्रयोविंशी	त्रयोविंशम्
चतुर्विंशति	चतुर्विंशतितमः	चतुर्विंशतितमी	चतुर्विंशतितमम्
	चतुर्विंशः	चतुर्विंशी	चतुर्विंशम्
पञ्चविंशति	पञ्चविंशतितमः	पञ्चविंशतितमी	पञ्चविंशतितमम्

१. एकसंख्या अपने आप में पूर्ण है अतः इस से परे पूरणप्रत्यय नहीं होता। हिन्दी में प्रयुक्त 'पहला' शब्द का अनुवाद संस्कृत में 'प्रथमः, आद्यः, आदिमः' से किया जाता है।

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
षड्विंशति	पञ्चविंशः षड्विंशतितमः षड्विंशः	पञ्चविंशी षड्विंशतितमी षड्विंशी	पञ्चविंशम् षड्विंशतितमम् षड्विंशम्
सप्तविंशति	सप्तविंशतितमः सप्तविंशः	सप्तविंशतितमी सप्तविंशी	सप्तविंशतितमम् सप्तविंशम्
अष्टाविंशति	अष्टाविंशतितमः अष्टाविंशः	अष्टाविंशतितमी अष्टाविंशी	अष्टाविंशतितमम् अष्टाविंशम्
नवविंशति	नवविंशतितमः नवविंशः	नवविंशतितमी नवविंशी	नवविंशतितमम् नवविंशम्
एकोनत्रिंशत्	एकोनत्रिंशत्तमः एकोनत्रिंशः	एकोनत्रिंशत्तमी एकोनत्रिंशी	एकोनत्रिंशत्तमम् एकोनत्रिंशम्
त्रिंशत्	त्रिंशत्तमः त्रिंशः	त्रिंशत्तमी त्रिंशी	त्रिंशत्तमम् त्रिंशम्
एकत्रिंशत्	एकत्रिंशत्तमः एकत्रिंशः	एकत्रिंशत्तमी एकत्रिंशी	एकत्रिंशत्तमम् एकत्रिंशम्
द्वात्रिंशत्	द्वात्रिंशत्तमः द्वात्रिंशः	द्वात्रिंशत्तमी द्वात्रिंशी	द्वात्रिंशत्तमम् द्वात्रिंशम्
त्रयस्त्रिंशत्	त्रयस्त्रिंशत्तमः त्रयस्त्रिंशः	त्रयस्त्रिंशत्तमी त्रयस्त्रिंशी	त्रयस्त्रिंशत्तमम् त्रयस्त्रिंशम्
चतुस्त्रिंशत्	चतुस्त्रिंशत्तमः चतुस्त्रिंशः	चतुस्त्रिंशत्तमी चतुस्त्रिंशी	चतुस्त्रिंशत्तमम् चतुस्त्रिंशम्
पञ्चत्रिंशत्	पञ्चत्रिंशत्तमः पञ्चत्रिंशः	पञ्चत्रिंशत्तमी पञ्चत्रिंशी	पञ्चत्रिंशत्तमम् पञ्चत्रिंशम्
षट्त्रिंशत्	षट्त्रिंशत्तमः षट्त्रिंशः	षट्त्रिंशत्तमी षट्त्रिंशी	षट्त्रिंशत्तमम् षट्त्रिंशम्
सप्तत्रिंशत्	सप्तत्रिंशत्तमः सप्तत्रिंशः	सप्तत्रिंशत्तमी सप्तत्रिंशी	सप्तत्रिंशत्तमम् सप्तत्रिंशम्
अष्टात्रिंशत्	अष्टात्रिंशत्तमः अष्टात्रिंशः	अष्टात्रिंशत्तमी अष्टात्रिंशी	अष्टात्रिंशत्तमम् अष्टात्रिंशम्
नवत्रिंशत्	नवत्रिंशत्तमः नवत्रिंशः	नवत्रिंशत्तमी नवत्रिंशी	नवत्रिंशत्तमम् नवत्रिंशम्
एकोनचत्वारिंशत्	एकोनचत्वारिंशत्तमः एकोनचत्वारिंशः	एकोनचत्वारिंशत्तमी एकोनचत्वारिंशी	एकोनचत्वारिंशत्तमम् एकोनचत्वारिंशम्
चत्वारिंशत्	चत्वारिंशत्तमः चत्वारिंशः	चत्वारिंशत्तमी चत्वारिंशी	चत्वारिंशत्तमम् चत्वारिंशम्
एकचत्वारिंशत्	एकचत्वारिंशत्तमः एकचत्वारिंशः	एकचत्वारिंशत्तमी एकचत्वारिंशी	एकचत्वारिंशत्तमम् एकचत्वारिंशम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
द्वाचत्वारिंशत्	द्वाचत्वारिंशत्तमः द्वाचत्वारिंशः	द्वाचत्वारिंशत्तमी द्वाचत्वारिंशी	द्वाचत्वारिंशत्तमम् द्वाचत्वारिंशम्
द्विचत्वारिंशत्	द्विचत्वारिंशत्तमः द्विचत्वारिंशः	द्विचत्वारिंशत्तमी द्विचत्वारिंशी	द्विचत्वारिंशत्तमम् द्विचत्वारिंशम्
त्रयश्चत्वारिंशत्	त्रयश्चत्वारिंशत्तमः त्रयश्चत्वारिंशः	त्रयश्चत्वारिंशत्तमी त्रयश्चत्वारिंशी	त्रयश्चत्वारिंशत्तमम् त्रयश्चत्वारिंशम्
त्रिचत्वारिंशत्	त्रिचत्वारिंशत्तमः त्रिचत्वारिंशः	त्रिचत्वारिंशत्तमी त्रिचत्वारिंशी	त्रिचत्वारिंशत्तमम् त्रिचत्वारिंशम्
चतुश्चत्वारिंशत्	चतुश्चत्वारिंशत्तमः चतुश्चत्वारिंशः	चतुश्चत्वारिंशत्तमी चतुश्चत्वारिंशी	चतुश्चत्वारिंशत्तमम् चतुश्चत्वारिंशम्
पञ्चचत्वारिंशत्	पञ्चचत्वारिंशत्तमः पञ्चचत्वारिंशः	पञ्चचत्वारिंशत्तमी पञ्चचत्वारिंशी	पञ्चचत्वारिंशत्तमम् पञ्चचत्वारिंशम्
षट्चत्वारिंशत्	षट्चत्वारिंशत्तमः षट्चत्वारिंशः	षट्चत्वारिंशत्तमी षट्चत्वारिंशी	षट्चत्वारिंशत्तमम् षट्चत्वारिंशम्
सप्तचत्वारिंशत्	सप्तचत्वारिंशत्तमः सप्तचत्वारिंशः	सप्तचत्वारिंशत्तमी सप्तचत्वारिंशी	सप्तचत्वारिंशत्तमम् सप्तचत्वारिंशम्
अष्टाचत्वारिंशत्	अष्टाचत्वारिंशत्तमः अष्टाचत्वारिंशः	अष्टाचत्वारिंशत्तमी अष्टाचत्वारिंशी	अष्टाचत्वारिंशत्तमम् अष्टाचत्वारिंशम्
अष्टचत्वारिंशत्	अष्टचत्वारिंशत्तमः अष्टचत्वारिंशः	अष्टचत्वारिंशत्तमी अष्टचत्वारिंशी	अष्टचत्वारिंशत्तमम् अष्टचत्वारिंशम्
नवचत्वारिंशत्	नवचत्वारिंशत्तमः नवचत्वारिंशः	नवचत्वारिंशत्तमी नवचत्वारिंशी	नवचत्वारिंशत्तमम् नवचत्वारिंशम्
एकोनपञ्चाशत्	एकोनपञ्चाशत्तमः एकोनपञ्चाशः	एकोनपञ्चाशत्तमी एकोनपञ्चाशी	एकोनपञ्चाशत्तमम् एकोनपञ्चाशम्
पञ्चाशत्	पञ्चाशत्तमः पञ्चाशः	पञ्चाशत्तमी पञ्चाशी	पञ्चाशत्तमम् पञ्चाशम्
एकपञ्चाशत्	एकपञ्चाशत्तमः एकपञ्चाशः	एकपञ्चाशत्तमी एकपञ्चाशी	एकपञ्चाशत्तमम् एकपञ्चाशम्
द्वापञ्चाशत्	द्वापञ्चाशत्तमः द्वापञ्चाशः	द्वापञ्चाशत्तमी द्वापञ्चाशी	द्वापञ्चाशत्तमम् द्वापञ्चाशम्
द्विपञ्चाशत्	द्विपञ्चाशत्तमः द्विपञ्चाशः	द्विपञ्चाशत्तमी द्विपञ्चाशी	द्विपञ्चाशत्तमम् द्विपञ्चाशम्
त्रयःपञ्चाशत्	त्रयःपञ्चाशत्तमः त्रयःपञ्चाशः	त्रयःपञ्चाशत्तमी त्रयःपञ्चाशी	त्रयःपञ्चाशत्तमम् त्रयःपञ्चाशम्
त्रिपञ्चाशत्	त्रिपञ्चाशत्तमः त्रिपञ्चाशः	त्रिपञ्चाशत्तमी त्रिपञ्चाशी	त्रिपञ्चाशत्तमम् त्रिपञ्चाशम्
चतुःपञ्चाशत्	चतुःपञ्चाशत्तमः चतुःपञ्चाशः	चतुःपञ्चाशत्तमी चतुःपञ्चाशी	चतुःपञ्चाशत्तमम् चतुःपञ्चाशम्
पञ्चपञ्चाशत्	पञ्चपञ्चाशत्तमः पञ्चपञ्चाशः	पञ्चपञ्चाशत्तमी पञ्चपञ्चाशी	पञ्चपञ्चाशत्तमम् पञ्चपञ्चाशम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
षट्पञ्चाशत्	षट्पञ्चाशत्तमः षट्पञ्चाशः	षट्पञ्चाशत्तमी षट्पञ्चाशी	षट्पञ्चाशत्तमम् षट्पञ्चाशम्
सप्तपञ्चाशत्	सप्तपञ्चाशत्तमः सप्तपञ्चाशः	सप्तपञ्चाशत्तमी सप्तपञ्चाशी	सप्तपञ्चाशत्तमम् सप्तपञ्चाशम्
अष्टापञ्चाशत्	अष्टापञ्चाशत्तमः अष्टापञ्चाशः	अष्टापञ्चाशत्तमी अष्टापञ्चाशी	अष्टापञ्चाशत्तमम् अष्टापञ्चाशम्
अष्टपञ्चाशत्	अष्टपञ्चाशत्तमः अष्टपञ्चाशः	अष्टपञ्चाशत्तमी अष्टपञ्चाशी	अष्टपञ्चाशत्तमम् अष्टपञ्चाशम्
नवपञ्चाशत्	नवपञ्चाशत्तमः नवपञ्चाशः	नवपञ्चाशत्तमी नवपञ्चाशी	नवपञ्चाशत्तमम् नवपञ्चाशम्
एकोनषष्टि	एकोनषष्टितमः एकोनषष्टः	एकोनषष्टितमी एकोनषष्टी	एकोनषष्टितमम् एकोनषष्टम्
षष्टि	षष्टितमः षष्टः	षष्टितमी षष्टी	षष्टितमम् षष्टम्
एकषष्टि	एकषष्टितमः एकषष्टः	एकषष्टितमी एकषष्टी	एकषष्टितमम् एकषष्टम्
द्वाषष्टि	द्वाषष्टितमः द्वाषष्टः	द्वाषष्टितमी द्वाषष्टी	द्वाषष्टितमम् द्वाषष्टम्
द्विषष्टि	द्विषष्टितमः द्विषष्टः	द्विषष्टितमी द्विषष्टी	द्विषष्टितमम् द्विषष्टम्
त्रयःषष्टि	त्रयःषष्टितमः त्रयःषष्टः	त्रयःषष्टितमी त्रयःषष्टी	त्रयःषष्टितमम् त्रयःषष्टम्
त्रिषष्टि	त्रिषष्टितमः त्रिषष्टः	त्रिषष्टितमी त्रिषष्टी	त्रिषष्टितमम् त्रिषष्टम्
चतुःषष्टि	चतुःषष्टितमः चतुःषष्टः	चतुःषष्टितमी चतुःषष्टी	चतुःषष्टितमम् चतुःषष्टम्
पञ्चषष्टि	पञ्चषष्टितमः पञ्चषष्टः	पञ्चषष्टितमी पञ्चषष्टी	पञ्चषष्टितमम् पञ्चषष्टम्
षट्षष्टि	षट्षष्टितमः षट्षष्टः	षट्षष्टितमी षट्षष्टी	षट्षष्टितमम् षट्षष्टम्
सप्तषष्टि	सप्तषष्टितमः सप्तषष्टः	सप्तषष्टितमी सप्तषष्टी	सप्तषष्टितमम् सप्तषष्टम्
अष्टाषष्टि	अष्टाषष्टितमः अष्टाषष्टः	अष्टाषष्टितमी अष्टाषष्टी	अष्टाषष्टितमम् अष्टाषष्टम्
अष्टषष्टि	अष्टषष्टितमः अष्टषष्टः	अष्टषष्टितमी अष्टषष्टी	अष्टषष्टितमम् अष्टषष्टम्
नवषष्टि	नवषष्टितमः नवषष्टः	नवषष्टितमी नवषष्टी	नवषष्टितमम् नवषष्टम्

[सङ्ख्याभेदों के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
एकोनसप्तति	एकोनसप्ततितमः	एकोनसप्ततितमी	एकोनसप्ततितमम्
सप्तति	एकोनसप्ततः	एकोनसप्तती	एकोनसप्ततम्
एकसप्तति	सप्ततितमः	सप्ततितमी	सप्ततितमम्
द्वासप्तति	एकसप्ततितमः	एकसप्ततितमी	एकसप्ततितमम्
द्विसप्तति	एकसप्ततः	एकसप्तती	एकसप्ततम्
त्रयःसप्तति	द्वासप्ततितमः	द्वासप्ततितमी	द्वासप्ततितमम्
त्रिसप्तति	द्वासप्ततः	द्वासप्तती	द्वासप्ततम्
चतुःसप्तति	द्विसप्ततितमः	द्विसप्ततितमी	द्विसप्ततितमम्
पञ्चसप्तति	द्विसप्ततः	द्विसप्तती	द्विसप्ततम्
षट्सप्तति	त्रयःसप्ततितमः	त्रयःसप्ततितमी	त्रयःसप्ततितमम्
सप्तसप्तति	त्रयःसप्ततः	त्रयःसप्तती	त्रयःसप्ततम्
अष्टासप्तति	त्रिसप्ततितमः	त्रिसप्ततितमी	त्रिसप्ततितमम्
अष्टसप्तति	त्रिसप्ततः	त्रिसप्तती	त्रिसप्ततम्
नवसप्तति	चतुःसप्ततितमः	चतुःसप्ततितमी	चतुःसप्ततितमम्
एकोनाशीति	चतुःसप्ततः	चतुःसप्तती	चतुःसप्ततम्
अशीति	पञ्चसप्ततितमः	पञ्चसप्ततितमी	पञ्चसप्ततितमम्
एकाशीति	पञ्चसप्ततः	पञ्चसप्तती	पञ्चसप्ततम्
द्व्यशीति	षट्सप्ततितमः	षट्सप्ततितमी	षट्सप्ततितमम्
त्र्यशीति	षट्सप्ततः	षट्सप्तती	षट्सप्ततम्
चतुरशीति	सप्तसप्ततितमः	सप्तसप्ततितमी	सप्तसप्ततितमम्
	सप्तसप्ततः	सप्तसप्तती	सप्तसप्ततम्
	अष्टासप्ततितमः	अष्टासप्ततितमी	अष्टासप्ततितमम्
	अष्टासप्ततः	अष्टासप्तती	अष्टासप्ततम्
	अष्टसप्ततितमः	अष्टसप्ततितमी	अष्टसप्ततितमम्
	अष्टसप्ततः	अष्टसप्तती	अष्टसप्ततम्
	नवसप्ततितमः	नवसप्ततितमी	नवसप्ततितमम्
	नवसप्ततः	नवसप्तती	नवसप्ततम्
	एकोनाशीतितमः	एकोनाशीतितमी	एकोनाशीतितमम्
	एकोनाशीतः	एकोनाशीती	एकोनाशीतम्
	अशीतितमः	अशीतितमी	अशीतितमम्
	एकाशीतितमः	एकाशीतितमी	एकाशीतितमम्
	एकाशीतः	एकाशीती	एकाशीतम्
	द्व्यशीतितमः	द्व्यशीतितमी	द्व्यशीतितमम्
	द्व्यशीतः	द्व्यशीती	द्व्यशीतम्
	त्र्यशीतितमः	त्र्यशीतितमी	त्र्यशीतितमम्
	त्र्यशीतः	त्र्यशीती	त्र्यशीतम्
	चतुरशीतितमः	चतुरशीतितमी	चतुरशीतितमम्
	चतुरशीतः	चतुरशीती	चतुरशीतम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुलिंग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
पञ्चाशीति	पञ्चाशीतितमः पञ्चाशीतः	पञ्चाशीतितमी पञ्चाशीती	पञ्चाशीतितमम् पञ्चाशीतम्
षडशीति	षडशीतितमः षडशीतः	षडशीतितमी षडशीती	षडशीतितमम् षडशीतम्
सप्ताशीति	सप्ताशीतितमः सप्ताशीतः	सप्ताशीतितमी सप्ताशीती	सप्ताशीतितमम् सप्ताशीतम्
अष्टाशीति	अष्टाशीतितमः अष्टाशीतः	अष्टाशीतितमी अष्टाशीती	अष्टाशीतितमम् अष्टाशीतम्
नवाशीति	नवाशीतितमः नवाशीतः	नवाशीतितमी नवाशीती	नवाशीतितमम् नवाशीतम्
एकोननवति	एकोननवतितमः एकोननवतः	एकोननवतितमी एकोननवती	एकोननवतितमम् एकोननवतम्
नवति	नवतितमः एकनवतितमः	नवतितमी एकनवतितमी	नवतितमम् एकनवतितमम्
एकनवति	एकनवतः	एकनवती	एकनवतम्
द्धानवति	द्धानवतितमः द्धानवतः	द्धानवतितमी द्धानवती	द्धानवतितमम् द्धानवतम्
द्विनवति	द्विनवतितमः द्विनवतः	द्विनवतितमी द्विनवती	द्विनवतितमम् द्विनवतम्
त्रयोनवति	त्रयोनवतितमः त्रयोनवतः	त्रयोनवतितमी त्रयोनवती	त्रयोनवतितमम् त्रयोनवतम्
त्रिनवति	त्रिनवतितमः त्रिनवतः	त्रिनवतितमी त्रिनवती	त्रिनवतितमम् त्रिनवतम्
चतुर्नवति	चतुर्नवतितमः चतुर्नवतः	चतुर्नवतितमी चतुर्नवती	चतुर्नवतितमम् चतुर्नवतम्
पञ्चनवति	पञ्चनवतितमः पञ्चनवतः	पञ्चनवतितमी पञ्चनवती	पञ्चनवतितमम् पञ्चनवतम्
षण्णवति	षण्णवतितमः षण्णवतः	षण्णवतितमी षण्णवती	षण्णवतितमम् षण्णवतम्
सप्तनवति	सप्तनवतितमः सप्तनवतः	सप्तनवतितमी सप्तनवती	सप्तनवतितमम् सप्तनवतम्
अष्टानवति	अष्टानवतितमः अष्टानवतः	अष्टानवतितमी अष्टानवती	अष्टानवतितमम् अष्टानवतम्
अष्टनवति	अष्टनवतितमः अष्टनवतः	अष्टनवतितमी अष्टनवती	अष्टनवतितमम् अष्टनवतम्
नवनवति	नवनवतितमः नवनवतः	नवनवतितमी नवनवती	नवनवतितमम् नवनवतम्

संख्याएं	[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]		
	(बुलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
एकोनशत शत ^१	एकोनशततमः शततमः	एकोनशततमी शततमी	एकोनशततमम् शततमम्

‘शत’ से आगे की संख्याओं का पूरणप्रत्ययान्त रूप ङट्प्रत्यय को तर्मेट् का आगम नित्य करने से बनता है। यथा—एकशततमः, द्विशततमः, सहस्रतमः, अयुततमः आदि।

अब अग्रिमसूत्र में निपातनद्वारा श्रोत्रिय (वेद को पढ़ने वाला) शब्द की उपपत्ति दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८१)

श्रोत्रियेऽछन्दोऽधीते ।५।२।८४॥

श्रोत्रियः । वेत्यनुवृत्तेऽछान्दसः ॥

अर्थः—‘वेद को पढ़ता है’ इस अर्थ में ‘श्रोत्रियन्’ यह निपातित किया जाता है। वेत्यनुवृत्तेः०—‘वा’ की अनुवृत्ति के कारण ‘छान्दसः’ प्रयोग भी बनेगा।

व्याख्या—श्रोत्रियन् इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। छन्दः।२।१। अधीते इति क्रियापदम्। ‘छन्दोऽधीते’ इत्यर्थे श्रोत्रियन् इति शब्दो निपात्यते। अर्थः—(‘छन्दोऽधीते’ इत्यर्थे) ‘वेद को पढ़ता है’ इस अर्थ में (श्रोत्रियन्) श्रोत्रियन् शब्द निपातित किया जाता है।

श्रोत्रियन् में नकार अनुबन्ध है जो ह्रस्वस्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। छिन्नस्थारिनिस्त्यम् (६.१.१६१) सूत्र से आद्युदात्तस्वर के लिये इसे जोड़ा गया है। प्रयोग में ‘श्रोत्रिय’ शब्द ही आयेगा।

श्रोत्रियशब्द के निपातन के द्वारा आचार्य यहां दो कार्यों का प्रधानतः विधान कर रहे हैं—पहला—द्वितीयान्त छन्दस् (वेद) शब्द से ‘तदधीते’ के अर्थ में घन् प्रत्यय तथा दूसरा छन्दस् को श्रोत्र सवदिश। अन्य कार्य सामान्यनियमों के अनुसार ही हो जायेंगे। तथाहि—‘छन्दोऽधीते’ इस विग्रह में ‘छन्दस् अम्’ से तद्वितसञ्ज्ञक घन् प्रत्यय, अनुबन्ध नकार का लोप, सुंब्बुक् तथा छन्दस् को ‘श्रोत्र’ सवदिश करने से ‘श्रोत्र + घ’ हुआ। अब आयनेयीनीयियः फडलछघां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) से प्रत्यय के आदि घकार को इय् आदेश तथा यस्थेति च (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से ‘श्रोत्रियः’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस का साहित्य में प्रयोग यथा—ते श्रोत्रियास्तस्वविनिश्चयाय भूरिभूतं शास्वतमाद्रियन्ते (मालतीमाधव १.५)।

१. एक से लेकर शत तक की गिनती जानने के लिये इस व्याख्या के चतुर्थभासस्व समासप्रकरणान्तर्गत (६६०, ६६१) सूत्रों की व्याख्याओं तथा फुटनोटों का अवलोकन करना चाहिये।

ध्यान रहे कि यहां तदधीते तद्वेद (१०५३) से अण् प्रत्यय प्राप्त था उस का यह निपातन अपवाद है ।

वेत्यनुवृत्तेरछान्दसः ।

प्रकृतसूत्र में मण्डूकप्लुतिन्याय से तावतिथं ब्रह्ममिति लुग्वा (५.२.७७) सूत्र से 'वा' पद का अनुवर्त्तन होता है । इस से यह निपातन विकल्प से प्रवृत्त होता है । जिस पक्ष में निपातन प्रवृत्त नहीं होता वहां 'छन्दस् अम्' से 'अधीते' अर्थ में तदधीते तद्वेद (१०५३) सूत्र द्वारा अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा प्रत्यय के णित्व के कारण तद्धितेष्वचामाद्येः (६३८) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'छान्दसः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । श्रोत्रियच्छान्दसो समौ इत्यमरः ।

अब क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से कर्ता अर्थ में इनिं प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८२) पूर्वादिनिः ।५।२।८६॥

पूर्वं कृतमनेन—पूर्वी ॥

अर्थः—क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से 'अनेन' (इस से) अर्थात् कर्ता अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक इनिं प्रत्यय हो ।

व्याख्या—पूर्वात् ।५।१। इनिः ।१।१। अनेन ।३।१। (आद्यमनेन भुक्तमिनिंठनी सूत्र से) । प्रत्ययः, पररश्च, इष्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । व्याख्यानद्वारा 'पूर्वं कृतम्, पूर्वं भुक्तम्' इत्यादियों में क्रियाविशेषणरूपेण प्रयुक्त पूर्व-शब्द का यहां ब्रह्म अभीष्ट है । क्रियाविशेषण सदा नपुंसक में द्वितीयैकवचनान्त प्रयुक्त होते हैं^१ । अतः यहां भी द्वितीयैकवचनान्त पूर्वशब्द से प्रत्यय की उत्पत्ति समझनी चाहिये । 'अनेन' में कर्तृतृतीया है अतः यहां कर्ता अर्थ में ही प्रत्यय अभीष्ट है । क्रिया के बिना न तो कोई कर्ता होता है और न क्रियाविशेषण, अतः यहां कृतम्, भुक्तम्, गतम् आदि किसी भी क्रिया को प्रकरणानुसार ऊपर से समझ लिया जाता है । अर्थः—(पूर्वात्) क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से (अनेन इत्यर्थे) कर्ता अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इनिः) इनिं प्रत्यय हो जाता है ।

इनिं में इकार उच्चारणार्थ एवं नकार को इत्सञ्ज्ञा से बचाने के लिये जोड़ा गया है । प्रत्यय का 'इन्' मात्र अवशिष्ट रहता है । उदाहरण यथा—

पूर्वं कृतम् अनेन—पूर्वी (पहले कर चुका व्यक्ति) । यहां 'पूर्वं अम्' इस द्वितीयैकवचनान्त क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से 'अनेन' अर्थात् कर्ता अर्थ में पूर्वादिनिः (११८२) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक इनिंप्रत्यय, प्रत्यय के अनुनासिक इकार का लोप, सुँब्लुक् तथा यस्त्योत्त च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का भी लोप करने से—पूर्वं + इन् = 'पूर्विन्' यह इन्नन्त शब्द निष्पन्न होता है । इस की रूपमाला शाङ्गिन्शब्द के समान चलती

१. क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं बलीबता चेप्यते (काशिका २.४.१८) । इस की व्याख्या समासप्रकरणस्थ सामान्ये नपुंसकम् (वा० ६४) पर देखें ।

है—पूर्वी, पूर्विणी, पूर्विणः । प्रथमैकवचन में सुविभक्ति ला कर सौ च (२८५) से उपधा-दीर्घ, हल्ङ्घादिलोप (१७६) तथा न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से पदान्त नकार का भी लोप करने पर 'पूर्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पूर्वी देवदत्तः—अर्थात् किसी क्रिया को पहले कर चुका देवदत्त । यहाँ क्रिया का प्रयोग न होने पर भी कृतम्, भुक्तम्, पीतम्, श्रुतम् आदि किसी भी क्रिया का या तो शब्दान्तरसान्निध्य से अथवा प्रकरण से बोध हो जाया करता है ।

अब पूर्वशब्दान्त से भी इसी इनिप्रत्यय का विधान दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८३) सपूर्वाच्च ।५।२।८७॥

विद्यमानपूर्वादिपि पूर्वशब्दाद् अनेनेति कर्त्रर्थे तद्धित इनिः प्रत्ययः स्यात्) । कृतपूर्वी ।।

अर्थः—जिस के पूर्व में कोई दूसरा पद विद्यमान हो तो ऐसे पूर्वशब्दान्त समस्त शब्द से परे भी 'अनेन' अर्थात् कर्ता अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक इनि प्रत्यय हो ।

व्याख्या—सपूर्वात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । पूर्वात् ।५।१। इनिः ।१।१। (पूर्वादिनिः सूत्र से) । अनेन ।३।१। (आद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ सूत्र से) । प्रत्ययः, पररश्च, ङ्घाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । विद्यमानं पूर्वम् (पूर्वपदम्) यस्य तत् सपूर्वम्, तस्मात्—सपूर्वात्, बहुव्रीहिसमासः । सहस्य स इत्यादेशः । पीछे केवल पूर्वशब्द से कर्ता अर्थ में इनि का विधान किया गया था परन्तु अब पूर्वशब्दान्त से भी उस का विधान किया जा रहा है । अर्थः—(सपूर्वात्) जिस के साथ कोई पूर्वपद जुड़ा हुआ हो ऐसे (पूर्वात्) पूर्वशब्द से परे (च) भी (अनेन इत्यर्थे) कर्ता अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इनिः) इनि प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा—

१. शब्दान्तरसान्निध्य से क्रिया का बोध यथा—'पूर्वी कटम्, पूर्वी ओदनम्, पूर्वी पयः' यहाँ कटादि पदों के सान्निध्य से क्रमशः कृतम्, भुक्तम्, पीतम् आदि क्रियाओं का बोध होता है । प्रकरण से क्रिया के बोध का एक सुन्दर उदाहरण वाल्मीकि-रामायण (३.१८.४) का यह पद्य है—

श्रीमानकृतदाररश्च लक्ष्मणो नाम धीर्यवान् ।

अपूर्वा भार्यया चार्था तरुणः प्रियदर्शनः ।

अनुरूपरश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति ॥

श्रीरामचन्द्र शूर्पणखा को कह रहे हैं कि यह सुन्दर युवा लक्ष्मण जिसने पहले कभी स्त्रीसुख को नहीं भोगा, तेरे रूप के अनुरूप तेरा पति बन जायेगा (अतः तू उसी के पास जा) । यहाँ प्रकरणतः 'अपूर्वी' की क्रिया का पता चल जाता है—पूर्व भार्यासुखं ज्ञातमनेनेति पूर्वी, न पूर्वी अपूर्वी, पूर्वादिनिः (५.२.८६) इति इनिप्रत्ययः (देखें रामायण पर गोविन्दराजकृत भूषणटीका) ।

पूर्वं कृतम् अनेन—कृतपूर्वी (जो पहले कर चुका है) ऐसा व्यक्ति । यहां पहले 'पूर्वं कृतम्—कृतपूर्वम्' इस प्रकार 'भूतपूर्वः' की तरह सुंपुंपासमास (६०६) कर लेना चाहिये । अब 'कृतपूर्वं सुं' इस प्रकार पूर्वशब्दान्त प्रथमान्त से 'अनेन = इस से अर्थात् कर्ता' अर्थ में सपूर्वाच्च (११८३) सूत्र से इनिप्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् (सुं) का लुक् तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का भी लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'कृतपूर्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । कृतपूर्वी कटं देवदत्तः (देवदत्त चटाई को पहले बना चुका है) ।

इसी प्रकार—भुक्तं पूर्वमनेन—भुक्तपूर्वी । भुक्तपूर्वी सक्तून् यज्ञदत्तः । श्रुतं पूर्वमनेन—श्रुतपूर्वी कथां ब्रह्मदत्तः । इत्यादि ।^१

विशेष वक्तव्य—यहां 'कट' आदि कर्म का सम्बन्ध 'कृत' आदि क्तान्तों के साथ साक्षात् नहीं है अन्यथा सापेक्ष होने के कारण 'कृत' और 'पूर्व' शब्दों का न तो समास हो सकता और न ही तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति । अतः 'कृत' आदि में क्तप्रत्यय कर्म की अविवक्षा में नपुंसके भावे क्तः (८७०) द्वारा भाव में ही समझना चाहिये । इस तरह समास और उस से परे तद्धितप्रत्यय के निर्वाध सिद्ध हो जाने के अनन्तर 'कृतपूर्वी किम् ? कटम्' इत्यादि रीति से 'कृतपूर्वी' आदि पदों का 'कट' आदि के साथ सम्बन्ध जुड़ता है । इस प्रकार 'कट' आदि अनुक्त कर्म रहते हैं क्योंकि न तो वे कृत् (क्त) द्वारा उक्त होते हैं और न ही तद्धितद्वारा (तद्धितप्रत्यय तो यहां कर्ता अर्थ में हुआ है) । तब इस अनुक्त कर्म में कर्मणि द्वितीया (८९१) द्वारा द्वितीया विभक्ति हो जाती है जैसाकि ऊपर के उदाहरणों में दर्शाया गया है ।

अब इष्टादिगणपठित प्रातिपदिकों से परे भी 'अनेन' अर्थात् कर्ता अर्थ में इनि प्रत्यय का विधान करते हैं—

१. यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि इन पूर्वशब्दान्तों से इनिप्रत्यय तो पूर्वादिनिः (११८२) सूत्र से ही तदन्तविधि के आश्रयण से सिद्ध हो सकता था पुनः इस नये सूत्र के बनाने की क्या आवश्यकता ? इस का उत्तर यह है कि आचार्य इस नये सूत्र को बना कर एक परिभाषा का ज्ञापन कराना चाहते हैं—

ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न (५०) ।

अर्थात् जब किसी प्रातिपदिक का ग्रहण कर कोई विधि विधान की जाती है तो वह विधि उस प्रातिपदिक से तो होती है परन्तु तदन्तों से नहीं । यथा—नडा-विभ्यः फक् (४.१.६६) सूत्रद्वारा नडादियों से गोत्रापत्य में फक् प्रत्यय का विधान किया गया है—नडस्य गोत्रापत्यं नाडायनः । परन्तु यह विधि नडाबन्तों से न होगी—सूत्रनडस्य गोत्रापत्यं सौत्रनाडिः, यहां फक् न हो कर अत् इञ् (१०१४) से इञ् हो कर अनुशक्तिकादीनां च (१०६५) से उभयपदवृद्धि हो जाती है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८४) इष्टादिभ्यश्च ।५।२।८८।

(प्रथमान्तेभ्य इष्टादिभ्योऽनेनेत्यर्थे तद्धित इनिः प्रत्ययः स्यात्) ।
इष्टमनेन इष्टी । अधीती ।।

अर्थः—प्रथमान्त इष्ट आदि प्रातिपदिकों से 'अनेन' (इस से) अर्थात् कर्ता अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक इनिप्रत्यय हो ।

व्याख्या—इष्टादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । इनिः ।१।१। (पूर्वादिनिः सूत्र से) । अनेन ।३।१। (आद्यमनेन भुक्तमिनिठनौ सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, इद्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—इष्टशब्द आदियेषान्ते इष्टादयः, तेभ्यः = इष्टादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । इष्टादि एक गण है जिस में क्तप्रत्ययान्त कुछ शब्द संगृहीत हैं । यहां समर्थविभक्ति का निर्देश न होने पर भी सामर्थ्यात् प्रथमा को ही समर्थविभक्ति समझ लिया जाता है । अर्थः—(इष्टादिभ्यः) इष्ट आदि प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (अनेन इत्यर्थे) 'इस से' अर्थात् कर्ता अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इनिः) इनि प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

इष्टमनेन—इष्टी (यज्ञ कर चुका व्यक्ति) । 'इष्ट' शब्द यज्ञ देवपूजासंगतिकरण-दानेषु ((ध्वा० उभय०) धातु से कर्म की अविवक्षा में भाव में नपुंसके भावे षतः (८७०) से ऋतप्रत्यय, वक्षिस्त्वपियजादीनां किति (५४७) द्वारा सम्प्रसारण, सम्प्रसारणाच्च (२५८) से पूर्वरूप तथा अन्त में षत्व (३०७) और ष्टुत्व (६४) करने से सिद्ध होता है । यहां 'इष्ट सुं' इस प्रथमान्त से 'अनेन' अर्थात् कर्ता अर्थ में प्रकृत इष्टादिभ्यश्च (११८४) सूत्रद्वारा इनि प्रत्यय, अनुबन्ध इकार का लोप तथा सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (सुं) का भी लुक् करने पर—इष्ट + इन् । अब यस्येति च (२३६) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर 'इष्टिन्' शब्द उपपन्न हो जाता है । इस से परे प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुंप्रत्यय, उपधादीर्घ (२८५), हल्ङ्घादिलोप (१७६) तथा पदान्त नकार का भी लोप करने पर 'इष्टी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इष्टी, इष्टिनी, इष्टिनः । यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि जब क्तान्त से तद्धित इनिप्रत्यय किया जाता है तब उस इन्नन्त के कर्म में षतस्येतिव-

१. इष्टादिगण यथा—

इष्ट । पूर्त । उपासादित (उपसादित) । निगदित । परिगदित । परिवादित । निकथित । निषादित । निपठित । संकलित । परिकलित । संरक्षित । परिरेक्षित । अर्चित । गणित । अवकीर्ण । आयुक्त । गृहीत । आम्नात । श्रुत (आम्नातश्रुत) । अधीत । आसेवित । अवधारित । अवकल्पित । निराकृत । उपकृत । उपाकृत । अनुयुक्त । अनुगणित । अनुपठित । व्याकुलित । परिकथित । संकल्पित । विकलित । निपतित । पठित । पूजित । परिगणित । उपगणित । अपवारित । उपनत । निगृहीत । अपचित ।।

यस्य कर्मण्युपसंस्थानम् (वा० २.३.३६) वार्तिकद्वारा सप्तमी विभक्ति हुआ करती है^१ ।
यथा—इष्टी अछवरेषु (यज्ञों को कर चुका व्यक्ति) ।

इस सूत्र का दूसरा मूर्धाभिषिक्त उदाहरण यथा—

अधीतमनेन—अधीती (जिस ने अध्ययन कर रखा है ऐसा व्यक्ति) । यहां 'अधीत सुं' से 'अनेन' अर्थात् कर्ता अर्थ में इष्टाविभ्यश्च (११८४) से इनिं प्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप, सुंबुक् तथा यस्थेतिचलोप कर विभक्तिकार्य करने से 'अधीती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । अधीती, अधीतिनी, अधीतिनः । कर्म का योग होने पर पूर्वोक्त वार्तिक से कर्म में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होगा । यथा—अधीती व्याकरणे (जिस ने व्याकरण का अध्ययन कर रखा है ऐसा व्यक्ति) ।

इष्टादियों से इनिं के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) पठितमनेन—पठिती शास्त्रे ।
- (२) अर्चितमनेन—अर्चिती गोविन्दे ।
- (३) उपकृतमनेन—उपकृती मित्रेषु ।
- (४) कृतमनेन—कृती कृत्येषु ।
- (५) निराकृतमनेन—निराकृती शत्रुषु ।
- (६) आम्नातमनेन—आम्नाती निगमेषु ।
- (७) निगृहीतमनेन—निगृहीती शत्रुषु ।
- (८) परिगणितमनेन—परिगणिती ज्योतिषि ।
- (९) पूजितमनेन—पूजिती देवेषु ।
- (१०) संरक्षितमनेन—संरक्षिती भृत्यवर्गैः^२

१. जब क्तान्त से तद्धितप्रत्यय इनिं का विधान किया गया हो तो उस इनिंप्रत्ययान्त के कर्म में सप्तमी विभक्ति हो - यह इस वार्तिक का तात्पर्य है । यहां प्रकृत में 'इष्ट' इस क्तान्त से इनिं प्रत्यय करने से 'इष्टिन्' शब्द बना है तो इस इष्टिन् के कर्म (अछवर) में सप्तमी हो जाती है— इष्टी अछवरेषु । 'कृतपूर्वी कटम्' में इस वार्तिकद्वारा 'कट' कर्म में सप्तमी नहीं होती, कारण कि वहां क्तान्त से इनिं नहीं किया गया अपितु 'कृतपूर्व' से किया गया है ।
२. नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में इस सूत्र के उदाहरण दो शार्दूलविक्रीडित पद्यों में इस प्रकार बद्ध किये हैं—

इष्टी सर्वमखे श्रुती श्रुतिशते तत्त्वे गृहीत्यर्चिती
गोविन्दे पठिती तथाऽनुपठिती शास्त्रेषु सबैष्वपि ।
शत्रौ व्याकुलिती तथा खलजने दूरं निराकृत्यसौ
मित्रेषूपकृती विभाति नृपतिर्वीनेषु संरक्षिती ॥१॥
आम्नाती निगमे ग्रहेषु गणिती धर्मऽवधारित्यसा-
वाचारे परिरक्षिती निकषिती श्रेयस्सु नित्यं नृणाम् ।
न्यायेष्वप्यवकल्पिती परिकलित्युच्चैः कलाकोशले
वेद्ये संकलिती विराजति सुधीरासेविती केशवे ॥२॥

कुछ साहित्यगत उदाहरण यथा—

(क) न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् । (रघु० ३.५१)

(ख) कृती भृती बृद्धमतेषु धीमा-

स्त्वं पैतृकं वेद्वचनं न कुर्याः ।

विच्छिन्नमानेऽपि कुले परस्य

पुंसः क्वं स्याद्विह पुत्रकाम्या ॥ (भट्टि० ३.५२)

(ग) अठवरेष्विष्टिनां पाता पूर्ता कर्मसु सर्वदा ।

पितृनियोगाद्वाज्ज्त्वं हित्वा योऽभ्यगमद्वनम् ॥ (भट्टि० ५.७६)

अभ्यास [१२]

(१) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप समुत्र सिद्ध करें—

- | | |
|-----------------------------|------------------------|
| १. तिलानां भवनं क्षेत्रम् । | ८. पण्डा सञ्जाताऽस्य । |
| २. तत् परिमाणमस्य । | ९. उभाववयवौ अस्य । |
| ३. पञ्च अवयवा अस्य । | १०. पूर्वं कृतमनेन । |
| ४. किं परिमाणमस्याः । | ११. षण्णां पूरणः । |
| ५. भुक्तं पूर्वमनेन । | १२. द्वयोः पूरणः । |
| ६. छन्दोऽधीते । | १३. कतीनां पूरणः । |
| ७. इष्टम् अनेन । | १४. इदं परिमाणमस्य । |

(२) विग्रह दशति हुए निम्नस्थ प्रयोगों की सिद्धि करें—

१. तारकितं नभः । २. हैयङ्गवीनम् । ३. जानुदध्नम् । ४. ऊरुद्वयसम् ।
 ५. शालेयम् । ६. एतावान् । ७. मौद्गीनम् । ८. एकादशः । ९. पञ्चमः ।
 १०. विशः । ११. तृतीयः । १२. त्रितयम् । १३. चतुर्थः । १४. तुरीयः ।
 १५. कृतपूर्वी कटम् । १६. चतुष्टयम् ।

(३) अधोलिखित सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. संख्याया अवयवे तयप् । २. तस्य पूरणे डट् । ३. नान्तादसंख्यादेर्मेट् ।
 ४. धान्यानां भवने क्षेत्रे खब् । ५. पूर्वादिर्निः । ६. सपूर्वाञ्च ।
 ७. यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वर्तुप् । ८. प्रमाणे द्वयसज्दध्नन्मात्रवः ।
 ९. षट्-कति-कतिपय-चतुरां युक् । १०. उभाडुदात्तो नित्यम् ।
 ११. तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् ।

(४) निम्नस्थ सूत्रों का केवल अर्थ लिखें—

१. इष्टादिभ्यश्च । २. श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते । ३. त्रेः सम्प्रसारणं च ।
 ४. ति विशतेर्डिति । ५. व्रीहिशाल्योर्ढक् । ६. किमिदम्भ्यां वो षः ।
 ७. इदंकिमोरीशकी । ८. द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा । ९. द्वेस्तीयः ।
 १०. हैयङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम् ।

(५) एक से ले कर सौ तक की संख्याएं क्रमशः संस्कृत में लिखें ।

(६) निम्नस्थ संख्याओं के पूरणप्रत्ययान्त रूप पुं० और स्त्री० दोनों में निर्दिष्ट करें—

२, ३, ४, ५, ६, ७, ११, १२, १३, १६, १७, १८, १९, २०, २२,
४०, ४१, ५०, ५१, ५२, ६०, ७०, ८०, ८२, ८३, ८८, ९०, १००।

(७) निम्नलिखित वचनों की व्याख्या करें—

[क] भवत्यस्मिन्निति भवनम् ।

[ख] असंख्यादेः किम् ? एकादशः ।

[ग] नान्तात् किम् ? विशः ।

[घ] कतिपयशब्दस्यासंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकाड्डट् ।

[ङ] वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः ।

[च] दुह्यत इति दोहः क्षीरम् ।

[छ] चतुरश्रयतावाद्यक्षरलोपश्च ।

[ज] ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न ।

[झ] प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम ।

(८) इयत् की सिद्धि दशां कर इस पर सुप्रसिद्ध सुभाषित का सार्थ विवेचन करें ।

(९) निम्नस्थ युगलों में शुद्ध रूप का विवेचन करें—

हस्तमात्रः पटः, हस्तद्वयसः पटः । श्रोत्रियः, छान्दसः । तुरीयः, चतुर्थः ।
द्विसप्ततिः, द्विसप्ततः । एकनवतिः, एकनवती । तुर्यः, चतुर्थः । त्रयम्,
त्रितयम् ।

(१०) इष्टादिगण के इनिप्रत्ययान्त कोई से पाञ्च प्रयोग विग्रहपूर्वक दशां ।

(११) 'पूर्वी' में क्रिया का किस प्रकार बोध हो सकता है सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(१२) निम्नस्थ प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—

[क] 'अधीती व्याकरणे' में कर्मणि सप्तमी कैसे हो जाती है ?

[ख] 'एकादशः' में डट् को मँट् का आगम क्यों नहीं होता ?

[ग] 'तृतीयः' में हलः द्वारा दीर्घ क्यों नहीं होता ?

[घ] ति विशतेर्दिति में अलोऽन्त्यविधि क्यों प्रवृत्त नहीं होती ?

[ङ] असंख्यादिसंख्या का क्या अभिप्राय है ?

[च] 'विशः' की तरह 'विशतितमः' में ति का लोप क्यों नहीं ?

[छ] 'एक' का पूरणप्रत्ययान्त रूप क्या बनेगा ?

[ज] 'चतुष्टयम्' की तरह 'षट्त्तयम्' में षट्त्व क्यों नहीं होता ?

[झ] 'श्रुतपूर्वी वात्ताम्' यहां वात्ताम् में द्वितीया कैसे होगी ?

[अ] 'हैयङ्गवीनम्' और 'ओत्रियः' में कौन कौन से कार्य निपातित किये गये हैं।

[लघु०]

इति भवनाद्यर्थकाः ॥

(यहां पर भवनाद्यर्थक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है।)

—:०:—

अथ मत्वर्थीयाः

अब अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय के द्वितीयपादस्थ मत्वर्थीय प्रत्ययों का सुव्यवस्थित प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। मत्तुप् प्रत्यय के पकार अनुबन्ध का लोप करने पर 'मत्तुं' रह जाता है, उसी का यहां ग्रहण अभीष्ट है। मतोरर्थः—मत्वर्थः, षष्ठी-तत्पुरुषः। मत्वर्थे भवा मत्वर्थीयाः। गहादियों (१०७८) के आकृतिगण होने के कारण यहां मत्वर्थशब्द से भव अर्थ में छ प्रत्यय हो कर छकार को ईय् आदेश (१०१३) करने से 'मत्वर्थीय' शब्द निष्पन्न होता है। इसे 'मतुबर्थीय' भी कहा जाता है। 'वह इस के पास है' या 'वह इस में है' इन अर्थों में मत्तुप् प्रत्यय का विधान किया जाता है। यथा—शक्तिरस्त्यस्य अस्मिन् वा—शक्तिमान्, बुद्धिमान् आदि। मत्तुप् के अतिरिक्त इसी अर्थ में होने वाले इनिं, ठन्, लच्, श, न, इलच् आदि सब प्रत्यय मत्वर्थीय कहलाते हैं। प्रायः सब भारतीय भाषाओं में मत्वर्थीयों के प्रचुर प्रयोग पाये जाते हैं। संस्कृतसाहित्य में इन की पदे पदे उपलब्धि हंती है। अतः विद्यार्थियों को यह प्रकरण भली-भान्ति हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

अब सर्वप्रथम मत्तुप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (११८५)

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुप् ।५।२।१४॥

(प्रथमान्तात् प्रातिपदिकाद् अस्यास्तीत्यर्थे अस्मिन्नस्तीत्यर्थे वा तद्धितसञ्ज्ञो मत्तुप् प्रत्ययः स्यात्)। गावोऽस्यास्मिन् वा सन्ति—गोमान् ॥

अर्थः—'वह इस का है' अथवा 'वह इस में है' इन अर्थों में प्रथमान्त प्रातिपदिक से परे तद्धितसञ्ज्ञक मत्तुप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण तद् शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। अस्य ।६।१। अस्ति इति लौटि अस्धातोः प्रथमपुरुषैकवचनान्तं क्रियापदम् । अस्मिन् ।७।१। इति इत्यव्ययपदम् । मत्तुप् ।१।१। प्रत्ययः, परश्च, ङष्ठाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'अस्ति' इस क्रियापद की आवृत्ति की जाती है। अर्थः—(तत् = तस्मात् = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से परे (अस्य अस्ति इत्यर्थे) 'वह इस के पास है' इस अर्थ में अथवा (अस्मिन् अस्ति

इत्यर्थे) 'वह इस में है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मत्तुप्) मत्तुप् प्रत्यय हो जाता है ।

मत्तुप् का पकार हलन्त्यम् (१) सूत्रद्वारा तथा अनुनासिक उकार उपदेशोऽनुनासिक इत् (२८) सूत्रद्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'मत्' मात्र शेष रहता है । पकार अनुबन्ध अनुवात्तो सुंप्पितौ (३.१.४) सूत्र से अनुदात्तस्वर के लिये तथा उकार अनुबन्ध उगिदच्चां सर्वनामस्थानेऽघातोः (२८६) आदि उगित्कार्यों के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा —

गावः सन्ति अस्य—गोमान्, अथवा—गावः सन्ति अस्मिन्—गोमान् (गोएँ हैं जिस की अर्थात् गौओं वाला व्यक्ति, अथवा—गोएँ हैं जिस में अर्थात् गौओं वाला प्रदेश आदि) । यहाँ 'गो जस्' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'सन्त्यस्य (इस की है)' इस अर्थ में अथवा 'सन्त्यस्मिन् (इस में हैं)' इस अर्थ में प्रकृत तदस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुप् (११८५) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक मत्तुप् प्रत्यय, उप् का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा सुंयो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (जस्) का भी लुक् हो कर 'गोमत्' शब्द निष्पन्न होता है । अब विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में इस से परे प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुंप्रत्यय ला कर अस्वसन्तस्य चाऽघातोः (३४३) से उपधादीर्घ, उगिदच्चां सर्वनामस्थानेऽघातोः (२८६) से तुंम् का आगम, हल्ङ्याढभ्यो दीर्घात् सुंतिस्वयुक्तं हल् (१७६) से सुं के अपृक्त सकार का लोप तथा अन्त में संयोगान्तस्य लोपः (२०) से संयोगान्त तकार का भी लोप करने पर 'गोमान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—धृतिमान्, शान्तिमान्, बुद्धिमान्, मातृमान्, पितृमान्, शक्तिमान् आदि की सिद्धि जाननी चाहिये । स्त्रीत्व की विवक्षा में मत्तुबन्तों के उगित् होने के कारण उगितश्च (१२५०) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो जाता है । यथा—गोमती शाला, धृतिमती वीराङ्गना, बुद्धिमती आर्या, शक्तिमती दुर्गा इत्यादि ।

प्रकृतसूत्र में मत्तुप् के 'तदस्त्यस्य' और 'तदस्त्यस्मिन्' ये दो अर्थ बताये गये हैं । दोनों में 'अस्ति' द्वारा एकवचन का प्रयोग किया गया है, परन्तु यहाँ एकत्व विवक्षित नहीं, लक्ष्य में एकत्व, द्वित्व और बहुत्व कुछ भी हो सकता है । इसीप्रकार 'अस्य' द्वारा एकत्वनिर्देश में भी यही समझना चाहिये । परन्तु 'अस्ति' के कारण वर्त्तमानकाल की विवक्षा तो रहेगी ही । अतः गत या भावी धन के कारण कोई व्यक्ति 'धनवान्' नहीं कहा जायेगा । वर्त्तमान में धन होने से ही वह धनवान् होगा ।

यहाँ सूत्र में मत्तुप् के यद्यपि दो ही अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं तथापि 'इति' ग्रहण के कारण इस के इन दो मुख्य अर्थों के साथ साथ अन्य भी अनेक अनिर्दिष्ट अर्थ संगृहीत समझने चाहियें । 'इति' शब्द के द्वारा लोकप्रसिद्ध विवक्षा की ओर संकेत किया गया है । भाष्यकार ने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत करते हुए उन अर्थों को इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।

सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मत्तुबादयः ॥^१

‘अस्ति’ की विवक्षा में होने वाले मत्तुप् आदि प्रत्ययों के प्रयोगों में प्रायः ये छः विषय पाये जाते हैं—

(१) भूमन् (बहुत्व) ।^२ अर्थात् होने वाली वस्तुओं का बाहुल्य । यथा—बह्वृषो गावः सन्त्यस्य गोमान् । एक गाय के होने से कोई ‘गोमान्’ नहीं होता । इस के लिये गौओं की बहुतायत होनी चाहिये । हां ! यह बहुतायत अपेक्षाकृत हो सकती है । क्योंकि जहाँ पाञ्च-दस गौओं के होने से ही कोई व्यक्ति ‘गोमान्’ कहाता है वहाँ राजा सौ-दो सौ गौओं के होने से भी ‘गोमान्’ नहीं होता । इसी प्रकार—बहु धन-मस्त्यस्य धनवान्, बहूनि द्वाराणि सन्त्यस्या द्वारवती पुरी (द्वारिका नगरी) आदि में समझना चाहिये ।

(२) निन्दा । निन्दा को व्यक्त करने के लिये भी क्वचित् मत्तुप् आदि प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है । यथा—कुष्ठी पुरुषः (कोढ़ी मनुष्य) । ककुदावर्त्तिनी कन्या (ककुदावर्त्तों वाली लड़की) । सङ्खादकी (दान्तों वाला) । इत्यादि ।

(३) प्रशंसा । यथा - प्रशस्तं रूपमस्त्यस्य रूपवान् । प्रशस्ता माताऽस्त्यस्य मातृ-मान् । पितृमान् । आचार्यवान् । इत्यादि ।

(४) नित्ययोग । यथा—नित्यं क्षीरमस्त्येषाम्—क्षीरिणो वृक्षाः । कण्टकिनो द्रुमाः । यहाँ क्षीर या कांटों का वृक्षों के साथ नित्ययोग विवक्षित है ।

(५) अतिशायन (आधिक्य) । यथा—अतिशयितम् उदरम् अस्त्यस्या उदरिणी कन्या (बढ़े हुए पेट वाली कन्या) । बलवान् मल्लः (अधिक बल वाला पहलवान) ।

(६) सम्बन्ध (संयोग) । यथा—दण्डोऽस्त्यस्य दण्डी, छत्रमस्त्यस्य छत्री । यहाँ दण्ड और छत्र का व्यक्ति के साथ संयोग व्यक्त होता है । घर में रखे दण्ड और छत्र से कोई व्यक्ति दण्डी या छत्री नहीं कहलाता ।^३

विशेष वक्तव्य—यहाँ एक बात विशेषतः ध्यातव्य है कि जब एक बार कोई मत्तुबर्थाय प्रत्यय कहीं हो चुकता है तो वहाँ पुनः दूसरी बार मत्तुबर्ध में वह प्रत्यय या

१. येऽस्तिविवक्षायां मत्तुबादयो विधीयन्ते ते भूमादिषु विषयेषु भवन्तीति वाक्यार्थः—इति शेखरे नागेशः ।

२. बहोर्भावो भूमा । बहु + इमनिच् = बहु + इमन् । बहोर्लोपो भू ष बहोः (१२२७) सूत्र से इमनिच् के आदि इकार का लोप तथा ‘बहु’ को ‘भू’ आदेश हो जाता है—भू + मन् = भूमन् = भूमा । इमनिच्प्रत्ययान्त पुलिङ्ग होते हैं ।

३. सम्बन्ध (संयोग) यद्यपि उभयनिष्ठ होता है तथापि मत्तुप् आदि प्रत्यय दण्ड आदि से ही किये जाते हैं पुरुष आदि से नहीं । क्योंकि ‘पुरुषवान् दण्डः’ इत्यादि प्रकारेण लोक में व्यवहार नहीं देखा जाता । यह सब सूत्रगत ‘इति’ शब्द का ही माहात्म्य है कि लोकप्रसिद्धि का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता ।

उसके समान रूप वाला कोई दूसरा प्रत्यय नहीं होता। यथा—धनमस्यास्तीति धनवान्। यहां धनप्रातिपदिक से मत्तुप् प्रत्यय कर उस के मकार को वकार आदेश करने से 'धनवत्' शब्द बना है। अब इस से धनवानस्यास्तीति इस विग्रह में पुनः मत्तुप् प्रत्यय नहीं होगा। कारण कि दोनों मत्तुबर्थीय प्रत्यय समानरूप हैं। हां ! यदि कोई दूसरा विरूप मत्वर्थीय प्रत्यय प्राप्त होता है तो वह अवश्य हो जाता है। उदाहरण यथा—दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी, दण्डशब्द से अत इनिंठनौ (११६१) सूत्रद्वारा मत्वर्थीय इनिं प्रत्यय करने से 'दण्डिन्' शब्द बना है। इस से 'दण्डिनः सन्त्यस्या इति दण्डिमती शाला' इस प्रकार दुबारा मत्वर्थं में दूसरा प्रत्यय (मत्तुप्) हो जाता है। कारण स्पष्ट है कि पहले हुए मत्वर्थीय इनिं प्रत्यय से यह मत्तुप् प्रत्यय स्पष्टतः विरूप है। कहा भी है—

शैषिकान्मत्तुबर्थीयाच्छैषिको मत्तुबर्थकः।

सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥

इस कारिका की व्याख्या पीछे शैषिकप्रकरणस्थ शेषे (१०६८) सूत्र पर की जा चुकी है वह यहां पुनर्घ्यातव्य है।

नोट—यहां मत्तुप् के प्रकरण में पूर्वपठित मातुपघायाश्च मतोर्बोऽयवादिभ्यः (१०६५) सूत्र का भी ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। इस सूत्र द्वारा मकारान्त, अवर्णान्त, मकारोपध तथा अवर्णोपध प्रातिपदिकों से परे मत्तुप् के मकार को वकार आदेश हो जाता है परन्तु यवादिगणपठित शब्दों से परे नहीं होता।

मकारान्तों से यथा—शम् (कल्याणम्) अस्त्यस्य—शंवान्। किवान्। अवर्णान्तों से यथा—गुणाः सन्त्यस्यास्मिन् वा गुणवान्। ज्ञानवान्। वृक्षवान्। मालावान्। विद्यावान्। प्रज्ञावान्। मकारोपधों से यथा—लक्ष्मीरस्त्यस्य लक्ष्मीवान्। शमीवान्। अवर्णोपधों से यथा—पयोऽस्त्यस्य पयस्वान्। यशस्वान्। भास्वान्।

यवादियों से परे नहीं होता। यथा—यवाः सन्त्यस्य यवमान्। भूमिमान्। कृमिमान्। ऊर्मिमान्। ककुद्मान्। इत्यादि।

इस के अतिरिक्त अयः (१०६४) सूत्र द्वारा अयन्त से परे भी मत्तुप् के मकार को वकार आदेश हो जाता है। यथा—मरुत्वान्। विद्युत्वान्। उदशिवत्वान्। अग्निचित्वान्। दृषद्दान्। इत्यादि।^१

१. यहां यह ध्यातव्य है कि मत्तुबर्थीयों का विग्रह शब्दों के हेरफेर से कई प्रकार से किया जाता है। निदर्शनार्थ 'गोमान्' का विग्रह यथा—

१. गावः सन्त्यस्य गोमान्। २. गावः सन्त्यस्येति गोमान्। ३. गावो विद्यन्तेऽस्य गोमान्। ४. गावो विद्यन्तेऽस्येति गोमान्। ५. गावः सन्त्यस्मिन् गोमान्। ६. गावः सन्त्यस्मिन्निति गोमान्। ७. गावो विद्यन्तेऽस्मिन् गोमान्। ८. गावो विद्यन्तेऽस्मिन्निति गोमान्। ९. गावः सन्त्यत्र गोमान्। १०. गावः सन्त्यत्रेति गोमान्। ११. गावो विद्यन्तेऽत्र गोमान्। १२. गावो विद्यन्तेऽत्रेति गोमान्।

सन्ति, विद्यन्ते, अस्मिन् आदि के स्थान पर अन्य समानार्थक शब्द लगाने या इन को आगे पीछे करने से भी विग्रह दर्शाया जाता है। यथा—गावोऽस्य विद्यन्ते इति गोमान्, गावोऽत्र विद्यन्त इति गोमान्। कभी कभी 'गोयुक्ता गोमन्तः, गोस्वामिनो गोमन्तः' इत्यादिप्रकारेण भी विग्रह दर्शाया जाता है।

अब पदसंज्ञामूलक जश्त्व आदि का निषेध करने के लिये मत्वर्थीय प्रत्यय के परे रहते तकारान्त और सकारान्त की भसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—(११८६) तसौ मत्वर्थे ।१।४।१६॥

तान्त-सान्तौ भसञ्ज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे । गरुत्मान् । वसोः सम्प्रसारणम् (३५३) — विदुष्मान् ॥

अर्थः—मत्तुं के अर्थ वाला कोई प्रत्यय परे हो तो तकारान्त और सकारान्त प्रातिपदिक भसञ्ज्ञक हो जाते हैं ।

व्याख्या—तसौ ।१।२। मत्वर्थे ।७।१। भम् ।१।१। (यच्च भम् से) । तश्च स च तसौ, इतरेतरद्वन्द्वः । तकारादकार उच्चारणार्थः । मत्वर्थप्रत्ययद्वारा आक्षिप्त प्रकृति (प्रातिपदिक) का विशेषण होने से 'तसौ' से तदन्तविधि हो जाती है—तकारान्त सकारान्त च यत् प्रातिपदिकम् । मतोरर्थः—मत्वर्थः, तस्मिन् = मत्वर्थे, षष्ठी-तत्पुरुषः । अर्थः—(मत्वर्थे) मत्तुं के अर्थ में कोई प्रत्यय परे हो तो (तसौ) तकारान्त और सकारान्त प्रातिपदिक (भम्) भसञ्ज्ञक हो जाते हैं । स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) सूत्रद्वारा प्राप्त पदसञ्ज्ञा का यह अपवाद है । आ कडारावेका सञ्ज्ञा (१६६) इस अधिकार के कारण दो सञ्ज्ञाओं का एक में समावेश निषिद्ध होने से भसञ्ज्ञा अनवकाशता के कारण पदसंज्ञा का बाध कर लेती है ।

तकारान्त का उदाहरण यथा—

गरुतौ (पक्षी) स्तोऽप्येति गरुत्मान् (दो पंख हैं इस के, अर्थात् पक्षी या गरुड़) ।^१ यहां 'गरुत् औ' इस प्रथमान्त से 'स्तोऽप्ये' के अर्थ में तबस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुं (११८५) सूत्रद्वारा मत्तुं प्रत्यय हो कर सुंपो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुं (औ) का लुक् करने से—गरुत् + मत् । यहां स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) सूत्रद्वारा गरुत् की पदसञ्ज्ञा प्राप्त थी परन्तु एकसंज्ञाधिकार के कारण तसौ मत्वर्थे (११८६) इस प्रकृतसूत्रद्वारा उस का बाध कर भसंज्ञा प्रवृत्त हो जाती है । इस से पदान्तमूलक झलां जशोऽन्ते (६७) से तकार को जश्त्वेन दकार नहीं होता—गरुत्म् ।^२ अब विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुं' प्रत्यय लाकर पूर्ववत् उपधादीर्घ (३४३), नुंम् (२८६), हल्ङ्घादिलोप (१७६) तथा अन्त में संयोगान्तस्य लोपः (२०) द्वारा संयोगान्तलोप करने से 'गरुत्मान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । गरुत्मान्, गरुत्मन्तौ, गरुत्मन्तः । धीमत् शब्द की तरह रूपमाला चलती है ।

इसीप्रकार—विद्युत्वान्, मरुत्वान् आदि की प्रक्रिया होती है । केवल ङयः (८.२.१०) सूत्रद्वारा वत्व विशेष है । गरुत् शब्द का यवादियों में पाठ होने से इस से परे मत्तुं के मकार को वत्व नहीं होता ।

१. नीडोद्भवा गरुत्मन्तः पित्सन्तो नभसंगमा इत्यमरः ।

गरुत्मान् गरुडस्ताक्षर्यो वैनतेयः खगेश्वर इत्यमरः ।

२. किञ्च पदत्वाभाव के कारण प्रत्यये भाषायां नित्यम् (वा० ११) द्वारा अनुनासिक भी नहीं होता ।

सकारान्त का उदाहरण यथा—

विद्वांसः सन्त्यस्य अस्मिन् वा विदुष्मान् (जिस के विद्वान् लोग हैं ऐसा वंश आदि, अथवा जिस में विद्वान् हैं ऐसा देश, प्रदेश आदि)। यहां 'विद्वस् + जस्' से 'सन्त्यस्य' या 'सन्त्यस्मिन्' अर्थों में तदस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुप् (११८५) सूत्र से मत्तुप् प्रत्यय हो कर संब्लुक करने से— विद्वस् + मत्। अब तसौ मत्वर्थे (११८६) से पदसञ्ज्ञा की अपवाद भसञ्ज्ञा के हो जाने से वसुं-ससुं-धवंस्वनहुहां वः (२६२) द्वारा सकार को पदमूलक दत्व नहीं होता। पुनः वसोः सम्प्रसारणम् (३५३) से वसुं के वकार को सम्प्रसारण इकार तथा सम्प्रसारणाच्च (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने पर विदुस् + मत्। अन्त में आदेशप्रत्यययोः (१५०) से सकार को मूर्धन्य षकार' आदेश कर पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से 'विदुष्मान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—वपुष्मान्, आयुष्मान्, चक्षुष्मान्, ज्योतिष्मान्, धनुष्मान् आदियों में भसञ्ज्ञा के कारण दत्व नहीं होता।

अब गुणवाचकों से मत्तुप् के लुक् का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(६०) गुणवचनेभ्यो मत्तुपो लुगिष्टः ॥

शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः। कृष्णः ॥

अर्थः—गुणवचन प्रातिपदिकों से परे मत्तुप् प्रत्यय का लुक् इष्ट है।

व्याख्या—यह वार्तिक महाभाष्य में तदस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुप् (११८५) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये। गुणमुक्तवन्त इति गुणवचनाः, कृत्यल्युटो बहुलम् (७७२) में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण यहां भूतकाल में कर्तरि ल्युट् प्रत्यय किया गया है। जो शब्द पहले गुण को कह कर बाद में उस गुण से युक्त द्रव्य को भी उसी अभिन्न रूप से कहने लग जाये तो उसे गुणवचन कहा जाता है। शुक्ल, नील, कृष्ण आदि शब्दों की ओर यहां स्पष्ट संकेत किया गया है क्योंकि ये शब्द गुण और गुणी को समानरूप से कहते हैं। रूप, रस, गन्ध आदि शब्द गुणों को तो कहते हैं परन्तु गुणी को नहीं^३ अतः उन का यहां ग्रहण अभीष्ट नहीं। सूत्र के उदाहरण यथा—

शुक्लः (गुणः) अस्यास्तीति शुक्लः पटः (सुफेदगुणवाला अर्थात् सुफेद कपड़ा आदि)।

यहां 'शुक्ल सुं' से 'अस्यास्ति' के अर्थ में तदस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुप् (११८५) सूत्रद्वारा मत्तुप् प्रत्यय होकर सुंप् (सुं) का लुक् हो जाता है—शुक्ल + मत्तुप्। अब गुणवचनेभ्यो

१. बिब्र ज्ञाने (अदा० परस्मै०) धातु से शतृ प्रत्यय कर उस के स्थान पर बिदेः शतृबसुंः (८३३) से वसुं आदेश करने से 'विद्वस्' शब्द बना है। स्थानिवद्भाव के कारण शतृ के स्थान पर होने वाला वसुं आदेश प्रत्यय माना जाता है। अतः प्रत्यय के अवयव सकार को षत्व हो जाता है।

२. लोक में रूपवान् के लिये रूपशब्द का एवं रसवान् के लिये रसशब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता।

मत्तुपो लुगिष्टः (वा० ६०) इस प्रकृत वार्तिक से मत्तुप् का भी लुक् कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'शुक्लः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि मत्तुप् का लुक् हो जाने पर भी उस का अर्थ शेष रहता है। कहा भी है—यः शिष्यते स लुप्यमानार्थ-भिधायी (जो शेष रहता है वह लुप्त होने वाले के अर्थ का भी वाचक होता है)।

इसीप्रकार — 'कृष्णः पटः, नीलो घटः' आदि के विषय में भी समझना चाहिये।

नोट—गुणवाची शुक्ल आदि शब्द केवल पुल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु जब मत्तुप् प्रत्यय किया जाता है तब वे तद्गुणयुक्त द्रव्य का ही लिङ्ग धारण कर लेते हैं। जैसाकि अमरकोष में कहा है—**गुणे शुक्लादयः पुंसि, गुणिलिङ्गास्तु तद्वति**। शुक्लः पटः, शुक्ला शाटिका, शुक्लं रजतम् आदि। स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रत्ययलक्षणद्वारा मत्तुप् को मान कर उगितश्च (१२५०) से डीप् नहीं होता, कारणकि डीप् उगिल्लक्षण है प्रत्ययलक्षण नहीं। अतः वहां अजाद्यतष्टाप् (१२४६) से टाप् की ही प्रवृत्ति होती है—शुक्ला शुक्तिः, कृष्णा शाटिका आदि।

अब मत्वर्थीय लच् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८७)

प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ।५।२।६६।।

चूडालः, चूडावान् । प्राणिस्थात् किम् ? शिखावान् दीपः । प्राण्यङ्गा-देव, नेह—मेधावान् ॥

अर्थः—प्राणियों के अङ्गवाचक प्रथमान्त आकारान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में विकल्प कर के तद्धितसञ्ज्ञक लच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्राणिस्थात् ।५।१। आतः ।५।१। लच् ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। तदस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुप् (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्तन होता है। प्रत्ययः, परश्च, इध्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। प्राणिषु तिष्ठतीति प्राणिस्थम्, तस्मात् = प्राणिस्थात्, प्राणिस्थवाचकादिति भावः। 'आतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'आदन्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(प्राणिस्थात्) प्राणियों में स्थित वस्तु के वाचक (तत् = तस्मात् = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त (आदन्तात् प्रातिपदिकात्) आदन्त प्रातिपदिक से परे (तदस्यास्त्यस्मिन् इति) 'वह इस के पास है' या 'वह इस में है' इन अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (लच्) लच् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है।

सार यह है कि मत्वर्थ में ऐसे प्रातिपदिक से लच् प्रत्यय विकल्प से हो जाता है जिस में निम्नस्थ तीनों शर्तें पाई जायें—

- (१) वह प्रातिपदिक प्राणिस्थवस्तु का वाचक होना चाहिये।
- (२) वह प्रातिपदिक आकारान्त होना चाहिये।
- (३) वह प्रातिपदिक प्रथमाविभक्त्यन्त होना चाहिये।

यह सूत्र पूर्वोक्त मर्तुप् प्रत्यय का अपवाद है, अतः इस के अभावपक्ष में वही मर्तुप् हो जायेगा। लच् का चकार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'ल' मात्र शेष रहता है। लशब्दतद्धिते (१३६) में 'अतद्धिते' कथन के कारण प्रत्यय के आद्य लकार की इत्संज्ञा नहीं होती। चकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है।^१

सूत्र का उदाहरण यथा—

चूडाऽस्त्यस्येति चूडालः, चूडवान् वा (चूडा है इस का अर्थात् चूटियावाला)। चूडाशब्द प्राणिस्थ चोटी का वाचक है और आदन्त भी है अतः 'चूडा सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में प्रकृत प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् (११८७) सूत्र से विकल्प से लच् प्रत्यय हो कर अनुबन्ध चकार का लोप तथा सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् (सुं) का भी लुक् करने पर—चूडा + ल = चूडाल। रामशब्दवत् विभक्तिकार्य करने से 'चूडालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। लच् के अभाव में तदस्यास्त्यस्मिन्निति मर्तुप् (११८५) सूत्र से मर्तुप् प्रत्यय, सुंभ्लुक् तथा मातृपधायारश्च मतोर्बोऽयवादिभ्यः (१०६५) से मकार को वकार आदेश कर धीमत्शब्दवत् विभक्तिकार्य करने से 'चूडावान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस तरह 'चूडालः' और 'चूडवान्' दो रूप बन जाते हैं।

इसीप्रकार—जङ्घाऽस्त्यस्येति जङ्घालो जङ्घवान् वा। जिह्वाऽस्त्यस्येति जिह्वालो जिह्वावान् वा। ग्रीवाऽस्त्यस्येति ग्रीवालो ग्रीवावान् वा।

प्राणिस्थात् किम् ? शिक्षावान् दीपः।

शिक्षावान् दीपः (शिक्षावाला दीपक)। दीपक प्राणी नहीं अतः शिक्षा शब्द से यहां प्रकृतसूत्रद्वारा मत्वर्थ में लच् प्रत्यय न होगा। तदस्यास्त्यस्मिन्निति मर्तुप् (११८५) सूत्र से केवल मर्तुप् प्रत्यय हो कर मातृपधायारश्च मतोर्बोऽयवादिभ्यः (१०६५) द्वारा मर्तुप् के मकार को वकार आदेश हो जायेगा। सूत्र में यदि 'प्राणिस्थ' न कहते तो यहां पर 'शिक्षालो दीपः' ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जाता।

प्राण्यङ्गादेव, नेह—मेघावान्।

भाष्यकार का कथन है कि सूत्रगत 'प्राणिस्थात्' का 'प्राण्यङ्गात्' ही अभिप्राय समझना चाहिये।^२ इस से 'मेघास्त्यस्येति मेघावान्' यहां मेघाप्रातिपदिक से लच् न होगा, क्योंकि मेघा यद्यपि प्राणियों में तो रहती है। तथापि मूर्त्तरूप न होने से प्राणियों का अङ्ग नहीं होती। अतः पूर्वसूत्र से मर्तुप् हो कर मकार को वकार आदेश (१०६५) हो जाता है। इसीप्रकार—चिकीर्षाऽस्त्यस्येति चिकीर्षावान्, जिहीर्षाऽस्त्यस्येति जिहीर्षावान्, शोभावान् नरः, इच्छावान् पुरुषः इत्यादियों में समझना चाहिये।

१. प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धेऽन्तोदात्ते 'चूडालोऽसि' इत्यादौ स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (८.२.६) इति स्वरितबाधनार्थश्चकार इति सिद्धान्तकीमुद्यां दीक्षितः।

२. यह सब पूर्वसूत्र से 'इति' के अनुबन्धन से लौकिकी विवक्षा के कारण सम्भव होता है।

प्रकृतसूत्रद्वारा आदन्त प्राप्यङ्ग से ही लच् का विधान किया गया है। अतः 'ह्रस्वी स्तोऽप्येति ह्रस्त्वान्' इत्यादियों में 'ह्रस्व' आदि के आदन्त न होने से लच् नहीं होता, मर्तुप् हो जाता है।

अब मत्वर्थ में श, न और इलच् प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८८)

लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः । ५।२।१००॥

(मत्वर्थे)—लोमादिभ्यः शः—लोमशः, लोमवान् । रोमशः, रोमवान् । पामादिभ्यो नः—पामनः । अङ्गात् कल्याणे (गणसूत्रम्)—अङ्गना । लक्ष्म्या अच्च (गणसूत्रम्)—लक्ष्मणः । पिच्छादिभ्य इलच्—पिच्छिलः, पिच्छवान् ॥

अर्थः—(मत्वर्थ में) लोमादियों से 'श' प्रत्यय, पामादियों से 'न' प्रत्यय और पिच्छादियों से 'इलच्' ये तद्धितप्रत्यय विकल्प से हों ।

व्याख्या—लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः । ५।२। श-न-इलचः । १।३। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का तदस्यास्त्यस्मिन्निति मर्तुप् (११८५) सूत्र से तथा 'अन्यतरस्याम्' पद का प्राणिस्थादातो लज्जन्यतरस्याम् (११८७) सूत्र से अनुवर्तन होता है। प्रत्ययः, परश्च, उपाध्नातिपदिक्त्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—लोमन्शब्द आदिर्येषां ते लोमादयः, पामन्शब्द आदिर्येषां ते पामादयः, पिच्छशब्द आदिर्येषां ते पिच्छादयः, सर्वत्र तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । लोमादयश्च पामादयश्च पिच्छादयश्च तेष्यः = लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । शश्च नश्च इलच्च शनेलचः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(अस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः प्रथमात्तेभ्यः) लोमादि, पामादि तथा पिच्छादि गणपठित प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (शनेलचः) श, न और इलच् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाते हैं । दूसरी अवस्था में मर्तुप् होता है ।

श और न प्रत्ययों में कोई अनुबन्ध नहीं परन्तु इलच् के अन्त्य में चकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है । सावधान रहें कि 'श' तद्धित प्रत्यय है अतः लशक्वतद्धिते (१३६) में 'अतद्धिते' कथन के कारण इस के आद्य शकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती । प्रकृत में तीन गण हैं और तीन ही प्रत्यय कहे गये हैं अतः यथासंख्यपरिभाषा से प्रत्ययों का क्रमशः विधान होगा ।

(१) लोमादियों' से मत्वर्थ में 'श' प्रत्यय विकल्प से हो जायेगा । उदाहरण यथा—

लोमानि सन्त्यस्येति लोमशो लोमवान् वा पुरुषः (लोम हैं इस के, अर्थात् लोमों वाला व्यक्ति) । यहाँ 'लोमन् जस्' से मत्वर्थ में प्रकृत लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः

१. लोमादिगण यथा—

लोमन् । रोमन् । बभ्रु । हरि । गिरि । कर्क । कपि । मुनि । तरु ॥

शनेलचः (११८८) सूत्र से लोमादित्वात् वैकल्पिक 'श' प्रत्यय हो कर सुंगो घातुप्राति-
पविकयोः (७२१) सूत्रद्वारा सुंप (जस्) का लुक् करने से—लोमन् + श । अब स्वादि-
व्वसर्वनामस्थाने (१६४) द्वारा पदत्व के कारण न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से
पदान्त नकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'लोमशः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस
पक्ष में 'श' प्रत्यय नहीं होता वहां तबस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुंप (११८५) सूत्र से मत्तुंप
प्रत्यय हो कर सुंब्लुक, नकारलोप तथा माबुपधायारश्च मतोर्बोऽयवादिभ्यः (१०६५) से
मकार को वकार आदेश और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'लोमवान्' प्रयोग सिद्ध
हो जाता है । इसप्रकार 'लोमशः' और लोमवान्' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।^१

इसीतरह—रोमाणि सन्त्यस्येति रोमशो रोमवान् वा । गिरिरस्त्यस्येति
गिरिशो गिरिमान् वा । कपिशः कपिमान् वा । इत्यादि ।

(२) पामादिगणपठित शब्दों से मत्वर्थ में 'न' प्रत्यय विकल्प से होता है ।^२
उदाहरण यथा—

पाम अस्त्यस्येति पामनः पामवान् वा (पामन् अर्थात् गीलीखुजलीवाला व्यक्ति) ।
यहां 'पामन् सुं' से मत्वर्थ में लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः (११८८) सूत्र से
पामादित्वात् विकल्प से 'न' प्रत्यय हो कर सुंब्लुक तथा न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य
(१८०) द्वारा पदान्त नकार का भी लोप कर—पाम + न = पामन । अब रामशब्दवत्
विभक्तिकार्य करने से 'पामनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'न' प्रत्यय के अभाव में मत्तुंप-
प्रत्यय लाने पर सुंब्लुक, पदान्त नकार का लोप तथा माबुपधायारश्च मतोर्बोऽयवादिभ्यः
(१०६५) से मत्तुंप के मकार को वकार आदेश करने से—पामवत् । धीमत् शब्द की
तरह विभक्तिकार्य करने पर 'पामवान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार 'पामनः'
और 'पामवान्' दो रूप बनते हैं ।

इसीतरह—हेम (सुवर्णम्) अस्त्यस्येति हेमनो हेमवान् वा । श्लेष्मा (कफः)
अस्त्यस्येति श्लेष्मणः श्लेष्मवान् वा । ऊष्म (गरमी) अस्त्यस्येति ऊष्मण ऊष्मवान् वा ।
कृमयः सन्त्यस्येति कृमिणः कृमिमान्^३ वा ।

अङ्गशब्द भी पामादियों में परिगणित है परन्तु अङ्गात् कल्याणे इस गणसूत्र से
कल्याण (सुन्दर) अर्थ में ही इस से 'न' प्रत्यय उत्पन्न होता है । कल्याणानि अङ्गानि
सन्त्यस्या इति अङ्गना (शुभ वा सुन्दर अङ्गों वाली स्त्री) । यहां कल्याण अर्थ में

१. स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः । (महाभाष्य ४.१.३)

२. पामादिगण यथा—

पामन् । वामन् । वेमन् । हेमन् । श्लेष्मन् । कद्रु । बलि । श्रेष्ठ । पलल । सामन् ।
ऊष्मन् । कृमि । अङ्गात् कल्याणे (गणसूत्रम्) । शाकी-पलाली-वद्भवां ह्रस्वत्वं च
(गणसूत्रम्) । विश्वगित्युत्तरपबलोपश्चाकृतसन्धेः (गणसूत्रम्) । लक्ष्म्या अच्च
(गणसूत्रम्) ॥

३. यवादित्वाद् वत्वं नेति बोध्यम् ।

वर्तमान प्रथमान्त 'अङ्ग जस्' से मत्वर्थ में प्रकृत लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलच्चः (११८८) सूत्र से पामादित्वात् 'न' प्रत्यय, सुंञ्जुक्, स्त्रीत्व की विवक्षा में अजाद्यतष्टाप् (१२४९) से टाप्, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने से 'अङ्गना' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'न' के अभाव में 'अङ्गवती' बनेगा परन्तु उस से कल्याण अर्थ की प्रतीति न होगी जैसे कि 'अङ्गना' से होती है। वस्तुतः अङ्गनाशब्द सुन्दर स्त्री के अर्थ में योगरूढ है।

लक्ष्मीशब्द भी पामादियों में परिगणित है परन्तु लक्ष्म्या अच्च इस गणसूत्रद्वारा 'न' प्रत्यय के परे रहते इसे अकार अन्तादेश भी हो जाता है। तथाहि—लक्ष्मीरस्त्यस्येति लक्ष्मणो लक्ष्मीवान् वा (धनवान्)। यहां 'लक्ष्मी सुं' से मत्वर्थ में प्रकृत लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलच्चः (११८८) सूत्रद्वारा वैकल्पिक 'न' प्रत्यय, सुंञ्जुक्, लक्ष्म्या अच्च इस गणसूत्र से 'लक्ष्मी' को अकार अन्तादेश, अट्कुप्वाड्० (१३८) से णत्व तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'लक्ष्मणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'न' प्रत्यय के अभाव-पक्ष में मर्तुप् हो कर 'माहुपधायश्च० (१०६५) द्वारा मर्तुप् के मकार को वकार आदेश करने से 'लक्ष्मीवान्' प्रयोग भी सिद्ध होता है।

(३) पिच्छ आदियों से मत्वर्थ में विकल्प से इलच् (इल) प्रत्यय हो जाता है।^१ उदाहरण यथा—

पिच्छमस्त्यस्येति पिच्छिलः (मोरपंखवाला, अथवा रपटनवाला मार्ग आदि, अथवा माण्ड्युक्त भक्ष्य पदार्थ, यद्वा मलाईदार दधि आदि पदार्थ)। यहां 'पिच्छ सुं' से मत्वर्थ में प्रकृत लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलच्चः (११८८) सूत्रद्वारा वैकल्पिक इलच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप, सुंञ्जुक्, एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप करने पर—पिच्छ + इल = पिच्छिल। विभक्तिकार्य विशेष्यानुसार होगा। पुलङ्ग में रामशब्दवत् 'पिच्छिलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^२ इलच् के अभाव में मर्तुप् ला कर माहुपधायश्च० (१०६५) से वत्व करने पर 'पिच्छवान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—उरोऽस्यास्तीति उरसिल उरस्वान् वा (चौड़ी छाती वाला)।^३

१. पिच्छादिगण यथा—

पिच्छ। उरस्। ध्रुवका। क्षुवका। जटा-घटा-कालात् क्षेपे (गणसूत्रम्)। वर्ण + उदक। पङ्क। प्रज्ञा ॥

२. पिच्छिलशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

काले चारिघराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।
उत्कण्ठिताऽसि तरले ! नहि नहि सखि ! पिच्छिलः पन्थाः ॥

(साहित्यदर्पण-दशमे)

तरुणं सर्वपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि च दधीनि ।

अल्पव्ययेन सुन्दरि ! ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति ॥

(वृत्तरत्नाकर १.११)

३. तसौ मत्वर्थे (११८६) इति भत्वात् सकारस्य ह्यं न ।

पङ्कोऽस्यास्तीति पङ्किलः पङ्कवान् वा (कीचड़वाला मार्ग आदि) ।

अब उन्नतोपाधिक दन्तशब्द से मत्वर्थ में उरच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८६) दन्त उन्नत उरच् ।५।२।१०६॥

(उन्नतोपाधिकात् प्रथमान्ताद् दन्तप्रातिपदिकान्मत्वर्थे उरच् तद्धितः स्यात्) । उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य—दन्तुरः ॥

अर्थः—दान्तों का उन्नत होना गम्यमान हो तो प्रथमान्त दन्तप्रातिपदिक से मत्वर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक उरच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—दन्ते ।७।१। उन्नते ।७।१। उरच् ।१।१। तदस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुं (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्त्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । यहां दन्तशब्द की आवृत्ति कर उसे पञ्चम्यन्त बना लिया जाता है । समर्थविभक्ति प्रथमा है जो प्रकरणतः ज्ञात है । अर्थः—(दन्ते उन्नते) दान्तों का उन्नत होना गम्यमान हो तो (प्रथमान्तात् दन्तप्रातिपदिकात्) प्रथमान्त दन्तप्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (उरच्) उरच् प्रत्यय हो जाता है । उरच् में चकार अनुबन्ध है जो स्वार्थ जोड़ा गया है, 'उर' मात्र अवशिष्ट रहता है । उदाहरण यथा—

उन्नता दन्ताः सन्त्यस्येति दन्तुरः (उन्नत दान्तों वाला) ।^१ यहां उन्नत-उपाधि में वर्त्तमान 'दन्त जस्' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में दन्त उन्नत उरच् (११८६) सूत्रद्वारा उरच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप तथा सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप (जस्) का भी लुक् करने से—दन्त + उर। अब यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'दन्तुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यदि दान्तों के उन्नतत्व की विवक्षा न होगी, केवल सामान्यतः 'दान्तों वाला' कहना ही अभीष्ट होगा तो उरच् प्रत्यय न हो कर मत्तुं हो जायेगा । तब मादुप-धायारश्च० (१०६५) द्वारा मत्तुं के मकार को वत्व आदेश कर 'दन्ताः सन्त्यस्येति दन्तवान्' बनेगा ।

निम्नोन्नत (ऊँची-नीची) भूमि के लिये जो 'दन्तुरा' का प्रयोग देखा जाता है वह उपचार (सादृश्य) के कारण लाक्षणिक समझना चाहिये ।

अब केशप्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६०) केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ।५।२।१०६॥

(प्रथमान्तात् केशप्रातिपदिकाद् मत्वर्थे तद्धितसञ्ज्ञो 'व' प्रत्ययो वा स्यात्) । केशवः । केशी । केशिकः । केशवान् ॥

१. यहां उन्नत दान्तों का अभिप्राय आगे की ओर झुके हुए दान्तों से है । इस प्रकार के दान्त ओष्ठों से प्रायः बाहर निकले रहते हैं । लोक में ऐसे व्यक्ति को 'उछले दान्तों वाला' कहा जाता है ।

अर्थः—प्रथमान्त 'केश' प्रातिपदिक से मत्वर्थ में विकल्प से तद्धितसञ्ज्ञक 'व' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—केशात् ।५।१। वः ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। तदस्यास्त्यस्मिन्निति मर्तुप् (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घ्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । इस सम्पूर्ण प्रकरण में समर्थविभक्ति प्रथमा ही है । अर्थः—(केशात्) प्रथमान्त केशप्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वः) 'व' प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से हो जाता है ।

मर्तुप् के संग्रहार्थ पीछे प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् (११८७) सूत्रस्य 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ ही रही थी पुनः यहां दुबारा 'अन्यतरस्याम्' क्यों कहा गया है ? इस का उत्तर यह है कि आचार्य यहां केवल मर्तुप् का ही संग्रह नहीं चाहते अपितु 'व' के अभाव में अत इनिठनौ (११९१) से प्राप्त होने वाले इनिं और ठन् प्रत्ययों को भी संगृहीत करना चाहते हैं । इस तरह मत्वर्थ में 'केश' प्रातिपदिक से व, इनिं, ठन् और मर्तुप् ये चार प्रत्यय हो जायेंगे । उदाहरण यथा—

केशाः सन्त्यस्येति केशवः (केशों वाला) । यहां 'केश जस्' से मत्वर्थ में प्रकृत केशाद्दोऽन्यतरस्याम् (११९०) सूत्रद्वारा 'व' प्रत्यय विकल्प से होकर सुँलुक् और विभक्तिकार्य करने से 'केशवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'व' के अभाव में अत इनिठनौ (११९१) से इनिं (इन्) और ठन् (ठ्) प्रत्यय भी विकल्प से हो जाते हैं । इनिं (इन्) प्रत्यय के परे रहते भसञ्ज्ञक अकार का यस्येति ञ (२३६) से लोप कर—केश + इन् = केशिन् । अब शाङ्गिन्शब्द की तरह सुँविभक्ति में सौ ञ (२८५) से उपघादीर्घ, हल्ङ्घादिलोप (१७९) तथा पदान्त नकार का भी न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से लोप कर देने से 'केशी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ठन् (ठ्) के पक्ष में ठस्येकः (१०२७) से ट् को 'इक' आदेश कर यस्येतिञ्चलोप करने से 'केशिकः' प्रयोग निष्पन्न हो जाता है । इनिं और ठन् के अभाव में तदस्यास्त्यस्मिन्निति मर्तुप् (११८५) सूत्र से मर्तुप् प्रत्यय कर भाहुपघायाश्च मतोर्बोऽयवादिभ्यः (१०६५) से मर्तुप् के मकार को वकार आदेश और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'केशवान्' प्रयोग उत्पन्न हो जाता है । इसतरह—(१) केशवः, (२) केशी, (३) केशिकः और (४) केशवान् ये चार रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

अब इस वप्रत्यय के प्रकरण में एक वार्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(९१) अन्येभ्योऽपि दृश्यते ।

मणिवः ॥

अर्थः—('केश' के अतिरिक्त) अन्य प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय देखा जाता है ।

व्याख्या—अन्येभ्यः ।५।३। अपि इत्यव्ययपदम् । दृश्यते इति दृशेः कर्मणि लोटि क्रियापदम् । यह वार्तिक केशाद्दोऽन्यतरस्याम् (११९०) सूत्र पर महाभाष्य में प्रकारा-

न्तरेण पढ़ा गया है। केशप्रातिपदिक के अतिरिक्त अन्य प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय देखा जाता है—यह इस वार्तिक का तात्पर्य है। उदाहरण यथा—

मणिरस्त्यस्येति मणिवः (मणिवाला सर्पविशेष)। यहां 'मणि सुं' से मत्वर्थ में प्रकृत अन्येभ्योऽपि बृथ्यते (वा० ६१) वार्तिकद्वारा 'व' प्रत्यय, सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् (सुं) का लुक् तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'मणिवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यह रूढशब्द है अतः पक्ष में इस का मतुंबन्त रूप नहीं बनता।

इसीप्रकार—हिरण्यमस्यास्तीति हिरण्यवः (निधिविशेष)। इत्यादि।

अब इसीप्रकरण में काशिकोक्त एक अन्य वार्तिक का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(६२) अर्णसो लोपश्च ।

अर्णवः ॥

अर्थः—अर्णस् (जल) प्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय तथा अर्णस् के अन्त्य अल् = सकार का लोप भी हो जाता है।

व्याख्या—अर्णसः १६।१। लोपः ११।१। च इत्यव्ययपदम्। यह वार्तिक केशा-द्वोज्यतरस्याम् (११६०) सूत्र पर काशिका में पढ़ा गया है अतः यह भी इसी वप्रकरण से सम्बद्ध है। अर्णस्शब्द जलवाचक है और नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। प्रथमान्त अर्णस्शब्द से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय तथा इस के साथ अर्णस् का लोप भी हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह लोप अर्णस् के अन्त्य अल् सकार का ही होता है। उदाहरण यथा—

प्रभूतम् अर्णोऽस्त्यस्मिन्निति अर्णवः (बहुतजलवाला अर्थात् समुद्र)।^१ यहां 'अर्णस् सुं' से मत्वर्थ में प्रकृत अर्णसो लोपश्च (वा० ६२) वार्तिक से 'व' प्रत्यय हो कर सुंब्लुक् तथा अर्णस् के सकार का भी लोप कर विभक्ति लाने से 'अर्णवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^२ यह भी समुद्रार्थक रूढ शब्द है अतः पक्ष में इस का मतुंबन्त रूप नहीं बनता।

अब मत्वर्थप्रकरण के सुप्रसिद्ध इनिं और ठन् प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६१) अत इनिं-ठनौ ॥५।२।११५॥

(अदन्तात् प्रातिपदिकान्मत्वर्थे इनिंठनौ तद्धितप्रत्ययौ वा स्तः)। दण्डी, दण्डिकः ॥

अर्थः—प्रथमान्त अदन्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक इनिं और ठन् प्रत्यय विकल्प से हों।

व्याख्या—अतः ॥५।१। इनिंठनौ ॥१।२। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुंप् (११८५) सूत्र से अनुवर्तन होता है। प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अन्यतरस्याम् ॥७।१। (प्राणि-

१. उदन्वानुबधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णव इत्यमरः।

२. तवार्णवस्येव तुषारशीकरंभेदेदमीभिः कमलोदयः कियान्। (नैषध० १.१३०)

स्थावातो लज्जन्तरस्याम् सूत्र से) । 'अतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है । समर्थविभक्ति सम्पूर्ण मत्वर्थप्रकरण में प्रथमा ही है । अर्थः—(अतः = अदन्तात् प्रातिपदिकात्) प्रथमान्त अदन्त प्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक (इनिंठनौ) इनिं और ठन् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाते हैं । पक्ष में तदस्यास्त्यस्मिन्निति मर्तुप् (११८५) सूत्र से मर्तुप् का संग्रह हो जायेगा ।

इनिंप्रत्यय में इकार अनुबन्ध नकार को इत् करने से बचाने के लिये तथा ठन् में नकार स्वराथ जोड़ा गया है । ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है । इनिं का इन् और ठन् का ठ् शेष रहता है । ठस्येकः (१०२७) से ठकार को 'इक' आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी दण्डिको वा (दण्ड वाला) । दण्ड शब्द अदन्त प्रातिपदिक है अतः 'दण्ड सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में प्रकृत अत इनिंठनौ (११९१) सूत्र से इनिं और ठन् प्रत्यय हो जाते हैं । इनिंपक्ष में अनुबन्ध इकार का लोप एवं सुंभ्लुक करने से—दण्ड + इन् । यद्येतिचलोप हो कर 'दण्डिन्' शब्द निष्पन्न होता है । प्रथमा के एकवचन में सुंविभक्ति लाने पर सौ च (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्चादिलोप (१७९) तथा पदान्त नकार का भी न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से लोप करने पर 'दण्डी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ठन्प्रत्यय के पक्ष में नकार और अकार अनुबन्धों का लोप, सुंभ्लुक, ठस्येकः (१०२७) से ठकार को 'इक' आदेश एवं यद्येतिचलोप कर विभक्ति लाने से 'दण्डिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इनिं और ठन् के अभाव में मर्तुप् प्रत्यय, सुंभ्लुक, मादुपधायाश्च० (१०६५) से मर्तुप् के मकार को वकार आदेश तथा अन्त में धीमत्शब्द की तरह विभक्तिकार्य करने से 'दण्डवान्' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा । इस प्रकार 'दण्डी, दण्डिकः, दण्डवान्' ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं । एवम्—छत्रमस्यास्तीति छत्री, छत्रिकः, छत्रवान् । धनमस्त्यस्येति धनी, धनिकः, धनवान् इत्यादि ।

सूत्र में 'अतः' कहा है इसलिये आकारान्त प्रातिपदिकों से इनिं और ठन् नहीं होते, मर्तुप् ही होता है । यथा—खट्वास्त्यस्येति खट्वावान्, मर्तुप् ही हुआ है ।

इस सूत्र पर महाभाष्य में एक श्लोकवार्तिक इस प्रकार पढ़ा गया है—

एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तो स्मृतौ ।

अर्थात् एकाक्षर प्रातिपदिक से, कृदन्त प्रातिपदिक से और जातिवाचक प्रातिपदिक से इनिं-ठन् नहीं होते किञ्च सप्तमी के अर्थ में भी इन की प्रवृत्ति नहीं होती, मर्तुप् हो जाता है । उदाहरण यथा—

एकाक्षर से—स्वम् (धनम्) अस्त्यस्येति स्ववान् (धनवान्) ।

कृदन्त से—कारकोऽस्त्यस्येति कारकवान् । हारकवान् ।

जातिवाचक से—व्याघ्रोऽस्त्यस्येति व्याघ्रवान् । सिंहवान् ।

सप्तम्यर्थ में—दण्डाः सन्त्यस्यामिति दण्डवती शाला ।

यह नियम प्रायिक है। क्वचित् इस की प्रवृत्ति नहीं भी देखी जाती। यथा—
कार्यमस्यास्तीति कार्यी कार्याको वा। हार्यी हार्याको वा। यहां कृदन्त से भी इनिं और
ठन् हो जाते हैं।^१

अब कुछ अदन्तेतर प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में इनिं और ठन् प्रत्ययों का
विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६२) ब्रीह्यादिभ्यश्च ।५।२।११६॥
(ब्रीह्यादिभ्यः प्रथमान्तेभ्यो मतुंबर्थे इनिं-ठनौ स्तः)। ब्रीही,
ब्रीहिकः ॥

अर्थः—ब्रीह्यादिगणपठित प्रथमान्त प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में इनिं और
ठन् तद्धितप्रत्यय हों।

व्याख्या—ब्रीह्यादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम्। इनिं-ठनौ ।१।२। (अत इनिं-
ठनौ सूत्र से)। तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुंप् (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों
की अनुवृत्ति होती है। अन्यतरस्याम् ।७।१। (प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् सूत्र से)।
प्रत्ययः, परश्च, ङष्ठाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—
ब्रीहिशब्द आदिर्येषान्ते ब्रीह्यादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुब्रीहिसमासः। ब्रीह्यादि एक गण
है।^२ अर्थः—(ब्रीह्यादिभ्यः) ब्रीह्यादिगणपठित प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (च) भी
(तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (इनिं-ठनौ) इनिं और ठन् (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक
प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाते हैं। दूसरी अवस्था में मतुंप् भी हो
जाता है।

सम्पूर्णप्रकरण में 'इति' के अनुवर्तन के कारण शिष्टानुसरण मुख्य बात रहती
है। अतः सब ब्रीह्यादियों से इनिं और ठन् इष्ट नहीं अपितु शिखा-माला-सञ्ज्ञा आदियों
से केवल इनिं ही इष्ट है, ठन् नहीं। यवखद आदियों से ठन् प्रत्यय होता है इनिं नहीं।
शेष ब्रीह्यादियों से दोनों इष्ट हैं।^३ उदाहरण यथा—

ब्रीहयः सन्त्यस्यास्मिन् वा—ब्रीही, ब्रीहिकः ब्रीहिमान् वा (धानवाला)। यहां

१. तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुंप् (११८५) सूत्र में 'इति' का ग्रहण सम्पूर्ण प्रकरण में
व्याप्त रहता है। वह अभिधानमूलकता का द्योतक है। अतः शिष्टप्रयोगों के
अनुसार ही इन प्रत्ययों की व्यवस्था समझी जाती है। इस के लिये व्याकरण को
भी कई जगह ढील देनी पड़ जाती है।

२. ब्रीह्यादिगण यथा—

ब्रीहि। माया। शिखा। मेखला। सञ्ज्ञा। बलाका। माला। वीणा। वडवा।
अष्टका। पताका। कर्मन्। चर्मन्। वर्मन्। हंसा। यवखद। कुमारी। नौ।
शीर्षान्नजः (गणसूत्रम्)। दंष्ट्रा। केका। शाला ॥

३. शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन् यवखदादिषु। परिशिष्टेभ्य उभयम्—इति काशिका।
[इकन्प्रत्यय का अभिप्राय ठन् से है।]

‘व्रीहि जस्’ से मत्वर्थ में व्रीह्याविभ्यश्च (११६२) सूत्रद्वारा इनिं और ठन् प्रत्यय हो जाते हैं। इनिपक्ष में अनुबन्धलोप तथा सुंञ्जुक् हो कर—व्रीहि + इन्। यस्येति च (२३६) द्वारा भसञ्जक इकार का लोप करने से—व्रीह् + इन् = व्रीहिन्। विभक्ति लाने से—व्रीही, व्रीहिणी, व्रीहिणः। ठन्पक्ष में ङ्येकः (१०२७) से ठकार को इक आदेश एवं यस्येतिचलोप करने पर—व्रीहिकः, व्रीहिकौ, व्रीहिकाः। ‘अन्यतरस्याम्’ के अनुवर्तन से मर्तुप् भी संगृहीत हो जाता है—व्रीहिमान्, व्रीहिमन्तौ, व्रीहिमन्तः।

इसीप्रकार—

- (१) मायाऽस्त्यस्येति मायी, मायिकः, मायावान् (मायावाला)।
- (२) शिखाऽस्त्यस्येति शिखी, शिखावान् (चोटीवाला, मोर)।
- (३) मालाऽस्त्यस्येति माली, मालावान् (मालावाला)।
- (४) सञ्ज्ञाऽस्त्यस्येति सञ्ज्ञी, सञ्ज्ञावान् (नामवाला)।
- (५) केकाऽस्त्यस्येति केकी, केकावान् (केकाध्वनिवाला, मोर)।
- (६) मेखलाऽस्त्यस्येति मेखली, मेखलावान् (मेखलावाला)।
- (७) पताकाऽस्त्यस्येति पताकी, पताकावान् (पताकावाला)।
- (८) यवखदः (यवसारः) अस्त्यस्येति यवखदिकः, यवखदवान्।
- (९) नीरस्त्यस्येति नाविकः, नौमान्। इत्यादि।

अब मत्वर्थ में विनिप्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६३)

अस्-माया-मेघा-स्रजो विनिः। १५।२।१२१।।

(असन्ताद् माया-मेघा-स्रज् इत्येतेभ्यश्च मत्वर्थे विनिः तद्धितः स्यात्)। यशस्वी, यशस्वान्। मायावी। मेघावी। स्रज्वी॥

अर्थः—असन्त (अस्शब्द जिस के अन्त में है, यथा—यशस् आदि), माया, मेघा और स्रज्—इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक विनिं प्रत्यय हो।

व्याख्या—अस्-माया-मेघा-स्रजः। १५।१। विनिः। ११।१। तदस्यास्त्यस्मिन्निति मर्तुप् सूत्र से ‘तदस्यास्त्यस्मिन्निति’ पदों का अनुवर्तन होता है। प्रत्ययः, परश्च, इच्चाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—अस् च माया च मेघा च स्रज् चैषां समाहारः—अस्मायामेघास्रज्, तस्मात् = अस्-माया-मेघा-स्रजः, समाहारद्वन्द्वे समासान्ताभावः सौत्रः। ‘अस्’ से यहां यशस्, पयस् आदि अस्शब्दान्त प्रातिपदिकों का ग्रहण अभीष्ट है। प्रकरणतः समर्थविभक्ति प्रथमा ही समझनी चाहिये। अर्थः—(अस्-माया-मेघा-स्रजः) असन्त, माया, मेघा और स्रज् इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (विनिः) विनिं प्रत्यय हो जाता है। मर्तुप् के संग्रह के लिये ‘अन्यतरस्याम्’ की भी पूर्ववत् अनुवृत्ति होती है।

विनिं में नकारोत्तर इकार अनुबन्ध है जो नकार को इत् सञ्ज्ञा से बचाने के लिये जोड़ा गया है। विनिं का ‘विन्’ शेष रहता है।

असन्त प्रातिपदिक से विनिं का उदाहरण यथा—

यशोऽस्यास्तीति यशस्वी, यशस्वान् वा (यशवाला, कीर्तिवाला, प्रसिद्ध) । यशस्-शब्द के अन्त में 'अस्' आता है अतः यह असन्त प्रातिपदिक है । 'यशस् सुं' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में प्रकृत अस्-माया-मेघा-ऋजो विनिं: (११६३) सूत्र से विनिंप्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप एवं सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् (सुं) का भी लुक् करने से—यशस् + विन् = यशस्विन् । स्वादिष्वसर्बनामस्थाने (१६४) से प्राप्त पदसञ्ज्ञा का बाध कर तसौ मत्वर्थ (११२६) से भसञ्ज्ञा हो जाती है । इस से सकार को ससञ्चोर्द्धः (१०५) द्वारा पदमूलक रैत्व नहीं होता । अब विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुंप्रत्यय के लाने पर सौ च् (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्घादिलोप (१७६) एवं पदान्त नकार का भी न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से लोप करने से 'यशस्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'अन्यतरस्याम्' के अनुवर्तन के कारण मत्तुंप्रत्यय भी संगृहीत हो जाता है । मत्तुंप्रपक्ष में सुंलुक् हो कर 'यशस् + मत्' इस स्थिति में पूर्ववत् भसञ्ज्ञा के कारण पदमूलक रैत्व नहीं होता । अकारोपघ होने से यशस् से परे मादुपधायाश्च मतोर्बोऽय्वाविभ्यः (१०६५) द्वारा मत्तुंप्र के मकार को वकार आदेश हो जाता है—यशस्वत् । सुंविभक्ति ला कर अत्वसन्तस्य चाऽघातोः (३४३) से उपधादीर्घ, उगिवच्चां सर्बनामस्थानेऽघातोः (२८६) से नुंम् का आगम, हल्ङ्घादिलोप (१७६) तथा संयोगान्तस्य लोपः (२०) से संयोगान्तलोप करने से 'यशस्वान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार 'यशस्वी' और 'यशस्वान्' ये दो प्रयोग निष्पन्न हो जाते हैं ।

इसीतरह—पयस्वी, पयस्वान् । तेजस्वी, तेजस्वान् । ओजस्वी, ओजस्वान् । महस्वी, महस्वान् । मेदस्वी । वचस्वी । मनस्वी^१ आदि समझने चाहियें ।

'माया' से विनिं का उदाहरण यथा—

मायाऽस्त्यस्येति मायावी, मायी, मायिकः, मायावान् वा (मायावाला, कपटी) । 'माया सुं' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में अस्-माया-मेघा-ऋजो विनिं: (११६३) सूत्र से विनिंप्रत्यय ला कर सुंलुक् करने से—माया + विन् = मायाविन् । विभक्ति ला कर 'मायावी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ग्रीह्यादिगण में पाठ के कारण ग्रीह्यादिभ्यश्च (११६२) सूत्रद्वारा इस से परे इनिं और ठन् प्रत्यय भी हो जाते हैं । इनिंपक्ष में—माया + इन्, भसञ्जक आकार का लोप कर—मायिन्, विभक्ति लाने से 'मायी' बनता है^२ । ठन्पक्ष में - ङ् को ठस्येकः (१०२७) से इक आदेश होकर भसञ्जक आकार का लोप एवं विभक्तिकार्य करने से 'मायिकः' प्रयोग निष्पन्न होता है । 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति के कारण मत्तुंप्र भी संगृहीत हो जाता है—मायावान् (१०६५) ।

१. न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विवहते । (उत्तरराम० ६ १४)

२. मनस्वी ऋयते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।

अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम् ॥ (हितोप० १.१३३)

३. ऋचन्ति ते मूढतमाः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः । (किरात० १.३०)

मेघा (धारणावती बुद्धि) शब्द से विनिं का उदाहरण यथा—

मेघाऽस्यास्तीति मेघावी मेघवान् वा (बुद्धिमान्) । 'मेघा सुं' से मत्वर्थ में अस्मायामेघान्नजो विनिं: (११६३) सूत्र से विनिं, इकार-लोप और सुंप् का भी लुक् कर देने पर—मेघाविन् । यकारादि वा अजादि प्रत्यय के परे न होने के कारण भसञ्ज्ञा न होने से यस्येति च (२३६) द्वारा आकार का लोप नहीं होता । विभक्तिकार्य करने से 'मेघावी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है^२ । मर्तुप् का भी संग्रह हो जाता है । मेघा + मत्, वत्व (१०६५) हां कर 'मेघावान्' बनता है ।

स्रज् (जकारान्त स्त्रीलिङ्ग, माला) शब्द से विनिं का उदाहरण यथा—

स्रज् अस्यास्तीति स्रज्वी स्रज्वान् वा (मालावाला) । 'स्रज् सुं' से मत्वर्थ में अस्मायामेघान्नजो विनिं: (११६३) सूत्र से विनिं प्रत्यय हो कर सुंप् का लुक् कर देने से—स्रज् + विन् । स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) से पदत्व के कारण षिर्वन्प्रत्ययस्य कु: (३०४) द्वारा कुत्वेन जकार को गकार करने पर - स्रज्विन् । विभक्तिकार्य करने से 'स्रज्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है^३ । पक्ष में मर्तुप् ला कर कुत्व कर देने से 'स्रज्वान्' भी बनेगा ।

अब वाच् (वाणी) प्रातिपदिक से मत्वर्थ में ग्मिनिं प्रत्यय का विधान दशति है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६४) वाचो ग्मिनिं: ।५।२।१२४॥

(प्रथमान्ताद् 'वाच्' इति प्रातिपदिकान्मत्वर्थे ग्मिनिंस्तद्धितप्रत्ययः स्यात्) । वाग्मी ॥

अर्थ:— प्रथमान्त वाच्प्रातिपदिक से मत्वर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ग्मिनिं प्रत्यय हो ।

व्याख्या — वाचः ।५।१। ग्मिनिं: ।१।१। तदस्यास्त्यस्मिन्निति मर्तुप् (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों की अनुवृत्ति होती है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्भाप्प्रातिपदिकात्: तद्धिता: इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समर्थविभक्ति प्रथमा प्रकरणतः उपलब्ध है । अर्थ:— (वाच्:) प्रथमान्त वाच् प्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मर्तुप् के अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ग्मिनिं:) ग्मिनिं प्रत्यय हो जाता है ।

ग्मिनिं का अन्त्य इकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'ग्मिन्' मात्र शेष रहता है । नकार को इत्सञ्ज्ञा से बचाने के लिये अन्त में इकार जोड़ा गया है । ग्मिन् तद्धित है अतः लक्षणवतद्धिते (१३६) में 'अतद्धिते' कथन के कारण इस के आदि कवर्ग-गकार की इत्-सञ्ज्ञा नहीं होती । उदाहरण यथा—

१. धीर्धारणावती मेघा — इत्यमरः ।

२. यां मेघां देवगणाः पितरश्चोपासते ।

तथा मामद्य मेघया अग्ने मेघाविनं कुरु ॥ (यजुः० ३२.४)

३. स्रज्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा । (मनु० ३:३)

प्रशस्ता वाग् अस्त्यस्येति वाग्मी (प्रशस्त वाणी वाला, बोलने में चतुर^१) । 'वाच् सुं' इस प्रथमान्त से प्राशस्त्यविषयक मत्वर्थ में प्रकृत वाचो ग्मिनिः (११६४) सूत्र से ग्मिनिप्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप और सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् (सुं) का भी लुक् करने पर - वाच् + ग्मिन् । अब स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) से पदत्व के कारण चोः कुः (३०६) से पदान्त चकार को ककार तथा झलां जशोऽन्ते (६७) से ककार को गकार करने पर - वाग् + ग्मिन् = वाग्मिन् । प्रथमा के एकवचन में शाङ्गिन्शब्दवत् विभक्तिकार्य करने से 'वाग्मी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है^२ । ध्यान रहे कि 'वाग्मी' में दो गकार हैं, झरो झरि सवर्णे (७३) द्वारा दूसरे गकार का लोप नहीं होता क्योंकि झर् परे नहीं । इसीतरह प्रथम गकार का भी लोप नहीं होता क्योंकि वह हल् से परे नहीं । अतः 'वाग्मी' को 'वाग्मी' लिखना वैयाकरणों की दृष्टि में अशुद्ध है^३ ।

अब मत्वर्थ में अच् प्रत्यय का विधान दशति है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६५) अर्शादिभ्योऽच् । ५।२।१२७।।

(अर्शादिभ्यः प्रथमान्तेभ्यो मत्वर्थोऽच् तद्धितः प्रत्ययः स्यात्) ।

अर्शाऽस्य विद्यते—अर्शासः । आकृतिगणोऽयम् ।।

अर्थः—अर्शादि प्रथमान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में तद्धितसंज्ञक अच् प्रत्यय हो ।

१. यो हि सम्यग्बहु भाषते वाग्मीत्येव भवति—इति भाष्यम् । वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी—इत्यमरः । अनापशनाप बहुत बोलने वाले के अर्थ में आलजाटचौ बहुभाषिणि (५.२.१२५) सूत्र से आलच् और आटच् प्रत्यय होकर 'वाचालः' और 'वाचाटः' प्रयोग बनते हैं जो कुत्सित बहुभाषी के वाचक होते हैं । स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह वाक्—इत्यमरः ।

२. साकारो निःस्पृहो वाग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः ।

परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते ॥ (पञ्च० ३.८६)

अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा । (माघ० २.२७)

३. परन्तु कुल्लेक वैयाकरण 'वाग्मी' इस एकगकारघटितरूप को भी व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध मानते हैं । वे लोग वाचो ग् म्मिनिः इसप्रकार सूत्र का छेद कर 'वाच्शब्द से परे मत्वर्थ में मिनि प्रत्यय तथा वाच् को गकार अन्तादेश हो' इस तरह अर्थ प्रतिपादन करते हैं । वाच् को गकार अन्तादेश के सामर्थ्य से प्रत्यये भाषायां नित्यम् (वा० ११) द्वारा अनुनासिक की प्रवृत्ति नहीं होती, इस तरह 'वाग्मी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । परन्तु भाष्यकार इस प्रकार के झगड़े में न पड़ते हुए द्विगकार और एकगकार रूपों के श्रवण में कुछ भी अन्तर नहीं मानते । जैसाकि महाभाष्य में कहा है—

नहि व्यञ्जनपरस्य एकस्थानेकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति ।

(महाभाष्य ६.४.२२; ७.१.७२)

व्याख्या—अर्शआदिभ्यः १५।३। अच् ११।१। तदस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुप् (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों की अनुवृत्ति आती है। प्रस्थब्, पररब्, ङ्घाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्शसुशब्द आदियोंवां तानि अर्शआदीनि, तेभ्यः=अर्शआदिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। अर्शसुआदि एक गण है जो गणपाठ में पढ़ा गया है^१। समर्थविभक्ति प्रथमा प्रकरणतः उपलब्ध है। अर्थः—(अर्शआदिभ्यः) अर्शस् आदि प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अच्) अच् प्रत्यय हो जाता है।

अच्प्रत्यय में चकार इत् है। उस का लोप हो कर 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है। चित्करण स्वरार्थ किया गया है। उदाहरण यथा—

अर्शासि (गुदकीलकाः, मस्से) विद्यन्तेऽस्येति अर्शंसः (बवासीर के मस्सों वाला रोगी अर्थात् अर्शरोग से पीड़ित व्यक्ति)। अर्शंसुशब्द सकारान्त नपुंसक है—अर्शः, अर्शसी, अर्शासि। पयसुशब्द की तरह रूपमाला चलती है। 'अर्शंसु जस्' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में प्रकृत अर्शआदिभ्योऽच् (११६५) सूत्र से अच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप एवं सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप (जस्) का भी लुक् करने पर—अर्शंसु + अ = अर्शंस। पुनः विभक्ति ला कर 'अर्शंसः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां अस्-माया-मेघा-अन्नो विनिः (११६३) से विनिं प्रत्यय प्राप्त था उस का बाधक यह अच् प्रत्यय विधान किया गया है।

अर्शआदियों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

- (१) उरोऽस्त्यस्येति उरसः (चीड़ी छाती वाला, बलवान्^१)।
- (२) तुन्दमस्त्यस्येति तुन्दः (बड़ी तोन्द वाला)^३।
- (३) अघ्राणि सन्त्यस्मिन्निति अघ्रं नभः (मेघाच्छन्न आकाश)।
- (४) कर्दमोऽस्त्यस्मिन्निति कर्दमः प्रदेशः (कीचड़वाला प्रदेश)।

१. बहुव्रीहिसमास में सुंलुक् होकर 'अर्शंसु + आदि' इस अवस्था में पदान्त सकार को र्त्वं, रेफ को यत्व तथा यकार का पुनः वैकल्पिक लोप हो जाता है। यह लोप त्रिपाद्यसिद्ध है अतः सवर्णदीर्घ नहीं होता। अर्शआदिगण यथा—

अर्शंसु। उरसु। तुन्दु। चतुर। पलित। जटा। घटा। अघ्र। कर्दम। अम्म। लवण। स्वाङ्गाद् हीनात् (गणसूत्रम्)। वर्णात् (गणसूत्रम्)। आकृतिगणोऽयम् ॥

२. उरसा बलं लक्ष्यत इति गणरत्नमहोदधौ वर्धमानः।

३. तुन्द आदि अदन्त शब्दों से परे प्रकृत मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर भसञ्ज्ञक अकार का यस्येति च (२३६) से लोप हो जाता है। तब प्रत्यय (अ) के मिल जाने से पुनः वह शब्द अदन्त बन जाता है, उस के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता परन्तु अर्थ बदल जाता है। ध्यान रहे कि इसी अर्थ में तुन्दशब्द से तुन्दा-विभ्य इलच्छ (५.२.११७) सूत्रद्वारा इलच्, इनिं, ठन् और मत्तुप् प्रत्यय भी होते हैं—तुन्दिलः, तुन्दी, तुन्दिकः, तुन्दवान्।

- (५) अम्लो रसोऽस्त्यस्येति अम्लं फलम् (खट्टा फल) ।
 (६) लवणो रसोऽस्त्यस्येति लवणः (नमकीन पदार्थ) ।
 (७) पलितं (केशशबैत्यम्) अस्त्यस्येति पलितं शिरः (सुफेदकेशों वाला सिर) ।^१
 इस गण में दो गणसूत्रों का भी उल्लेख किया गया है । तथाहि—

[क] स्वाङ्गाद् हीनात् (गणसूत्रम्)

अर्थः—हीन अर्थात् विकृत स्वाङ्ग वाचक प्रातिपदिक से मत्वर्थ में अर्शादि-
 त्वात् अच् तद्वितप्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

- (१) काणमक्षि अस्त्यस्येति काणः (पुरुषः) ।
 (२) खञ्जः पादोऽस्त्यस्येति खञ्जः (पुरुषः) ।
 (३) कुण्ठः पाणिरस्त्यस्येति कुण्ठः (पुरुषः) ।
 (४) खल्वाटं शिरोऽस्त्यस्येति खल्वाटः (पुरुषः) ।

[ख] वर्णात् (गणसूत्रम्) ।

अर्थः—वर्ण अर्थात् रङ्गवाचक प्रातिपदिक से मत्वर्थ में अर्शादि-
 त्वात् अच् तद्वितप्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

- (१) शुक्लो वर्णोऽस्त्यस्येति शुक्लः षटः ।^२
 (२) नीलो वर्णोऽस्त्यस्येति नीलो षटः ।

आकृतिगणोऽयम्—यह अर्शादि आकृतिगण है अर्थात् जहां कहीं किसी शब्द
 में परिवर्तन के बिना 'तद्वा न = उस वाला' अर्थ प्रतीत हो तो उस शब्द को भी अर्श-
 आदियों में परिगणित कर अच्प्रत्ययान्त समझ लेना चाहिये^३ । यथा—

- (१) पद्मम् अस्त्यस्या इति पद्मा = लक्ष्मीः ।^४
 (२) कमलम् अस्त्यस्या इति कमला = लक्ष्मीः ।
 (३) पापमस्त्यस्येति पापः पुरुषः (पापी) ।^५
 (४) बलमस्यास्तीति बलः पुरुषः (बलवान् या बलराम) ।
 (५) तिमिरमस्त्यस्या इति तिमिरा निशा (अन्धेरी रात) ।
 (६) समानाधिकरणे पदे स्तोऽस्येति समानाधिकरणस्तत्पुरुषः ।^६

१. न तेन बृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।

यो युवा वाप्यधीयानस्तं देवाः स्वधिरं विदुः ॥ (मनु० २.१५६)

२. गुणवचनेभ्यो भर्तुंपो लुगिष्टः (वा० ६०) इत्येव सिद्धे स्वरभेदार्थमिह पुनरुपादानं
 बोध्यम् ।

३. यत्राभिन्नरूपेण शब्देन तद्वतोऽभिधानं तत्सर्वमिह (अर्शादिषु) बोध्यम् इति गण-
 रत्नमहोदधौ वर्धमानः ।

४. लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हृरिप्रिया इत्यमरः ।

५. पापं पापाः कथयत कथं शौर्यराशेः पितृभे । (वेणीसंहार ३.८)

६. तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः (१.२.४२)

(७) मृगाणां तृष्णा मृगतृष्णा, मृगतृष्णाऽस्त्यस्यामिति मृगतृष्णा = मरुमरी-
चिका ।^१

(८) पृषन्ति (विन्दवः) सन्त्यस्मिन्निति पृषतो मृगः ।

(९) आलस्यमस्त्यस्येति आलस्यः (आलसी पुरुष) । इत्यादि ।

अब मत्वर्थ में युस् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९६) अहंशुभमोर्युस् । ५।२।१४०॥

(अहम्, शुभम् इत्येताभ्यामव्ययाभ्यां मत्वर्थे तद्धितो युस्-प्रत्ययः
स्यात्) । अहंयुरहङ्कारवान् । शुभंयुः शुभान्वितः ॥

अर्थः—अहम् (अहङ्कार) और शुभम् (शुभ, कल्याण,) इन दो अव्ययों से परे
मत्वर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक युस् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अहं-शुभमोः । ६।२। (पञ्चम्यर्थे षष्ठी) । युस् । १।१। तदस्यास्त्य-
स्मिन्निति मत्तुप् (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्तन होता है ।
प्रत्ययः, पररश्च, इ धाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अहम् और
शुभम् दोनों विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय हैं । इन की विस्तृत व्याख्या पीछे अव्यय-प्रकरण-
स्थ चादिगण के अन्तर्गत की जा चुकी है । अहं च शुभं च अहंशुभमो, तयोः = अहं-
शुभमोः, इतरेतरद्वन्द्वः । पञ्चम्यर्थे षष्ठीप्रयोगः सौत्रः । अर्थः—(अहंशुभमोः = अहं-
शुभभ्याम्) अहम् और शुभम् अव्ययों से परे (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में
(तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (युस्) युस् प्रत्यय हो जाता है ।

युस् का सकार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'यु'
मात्र शेष रहता है । इसे सित् करने का प्रयोजन सित् के परे रहते सिति च (१.४.१६)^२
सूत्रद्वारा पूर्व की पदसञ्ज्ञा करना है । इस से पदसञ्ज्ञामूलक अनुस्वार और परसवर्ण
हो जाते हैं । उदाहरण यथा—

अहम् (अहंकारः) अस्त्यस्येति अहंयुः (अहंकार रखने वाला, घमण्डी) । 'अहम्'
यहां अहंकार अर्थ में मकारान्त अव्यय है, इसे अस्मद्शब्द का प्रथमैकवचनान्त रूप
समझने की भूल नहीं करनी चाहिये । इस से परे मत्वर्थ में प्रकृत अहंशुभमोर्युस्
(११९६) सूत्रद्वारा युस् प्रत्यय ला कर सकार अनुबन्ध का लोप करने से—अहम् +
यु । अब वधि भम् (१६५) से पूर्व की भसञ्ज्ञा प्राप्त होती है परन्तु सिति च (१.४.१६)
सूत्र से उस का बाध हो पदसञ्ज्ञा हो जाती है । पदत्व के कारण अहम् के पदान्त मकार
को मोऽनुस्वारः (७७) से अनुस्वार एवं वा पदान्तस्थ (८०) से अनुस्वार को वैकल्पिक
परसवर्ण अर्थात् य् आदेश कर विभक्ति लाने से 'अहय्युः' और 'अहंयुः' ये दो प्रयोग

१. मृगतृष्णाभक्ति स्यात्तः ससङ्गानुवर्तः ।

एष वक्ष्यामुतो वाति लघुव्यङ्ग्यस्येति ॥ (मुभाषित)

२. सिति च (१.४.१६) । अर्थः—सित् प्रत्यय परे होने पर पूर्व पदसञ्ज्ञक होता है ।

यह वधि भम् (१६५) का पुरस्तादपवाद है ।

सिद्ध हो जाते हैं। अहंयुशब्द की रूपमाला पुंलिङ्ग में भानुशब्दवत् चलेगी—अहंयुः, अहंयू, अहंयवः।

इसीप्रकार—शुभम् (कल्याणम्) अस्त्यस्येति शुभंयुः (शुभवाला, कल्याणवाला)। 'शुभम्' भी मकारान्त विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है जो शुभ का वाचक है। इस से परे भी मत्वर्थ में प्रकृत अहंशुभमोयुस् (११६६) सूत्रद्वारा युस् प्रत्यय, सकार अनुबन्ध का लोप, सिति च (१.४.१६) से पदसञ्ज्ञा तथा पूर्ववत् अनुस्वार और वैकल्पिक परसवर्ण कर विभक्ति लाने से 'शुभय्युः' और 'शुभंयुः' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। इस की रूपमाला भी पुं० में भानुवत् चलेगी—शुभंयुः, शुभंयू, शुभंयवः।^१

विशेष वक्तव्य—न कर्मधारयाद् मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्वेत्तवर्थप्रतिपत्तिकरः (भाष्ये)। अर्थात् उस कर्मधारयसमास से मत्वर्थ प्रत्यय नहीं करना चाहिये जहाँ मत्वर्थ बहुव्रीहि से व्यक्त हो सकता है। यथा—'महारथः' इस कर्मधारयसमास से मत्वर्थ में इनिप्रत्यय (११६१) हो कर 'महारथी' नहीं बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'महान् रथो यस्य स महारथः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो जाता है। 'सर्वशक्तिः' इस कर्मधारयसमास से मर्तुप् होकर 'सर्वशक्तिमान्' न बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'सर्वाः शक्तयो यस्य यस्मिन् वा स सर्वशक्तिः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो जाता है। 'महाघनम्' इस कर्मधारय से मत्वर्थ में इनि हो कर 'महाघनी' नहीं बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'महद् घनं यस्य स महाघनः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो सकता है। 'निवृत्ताभिमानः' इस कर्मधारयसमास से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय हो कर 'निवृत्ताभिमानी' नहीं बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'निवृत्तोऽभिमानो यस्य स निवृत्ताभिमानः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो जाता है।

परन्तु यदि मत्वर्थ के साथ भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने—इत्यादि विषय भी विवक्षित होंगे तो वे बहुव्रीहिद्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते, अतः ऐसी अवस्था में कर्मधारय से भी मत्वर्थीय प्रत्यय हो जायेगा। यथा—सर्वशक्तयो नित्यं सन्त्यस्य—सर्वशक्तिमान्। यहाँ मर्तुप् हो जाता है क्योंकि यह अर्थ बहुव्रीहि से व्यक्त नहीं हो सकता।

अभ्यास [१३]

(१) विग्रह दशति द्वे निम्नस्थ तद्धितान्तों की ससुत्र सिद्धि करें—

१. अहङ्कारवानहंयुः शुभंयुस्तु शुभान्वित इत्यमरः।

इन दोनों का साहित्यगत प्रयोग यथा—

स शुभुवांस्तद्वचनं मुमोह राजाऽसहिष्णुः सुतबिप्रयोगम्।

अहंयुनाऽय क्षितिपः शुभंयुरूचे वचस्तापसकुञ्जरेण ॥ (भट्टि० १.२०)

अर्थः—महाराज दशरथ विश्वामित्र के उन वचनों को सुन कर पुत्रवियोग को सहन न करते हुए मोह को प्राप्त हो गये। तब अहंकारवान् तापसश्रेष्ठ विश्वामित्र ने अपना कल्याण चाहने वाले राजा को यह वचन कहा।

१. गोमान् । २. अर्णवः । ३. केशवः । ४. मेघावी । ५. दन्तुरः ।
 ६. लोमणः । ७. विदुष्मान् । ८. व्रीहिकः । ९. पामनः । १०. पिच्छिलः ।
 ११. यशस्वी । १२. वाग्मी । १३. अर्णसः । १४. अहंयुः ।
 १५. चूडालः । १६. लक्ष्मणः । १७. अङ्गना । १८. शुक्लः (पटः) ।
 १९. मणिवः । २०. दण्डी । २१. गरुत्मान् । २२. स्रग्वी । २३-
 पक्किलः ।

(२) सूत्रों की व्याख्या करें—

१. अर्णवादिभ्योऽच् । २. तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । ३. अत इनि-
 ठनौ । ४. प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् । ५. लोमादि-पामादि-पिच्छा-
 दिभ्यः शनेलचः । ६. अस्-माया-मेघा-स्रजो विनिः । ७. दन्त उन्नत
 उरच् । ८. तसौ मत्वर्थे । ९. अहंशुभमोर्युस् । १०. सिति च । ११-
 व्रीह्यादिभ्यश्च ।

(३) निम्नस्थ वचनों की व्याख्या करें—

[क] भूमनिन्दाप्रशंसासु— ।
 [ख] एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तो स्मृतौ ।
 [ग] न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः ।
 [घ] प्राणिस्थात् किम् ? शिखावान् दीपः ।
 [ङ] प्राण्यङ्गादेव, नेह—मेघावान् ।
 [च] शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन् यवखदादिषु ।
 [छ] अङ्गात् कल्याणे ।
 [ज] लक्ष्म्या अच्च ।
 [झ] अन्येभ्योऽपि दृश्यते ।
 [ञ] अर्णसो लोपश्च ।
 [ट] स्वाङ्गाद् हीनात् ।
 [ठ] वर्णात् ।

(४) अधोलिखित प्रश्नों के सहेतुक उत्तर दीजिये—

[क] 'यवमान्' में वत्व क्यों नहीं होता ?
 [ख] 'गरुत्मान्' में जश्त्व क्यों नहीं होता ?
 [ग] 'पयस्वान्' में पदमूलक हत्व क्यों नहीं हुआ ?
 [घ] लघुप्रत्यय के लकार की इत्सञ्ज्ञा क्यों नहीं हुई ?
 [ङ] युस् को सित् करने का क्या प्रयोजन है ?
 [च] 'मायावी' में विन् के परे रहते यस्येतिचलोप क्यों नहीं होता ?
 [छ] किस शब्द से मतुप् का लुक् इष्ट है ?
 [ज] तदस्यास्त्यस्मिन्निति० सूत्र में 'इति' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?
 [झ] अदन्त न होने पर भी 'सिखी' में इनि कैसे हो जाता है ?

- (५) सहेतुक अशुद्धिशोधन कीजिये—
 १. दण्डिनी शाला । २. दृषद्मान् (पर्वतः) । ३. ऊर्मिवान् (समुद्रः) ।
 ४. शुक्लवान् (पटः) । ५. शिखालो (दीपः) । ६. महारथिनः । ७. विद्यु-
 न्मान् (बलाहकः) । ८. भूमिमान् । ९. पितृवान् । १०. निवृत्ताभिमानी ।
- (६) 'वाग्मी' प्रयोग के शुद्धाशुद्धत्व का विवेचन करें ।
- (७) अधोलिखित युगलों में अर्थ का अन्तर स्पष्ट करें—
 सर्वशक्तिः, सर्वशक्तिमान् । दन्तुरः, दन्तवान् । अङ्गना, अङ्गवती ।
 वाग्मी, वाचाटः ।
- (८) अर्शआद्यच् के कोई से पाञ्च उदाहरण दीजिये ।
- (९) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप लिखें—
 १. नीरस्त्यस्य । २. शुभमस्त्यस्य । ३. पद्मस्त्यस्याः । ४. काणमक्षि
 अस्त्यस्य । ५. नीलो वर्णोऽस्त्यस्य । ६. वचोऽस्त्यस्य । ७. रोमाणि
 सन्त्यस्य । ८. दण्डाः सन्त्यस्याम् ।

[लघु०]

इति मत्वर्थीयाः ॥

(यहां मत्वर्थीय प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)

—:०:—

अथ प्राग्दिशीयाः

अब अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय के तृतीयपादस्थ प्रत्ययों का वर्णन प्रारम्भ होने जा रहा है । इस पाद का सत्ताईसवां सूत्र है—दिकशब्देभ्यः सप्तमा-पञ्चमी-प्रथमान्यो दिग्देशकालेष्वास्तार्तिः (५.३.२७) । इस सूत्र के 'दिक्' शब्द को अवधि मान कर इस से पूर्व के २६ सूत्रों में जो प्रत्यय विधान किये गये हैं उन्हें 'प्राग्दिशीय' (दिक्-शब्द से पहले होने वाले) प्रत्यय कहा जाता है ।^१ ये सब स्वार्थिक प्रत्यय हैं ।^२ अब इन की व्याख्या की जायेगी ।

सर्वप्रथम इन प्रत्ययों की विभक्तिसञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] संज्ञाधिकारसूत्रम्—(११६७) प्राग्दिशो विभक्तिः ।५।३।१॥

दिकशब्देभ्यः० (५.३.२७) इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्ति-
 सञ्ज्ञाः स्युः ॥

१. दिशः प्राक् प्राग्दिशम्, तत्र भवाः प्राग्दिशीयाः ।

२. स्वकीयप्रकृतेरर्थे भवाः स्वार्थिकाः । तसिलादिषु अर्थनिर्देशाभावात् ते स्वार्थिका उच्यन्ते । उक्तञ्च—अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्तीति ।

अर्थः—यहां से ले कर दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाम्यो दिग्देशकाले-
ष्वस्तातिः (५.३.२७) इस सूत्र से पूर्व पूर्व जो जो प्रत्यय कहे जायें वे विभक्तिसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम् । दिशः । १५।१। विभक्तिः । १।१। प्रत्ययः, परश्च
आदि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'दिशः' द्वारा दिक्शब्देभ्यः० सूत्र के दिक्शब्द की ओर संकेत
किया गया है। यह संज्ञाविषयक अधिकारसूत्र है। अर्थः—यहां से ले कर (दिशः)
दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाम्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः [५.३.२७] सूत्र से
(प्राक्) पहले पहले जो जो प्रत्यय कहा जाये वह (विभक्तिः) विभक्तिसञ्ज्ञक हो।

प्राग्दिशीय प्रत्ययों की विभक्तिसञ्ज्ञा हो जाने से उन प्रत्ययों में न विभक्तौ
तुस्माः (१३१) की प्रवृत्ति हो कर इत्सञ्ज्ञा का वारण हो जाता है। विभक्ति परे होने
से त्यबाबीनामः (१६३) द्वारा त्यदाद्यत्व आदि कार्य हो जाते हैं। यह सब आगे के उदा-
हरणों में स्पष्ट हो जायेगा।

यहां यह भी विशेषतः ध्यातव्य है कि समर्थानां प्रथमाद्वा (६६७) अधिकार के
'समर्थानाम्' और 'प्रथमात्' पदों के अधिकार की यहां निवृत्ति हो जाती है।^१ केवल
'वा' पद ही यथासम्भव अधिकृत रहता है, अतः आगे आने वाले प्रत्यय विकल्प से होते
हैं पक्ष में विग्रहपद भी रहता है।

अब प्राग्दिशीय प्रत्ययों में प्रकृति को अधिकृत करते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(११६८)

किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्वादिभ्यः । १५।३।२।।

किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिप्रियते ॥^२

अर्थः—किम्, द्वि आदि से भिन्न सर्वनाम तथा बहु—इन शब्दों से परे ही
प्राग्दिशीय प्रत्यय हों, यह अधिकृत किया जाता है।

व्याख्या—किं-सर्वनाम-बहुभ्यः । १५।३। अद्वादिभ्यः । १५।३। प्राक् इत्यव्ययपदम् ।
दिशः । १५।१। (प्राग्दिशो विभक्तिः सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ऊचाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः
इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—किम् च सर्वनाम च बहुश्च तेभ्यः = किसर्वनाम-
बहुभ्यः, इतरतरद्वन्द्वः । द्विशब्द आदिर्येषान्ते द्विचादयः, न द्विचादयः = अद्वादादयः, तेभ्यः
= अद्वादादिभ्यः, बहुव्रीहियर्भनञ्जत्पुरुषः । यह अधिकारसूत्र है। दिक्शब्देभ्यः०
(५.३.२७) सूत्र तक इस का अधिकार जाता है। वक्ष्यमाण प्राग्दिशीय प्रत्यय किस किस
प्रकृति से किये जा सकते हैं—इस के लिये यह अधिकार चलाया गया है। सर्वनामशब्दों
अर्थात् सर्वविद्यमान में द्विचादि (द्वि, युष्मद्, जस्मद्, भवतुं, किम्) भी पढ़े गये हैं सो

१. स्वार्थिक प्रत्ययों में एक ही पद से प्रत्ययों के विधान के कारण सामर्थ्य और
प्रथमत्व का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, अतः वे दोनों अधिकार इन में प्रवृत्त
नहीं होते।

२. अस्यां वृत्तौ 'प्राग्दिशः' इति पञ्चम्वन्तं न तु प्रथमाबहुवचनान्तम् । 'इति अधि-
कियते' इत्यन्वयो बोध्यः ।

सर्वनाम कहने से उन से भी प्रत्ययों की प्राप्ति थी अतः 'अद्वयादिभ्यः' कह कर उन का निषेध कर दिया । किन्तु इस तरह किम्शब्द से भी प्रत्ययों का निषेध हो जाता है जबकि उस से प्रत्ययों का विधान अभीष्ट है । अतः उसे निषेध से बचाने के लिये 'किम्' का पृथक् निर्देश किया है । इस प्रकार द्वि, युष्मद्, अस्मद् और भवतुं इन चार शब्दों को छोड़ कर शेष सब सर्वनाम यहां गृहीत समझने चाहियें । बहुशब्द का सर्वादिगण में पाठ न होने से पृथक् ग्रहण किया है । अर्थः—यहां से आगे (दिशः प्राक्) विक्शब्देभ्यः० सूत्र से पूर्व तक जो प्रत्यय कहे जायें वे (किसर्वनामबहुभ्यः) किम्, सर्वनाम और बहु शब्दों से परे ही हों परन्तु (अद्वयादिभ्यः) द्वादि शब्दों से नहीं ।^१

बहुशब्द यहां संख्यावाचक ही अभीष्ट है वैपुल्यवाची नहीं—ऐसा वार्तिककार का आशय महाभाष्य में व्यक्त किया गया है—बहुग्रहणे संख्याग्रहणम् (वा०) ।

प्रकृति के निश्चित हो जाने पर अब प्रत्ययों का विधान दशति है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६६) पञ्चम्यास्तसिल्ल् ॥५॥३॥७॥

पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल्ल् वा स्यात् ॥

अर्थः—पञ्चम्यन्त किम् आदि प्रातिपदिकों से तद्धितसञ्ज्ञक तसिल्ल् प्रत्यय विकल्प से हो ।

व्याख्या—पञ्चम्याः ॥५॥१॥ तसिल्ल् ॥१॥१॥ किसर्वनामबहुभ्योऽद्वयादिभ्यः यह अधिकृत है । वा इत्यव्ययपदम् (समर्चानां प्रथमाद्वा सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, इषा-प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । 'पञ्चम्याः' से तदन्तविधि हो कर वचनविपरिणाम करने से 'पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यः' बन जायेगा । अर्थः—(पञ्चम्याः = पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त जो (किसर्वनामबहुभ्योऽद्वयादिभ्यः) किम्, द्वादिभिन्न सर्वनाम एवं बहुशब्द इन से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तसिल्ल्) तसिल्ल् प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है ।

तसिल्ल् में इकार और लकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'तस्' मात्र शेष रहता है । इकार उच्चारणार्थ तथा लकार लिति (६-१-१८७) सूत्रद्वारा उदात्तस्वरात् जोड़ा गया है । यहां तसिल्ल् प्रत्यय का कोई अर्थ निर्दिष्ट नहीं किया गया अतः अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति के अनुसार यह प्रत्यय स्वार्थ में होगा । अर्थात् प्रकृति का अपना जां अर्थ है प्रत्यय के हो जाने पर भी वह वैसा ही रहेगा उस में कुछ भी परिवर्तन न होगा । प्रत्यय से प्रकृति का अर्थ ही धोतित होगा ।

सर्वप्रथम किम्शब्द से तसिल्ल् का उदाहरण यथा—

कस्मात् = कुतः (किस से, किस कारण से) ।^२ 'किम् डसिं' इस अलौकिकविग्रह

१. किंशब्दाद् द्वादिबर्जाच्च सर्वनाम्नो बहोरपि ।

प्राग्दिशः प्रत्यया ज्ञेया नाऽपरेभ्यो भवन्त्यमी ॥ (प्रक्रियासर्वस्वे)

२. यहां पर 'कुतः' का लौकिकविग्रह 'कस्मात्' समझना चाहिये । इसीप्रकार आगे भी जान लें ।

में पञ्चम्यन्त 'किम्' प्रातिपदिक से स्वार्थ में पञ्चम्यास्तसिँल् (११६६) सूत्र से तद्धित-सञ्ज्ञक तसिँल् प्रत्यय विकल्प से हो जाता है। तसिँल् के अनुबन्धों का लोप करने पर 'किम् ङसिँ + तस्' इस स्थिति में तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुंभो धातुप्राति-पदिकयोः (७२१) सूत्रद्वारा सुंप् (ङसिँ) का लुक् हो जाता है—किम् + तस्। तसप्रत्यय प्राणिशो विभक्तिः (११६७) के अधिकार में पठित होने से विभक्तिसञ्ज्ञक है। अतः विभक्ति के परे रहते किमः कः (२७१) से 'किम्' के स्थान पर 'क' आदेश प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अभिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१२००) कु ति-होः ।७।२।१०४।।

किमः कुः स्यात् तादौ हादौ च विभक्तौ परतः । कुतः, कस्मात् ॥

अर्थः—तकारादि या हकारादि विभक्ति परे हो तो 'किम्' के स्थान पर 'कु' यह आदेश हो।

व्याख्या—कु ।१।१। ति-होः ।७।२। विभक्तौ ।७।१। (अष्टन आ विभक्तौ सूत्र से) । किमः ।६।१। (किमः कः सूत्र से) । तिश्च ह् च तिहो, तयोः = तिहोः, इतरेतर-द्वन्द्वः । तकाराद् हकार उच्चारणार्थः । 'तिहोः' यह 'विभक्तौ' का विशेषण है अतः यस्मिन्विधिस्तदाबावल्प्रहणे द्वारा तदादिविधि हो कर 'तकारादौ हकारादौ च विभक्तौ' यह उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(ति-होः = तकारादौ हकारादौ च) तकारादि या हकारादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो (किमः) किम् के स्थान पर (कु) 'कु' यह शब्दस्वरूप आदेश हो जाता है। 'कु' आदेश अनेकाल् है अतः अनेकाल्शिस्तसंबन्ध (४५) द्वारा सर्वादेश होता है। यह किमः कः (२७१) सूत्र का अपवाद है।

'किम् + तस्' यहां 'तस्' यह तकारादि विभक्ति परे विद्यमान है अतः प्रकृत कु तिहोः (१२००) सूत्र से किम् के स्थान पर 'कु' यह सर्वादेश हो कर—कु + तस् = कुतस्। अब तद्धितशब्दास्तसंबन्धविभक्तिः (३६८) द्वारा 'कुतस्' के अव्ययसञ्ज्ञक होने के कारण इस से परे सामान्यतः प्राप्त सुं विभक्ति का अव्ययाबाप्सुंभः (३७२) से लुक् हो सकार को ह्रस्व-विसर्ग करने से 'कुतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। तसिँल् के अभाव में किम् का पञ्चम्येकवचनान्त रूप 'कस्मात्' भी बनेगा। इस की सिद्धि पीछे सुंबन्त प्रकरण में की जा चुकी है। द्विवचन और बहुवचन में भी तसिँल्पक्ष में यही 'कुतः' रूप बनेगा। यथा—काभ्याम् = कुतः । केभ्यः = कुतः । स्त्रीलिङ्ग में भी यही रूप बनता है। यथा—कस्याः = कुतः । काभ्याम् = कुतः । काभ्यः = कुतः । यहां तसिँलादिष्वा-कृत्वसुंभः (६.३.३४) से पुंत्वद्भाव के कारण टाप् चला जाता है।

सर्वनाम से तसिँल् का उदाहरण यथा—

१. तसिँलादिष्वाकृत्वसुंभः (६.३.३४) । अर्थः—अष्टाध्यायी में तसिँल् प्रत्यय से ले कर कृत्वसुंभ प्रत्यय के पूर्व तक जितने प्रत्यय कहे गये हैं उन के परे रहते भाषित-पुंस्क अनूङ् (जिस से ऊङ् नहीं हुआ) स्त्रीलिङ्गशब्द को पुंत्व हो जाता है।

अस्मात् = इतः (इस से, इस कारण से) । 'इदम्' शब्द सर्वादिगण में परिगणित है अतः सर्वादीनि सर्वनामानि (१५१) द्वारा इस की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है । यहां 'इदम् ङसिं' इस पञ्चम्यन्त सर्वनाम से स्वार्थ में पञ्चम्यास्तसिंल् (११६६) द्वारा विकल्प से तद्धित तसिंल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण उस के अवयव सुंप (ङसिं) का भी लुक् कर देने से 'इदम् + तस्' हुआ । अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०१) इदम इश् ॥५॥३॥३॥

प्राग्दिशीये परे । इतः ॥

अर्थः—प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते इदम् के स्थान पर इश् आदेश हो ।

व्याख्या—इदमः ॥६॥१॥ इश् ॥१॥१॥ प्राग्दिशो विभक्तिः (११६७) से 'प्राग्दिशः' का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च दोनों पूर्वतः अधिकृत हैं । 'प्राग्दिशः' को प्रत्यय के साथ विशिष्ट कर विभक्तिविपरिणाम करने से 'प्राग्दिशीये प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(प्राग्दिशः = प्राग्दिशीये प्रत्यये) प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते (इदमः) इदम् के स्थान पर (इश्) इश् आदेश हो जाता है ।

इश् का शकार हलन्त्यम् (१) सूत्रद्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'इ' मात्र शेष रहता है । इश् आदेश शित् है अतः अनेकालिशात्सर्वस्य (४५) द्वारा यह सम्पूर्ण इदम् के स्थान पर प्रवृत्त होता है ।

'इदम् + तस्' यहां प्राग्दिशीय तसिंल् प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृत इदम इश् (१२०१) सूत्र से इदम के स्थान पर इश् सर्वादेश हो कर अनुबन्धलोप तथा सुंबुक् आदि विभक्तिकार्य करने से—इ + तस् = इतस् = 'इतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में इदम् का पञ्चम्येकवचनान्त रूप 'अस्मात्' भी बनेगा । अन्य वचनों में भी तसिंल्प्रत्ययान्त का यही रूप बनेगा । यथा—आभ्याम् = इतः । एभ्यः = इतः । स्त्रीलिङ्ग में भी पुंवद्भाव हो कर यही 'इतः' रूप ही बनेगा ।

सर्वनाम से तसिंल् का दूसरा उदाहरण यथा—

एतस्मात् = अतः (इस से, इस कारण से) । एतद्शब्द भी सर्वादियों में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है । अतः 'एतद् ङसिं' से स्वार्थ में पञ्चम्यास्तसिंल् (११६६) से वैकल्पिक तसिंल्, अनुबन्धलोप तथा तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुंप (ङसिं) का भी लुक् कर देने से—एतद् + तस् । अब इस स्थिति में त्यवादीनामः (१६३) सूत्रद्वारा अत्व के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०२) अन् ॥५॥३॥५॥

एतदः प्राग्दिशीये (अन् इत्यादेशः स्यात्) । अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः । अतः । अमुतः । यतः । बहुतः । द्व्यादेस्तु—द्विभ्याम् ॥

अर्थः—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते एतद्शब्द के स्थान पर 'अन्' आदेश हो । अनेकाल्त्वात्—अन् आदेश अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है ।

व्याख्या—पाणिनि के एतदोञ् (५.३.५) इस एक योग (सूत्र) के दो भाग किये जाते हैं—(१) एतदः । (२) अन् । यहां की प्रयोगसिद्धि में द्वितीयांश का उपयोग किया गया है । अन् ।१।१। एतदः ।६।१। (सूत्र के प्रथमांश से) । प्राग्दिशो विभक्तिः (११६७) से 'प्राग्दिशः' का अनुवर्तन हो रहा है । प्रत्ययः, परश्च आदि भी पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(प्राग्दिशः=प्राग्दिशीये प्रत्यये) प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते (एतदः) एतद् के स्थान पर (अन्) 'अन्' आदेश हो जाता है ।

अन् के नकार की प्रयोजनाभाव से इत्सञ्ज्ञा नहीं होती अतः अनेकाल् होने से अनेकाल्हाससर्वस्य (४५) द्वारा अन् आदेश सर्वदिश अर्थात् सम्पूर्ण एतद् के स्थान पर होता है ।

'एतद् + तस्' यहां प्राग्दिशीय तसिल् प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृत अन् (१२०२) सूत्र से एतद् के स्थान पर अन् सर्वदिश हो जाता है—अन् + तस् । स्वाबिष्व-सर्वनामस्थाने (१६४) से पदसञ्ज्ञा के कारण पदान्त नकार का न लोपः प्रातिपदिकास्तस्य (१८०) से लोप हो कर—अ + तस् = अतस् । अब औत्सगिक सुं विभक्ति ला कर अभ्ययाबाष्पुं: (३७२) से उस का लुक् कर देने से—अतस् = 'अतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में त्यदाद्यत्व (१६३), पररूप (२७४) एवं ङसिंङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४) से ङसिं को स्मात् आदेश करने से 'एतस्मात्' प्रयोग भी बनेगा ।

सर्वनाम (अदस्) से तसिल् का तीसरा उदाहरण यथा—

अमुष्मात् = अमुतः (उस से) । अदस्शब्द भी सर्वादियों में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है । 'अदस् ङसिं' इस पञ्चम्यन्त से स्वार्थ में पूर्ववत् तसिल्, अनुबन्ध-लोप तथा अन्तर्वर्ती सुंप्रत्यय (ङसिं) का भी लुक् करने पर—अदस् + तस् । तस् विभक्तिसञ्ज्ञक (११६७) है अतः विभक्ति के परे रहते त्यदादीनामः (१६३) से अदस् के सकार को अत्व एवम् अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश करने से—अद + तस् । पुनः अबसोऽसेर्बाहु बो मः (३५६) सूत्रद्वारा 'द' को 'मु' कर विभक्तिकार्य करने से 'अमुतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । तसिल् के अभाव में—अदस् + ङसिं, अद + ङसिं (१६३), अद + स्मात् (१५४), 'अमुष्मात्' (३५६) प्रयोग भी बनेगा ।

सर्वनाम (यद्) से तसिल् का चौथा उदाहरण यथा—

यस्मात् = यतः (जिस से, जिस कारण से) । यद्शब्द भी सर्वादियों में परिगणित होने से सर्वनाम है । 'यद् ङसिं' इस पञ्चम्यन्त सर्वनाम से स्वार्थ में पूर्ववत् तसिल्, अनुबन्धलोप तथा अन्तर्वर्ती विभक्ति (ङसिं) का लुक् करने से—यद् + तस् । त्यदाद्यत्व (१६३) और पररूप एकादेश (२७४) करने पर—य + तस् = यतस् । सुंविभक्ति ला कर अभ्ययाबाष्पुं: (३७२) से उस का लुक् एवं प्रकृति के सकार को ह्रस्व-विसर्ग करने से 'यतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । तसिल् के अभाव में त्यदाद्यत्व, पररूप तथा ङसिंङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४) से ङसिं को स्मात् आदेश करने पर 'यस्मात्' भी बनेगा ।

इसीप्रकार—तस्मात्=ततः । एकस्मात्=एकतः । सर्वस्मात्=सर्वतः ।
इत्यादियों की प्रक्रिया समझनी चाहिये ।

बहुशब्द से तसिल् का उदाहरण यथा—

बहुभ्यः=बहुतः (बहुतों से) । 'बहु भ्यस्' से स्वार्थ में पञ्चम्यास्तसिल् (११६६)
द्वारा तसिल्प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंल्लुक् तथा पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से—बहुतस
= 'बहुतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । तसिल् के अभाव में 'बहुभ्यः' बनेगा ।^१

'अद्वयादिभ्यः' कथन के कारण द्विआदि सर्वनामों से तसिल् नहीं होता । अतः
'द्वयाभ्याम्' के स्थान पर 'द्वितः' का प्रयोग नहीं होता ।^२

अब परि और अभि अव्ययों से परे भी तसिल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०३) पर्यभिभ्यां च । १।३।६॥

आभ्यां तसिल् स्यात् । परितः, सर्वत इत्यर्थः । अभितः, उभयत इत्यर्थः ॥

अर्थः—परि और अभि अव्ययों से परे भी स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तसिल्
प्रत्यय हो ।

व्याख्या—पर्यभिभ्याम् । १।२। च इत्यव्ययपदम् । तसिल् । १।१। (पञ्चम्या-
स्तसिल् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, इद्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा इत्यादि पूर्वतः
अधिकृत हैं । समासः—परिश्च अभिश्च ताभ्याम्=पर्यभिभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—
(पर्यभिभ्याम्) 'परि' और 'अभि' अव्ययों से परे भी स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक
(तसिल्) तसिल् प्रत्यय हो जाता है ।

सर्व-अर्थ में वर्तमान 'परि' अव्यय से तथा उभय (दोनों) अर्थ में वर्तमान
'अभि' अव्यय से यहां तसिल् करना अभीष्ट है । जैसाकि वार्त्तिककार ने कहा है—
रुर्बोभयार्याभ्यामेव (वा०) । उदाहरण यथा—

परि=परितः (सब ओर, चहुँ ओर) । अभि=अभितः (दोनों ओर) । यहां
'परि' अव्यय सर्वार्थक एवम् 'अभि' अव्यय उभयार्थक है अतः प्रकृत पर्यभिभ्यां च
(१२०३) सूत्रद्वारा इन से तसिल् प्रत्यय ला कर अनुबन्धलोप तथा विभक्तिकार्य करने
से 'परितः' और 'अभितः' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं । इन के योग में अभितः-परितः-
समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि (वा०) इस वार्त्तिक से द्वितीया विभक्ति का विधान
किया गया है । यथा—

अभितः केशवं गोपा गावस्तं परितः स्थिताः । (प्रक्रियासर्वस्वे)

नोट—समीप अर्थ में भी 'अभितः' बहुत प्रसिद्ध है परन्तु यह इस का लाक्ष-

१. ध्यान रहे कि संख्यावाचक बहुशब्द से ही तसिल् इष्ट है वैपुल्यवाची से नहीं—
यह पीछे (११६८) सूत्र पर बताया जा चुका है । अतः 'बहोः सृपात्' (विशाल
छाज से) यहां तसिल् नहीं होता ।

२. नूनं मत्तः परं वश्याः—(रघु० १.६६) इत्यादिषु आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्
(वा० ६६) इति सार्वविभक्तिकस्तसिर्बोध्यः ।

णिक अर्थ समझना चाहिये क्योंकि जो दोनों ओर होता है वह समीप ही होता है । समीप अर्थ में प्रयोग यथा—

(क) ततो राधाञ्जबीद् वाक्यं सुमन्त्रमभितः स्थितम् । (रामायण १.११.४)

(ख) इमशानमभितो गत्वा आससाद् कुम्भम् । (महाभारत विराट् ० ३८.५)

अब प्राग्विधीय त्रल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०४) सप्तम्यास्त्रल् । ५।३।१०॥

(सप्तम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्त्रल् वा स्यात्) । कुत्र । यत्र । तत्र ।

बहुत्र ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त किम् आदि पूर्वोक्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में विकल्प से त्रल् तद्धितप्रत्यय हो ।

व्याख्या—सप्तम्याः । ५।१। त्रल् । १।१। किसर्वनामबहुभ्योऽद्घादिभ्यः यह प्रकृति पूर्वतः अधिकृत है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घात्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । 'सप्तम्याः' से तदन्तविधि होकर बहुवचनान्ततया विपरिणाम करने से 'सप्तम्यन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(सप्तम्याः = सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त (कि-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्घादिभ्यः) किम्, द्घादिभिन्न सर्वनाम तथा बहु—इन प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (त्रल्) त्रल् प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है ।

त्रल् प्रत्यय का लकार हलन्त्यम् (१) सूत्रद्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'त्र' मात्र शेष रहता है । लकार अनुबन्ध लिति (६.१.१८७) सूत्रद्वारा उदात्तत्वविधान के लिये जोड़ा गया है ।

किम् से त्रल् का उदाहरण यथा—

कस्मिन् = कुत्र (किस पर, किस में, कहां पर) । 'किम् डि' यहां सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में सप्तम्यास्त्रल् (१२०४) सूत्रद्वारा त्रल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंब्लुक् तथा कु तिहोः (१२००) से किम् के स्थान पर 'कु' यह सवदिश करने पर—कुत्र । विभक्ति (सुं) लाने पर अव्ययादाप्सुंप् (३७२) द्वारा उस का लुक् हो जाने से 'कुत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में सुंबन्तप्रक्रिया के अनुसार 'कस्मिन्' प्रयोग भी रहेगा । अन्य वचनों एवं स्त्रीलिङ्ग में भी 'कुत्र' रूप निर्बाध रहेगा—कयोः = कुत्र, केषु = कुत्र, कस्याम् = कुत्र, कयोः = कुत्र, कासु = कुत्र ।

सर्वनाम (यद्) से त्रल् का उदाहरण यथा—

यस्मिन् = यत्र (जिस में, जिस पर, जहां पर) । यहां पर सप्तम्यन्त सर्वनाम 'यद् डि' से स्वार्थ में सप्तम्यास्त्रल् (१२०४) से त्रल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुंप् (डि) का भी लुक् (७२१) कर देने पर—यद् + त्र । 'त्र' प्रत्यय की प्राग्विशो विभक्तिः (११९७) से विभक्तिसञ्ज्ञा है अतः विभक्ति के परे रहते त्यबादीनामः (१९३) से यद् के दकार को अत्व तथा अतो गुणे (२७४) से पररूप

एकादेश करने पर 'यत्र' बना । अब इस से औत्सर्गिक सुंविभक्ति ला कर उस का अभ्ययादाप्सुंषः (३७२) से लुक् करने से 'यत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । त्रल् के अभाव में 'यस्मिन्' भी रहेगा ।

सर्वनाम (तद्) से त्रल् का उदाहरण यथा —

तस्मिन् = तत्र (उस में, उस पर, वहां पर) । 'तद् डि' से स्वार्थ में त्रल्, अनु-बन्धलोप, सुंब्लुक, त्यदाद्यत्व, पररूप तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'तत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—सर्वस्मिन् = सर्वत्र । अन्यस्मिन् = अन्यत्र । एकस्मिन् = एकत्र । उभयस्मिन् = उभयत्र । विश्वस्मिन् = विश्वत्र । एतस्मिन् = अत्र ।^१ अमुष्मिन् = अमुत्र ।^२ इत्यादि ।

द्वयादियों से यह त्रल् नहीं होता अतः 'द्वयोः' ही रहेगा, त्रल्प्रत्ययान्त रूप नहीं बनेगा ।

अब 'इदम्' सर्वनाम से त्रल् के अपवाद 'ह' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०५) इदमो हः ।५।३।११॥

(सप्तम्यन्ताद् इदमो हः प्रत्ययः स्यात्) । त्रलोऽपवादः । इह ॥

अर्थः = सप्तम्यन्त 'इदम्' सर्वनाम से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'ह' प्रत्यय हो । यह पूर्वोक्त त्रल् का अपवाद है ।

व्याख्या — इदमः ।५।१। हः ।१।१। सप्तम्याः ।५।१। (सप्तम्यास्त्रल् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः— (सप्तम्याः = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (इदमः) इदम् से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (हः) 'ह' प्रत्यय हो जाता है ।

सर्वनाम होने से इदमशब्द से पूर्वसूत्रद्वारा त्रल् प्राप्त था, उस का अपवाद यह 'ह' प्रत्यय विधान किया जा रहा है । उदाहरण यथा—

अस्मिन् = इह (इस में, इस पर, यहां पर) । 'इदम् डि' से सप्तम्यास्त्रल् (१०२४) सूत्रद्वारा त्रल् प्राप्त था परन्तु उस का बाध कर प्रकृत इदमो हः (१२०५) सूत्र से 'ह' प्रत्यय हो जाता है—इदम् डि + ह । प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (डि) का लुक् हो कर—इदम् + ह । 'ह' प्रत्यय प्राग्दिशीय है अतः इस के परे रहते इदम् इश् (१२०१) सूत्र से इदम् के स्थान पर इश् (इ) सवदिश हो जाता है—इश् + ह = इह । अब सुंविभक्ति ला कर उस का अभ्ययादाप्सुंषः (३७२) से लुक् करने से 'इह' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'वा' अधिकार के कारण 'अस्मिन्' भी रहेगा ।

अब सप्तम्यन्त किम्शब्द से अत् प्रत्यय का भी विधान करते हैं—

१. अन् (१२०२) इत्यनेन एतदोऽन् इत्यादेशे नलोपः (१८०) ।

२. सप्तम्यन्ताद् अदसशब्दात् त्रलि, सुंब्लुकि, त्यदाद्यत्वे, पररूपे, अबसोऽसेर्बाहु दो मः (३५६) इति मुत्वे च कृते रूपं सिध्यति ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०६) किमोऽत् १५।३।१२॥

वाग्रहणमपकृष्यते । सप्तम्यन्तात् किमोऽद्वा स्यात् । पक्षे त्रल् ॥

अर्थः—इस सूत्र में अग्रिमसूत्र से 'वा' पद का अपकर्षण किया जाता है । सप्त-
म्यन्त 'किम्' प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अत् प्रत्यय विकल्प से हो । पक्ष में
त्रल् हो जायेगा ।

व्याख्या—किमः १५।१। अत् ११।१। सप्तम्याः १५।१। (सप्तम्यास्त्रल् सूत्र से) ।
वा इत्यव्ययपदम् (वा ह षष्ठ्यन्वसि इस अग्रिमसूत्र से) ।^१ प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्राति-
पदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(सप्तम्याः=सप्तम्यन्तात्)
सप्तम्यन्त (किमः) किम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अत्) अत्
प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है ।

अत् में तकार इत् है, 'अ' मात्र शेष रहता है । तकार अनुबन्ध तित्स्वरितम्
(६.१.१७६) सूत्रद्वारा स्वरितस्वरार्थ जोड़ा गया है ।^२

अब अत्प्रत्यय के परे रहते 'किम्' को 'क्व' आदेश का विधान करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०७) क्वाऽति १७।२।१०५॥

किमः 'क्व' इत्यादेशः स्यादति । क्व, कुत्र ॥

अर्थः—अत् प्रत्यय के परे रहते 'किम्' के स्थान पर 'क्व' आदेश हो ।

व्याख्या—क्व इतिलुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । अति १७।१। किमः १६।१।
(किमः कः सूत्र से) । अर्थः—(अति) अत् प्रत्यय के परे रहते (किमः) किम् के स्थान
पर (क्व) 'क्व' आदेश हो । यह किमः कः (२७१) द्वारा प्राप्त 'क' आदेश का अप-
वाद है ।

'क्व' आदेश अनेकाल् है अतः अनेकाल्शिस्सर्बस्य (४५) द्वारा सम्पूर्ण किम् के
स्थान पर होगा । उदाहरण यथा—

कस्मिन् = क्व, कुत्र (किस में, किस पर, कहां पर) । 'किम् डि' इस सप्तम्यन्त
से स्वार्थ में किमोऽत् (१२०६) सूत्र से अत् प्रत्यय, तकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धि-
तान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाने से उस के अवयव सुंप् (डि) का लुक् (७२१)
करने पर—किम् + अ । अब अत् प्रत्यय के परे रहते क्वाऽति (१२०७) सूत्र से किम्
के स्थान पर क्व सर्वादेश हो कर यस्येति ष (२३६) से वकारोत्तर भसञ्ज्ञक अकार का

१. ध्यान रहे कि जैसे पूर्वसूत्रों से अगले सूत्रों में पदों का अनुवर्तन होता है वैसे अगले
सूत्रों से पूर्व के सूत्रों में भी पदों का अपकर्षण हुआ करता है । परन्तु यह अप-
कर्षण बिरस स्थानों पर प्रयोजनसिद्ध्यर्थ ही हुआ करता है सर्वत्र नहीं ।

२. ध्यातव्यं यद्यत्र न बिभक्तौ तुस्माः (१३१) इति निषेधो न प्रवर्तते यत् इवमस्वभुंः
(१२१६) इति बभोरुकारेण भकारपरिवाचार्थेनास्यानित्यत्वं ज्ञाप्यते । [विस्तरस्तु
तत्रस्वटिप्पणतोऽवबन्तव्यः] ।

लोप करने से^१—क्व + अ = क्व । सुंविभक्ति ला कर अव्ययावाप्सुंयः (३७२) से उस का लुक् करने पर 'क्व' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । अत् प्रत्यय विकल्प से होता है अतः अत् के अभावपक्ष में सप्तम्यास्त्रल् (१२०४) से त्रल् प्रत्यय हो कर कु तिहोः (१२००) से किम् को कु सवदेश करने से पूर्ववत् 'कुत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । समर्थानां प्रथमाद्वा (६६७) सूत्रोक्त 'वा' इस महाविभाषा के कारण 'कस्मिन्' यह सप्तम्यन्त प्रयोग भी रहता है ।

अब कुछ अन्यविभक्त्यन्तों से भी तसिँल् और त्रल् आदि पूर्वोक्त प्रत्ययों का विधान दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०८) इतराम्योऽपि दृश्यन्ते ।५।३।१४॥

पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिँलादयो दृश्यन्ते । दृशिग्रहणाद् भवदादियोग एव । स भवान् । ततो भवान् । तत्रभवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्रभवन्तम् । एवं दीर्घायुः, देवानांप्रियः, आयुष्मान् ॥

अर्थः—पञ्चमी और सप्तमी के अतिरिक्त अन्यविभक्त्यन्त किम्आदियों से भी तसिँल् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं । दृशिग्रहणात्—'देखे जाते हैं' इस कथन के कारण भवतुं (आप) आदि शब्दों के योग में ही इन प्रत्ययों की प्रवृत्ति समझनी चाहिये ।

व्याख्या—इतराम्यः ।५।३। अपि इत्यव्ययपदम् । दृश्यन्ते इति दृशिधातोः कर्मणि लँटि प्रथमपुरुषबहुवचनान्तं रूपम् । तसिँलादयः ।१।३। (पञ्चम्यास्तसिँल्, सप्तम्यास्त्रल् आदि सूत्रों से) । किसर्वनामबहुभ्योऽद्वादिभ्यः (११६८) यह अधिकृत है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घ्राप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा इत्यादि भी पूर्वतः अधिकृत हैं । पञ्चम्यास्तसिँल् (११६६) द्वारा पञ्चम्यन्त से तसिँल् तथा सप्तम्यास्त्रल् (१२०४) द्वारा सप्तम्यन्त से त्रल् प्रत्यय का पीछे विधान कर चुके हैं । पञ्चमी और सप्तमी से भिन्न अन्यविभक्त्यन्तों से भी तसिँल् और त्रल् आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति के लिये यह सूत्र बनाया गया है । अर्थः—(इतराम्यः) पञ्चमी और सप्तमी के अतिरिक्त जो अन्य विभक्तियां तदन्त (किसर्वनामबहुभ्योऽद्वादिभ्यः) किम् आदि प्रातिपदिकों से (अपि) भी (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (तसिँलादयः) तसिँल् त्रल् आदि पूर्वोक्त प्रत्यय (दृश्यन्ते) देखे जाते हैं ।

'दृश्यन्ते' कथन से यह सूचित होता है कि ये प्रत्यय जैसे शिष्टप्रयोगों में देखे जाते हैं वैसे ही प्रयुक्त करने चाहियें । शिष्टप्रयोगों में इतरविभक्त्यन्तों से ये प्रत्यय भवतुं (आप), दीर्घायुष् (दीर्घ आयु वाला), देवानांप्रिय (देवताओं का प्यारा) तथा आयुष्मत् (बड़ी आयु वाला) इन चार शब्दों के योग में ही प्रायः^२ देखे जाते हैं, सो

१. कुछ लोग यहां अतो गुणे (२७४) सूत्रद्वारा पररूप किया करते हैं । परन्तु हमारे विचार में वार्णादाङ्ग बलीयः (५०) के अनुसार अङ्गकार्य यस्येति च (२३६) करना ही उचित है ।

२. प्रायः इसलिये कहा है कि कहीं कहीं भवतुं आदि के योग के बिना भी ये प्रत्यय देखे जाते हैं । यथा—प्रायः पित्तलमम्लम् अन्यत्र वाडिभामलकात् (चरक० सूत्र-स्थान २७.४) । यहां अन्यत्रशब्द अन्यत् इस प्रथमान्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

यहां भी इन चार भवतुं आदि शब्दों के योग (सामानाधिकरण्य) में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति समझनी चाहिये।

भवतुं (भवत्=आप) शब्द के योग में सर्वविभक्त्यन्त तद् शब्द से तसिल्-त्रल् के उदाहरण यथा—

(प्रथमान्त से यथा) स भवान्—ततो भवान् । स भवान्—तत्रभवान् । यहां प्रथमान्त 'तद्, सुं' से भवतुंशब्द के योग में इतराम्योऽपि दृश्यन्ते (१२०८) सूत्र से तसिल् और त्रल् प्रत्यय हो गये हैं। सुंप् का लुक् हो पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से ये रूप सिद्ध हुए हैं। इन के अभाव में 'स भवान्' यह भी रहेगा।

(द्वितीयान्त से यथा) तं भवन्तम्—ततो भवन्तम् । तं भवन्तम्—तत्रभवन्तम् । यहां द्वितीयान्त तद्शब्द से तसिल् और त्रल् हो गये हैं। पक्ष में 'तं भवन्तम्' यह भी रहेगा।

(तृतीयान्त से यथा) तेन भवता—ततो भवता । तेन भवता—तत्रभवता । यहां तृतीयान्त तद् से तसिल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तेन भवता' यह भी रहेगा।

(चतुर्थ्यन्त से यथा) तस्मै भवते—ततो भवते । तस्मै भवते—तत्रभवते । यहां चतुर्थ्यन्त तद् से तसिल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्मै भवते' यह भी रहेगा।

(पञ्चम्यन्त से यथा) तस्माद् भवतः—ततो भवतः । तस्माद् भवतः—तत्रभवतः । यहां पञ्चम्यन्त तद् से तसिल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्माद् भवतः' यह भी रहेगा।

(षष्ठ्यन्त से यथा) तस्य भवतः—ततो भवतः । तस्य भवतः—तत्रभवतः । यहां षष्ठ्यन्त तद् से तसिल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्य भवतः' यह भी रहेगा।

(सप्तम्यन्त से यथा) तस्मिन् भवति—ततो भवति । तस्मिन् भवति—तत्रभवति । यहां सप्तम्यन्त तद् से तसिल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्मिन् भवति' भी रहेगा।'

इन विभक्तियों के द्विवचन और बहुवचन में भी तसिल् और त्रल् करने पर यही रूप बनते हैं। हां ! भवतुं आदि शब्दों में तथा विग्रहवचन में अन्तर तो होगा ही। इसीप्रकार दीर्घायुष्^१ के योग में भी सर्वविभक्त्यन्त तद्शब्द से तसिल् और त्रल् हो जायेंगे। यथा—

(प्रथमान्त से) स दीर्घायुः—ततो दीर्घायुः, तत्रदीर्घायुः ।

(द्वितीयान्त से) तं दीर्घायुषम्—ततो दीर्घायुषम्, तत्रदीर्घायुषम् ।

(तृतीयान्त से) तेन दीर्घायुषा—ततो दीर्घायुषा, तत्रदीर्घायुषा ।

१. ऐसे स्थानों पर किस विभक्त्यन्त से तसिल् या त्रल् किया गया है—इसे जानने के लिये संलग्न भवतुं आदि शब्दों की विभक्ति को देखना चाहिये। भवतुं आदि में जो विभक्ति होगी उसीविभक्त्यन्त से तसिल् या त्रल् किया गया समझा जायेगा।

२. दीर्घम् आयुर्यस्य स दीर्घायुः । बहुव्रीहिसमासः ।

(चतुर्थ्यन्त से) तस्मै दीर्घायुषे—ततो दीर्घायुषे, तत्रदीर्घायुषे ।
 (पञ्चम्यन्त से) तस्माद् दीर्घायुषः—ततो दीर्घायुषः, तत्रदीर्घायुषः ।
 (षष्ठ्यन्त से) तस्य दीर्घायुषः—ततो दीर्घायुषः, तत्रदीर्घायुषः ।
 (सप्तम्यन्त से) तस्मिन् दीर्घायुषि—ततो दीर्घायुषि, तत्रदीर्घायुषि ।
 इसीप्रकार 'देवानांप्रियः' के योग में—

(प्रथमान्त से) स देवानांप्रियः—ततो देवानांप्रियः, तत्रदेवानांप्रियः ।
 (द्वितीयान्त से) तं देवानांप्रियम्—ततो देवानांप्रियम्, तत्रदेवानांप्रियम् ।
 (तृतीयान्त से) तेन देवानांप्रियेण—ततो देवानांप्रियेण, तत्रदेवानांप्रियेण ।
 (चतुर्थ्यन्त से) तस्मै देवानांप्रियाय—ततो देवानांप्रियाय, तत्रदेवानांप्रियाय ।
 (पञ्चम्यन्त से) तस्माद् देवानांप्रियात्—ततो देवानांप्रियात्, तत्रदेवानांप्रियात् ।
 (षष्ठ्यन्त से) तस्य देवानांप्रियस्य—ततो देवानांप्रियस्य, तत्रदेवानांप्रियस्य ।
 (सप्तम्यन्त से) तस्मिन् देवानांप्रिये—ततो देवानांप्रिये, तत्रदेवानांप्रिये ।
 इसीप्रकार 'आयुष्मत्' के योग में—

(प्रथमान्त से) स आयुष्मान्—तत आयुष्मान्, तत्रायुष्मान् ।
 (द्वितीयान्त से) तम् आयुष्मन्तम्—तत आयुष्मन्तम्, तत्रायुष्मन्तम् ।
 (तृतीयान्त से) तेनायुष्मता—तत आयुष्मता, तत्रायुष्मता ।
 (चतुर्थ्यन्त से) तस्मै आयुष्मते—तत आयुष्मते, तत्रायुष्मते ।
 (पञ्चम्यन्त से) तस्मादायुष्मतः—तत आयुष्मतः, तत्रायुष्मतः ।
 (षष्ठ्यन्त से) तस्यायुष्मतः—तत आयुष्मतः, तत्रायुष्मतः ।
 (सप्तम्यन्त से) तस्मिन्नायुष्मति—तत आयुष्मति, तत्रायुष्मति ।

उपर्युक्त ये सब तद्शब्द से प्रत्यय दर्शाए गये हैं । एतद्, इदम् आदियों से भी इसीप्रकार भवतुं आदि के योग में प्रत्ययों की उत्पत्ति समझ लेनी चाहिये । यथा—
 एष भवान्—अतो भवान्, अत्रभवान् । एतम्भवन्तम्—अतो भवन्तम्, अत्रभवन्तम् ।
 एतेन भवता—अतो भवता, अत्रभवता ।^१ एतस्मै भवते—अतो भवते, अत्रभवते । एत-

१. देवानां प्रियः—देवानांप्रियः । अलुकसमासः । षष्ठ्या आक्रोशे (६.३.२०) इति सूत्र-
 स्थेन देवानांप्रिय इति च इति वार्तिकेन षष्ठ्या अलुक् । मूर्खार्थे प्रसिद्धोऽयं शब्दः ।
 मूर्खा हि देवानां प्रीतिं जनयन्ति देवपशुत्वादिति मनोरमायां दीक्षिताः । अयमाशयः—
 ब्रह्मज्ञानरहितत्वात् संसारिणो मूर्खाः । ते तु यागादिकर्मण्यनुतिष्ठन्तः पुरोडाशादि-
 प्रदानद्वारा देवानामत्यन्तं प्रीतिं जनयन्ति । ब्रह्मज्ञानिनस्तु न तथा, तेषां यागाद्य-
 नुष्ठानाभावात् । अतो गवादिस्थानापन्त्वाद् मूर्खा एव देवपशव इति ।
२. अतिशयितम् आयुरस्त्यस्येति आयुष्मान् । तसौ मरुचर्षे (११८६) इति भत्वाद्
 र्त्वं न ।
३. ह्यीमताऽत्रभवतैव भूयते—(माघ० १४.२)

स्माद् भवतः—अतो भवतः, अत्रभवतः । एतस्य भवतः—अतो भवतः, अत्रभवतः ।
एतस्मिन् भवति—अतो भवति, अत्रभवति ।

विशेष वक्तव्य—अत्रभवान्, तत्रभवान् आदि पूज्य अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।
पूज्य व्यक्ति यदि वक्ता के समक्ष हो तो 'अत्रभवान्' तथा दूर हो तो 'तत्रभवान्' का
प्रयोग किया जाता है । काव्यकोश आदियों में ये एकशब्द के रूप में पढ़े जाते हैं ।
मल्लिनाथ ने अत्रभवान् तथा तत्रभवान् में सुंप्सुंपासमास माना है (देखें माध० १४.२;
किरात० ११.१८) ।

अब प्राग्दिशीय 'दा' प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०६)

सर्वैकान्य-कि-यत्-तदः काले वा ।५।३।१५॥

सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात् ॥

अर्थः—काल अर्थ में वर्तमान सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् और तद् इन सप्तम्यन्त
प्रातिपदिकों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'दा' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—सर्वैकान्यकियत्तदः ।५।१। काले ।७।१। दा इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं
पदम् । सप्तम्याः ।५।१। (सप्तम्यास्त्रल् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ङघाप्प्रातिपदिकात्,
तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—सर्वश्च एकश्च अन्यश्च किं च यत् च
तत् चैषां समाहारः सर्वैकान्यकियत्तद्, तस्मात्—सर्वैकान्यकियत्तदः, समाहारद्वन्द्वः,
समासान्ताभावः सौत्रः । अर्थः—(काले) काल अर्थ में वर्तमान (सर्वैकान्यकियत्तदः)
सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् और तद् इन (सप्तम्याः=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त प्राति-
पदिकों से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (दा) 'दा' प्रत्यय हो जाता है । अनिदिष्टार्थाः
प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति के अनुसार यह प्रत्यय भी पूर्ववत् स्वार्थ में ही होता है ।

'काले' कथन से यहां प्रत्यय का अर्थ नहीं कहा गया अपितु प्रातिपदिक की
उपात्रि वर्णित की गई है । तात्पर्य यह है कि सर्व आदि शब्द किसी भी विषय में
प्रयुक्त हो सकते हैं, परन्तु जब काल के विषय में प्रयुक्त होंगे तो इन से 'दा' प्रत्यय
होगा । अत एव लौकिकविग्रह में 'काले' शब्द का प्रयोग होता है किन्तु तद्धितवृत्ति में
वृत्ति के अन्तर्गत हो जाने से उस का प्रयोग नहीं होता ।

यह सूत्र सप्तम्यास्त्रल् (१२०४) द्वारा प्राप्त त्रल् प्रत्यय का अपवाद है । काल
से अतिरिक्त विषय में त्रल् ही होगा । उदाहरण यथा—

सर्वस्मिन् काले—सदा, सर्वदा (सब काल में अर्थात् हमेशा) । यहां सर्वशब्द
काल में वर्तमान है अतः 'सर्व ङि' इस सप्तम्यन्त से सर्वैकान्यकियत्तदः काले वा
(१२०६) सूत्र से 'दा' प्रत्यय हो कर प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (ङि) का सुंभो घातु-
प्रातिपदिकयोः (७२१) से लुक् करने से 'सर्व + दा' हुआ । अब इस स्थिति में अग्रिम-
सूत्र प्रवृत्त होता है—

१. पूज्ये तत्रभवानत्रभवारश्च भगवानपि — इति हैमकोषः ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१०)

सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां वि ॥५॥३॥६॥

दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा स्यात् । सर्वस्मिन् काले—सदा, सर्वदा । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । काले किम् ? सर्वत्र देशे ॥

अर्थः—दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे हो तो सर्वशब्द के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो ।

व्याख्या—सर्वस्य ॥६॥१॥ सः ॥१॥१॥ अन्यतरस्याम् ॥७॥१॥ दि ॥७॥१॥ 'प्राग्दिशः' यह अधिकृत है । प्रत्ययः यह भी अधिकृत है । 'प्रत्ययः' को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर उस के साथ 'दि' को सम्बद्ध किया जाता है तब यस्मिन्विधिस्तदादावल्लघुणे (प०) से तदादिविधि हो कर 'दकारादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है । 'प्राग्दिशः' को भी इसी का विशेषण बना कर 'प्राग्दिशीये' कर लिया जाता है । अर्थः—(दि = दकारादौ) दकारादि (प्राग्दिशीये प्रत्यये) प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर (सर्वस्य) सर्वशब्द के स्थान पर (सः) 'स' यह सस्वर आदेश (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है । दूसरी अवस्था में 'सर्व' ही रहता है अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है ।

'स' आदेश अनेकाल है अतः अनेकालिात्सर्वस्य (४५) से सम्पूर्ण 'सर्व' के स्थान पर होता है ।

'सर्व + दा' यहां 'दा' यह दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे है अतः प्रकृत सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां वि (१२१०) सूत्र से 'सर्व' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है—स + दा = सदा । पक्ष में—सर्व + दा = सर्वदा । दोनों की तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञा हो कर इन से परे आने वाले औत्सर्गिक सुंविभक्ति का अव्ययादाप्सुंषः (३७२) से लुक् हो जाता है । इस प्रकार 'सदा' और 'सर्वदा' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

एकस्मिन् काले—एकदा (एक काल में, एक बार) । यहां काल अर्थ में वत्तमान 'एक डि' से सर्वैकान्य० (१२०६) सूत्र से स्वार्थ में 'दा' प्रत्यय हो कर पूर्ववत् सुंब्लुक् और विभक्त्यादिकार्य करने से 'एकदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अन्यस्मिन् काले—अन्यदा (अन्य समय में) । यहां 'अन्य डि' से सर्वैकान्य० (१२०६) सूत्रद्वारा 'दा' प्रत्यय हो कर सुंब्लुक् और विभक्त्यादिकार्य करने से 'अन्यदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

कस्मिन् काले—कदा (किस काल में, कब) । यहां 'किम् डि' से सर्वैकान्यैक० (१२०६) सूत्रद्वारा 'दा' प्रत्यय हो जाता है । 'दा' प्रत्यय की प्राग्दिशो विभक्तिः (११६७) से विभक्ति संज्ञा है । अतः सुंब्लुक् करने के अनन्तर 'दा' विभक्ति के परे रहते किम् कः (२७१) से 'किम्' को 'क' सर्वादेश हो कर—क + दा = कदा । अव्यय होने से सुंविभक्ति का लुक् करने पर 'कदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । कदागुरोकसो भवन्तः ? (कदा + अगुः + ओकसः + भवन्तः, आप लोग घर से कब गये ?) ।

यस्मिन् काले—यदा (जिस काल में, जब) । यहां 'यद् डि' से सर्वैकान्य-
 क्रियत्तदः० (१२०६) से स्वार्थ में दाप्रत्यय, सुंभ्लुक् तथा 'दा' की विभक्तिसञ्ज्ञा कर
 उस के परे रहते स्वबाबीनामः (१६३) द्वारा दकार को अत्व और अतो गुणे (२७४)
 से पररूप एकादेश करने पर—य + दा = यदा । अव्ययत्वात् सुंविभक्ति का लुक् करने
 से 'यदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

तस्मिन् काले—तदा (उस काल में, तब) । यहां 'तद् डि' से स्वार्थ में सर्वै-
 कान्यक्रियत्तदः० (१२०६) से दाप्रत्यय, सुंभ्लुक्, त्यदाद्यत्व, पररूप तथा अव्ययत्वात्
 सुंविभक्ति का लुक् करने से 'तदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सर्वं आदि शब्द यदि काल अर्थ में वर्तमान न होंगे तो 'दा' न होगा । तब
 सप्तम्यास्त्रल् (१२०४) से त्रल् ही होगा । यथा—सर्वत्र देशे । यहां देश में वर्तमान
 होने से 'सर्वं डि' से दाप्रत्यय न होकर त्रल् ही हुआ है । इसीप्रकार—एकत्र स्थाने,
 अन्यत्र प्रदेशे, कुत्र स्थाने, यत्र गृहे, तत्र ग्रामे आदियों में समझना चाहिये ।

अब काल अर्थ में वर्तमान इदमशब्द से 'हिल्' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२११) इदमो हिल् ।५।३।१६॥

सप्तम्यन्तात् काल इत्येव ॥

अर्थः—काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त 'इदम्' प्रातिपदिक से स्वार्थ में हिल्
 प्रत्यय हो ।

व्याख्या—इदमः ।५।१। हिल् ।१।१। काले ।७।१। (सर्वैकान्यक्रियत्तदः काले दा
 सूत्र से) । सप्तम्याः ।५।१। (सप्तम्यास्त्रल् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ङष्वाप्प्रातिपदि-
 कात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(काले) काल अर्थ में वर्तमान
 (सप्तम्याः = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (इदमः) इदम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः)
 तद्धितसञ्ज्ञक (हिल्) हिल् प्रत्यय हो जाता है । इदमो हः (१२०५) सूत्र का यह
 अपवाद है ।

हिल् में लकार इत् हो कर लुप्त हो जाता है, 'हि' मात्र अवशिष्ट रहता है ।
 सित्स्वर (६.१.१८७) के लिये लकार अनुबन्ध जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

अस्मिन् काले—एतर्हि (इस काल में, अब) । यहां काल अर्थ में वर्तमान सप्त-
 म्यन्त 'इदम् डि' से स्वार्थ में प्रकृत इदमो हिल् (१२११) सूत्र से हिल् प्रत्यय हो कर
 अनुबन्धलोप एवं सुंप् का भी लुक् कर देने से—इदम् + हि । अब इदम् इश् (१२०१)
 से इदम् के स्थान पर इश् आदेश प्राप्त होता है । इस पर इस का बाधक अग्रिमसूत्र
 प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१२) एतेतौ रथोः ।५।३।४॥

इदमशब्दस्य एत-इत् इत्यादेशो स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये ।
 अस्मिन् काले—एतर्हि । काले किम् ? इह देशे ॥

अर्थः—रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते इदम् के स्थान
 पर 'एत' और 'इत्' आदेश हों ।

व्याख्या—एतेतौ ।१।२। रथोः ।७।२। इदमः ।६।१। (इदम् इश् सूत्र से) । 'प्राग्दिशः' का अनुवर्तन चल रहा है । प्रत्ययः, परश्च आदि अधिकृत हैं । समासः—एतश्च इत् च एतेतौ, इतरेतरद्वन्द्वः । रश्च थ् च रथौ, तयोः = रथोः, इतरेतरद्वन्द्वः । रेफादकार उच्चारणार्थः । 'प्रत्ययः' को विभक्ति और वचन के विपरिणाम से 'प्रत्यययोः' बना लिया जाता है । 'रथोः' यह 'प्रत्यययोः' का विशेषण है अतः यस्मिन् विधिस्तदादाबलग्रहणे (प०) से तदादिविधि हो कर 'रेफादौ थकारादौ च प्रत्यये' उपपन्न हो जाता है । अर्थः—(प्राग्दिशः = प्राग्दिशीये) प्राग्दिशीय (रेफादौ थकारादौ च प्रत्यये) रेफादि और थकारादि प्रत्यय के परे रहते (इदमः) 'इदम्' के स्थान पर (एत-इतौ) 'एत' और 'इत्' आदेश हो जाते हैं ।

यथासंख्यपरिभाषा से रेफादि परे होने पर 'एत' आदेश तथा थकारादि परे रहते 'इत्' आदेश होता है । यह इदम् इश् (१२०१) का अपवाद है । ध्यान रहे कि एत आदेश अदन्त है और इत् आदेश तकारान्त । अनेकाल् होने से दोनों सर्वादेश हो जाते हैं ।

'इदम् + हि' यहां रेफादि हिल् प्रत्यय परे है, यह प्राग्दिशीय भी है, अतः प्रकृत एतेतौ रथोः (१२१२) सूत्र से इदम् के स्थान पर 'एत' सर्वादेश हो कर—एत + हि = एतर्हि । पुनः तद्धितश्चाऽसर्बविभक्तिः (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञा हो कर अव्यय से परे आये हुए सुंविभक्ति का अव्ययादाप्सुंषः (३७२) से लुक् करने पर 'एतर्हि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१

काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त इसी इदम् शब्द से अधुना (५.३.१७) सूत्र-द्वारा 'अधुना' प्रत्यय तथा इदम् इश् (१२०१) सूत्र से इदम् के स्थान पर इश् सर्वादेश कर यस्पेति च (२३६) से उस का लोप करने से प्रत्ययमात्रावशिष्ट 'अधुना' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीतरह दानीं च (५.३.१८) सूत्रद्वारा इदम् से दानीम् प्रत्यय तथा इदम् इश् (१२०१) से इश् सर्वादेश कर 'इदानीम्' प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार कालवाची सप्तम्यन्त इदम्शब्द से हिल्, अधुना और दानीम् ये तीन प्रत्यय हो कर क्रमशः एतर्हि, अधुना और इदानीम् ये तीन रूप बनते हैं ।^२

काल अर्थ में वर्त्तमान न होने पर इदम् से परे हिल् आदि प्रत्यय न होंगे । इदमो हः (१२०५) से 'ह' प्रत्यय हो कर इदम् इश् (१२०१) से इश् सर्वादेश करने से 'इह' बनेगा । यथा—इह देशे ।

अब अनद्यतनकाल में किम् आदियों से भी हिल् प्रत्यय का वैकल्पिक विधान करते हैं—

१. भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हितं

विवर्त्तमानं नरदेव वल्मनि ।

कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः

शमीतरुं शुष्कमिवाग्निर्हच्छिन्नः ॥ (किरात० १.३२)

२. एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा इत्यमरः ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१३)

अनद्यतने हिलन्यतरस्याम् ।५।३।२१।

अनद्यतनकालवृत्तिभ्यः किमादिभ्यो हिल् प्रत्ययो वा स्यात् । कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा ।

अर्थः—अनद्यतनकाल' में वर्त्तमान किम् आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से तद्धितसञ्ज्ञक हिल् प्रत्यय विकल्प से हो ।

व्याख्या—अनद्यतने ।७।१। हिल् ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। सप्तम्याः ।५।१। (सप्तम्यास्त्रल् सूत्र से) । किसर्वनामबहुभ्योऽद्ध्यादिभ्यः यह अधिकृत है । प्रत्ययः, पररश्च, ङ्घाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्विशो विभक्तिः (११६७) इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(अनद्यतने) अद्यतन से भिन्न काल में वर्त्तमान (किसर्वनामबहुभ्योऽद्ध्यादिभ्यः) किम्, ङ्घादिभिन्न सर्वनाम तथा बहु इन (सप्तम्याः = सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (हिल्) हिल् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से हो जाना है । इस के यथासम्भव उदाहरण यथा—

कस्मिन् अनद्यतने काले—कर्हि, कदा (किस अनद्यतन काल में, कब) । यहां 'किम् डि' इस अनद्यतनकालवर्ती सप्तम्यन्त किम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में अनद्यतने हिलन्यतरस्याम् (१२१३) सूत्रद्वारा विकल्प से हिल् प्रत्यय, लकार अनुबन्ध का लोप, सुंभ्लुक् तथा हिल् की विभक्तिसञ्ज्ञा (११६७) होने से किमः कः (२७१) सूत्र से किम् को 'क' सर्वादेश तथा अन्त में अव्ययत्वात् सुंविभक्ति का लुक् कर देने से 'कर्हि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । हिल् के अभाव में सर्वैकान्त्यकियत्तवः काले वा (१२०६) से वा प्रत्यय हो कर किम् को क आदेश (२७१) करने से 'कदा' प्रयोग बनेगा ।

यस्मिन् अनद्यतने काले—यर्हि, यदा (जिस अनद्यतन काल में, जब) । यहां अनद्यतनकाल में वर्त्तमान 'यद् डि' से अनद्यतने हिलन्यतरस्याम् (१२१३) सूत्रद्वारा विकल्प से हिल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक्, त्यदाद्यत्व (१६३), पररूप (२७४) तथा अव्ययत्वात् सुंविभक्ति का लुक् कर देने से 'यर्हि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में सर्वैकान्त्यकियत्तवः काले वा (१२०६) से दाप्रत्यय हो कर त्यदाद्यत्व, पररूप और विभक्तिकार्य करने से 'यदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—तस्मिन् अनद्यतने काले—तर्हि, तदा (उस अनद्यतन काल में, तब) ।

एतस्मिन् अनद्यतने काले—एतर्हि, अत्र (इस अनद्यतन काल में, अब) । यहां अनद्यतनकाल में वर्त्तमान 'एतद् डि' से अनद्यतने हिलन्यतरस्याम् (१२१३) सूत्रद्वारा

१. अह्बभक्तोऽर्धरात्रनेषोऽद्यतनः कालः (काशिका) । अद्यतन-अनद्यतन की व्याख्या पीछे (३६१) सूत्राङ्क पर विस्तार से की जा चुकी है; वह यहां पुनर्घातित्य है ।
२. विधिरथं कियत्तव्येभ्य एषेति भोजः । परं पाणिनीया एतदोपीच्छन्ति ।

विकल्प से हिल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप (ङि) का भी लुक् कर देने से—एतद्+हि । अब इस अवस्था में एतद् के स्थान पर अन् (१२०२) सूत्रद्वारा अन् आदेश प्राप्त होता है । इस पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१४) एतदः ।५।३।५॥

एतद् एत-इत् एतौ स्तो रेफादौ थादौ च प्राग्दिशीये । एतस्मिन् (अनद्यतने) काले—एतहि ॥

अर्थः—रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते एतद् के स्थान पर क्रमशः एत और इत् आदेश हों ।

व्याख्या—योगविभागद्वारा पाणिनीय एतदोऽन् (५.३.५) सूत्र के दो खण्ड किये जाते हैं । पहला खण्ड है—एतदः । और दूसरा खण्ड है—अन् ।^१ द्वितीयखण्ड की व्याख्या (१२०२) सूत्राङ्क पर की जा चुकी है । यहाँ प्रथमखण्ड की व्याख्या प्रस्तुत है । एतदः ।६।१। एतेतौ ।१।२। रथोः ।७।२। (एतेतौ रथोः सूत्र से) । प्राग्दिशीय प्रत्ययों का प्रकरण चल रहा है अतः 'रथोः' को उस का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये' ऐसा उपपन्न हो जाता है । अर्थः—(रथोः = रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये) रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते (एतदः) एतद् के स्थान पर (एतेतौ) एत और इत् आदेश हो जाते हैं । यथासंख्यपरिभाषा (२३) के अनुसार रेफादिप्रत्यय के परे रहते 'एत' आदेश तथा थकारादि प्रत्यय के परे रहते 'इत्' आदेश होगा । उदाहरण यथा—

१. पाणिनि ने एतदोऽन् (५.३.५) यह एक सूत्र बनाया है । जिस का अर्थ है—एतद्-शब्द के स्थान पर 'अन्' सर्वदिश हो प्राग्दिशीयप्रत्यय के परे रहते । इस से—'एतस्मात् = अतः, एतस्मिन् = अत्र' ये सिद्ध हो जाते हैं । परन्तु रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीयों में इदमशब्द की तरह (देखें १२१२) एतद् को भी क्रमशः एत और इत् आदेश करने अभीष्ट हैं—एतस्मिन् काले एतहि, एतेन प्रकारेण इत्यम् । इन दोनों अर्थों की सिद्धि के लिये महाभाष्य में एतदोऽन् (५.३.५) इस एक सूत्र के दो खण्ड किये गये हैं जिसे योगविभाग (योग = सूत्र का विभाग) कहते हैं । इस का प्रथम खण्ड है—एतदः । इस में एतेतौ रथोः (१२१२) सूत्र का अनुवर्तन हो कर यह अर्थ उपलब्ध हो जाता है—रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीयों के परे रहते एतद् को क्रमशः एत और इत् आदेश हो जाते हैं । द्वितीय खण्ड है—अन् । यहाँ 'एतदः' का अनुवर्तन हो कर यह अर्थ हो जाता है—एतद् के स्थान पर अन् आदेश हो प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते । इस प्रकार योगविभागद्वारा दोनों अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो कर यथेष्ट रूप उपपन्न हो जाते हैं कोई दोष नहीं आता ।

‘एतद् + हि’ यहां रेफादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे है अतः प्रकृत एतद्: (१२१४) से ‘एतद्’ के स्थान पर ‘एत’ सर्वादेश हो कर—एत + हि = एतर्हि । अब अव्ययसञ्ज्ञा (३६८) के कारण सुंविभक्ति का लुक् करने से ‘एतर्हि’ प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस पक्ष में हिल् न होगा वहां सप्तम्यास्त्रल् (१२०४) से त्रल् प्रत्यय, सुंलुक्, अन् (१२०२) सूत्रद्वारा एतद् के स्थान पर अन् सर्वादेश, न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से पदान्त नकार का लोप तथा अन्त में विभक्तिकार्यं करने से ‘अत्र’ बनेगा ।

शकारादि में एतद् को इत् आदेश का उदाहरण ‘इत्यम्’ है । इस की सिद्धि आगे (१२१६) सूत्र पर देखें ।

अब प्रकार में वर्तमान किम् आदियों से प्राग्दिशीय धाल् (धा) प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१५) प्रकारवचने धाल् ।५।३।२३।।

प्रकारवृत्तिभ्यः^१ किमादिभ्यस्थाल् स्यात् स्वार्थे । तेन प्रकारेण—
तथा । यथा ॥

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्तमान किम् आदियों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक धाल् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—प्रकारवचने ।७।१। (पञ्चम्यर्थे सप्तमीति नागेशः) । धाल् ।१।१।
किसर्वनामबहुभ्योऽद्धधाविभ्यः यह अधिकृत है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्दिशो विभक्तिः इत्यादि भी पूर्वतः अधिकृत हैं । उच्यतेऽनेनेति वचनम् । प्रकारस्य वचनम् प्रकारवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषसमासः । सामान्यस्य भेदको विशेषोऽत्र प्रकारः । बहुभिः प्रकारैर्भुङ्क्त इत्यतो बहुभिर्विशेषैरित्यवगमात् । सादृश्यं तु नेह गृह्यते, सर्वथेत्यादौ तदप्रतीतेः । यथा हरिस्तथा हर इत्यादौ यत्प्रकारवान् हरिस्तत्प्रकारवान् हर इति बोधे जाते हरिसदृशो हर इति फलति । तदभिप्रायेण यथाशब्दस्य सादृश्यार्थ-कत्वोक्तिः । अर्थः—(प्रकारवचने = प्रकारवद्वृत्तिभ्यः) प्रकारवान् अर्थ में वर्तमान (किसर्वनामबहुभ्योऽद्धधाविभ्यः) किम्, द्वधादिभिन्न सर्वनाम तथा बहु प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (धाल्) धाल् प्रत्यय हो जाता है ।^२

धाल् में लकार इत् है, ‘धा’ मात्र अवशिष्ट रहता है । लकार अनुबन्ध लिट्स्वर (६.१.१८७) के लिये जोड़ा गया है । सूत्र के उदाहरण यथा—

तेन प्रकारेण (विशिष्टः)^३—तथा (उस विशेष से विशिष्ट, उस प्रकार वाला, वैसा) । यहां ‘तद् टा’ इस प्रकारवद्वृत्ति तद् सर्वनाम से प्रकारवचने धाल् (१२१५) सूत्र से धाल् प्रत्यय, अनुबन्ध लकार का लोप तथा सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से

१. वचनग्रहणात् प्रकारवद्वृत्तिभ्य इत्यर्थं इति शेखरे नागेशः ।

२. यहां समर्थं विभक्ति नहीं कही गई । परन्तु अभिधानवशात् तृतीया को ही समर्थ-विभक्ति मान लिया जाता है ।

३. तेन प्रकारेणेत्यस्य विशिष्ट इति शेष इति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः ।

प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (टा) का भी लुक् हो कर—तद् + था । थाल् प्रत्यय प्राग्विधो विभक्तिः (११६७) से विभक्तिसञ्ज्ञक है अतः विभक्ति के परे रहते स्थदादीनामः (१६३) से दकार को अकार आदेश एवम् अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश करने से—त + था = तथा । अब तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः (३६८) सूत्र से अव्ययसञ्ज्ञा हो कर उस से परे सुंविभक्ति का अव्ययादाप्सुंप् (३७२) से लुक् करने से 'तथा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—येन प्रकारेण (विशिष्टः)—यथा (जिस विशेष से विशिष्ट, जिस प्रकार वाला, जैसा) । यहां 'यद् टा' से पूर्ववत् थाल् प्रत्यय, सुंलुक्, त्यदाद्यत्व, पररूप तथा तद्धितान्त की अव्ययसञ्ज्ञा हो कर उस से परे सुंविभक्ति का लुक् करने से 'यथा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

सर्वैः प्रकारैः (विशिष्टः)—सर्वथा ।

अन्येन प्रकारेण (विशिष्टः)—अन्यथा ।

उभयेन प्रकारेण (विशिष्टः)—उभयथा ।

इतरेण प्रकारेण (विशिष्टः)—इतरथा । इत्यादि ।

अब 'इदम्' से थाल् के अपवाद थमुं (थम्) प्रत्यय का विधान दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१६) इदमस्थमुं । १५।३।२४॥

(प्रकारवृत्तेरिदमस्थमुंः प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे) । थालोऽपवादः ॥

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्तमान इदम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक थमुंप्रत्यय हो । थालोऽपवादः—यह थाल् प्रत्यय (१२१५) का अपवाद है ।

व्याख्या—इदमः १५।१। थमुंः ११।१। प्रकारवचनात् १५।१। (प्रकारबचने थाल् सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्पाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्विधो विभक्तिः (११६७) इत्यादि सब पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(प्रकारवचनात्) प्रकारवान् अर्थ में वर्तमान (इदमः) इदम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (थमुंः) थमुं प्रत्यय हो जाता है । यह पूर्वोक्त थाल्प्रत्यय (१२१५) का अपवाद है ।

थमुं में उकार इत् (२८) होकर लुप्त हो जाता है, 'थम्' मात्र शेष रहता है । हलन्त्यम् (१) सूत्रद्वारा मकार को इत् से बचाने के लिये उकार अनुबन्ध जोड़ा गया है ।^१

१. यदि 'थम्' मात्र ही प्रत्यय कहते तो भी अन्त्य मकार की इत्संज्ञा न होती, क्योंकि थम् विभक्तिसञ्ज्ञक (११६७) है और न विभक्तौ तुस्माः (१३१) से विभक्तिस्य तवर्ग-सकार-मकार को इत् करने का निषेध कहा गया है । तो पुनः उकार अनुबन्ध का जोड़ना न विभक्तौ तुस्माः (१३१) इस निषेध की अनित्यता का ज्ञापन कराता है । इस से किमोऽत् (१२०६) द्वारा विहित अत्प्रत्यय के तकार की इत्संज्ञा हो जाती है, अनित्य होने से निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती ।

इस सूत्र का उदाहरण तथा उस की सिद्धि अग्रिम वार्तिक पर देखनी चाहिये ।
अब यही प्रत्यय एतद् से भी विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(६३) एतदोऽपि वाच्यः ॥

अनेन एतेन वा प्रकारेण—इत्थम् ॥

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्तमान एतद् प्रातिपदिक से भी स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक थमुं प्रत्यय कहना चाहिये ।

व्याख्या—यह वार्तिक एतदोऽन् (५.३.५) सूत्र पर महाभाष्य में एतदश्च थम् उपसंस्थानम् इस रूप में पढ़ा गया है । यह भी थाल् प्रत्यय का अपवाद है । इस तरह प्रकारवृत्ति इदम् और एतद् दोनों प्रातिपदिकों से स्वार्थ में थमुं प्रत्यय हो जाता है ।

सर्वप्रथम इदम् से थमुं का उदाहरण यथा—

अनेन प्रकारेण (विशिष्टः)—इत्थम् (इस प्रकार से विशिष्ट, इस प्रकार वाला, ऐसा) । यहां 'इदम् टा' से इदमस्थमुं: (१२१६) सूत्रद्वारा स्वार्थ में थमुंप्रत्यय, उकार अनुबन्ध का लोप, सुंभ्लुक्, तथा थकारादि प्रातिपदिकों से स्वार्थ में थमुं प्रत्यय हो जाता है । (१२१२) सूत्र से इदम् के स्थान पर इत् सर्वदेश हो जाता है—इत् + थम् = इत्थम् ।^१ तद्धितान्त की अव्ययसंज्ञा (३६८) हो जाने के कारण अव्ययादाप्तुं: (३७२) से सुंविभक्ति का लुक् कर देने से 'इत्थम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

एतद् से थमुं का उदाहरण यथा—

एतेन प्रकारेण (विशिष्टः)—इत्थम् (इस प्रकार से विशिष्ट, इस प्रकार वाला, ऐसा) । यहां 'एतद् टा' से एतदोऽपि वाच्यः (वा० ६३) वार्तिक से स्वार्थ में थमुंप्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुंभ्लुक् तथा एतदः (१२१४) सूत्रद्वारा एतद् को 'इत्' सर्वदेश कर विभक्तिकार्य करने से 'इत्थम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

नोट—इदम् और एतद् दोनों से यद्यपि एक ही थमुं प्रत्यय हो कर 'इत्थम्' प्रयोग की सिद्धि होती है तथापि इन दोनों की कार्यसिद्धि में सूत्रों के अन्तर को ध्यान में रखना आवश्यक है ।

अब प्रकारवृत्ति किमप्रातिपदिक से भी थमुं प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१७) किमश्च ।५।३।२५॥

(प्रकारवृत्तेः किमः स्वार्थे थमुंस्तद्धितः स्यात् । थालोऽपवादः) । केन प्रकारेण—कथम् ॥

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्तमान किम् प्रातिपदिक से भी स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक थमुं प्रत्यय हो ।

व्याख्या—किमः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । प्रकारवचनात् ।५।१। (प्रकारवचने

१. अत्र स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) इति पदसञ्ज्ञायां झलां जशोऽन्ते (६७) इति जश्त्वेन तकारस्य दकारे स्वरि च (७४) इति चत्वेन दकारस्य पुनस्तकार इत्यप्युह्यम् ।

थाल् सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। थमुं: ११।१। (इदमस्थमुं: सूत्र से)। प्रत्ययः, परश्च, ऊष्वाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्दिशो विभक्तिः (११६७) इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(प्रकारवचनात्=प्रकारवृत्तेः) प्रकारवान् अर्थ में वर्तमान (किमः) किम् प्रातिपदिक से (च) भी स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (थमुं:) थमुं प्रत्यय हो जाता है। यह भी प्रकारवचने थाल् (१२१५) द्वारा प्राप्त थाल् प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

केन प्रकारेण (विशिष्टः)—कथम् (किस प्रकार से विशिष्ट, किस प्रकार वाला, कैसा)। यहां प्रकारवृत्ति 'किम् टा' से स्वार्थ में किमश्च (१२१७) सूत्रद्वारा थमुं प्रत्यय, उकार अनुबन्ध का लोप तथा सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंपुं (टा) का भी लुक् कर देने पर—किम् + थम्। प्राग्दिशो विभक्तिः (११६७) से थम् विभक्तिसञ्ज्ञक है। अतः विभक्ति के परे रहते किमः कः (२७१) द्वारा 'किम्' को 'क' सर्वादेश करने से—क + थम् = कथम्। अब अव्ययसञ्ज्ञा हो कर अव्ययादाप्सुं: (३७२) से सुंविभक्ति का लुक् कर देने पर 'कथम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अभ्यास [१४]

- (१) प्राग्दिशीय प्रत्यय किसे कहते हैं? कोई से सात प्राग्दिशीय प्रत्यय सोदाहरण निर्दिष्ट करें।
- (२) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—

१. किसर्वनामबहु०	६. प्रकारवचने थाल्।
२. इतराभ्योपि दृश्यन्ते।	७. पञ्चम्यास्तसैल्।
३. सर्वैकान्यकियत्तदः०	८. सप्तम्यास्त्रल्।
४. एतेतौ रथोः	९. इदमस्थमुं:।
५. अनद्यतने हिलन्य०	१०. एतदोऽपि वाच्यः (वा०)
- (३) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्त रूप सिद्ध करें—
 १. तस्मिन्। २. तस्मिन् काले। ३. अनेन प्रकारेण। ४. एतेन प्रकारेण।
 ५. स भवान्। ६. अस्मात्। ७. एतस्मात्। ८. बहुषु। ९. अस्मिन्।
 १०. कस्मिन् (स्थाने, काले)।
- (४) अधोलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
 १. क्व। २. अत्र। ३. परितः। ४. सदा। ५. इह। ६. अमुतः।
 ७. इतः। ८. कुतः। ९. यदा। १०. कथम्।
- (५) किम्, इदम्, एतद्, तद्, यद्, अन्य, सर्व—इन शब्दों के प्रकारार्थक रूप दर्शा कर प्रत्ययों और तद्धिधायक सूत्रों का भी निर्देश करें।
- (६) इदम् और एतद् दोनों का थमुं में 'इत्थम्' रूप बनता है परन्तु विधायक सूत्रों में अन्तर रहता है—इस का विवेचन करें।
- (७) प्राग्दिशीयों की प्रकृति पर विवेचनात्मक टिप्पण लिखें।

- (८) सप्रमाण अशुद्धिशोधन कीजिये—
१. अन्यदा देशे । २. एतर्हि ग्रामे । ३. बहुतः सूपात् । ४. क्व काले ।
- (९) अधोलिखित सूत्र किस किस के अपवाद हैं ?
१. इदमो हिल् । २. सर्वैकान्यकियत्तदः काले वा । ३. एतेतौ रथोः ।
४. क्वाति । ५. कु तिहोः । ६. किमोऽत् । ७. किमश्च । ८. इदमस्थमुः ।
- (१०) एतदोऽन् सूत्र का योगविभाग क्यों और कैसे किया जाता है ?
- (११) निम्नस्थ प्रश्नों के युक्तियुक्त उत्तर दीजिये—
[क] 'द्वि' से प्राग्दिशीय प्रत्यय क्यों नहीं होता ?
[ख] प्राग्दिशीयों की विभक्तिसंज्ञा क्यों की जाती है ?
[ग] किसर्बनाम० में किम् के पृथक् उल्लेख का क्या कारण है ?
[घ] न विभक्तौ० द्वारा अत् के तकार की इत्संज्ञा का निषेध क्यों नहीं ?
[ङ] थर्मु के उकार अनुबन्ध से क्या ज्ञापित होता है ?
[च] 'सर्वत्र देशे' यहां 'दा' प्रत्यय क्यों नहीं हुआ ?
[छ] 'इह देशे' यहां 'हिल्' क्यों नहीं हुआ ?
[ज] 'बहोः सूपात्' तहां 'तसिल्' क्यों नहीं हुआ ?
[झ] इतरान्योऽपि दृश्यन्ते में 'दृश्यन्ते' से क्या अभिप्रेत है ?
- (१२) सूत्रनिर्देशपूर्वक उत्तर दीजिये—
[क] रेफादि प्राग्दिशीय परे रहते इदम् को क्या आदेश होगा ?
[ख] थकारादि " " " एतद् " " " " ?
[ग] दकारादि " " " सर्व " " " " ?
[घ] तकारादि " " " किम् " " " " ?
[ङ] हकारादि " " " " " " " " ?
[च] 'अत्' " " " " " " " " ?
- (१३) इदम् और एतद् दोनों से 'एतर्हि' निष्पन्न होता है, क्या इन के अर्थों में व्याकरणदृष्ट्या कोई विशेष है ? सप्रमाण स्पष्ट करें ।^१

[लघु०]

इति प्राग्दिशीयाः ॥

(यहां प्राग्दिशीय प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)

—:०:—

१. इदम् से बना 'एतर्हि' प्रयोग अद्यतन वा अनद्यतन दोनों कालों में प्रयुक्त हो सकता है क्योंकि इदमो हिल् (१२११) सूत्रद्वारा कालसामान्य में हिल् का विधान किया गया है । परन्तु एतद् से अनद्यतने हिलन्यतरस्याम् (१२१३) द्वारा अनद्यतनकाल में ही हिल् विधान किया गया है अतः वह अद्यतन में प्रयुक्त न होगा—यही दोनों में व्याकरणरीत्या अन्तर है । [किन्तु इस अन्तर का व्यवहारदशा में कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि 'एतर्हि' से अद्यतन-अनद्यतन दोनों प्रकार के कालों का बोध हो सकता है] ।

अथ प्राग्वीयाः

प्राग्दिशीयप्रत्ययों के बाद प्राग्वीय तद्धितप्रत्ययों का विवेचन प्रारम्भ होता है । अष्टाध्यायी में प्राग्दिशीयप्रत्ययों के अनन्तर इवे प्रतिकृतौ (५.३.६६) सूत्र से पूर्व पूर्व जो प्रत्यय कहे गये हैं उन को यहां प्राग्वीय कहा गया है । सब से प्रथम आतिशायनिक (अतिशयद्योतक) तुलनार्थक प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१८)

अतिशायने तमबिष्ठनौ ।५।३।५५॥

अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः । अयमेषाम् अतिशयेन आढ्यः—आढ्यतमः । लघुतमः । लघिष्ठः ॥

अर्थः—प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तमप् और इष्ठन् प्रत्यय हों ।

व्याख्या—अतिशायने ।७।१। तमबिष्ठनौ ।१।२। प्रत्ययः, पररश्च, ङष्ठाप्रतिपदिकात्; तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अतिपूर्वक शीङ् स्वप्ने (अदा० आत्मने०) घातु प्रकर्षद्वारा दूसरे को अभिभूत करने या लाङ्घने अर्थ में प्रयुक्त होती है ।^१ इस घातु से भाव में ल्युट् करने पर 'अतिशयन' शब्द निष्पन्न होता है । इसी 'अतिशयन' को सूत्र में निपातनद्वारा दीर्घ कर 'अतिशायन' कहा गया है—अतिशयनमेव अतिशायनम् । लोक में भी 'अतिशायन' शब्द प्रसिद्ध हो चला है । अबाधकान्यपि निपातनानि (प०^३) इस के अनुसार 'अतिशयन' शब्द भी साधु है । दोनों का लोक में प्रयोग होता है अर्थ एक ही रहता है । यहां सूत्रोक्त 'अतिशायन' से अतिशयविशिष्ट का ग्रहण अभिप्रेत है ।^२ अर्थः—(अतिशायने) प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (तमबिष्ठनौ) तमप् और इष्ठन् प्रत्यय हो जाते हैं । प्रकर्षविशिष्टता प्रकृति का अर्थ है जो प्रत्ययद्वारा द्योतित किया जाता है अतः प्रत्यय स्वार्थ में हुए समझे जाते हैं ।

तमप्रत्यय का पकार तथा इष्ठन् प्रत्यय का नकार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'तम' और 'इष्ठ' ही शेष रहते हैं । पकार अनुबन्ध अनुदात्तो सुंप्पितौ (३.१.४) द्वारा अनुदात्तस्वर के लिये तथा नकार अनुबन्ध ङित्स्या-विनित्यम् (६.१.१६१) द्वारा उदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है ।

१. इस अर्थ में यह सकर्मक होती है यथा—पूर्वान् महाभाग तथाऽतिशेषे (रघु० (५.१४) । कृष्णमतिशेषे कृष्णतरः, शुक्लमतिशेषे शुक्लतरः (महाभाष्य ५.३.५५) ।
२. निपातन क्वचित् बाधक नहीं भी होते ।
३. नागेशभट्ट अतिशायन में बाहुलकात् कर्ता में ल्युट् मान कर यही अर्थ प्राप्त करते हैं ।

प्रकर्ष किसी की अपेक्षा से हुआ करता है। अतः दो या दो से अधिक वस्तुओं के समुदाय में से किसी एक का अतिशय या प्रकर्ष अभिव्यक्त करने में ये प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। परन्तु दो के समुदाय में यदि किसी एक का प्रकर्ष प्रकट करना हो तो वक्ष्यमाण द्विवचनविभक्त्योपपदे तरबीयसुंनौ (१२२२) सूत्रद्वारा इन के अपवाद तरप् और ईयसुंन् प्रत्ययों का विधान किया गया है। अतः यहां दो से अधिक वस्तुओं के समुदाय में से जब किसी एक का प्रकर्ष कहना अभीष्ट होगा तभी तमप् और इष्ण् प्रत्ययों की प्रवृत्ति होगी।

यहां पर यह बात विशेष ध्यातव्य है कि तमप् प्रत्यय तो प्रत्येक प्रातिपदिक से निर्बाध किया जा सकता है परन्तु इष्ण् प्रत्यय केवल गुणवाचकों से ही होता है।^१

उदाहरण यथा—

अयम् एयाम्^२ अतिशयेन^३ आढचः—आढचतमः (सब से अधिक घनी)।^४ यहां अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'आढच सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में प्रकृत अतिशयाने तमबिष्ठनौ (१२१८) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप, कृतद्वितसमासाश्च (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (सुं) का लुक् करने से—आढच + तम = आढचतम। अब विशेष्यानुसार विभक्ति ला कर पुंलिङ्ग में 'आढचतमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। आढचशब्द लघु-गुरु आदि शब्दों की तरह गुणवाची नहीं अतः इस से इष्ण् प्रत्यय नहीं होता।

इसीप्रकार—अयमेषामतिशयेन दर्शनीयः—दर्शनीयतमः (सब से अधिक सुन्दर)। अयमेषामतिशयेन सुकुमारः—सुकुमारतमः (सब से अधिक कोमल)। अयमेषामतिशयेन विद्वान्—विद्वत्तमः^५ (सब से अधिक विद्वान्)। अयमेषामतिशयेन दुष्टः—दुष्टतमः (सब से अधिक दुष्ट)। अयमेषामतिशयेन महान्—महत्तमः (सब से अधिक महान्)। अयमेषामतिशयेन दीर्घः—दीर्घतमः (सब से अधिक दीर्घ)। इत्यादि।

दूसरा उदाहरण यथा—

१. अजादी गुणवचनादेव (५.३.५८)। अर्थः—आतिशायनिक अजादि प्रत्यय (इष्ण् और ईयसुंन्) गुणवाचकों से ही होते हैं अन्यो से नहीं।
२. यहां यतश्च निर्धारणम् (२.३.४१) सूत्र से निर्धारण में षष्ठी विभक्ति हुई है, सप्तमी का भी प्रयोग हो सकता है। इस सूत्र की व्याख्या इस ग्रन्थ के कारक-प्रकरणान्तर्गत परिशिष्ट में (४८) सूत्राङ्क पर देखें।
३. प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०) से यहां तृतीया हुई है। इस वार्तिक की व्याख्या भी कारकप्रकरणान्तर्गत परिशिष्ट में (१८) सूत्राङ्क पर देखें।
४. इस विग्रह को इस प्रकार भी दर्शाया जा सकता है—अयम् आढचः, अयम् आढचः, अयम् आढचः, अयमेषामतिशयेन आढचः—आढचतमः। अथवा—सर्वे इमे आढचाः, अयमेषामतिशयेनाढचः—आढचतमः।
५. वसुं त्वं सुं-ध्वंस्वनइहां वः (२६२) इति सकारस्य पदान्तस्य दत्वे चत्वंम्।

अयम् एषामतिशयेन लघुः—लघुतमो लघिष्ठो वा (सब से अधिक छोटा वा हल्का) । यहां प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्तमान गुणवाची 'लघु सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में प्रकृत अतिशायने तमबिष्ठनौ (१२१८) सूत्र से तमप् और इष्ठन् प्रत्यय हो जाते हैं । तमप्पक्ष में अनुबन्धलोप, सुंब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'लघुतमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इष्ठन्पक्ष में अनुबन्ध नकार का लोप कर सुंप् (सुं) का भी लुक् कर देने से—लघु + इष्ठ । अब टेः (११५७) सूत्रद्वारा भसञ्जक टि (उकार) का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'लघिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् हो कर (१२४६) 'लघुतमा' तथा 'लघिष्ठा' बनेगा । इसी प्रकार—अयमेषामतिशयेन पटुः—पटुतमः पटिष्ठो वा (सब से अधिक चतुर) ।

अब सुंबन्तों की तरह तिङन्तों से भी आतिशायनिक प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१६) तिङन्तश्च ।५।३।५६॥

तिङन्ताद् अतिशये द्योत्ये तमप् स्यात् ॥

अर्थः—अतिशय के द्योत्य होने पर तिङन्त से भी तद्धितसञ्जक तमप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तिङः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । अतिशायने तमबिष्ठनौ (१२१८) सूत्र का पीछे से अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । ड्याप्प्रातिपदिकात् (११६) इस अधिकार के कारण सुंबन्तों से ही आतिशयनिक प्रत्ययों की उत्पत्ति हो सकती है तिङन्तों से नहीं । परन्तु लोक में तिङन्तों से भी ये प्रत्यय देखे जाते हैं, इसलिये इस सूत्र का निर्माण किया गया है । अर्थः—(अतिशायने) प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्तमान (तिङः = तिङन्तात्) तिङन्त से (च) भी (तमबिष्ठनौ^१) तमप् तद्धित प्रत्यय हो जाता है ।

यहां भी पूर्ववत् दो से अधिक तिङन्तक्रियाओं के समुदाय से ही एक का अतिशय द्योत्य होने पर तमप् होगा । दो क्रियाओं के समुदाय में एक का अतिशय द्योत्य होने पर तो अग्रिम अपवाद द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुंनौ (१२२२) सूत्रद्वारा तरप् ही होगा ।

इस सूत्र के उदाहरण देने से पूर्व तरप्-तमप् प्रत्ययों की प्रयोजनवशात् घसञ्जा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्जा-सूत्रम्—(१२२०) तरप्तमपौ घः ।१।१।२१॥

एतौ घसञ्जौ स्तः ॥

१. इष्ठन् की अनुवृत्ति आने पर भी उसे यहां सम्बद्ध नहीं किया जाता, कारण कि अजादो गुणवचनादेव (५.३.५८) नियम के अनुसार वह गुणवाचकों से ही होता है क्रियाप्रधान तिङन्तों से नहीं ।

अर्थः—तरप् और तमप् प्रत्यय 'घ' सञ्ज्ञक हों ।

व्याख्या—तरप्तमपौ ।१।२। घः ।१।१। तरप् च तमप् च तरप्तमपौ, इतरेतर-
द्वन्द्वः । अर्थः—(तरप्तमपौ) तरप् और तमप् प्रत्यय (घः) घसञ्ज्ञक हों ।

अब घसञ्ज्ञा करने का फल दशति हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२१)

किमेत्तिङव्यय-घादाभ्वद्रव्यप्रकर्षे ।५।४।११।

किम् एदन्तात् तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्ताद् आमुं स्यात्, न तु
द्रव्यप्रकर्षे । किन्तमाम् । प्राह्णेतमाम् । पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्य-
प्रकर्षे तु—उच्चैस्तमस्तरुः ॥

अर्थः—किम्, एदन्त, तिङन्त और अव्यय—इन चार से विहित जो घसञ्ज्ञक
प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिक से परे स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक आमुं प्रत्यय हो, परन्तु द्रव्य के
प्रकर्ष में नहीं ।

व्याख्या—किमेत्तिङव्ययघाद् ।५।१। आमुं इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् ।
अद्रव्यप्रकर्षे ।७।१। प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधि-
कृत हैं । समासः—किम् च एत् च तिङ् च अव्ययं च किमेत्तिङव्ययानि, तेभ्यो विहितः
—किमेत्तिङव्ययविहितः, किमेत्तिङव्ययविहितो यो घः किमेत्तिङव्ययघः, तस्मात् =
किमेत्तिङव्ययघात् । द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषे कृते शाकपार्थिवादिबन्धमपदलोपिसमासः ।
'प्रातिपदिकात्' अधिकार के कारण 'एत्' से तदन्तविधि हो कर 'एदन्तात्' बन जाता
है । प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् परिभाषाद्वारा तिङ् से तदन्तविधि हो कर 'तिङन्तात्'
बन जाता है । अर्थः—(किमेत्तिङव्ययघात्) किम्, एदन्त प्रातिपदिक, तिङन्त तथा
अव्यय—इन से विहित जो घसञ्ज्ञक प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः)
तद्धितसञ्ज्ञक (आमुंः) आमुं प्रत्यय हो जाता है (अद्रव्यप्रकर्षे) परन्तु द्रव्य का प्रकर्ष
छोत्य हो तो नहीं होता ।

आमुं के उकार की इत्सञ्ज्ञा (२८) हो कर लोप हो जाता है, 'आम्' मात्र शेष
रहता है । उकार अनुबन्ध आमुं को नुंद् आगम से बचाने के लिये जोड़ा गया है ।
आमुंप्रत्ययान्त शब्द तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञक हो जाते हैं, इसे
ध्यान में रखना चाहिये ।

सर्वप्रथम घप्रत्ययान्त 'किम्' से उदाहरण यथा—

१. यदि आमुं न कह कर केवल 'आम्' ही विधान करते तो 'कितम् + आम्, प्राह्ण-
तर + आम्' इत्यादियों में आम् को ह्रस्वनद्यापो नुंद् (१४८) सूत्रद्वारा नुंद् का
आगम होने लगता जो स्पष्टतः अनिष्ट था । अब आमुं के विधान से यह दोष
प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य (५०) परिभाषाद्वारा
षष्ठीबहुवचन निरनुबन्ध आम् के उपलब्ध होने पर आमुं इस सानुबन्ध में नुंद्विधि
प्रसक्त नहीं होती ।

इदमेषामतिशयेन किम्—किन्तमाम् (सब से अधिक कुत्सित वस्तु)।^१ यहाँ अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'किम् सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से अतिशयने तमबिष्ठनौ (१२१८) सूत्र से तमप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप एवं सुंब्लुक् करने से—किम् + तम। पदसञ्ज्ञा (१६४) के कारण भोज्नुस्वारः (७७) से पदान्त मकार को अनुस्वार हो कर—कितम। तरप् और तमप् प्रत्ययों की तरप्तमपौ घः (१२२०) से घसञ्ज्ञा की गई है, इस तरह यहाँ किम्शब्द से परे 'तम' यह घसञ्ज्ञक प्रत्यय विद्यमान है। अतः किमेत्तिड्व्ययघावाम्ब्रव्यप्रकर्षे (१२२१) सूत्रद्वारा इस से परे स्वार्थ में ही आर्मुप्रत्यय ला कर उस के उकार अनुबन्ध का लोप करने से—कितम + आम्। अब यस्येति च (२३६) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य अर्थात् अव्ययत्वात् सुंविभक्ति का लुक् (३७२) कर देने से 'कितमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अनुस्वार को वा पदान्तस्य (८०) से वैकल्पिक परसवर्ण करने से 'किन्तमाम्, कितमाम्' ये दो रूप बन जाते हैं।

घप्रत्ययान्त एदन्त से उदाहरण यथा—

अतिशयिते प्राट्णे—प्राट्णेतमाम्, अतिशयिते पूर्वाट्णे—पूर्वाट्णेतमाम् (दिन के अतीव पूर्वभाग में)।^२ अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'प्राह्लु डि' तथा 'पूर्वाह्लु डि' इन सप्तम्यन्त समस्त शब्दों से अतिशयने तमबिष्ठनौ (१२१८) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय करने पर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् सुंपो घातु-प्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् (डि) के लुक् की प्राप्ति होती है, परन्तु घकालतनेषु कालनाम्नः (६.३.१६)^३ सूत्र से उस का

१. कुत्सित अर्थ में किम्शब्द संस्कृतसाहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। यथा—

स किंसला साधु न शास्ति योऽधिपं

हितान्न यः संशृणुते स किम्प्रभुः ॥ (किरात० १.५)

अथवा—'किन्तमां स उवाच' इत्यादि स्थलों पर 'उसने विशेष जोर दे कर किसे कहा?' ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये।

२. प्रथमं च तदहः प्राह्लुः। अत्र अहःशब्दस्तदवयवे वर्तते। प्रादिसमासे राजाहः-सस्त्रिम्यष्टच् (६५८) इति टच् समासान्तः। अह्नोऽह्न एतेभ्यः (५.४.८८) इति अहन्शब्दस्य स्थाने 'अह्न' इत्यादेशः। अह्नोऽहन्तात् (८.४.७) इत्यह्नशब्दस्य नकारस्य णत्वम्। यस्येति च (२३६) इति भस्याकारस्य लोपः। रात्राह्नाहाः पुंसि (६५७) इति पुंस्त्वम्।

पूर्वोऽह्नः पूर्वोऽह्लुः। पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे (६३२) इत्येकदेशि-समासः। शेषं पूर्ववत्।

३. घकालतनेषु कालनाम्नः (६.३.१६)। अर्थः—घसंज्ञकप्रत्यय, कालशब्द तथा तन-प्रत्यय के परे रहते कालवाचक शब्दों से परे सप्तमी का विकल्प से अलुक् हो। घ—पूर्वाट्णेतरे, पूर्वाह्लुतरे; पूर्वाट्णेतमे, पूर्वाह्लुतमे। काल—पूर्वाट्णेकाले, पूर्वाह्लु-काले। तन—पूर्वाट्णेतने, पूर्वाह्लुतने। इत्यादि।

अलुक् हो जाता है—प्राह्णेतम, पूर्वाह्णेतम । अब इस स्थिति में एदन्त से परे घसञ्जक (१२२०) तमप् प्रत्यय के विद्यमान रहने से किमेत्तिङ्ब्ययघाढाम्ब्रव्यप्रकर्षे (१२२१) सूत्रद्वारा स्वार्थ में आमुंप्रत्यय, उस के उकार अनुबन्ध का लोप तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का भी लोप कर विभक्तिकार्य अर्थात् अव्ययत्वात् सुंविभक्ति का लुक् कर देने से 'प्राह्णेतमाम्, पूर्वाह्णेतमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं । यज्ञदत्तः प्राह्णे जागर्त्ति, तत्पिता प्राह्णेतरे, परं तत्पितामहस्तु प्राह्णेतमे । यज्ञदत्त सवेरे जागता है, उस का पिता उस से भी सवेरे । परन्तु उस के दादाजी तो और भी सवेरे जागते हैं ।^१

घप्रत्ययान्त तिङन्त से उदाहरण यथा—

आसामियमतिशयेन पचति— पचतितमाम् (इन सब में यह बढ़िया पकाती है) । अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'पचति' इस तिङन्त से तिङ्श्च (१२१६) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय करने से 'पचतितम' बना । अब यहां तिङन्त से परे घसञ्जक तमप् प्रत्यय विद्यमान है अतः प्रकृत किमेत्तिङ्ब्ययघाढाम्ब्रव्यप्रकर्षे (१२२१) सूत्र से स्वार्थ में आमुंप्रत्यय ला कर उस के उकार अनुबन्ध का लोप, यस्येति च (२३६) से भसञ्जक अकार का लोप तथा तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (३६८) द्वारा अव्ययसञ्जा के कारण सुंविभक्ति का लुक् कर देने से 'पचतितमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

घप्रत्ययान्त अव्यय से उदाहरण यथा—

अतिशयेन उच्चैः—उच्चैस्तमाम् (अत्यधिक ऊँचे) । यहां अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'उच्चैस्' अव्यय से अतिशयाने तमबिच्छिनौ (१२१८) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप, पदान्त सकार को ह्रैत्वविसर्ग हो कर विसर्जनीयस्य सः (१०३) से विसर्ग को पुनः सकार आदेश कर देने से—उच्चैस्तम । अब यहां अव्यय से परे घसञ्जक तमप् प्रत्यय विद्यमान है अतः किमेत्तिङ्ब्ययघाढाम्ब्रव्यप्रकर्षे (१२२१) सूत्र से स्वार्थ में आमुंप्रत्यय हो कर उकार अनुबन्ध का लोप, यस्येति च (२३६) द्वारा भसञ्जक अकार का लोप एवं तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः (३६८) से अव्ययसञ्जा के हो जाने से इस से परे सुंविभक्ति का लुक् (३७२) कर देने से 'उच्चैस्तमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^२ अयमुच्चैराक्रोशति, इयमुच्चैस्तराम् । परमनयोर्माता तु उच्चैस्तमाम् ।

इसीप्रकार—नीचैस्तराम्, नीचैस्तमाम् । प्रातस्तराम्, प्रातस्तमाम् । अति-तराम्, अतितमाम् । सुतराम्, सुतमाम् । नितराम्, नितमाम् । इत्यादि ।

द्रव्यप्रकर्षे तु—उच्चैस्तमस्तदः ।

१. पूर्वावयवगतप्रकर्षादङ्गः प्रकर्षो बोध्यः । अत्र अहंनं द्रव्यम्, सूर्योदयादारभ्य सूर्यास्तमयावधिकस्यैव कालस्य अहंशब्दार्थत्वात् । तस्य च उदयादिक्रियाषटित-त्वान्न द्रव्यत्वम् । तेन अद्रव्यप्रकर्षे इति निषेधो न ।

२. अतिशयेन उच्चैराक्रोशनादिक्रियेत्यर्थः । अत्रापि क्रियाया एव प्रकर्षो न तु द्रव्यस्य ।

सूत्र में 'अद्रव्यप्रकर्षे' कहा गया है अतः द्रव्य के प्रकर्ष के द्योत्य होने पर यह आरुं प्रत्यय नहीं होता । यथा—उच्चैस्तमस्तरुः (यह वृक्ष सब से ऊँचा है) । यहाँ ऊँचाई के प्रकर्ष से वृक्ष का प्रकर्ष प्रतीत होता है । वृक्ष स्पष्टतः द्रव्य है अतः यहाँ आरुं नहीं हुआ ।^१

अब दो में से एक के प्रकर्षकथन में तमप्-इष्टन् के अपवाद तरप् और ईयसुंन् प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् — (१२२२)

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुंनौ ।५।३।५७॥

द्वयोरेकस्य अतिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुंप्तिङन्तादेतौ स्तः । पूर्व-योरपवादः । अयमनयोरतिशयेन लघुः—लघुतरः, लघीयान् । उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः, पटोयांसः ॥

अर्थः—दो अर्थों के प्रतिपादक शब्द के उपपद होने पर अथवा विभक्तव्य के उपपद होने पर अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान सुंबन्त और तिङन्त से तरप् और ईयसुंन् प्रत्यय हों । पूर्वयोरपवादः—यह पूर्वसूत्रों (१२१८, १२१९) का अपवाद है ।

व्याख्या—द्विवचनविभज्योपपदे ।७।१। तरबीयसुंनौ ।१।२। सुंपः ।५।१। (सुंबन्ता-देव तद्धितोत्पत्तिरिति सिद्धान्ताश्रयणात्) । तिङः ।५।१। (तिङश्च सूत्र से) । अतिशायने ।७।१। (अतिशायने तमबिष्ठीनौ सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । उच्यतेऽनेनेति वचनम्, करणे ल्युट् । द्वयोरर्थयोर्वचनं द्विवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः । द्वयर्थप्रतिपादकमित्यर्थः । विभक्तुं योग्यं विभज्यम् । एतत्सूत्र-निपातनाद् ऋह्लोर्णत् (७८०) इति ण्यतं बाधित्वा यत्प्रत्ययः । विभक्तव्यमित्यर्थः । द्विवचनं च विभज्यं च द्विवचनविभज्यम्, समाहारद्वन्द्वः । द्विवचनविभज्यं च तद् उप-पदम्—द्विवचनविभज्योपपदम्, तस्मिन् = द्विवचनविभज्योपपदे, कर्मधारयसमासः । 'उपपद' से यहाँ शास्त्रीय (पारिभाषिक) उपपद नहीं लिया जाता क्योंकि इस तद्धित-प्रकरण में उस का पाया जाना सम्भव नहीं । अतः 'उप = समीपे उच्चारितं पदम् उप-पदम्' इसप्रकार 'समीप में पढ़ा पद' इस का अभिप्राय समझना चाहिये । तरप् च ईय-सुंन् च तरबीयसुंनौ, इतरैतरद्वन्द्वः । अर्थः—(द्विवचनविभज्योपपदे) दो अर्थों का प्रति-पादक शब्द यदि समीप में उच्चारित किया गया हो या समीप में विभक्तव्य पद पढ़ा गया हो तो (अतिशायने) अतिशयनविशिष्ट अर्थ में वर्तमान (सुंपः = सुंबन्तात्) सुंबन्त और (तिङः = तिङन्तात्) तिङन्त से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (तरबीयसुंनौ) तरप् और ईयसुंन् प्रत्यय हो जाते हैं स्वार्थ में ।

१. उच्चैःशब्दोऽत्र उच्चत्वगुणवत्परः । द्रव्यस्य स्वतः प्रकर्षाऽभावेऽपि द्रव्यनिष्ठगुणादि-प्रकर्ष एव द्रव्यप्रकर्ष इति बोध्यम् । अत्र उच्चैस्त्वप्रकर्षस्य तरौ द्रव्ये भानाद् आम्नेति भावः ।

यद्यपि यहां सुंबन्त और तिङन्त दो प्रकृति हैं, द्विवचन और विभज्य दो उपपद हैं, तरप् और ईयसुंन् दो प्रत्यय हैं तथापि यथासंख्य नहीं होता—ऐसा व्याख्यान-द्वारा आकरग्रन्थों में निर्णीत किया गया है ।

अतिशायने तमबिष्ठनौ (१२१८) तथा तिङ्श्च (१२१९) सूत्रों से प्रकर्ष-सामान्य में तमप् और इष्टन् प्रत्ययों का विधान किया गया है परन्तु इस प्रकृतसूत्रद्वारा दो में से किसी एक का अपेक्षाकृत प्रकर्ष बताना हो तो तरप् और ईयसुंन् प्रत्यय कहे गये हैं । इस तरह यह सूत्र उन दोनों प्रत्ययों का अपवाद है । अतः दो के मध्य प्रकर्ष-कथन में तरप्-ईयसुंन् प्रत्यय तथा दो से अधिक के मध्य प्रकर्ष बतलाने में पूर्वोक्त तमप्-इष्टन् प्रत्यय होते हैं—यह समझना चाहिये ।

तरप् का पकार एवम् ईयसुंन् के उकार और नकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं । 'तर' और 'ईयस्' मात्र अवशिष्ट रहते हैं । तरप् में पकार अनुदात्तस्वर के लिये तथा ईयसुंन् का नकार उदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । ईयसुंन् का उकार उगित्कार्यों के लिये समझना चाहिये ।

द्विवचन के उपपद रहते सुंबन्त का उदाहरण यथा—

अयमनयोरतिशयेन लघुः—लघुतरः, लघीयान् वा (इन दोनों में अधिक छोटा) । यहां 'अनयोः' यह द्विवचन अर्थात् दो वस्तुओं का प्रतिपादक पद समीप में पड़ा गया है अतः अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'लघु सुं' से स्वार्थ में तमप्-इष्टन् प्रत्ययों का बाध कर प्रकृत द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुंनौ (१२२२) सूत्र से तरप् और ईयसुंन् प्रत्यय हो जाते हैं । प्रथम तरप्पक्ष में पकार अनुबन्ध का लोप हो कर सुंपो घातु-प्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंपु (सुं) का भी लुक् कर देने से—लघु + तर = लघुतर । अब विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने से 'लघुतरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । [स्त्रीलिङ्ग में अजातघृष्टाप् (१२४९) से टाप् हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'लघुतरा' बनेगा] । ईयसुंन्पक्ष में प्रत्यय के उकार नकार अनुबन्धों का लोप कर सुंलुक् कर देने से—लघु + ईयस् । टेः (११५७) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक उकार का लोप हो कर—लघु + ईयस् = लघीयस् । प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुंविभक्ति ला कर उगित्त्वां सर्वनाम-स्थानेऽघातोः (२८९) से नुंम् आगम, सान्तमहत्तः संयोगस्य (३४२) द्वारा सान्त संयोग के नकार की उपघा को दीर्घ करने पर 'लघीयान्स् + स्' इस स्थिति में हल्ङ्घादिलोप (१७९) तथा संयोगान्तस्य लोपः (२०) से संयोगान्तलोप करने से 'लघीयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होता । लघीयान्, लघीयांसौ, लघीयांसः—इस तरह श्रेयसशब्द की तरह रूपमाला चलेगी । [स्त्रीलिङ्ग में उगित्श्च (१२५०) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर 'लघीयसी' बनेगा] ।

इसीप्रकार—अयमनयोः पटुः—पटुतरः, पटीयान् । अयमनयोः साधुः—साधुतरः, साधीयान् । अयमनयोर्महान्—महत्तरः, महीयान् । अयमनयोरणुः—अणुतरः, अणीयान् । अयमनयोस्तनुः—तनुतरः, तनीयान् । इत्यादि ।

द्विवचन के उपपद रहते तिङन्त का उदाहरण यथा—

इयमनयोरतिशयेन पचति—पचतितराम् (इन दो में यह बढ़िया पकाती है) ।
यहां 'अनयोः' यह दो वस्तुओं का प्रतिपादक शब्द उपपद में स्थित है अतः अतिशय
अर्थ में वर्तमान 'पचति' इस तिङन्त से तिङ्शब्द (१२१६) सूत्रद्वारा प्राप्त तमप्
प्रत्यय का बाध कर प्रकृत द्विवचनविभक्त्योपपदे तरबीयसुंनौ (१२२२) सूत्र से
तरप् प्रत्यय हो कर 'पचतितर' इस स्थिति में किमेत्तिङ्ब्ययघादाद्भवद्रव्यप्रकर्षे (१२२१)
सूत्र से आर्मुं प्रत्यय ला कर यस्थेतिष्वलोप करने से—पचतितराम् । तद्धितश्चाऽसर्व-
विभक्तिः (३६८) से यह अव्ययसञ्ज्ञक है अतः अव्ययादाप्सुंषः (३७२) सूत्रद्वारा इस
से परे सुंविभक्ति का लुक् कर देने से 'पचतितराम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—जल्पिततराम्, विजयतेतराम् आदि ।

विशेष वक्तव्य—प्रकृत (१२२२) सूत्रोक्त 'द्विवचन' से यहां व्याकरणपरि-
भाषितद्विवचन का ग्रहण नहीं करना चाहिये अपितु उपर्युक्त 'दो अर्थों का प्रतिपादक
शब्द' इस यौगिक अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिये । अन्यथा 'दन्तोष्ठस्य दन्ताः
स्निग्धतराः (दान्तों और होठों में दान्त अधिक स्निग्ध हैं), पाणिपादस्य पाणी सुकुमार-
तरौ (हाथों और पैरों में हाथ अधिक कोमल हैं)' ऐसे स्थानों पर 'दन्तोष्ठस्य' और
'पाणिपादस्य' में द्विवचन न होने के कारण तरप् दुर्लभ हो जायेगा । परन्तु अब
यौगिक अर्थ करने से समासवृत्ति में दो पदार्थों की उक्ति होने से कोई दोष नहीं आता ।
इसीप्रकार—अस्माकं देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतरः (मुझ में और देवदत्त में देवदत्त
अधिक रूपवान् है) । यहां 'अस्माकम्' में अस्मवो द्वयोश्च (१.२.५६) से एकत्व में
बहुवचन हुआ है । अतः द्विवचन ही उपपद है, निर्धारण में षष्ठी हुई है ।

परुत् भवान् पटुरासीद् ऐषमस्तु पटुतरः (पिछले वर्ष आप चतुर थे परन्तु इस
वर्ष उस से भी अधिक चतुर हैं) । यहां एक ही व्यक्ति में तत्कालकृत भेद के आश्रयण
से द्विवचन की कल्पना कर तरप् हो जाता है । वामन आचार्य का कथन है कि साक्षात्
प्रयोग के विना भी बुद्धिस्थ द्विवचन आदि के कारण तरप्-तमप् आदि आतिशायनिक
प्रत्यय हो जाते हैं ।^१ यथा—बहुलतरं प्रेम, घनतरं पयः, अल्पात्तरम् (६८६), गुरु-
र्धरित्री क्रियतेतरां स्वया (माघ० १.३६) इत्यादि ।

विभज्य (विभक्तव्य = पृथक्करणीय) के उपपद रहते उदाहरण यथा—

उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः पटीयांसो वा (उत्तरीलोग पूर्वीलोगों की अपेक्षा
अधिक निपुण होते हैं) । यहां उदीच्यां से प्राच्यों को पृथक् करना है अतः प्राच्य
विभज्य = विभक्तव्य = पृथक्करणीय हैं, पञ्चमी विभक्ते (२.३.४२) सूत्र से इस में

१. बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामप्यातिशायनिकाः ॥

(वामनकाव्यालंकारसूत्र निर्णयसागर पृष्ठ ७५)

पञ्चमी विभक्ति हुई है ।' इस विभज्य के उपपद रहते अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'पटु जस्' से द्विवचन-विभज्योपपदे तरबीयसुंनौ (१२२२) सूत्रद्वारा तरप् और ईयसुंन् हो कर पूर्ववत् सिद्ध होती है ।

इसीप्रकार—

(१) माथुरा: पाटलिपुत्रकेभ्य आढघतरा: (मथुरावासी पाटलिपुत्रवासियों की अपेक्षा अधिक घनी हैं) । यहां 'पाटलिपुत्रकेभ्यः' यह विभज्य उपपद है ।

(२) माथुरा: पाटलिपुत्रकेभ्यः साङ्काश्येभ्यश्च आढघतरा: । यहां उपपद में दो विभज्य हैं ।

(३) मतिरेव बलाद् गरीयसी । (हितोप० २.८६)

(४) स्वार्थात् सतां गुफतरा प्रणयिक्त्र्यैव । (विक्रमो० ४.१५)

(५) कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः । (गीता ३.८)

(६) ततो दुःखतरं नु किम् ? (गीता २.३६)

(७) पुत्रावपि प्रियतरं खलु तेन दानं

मन्ये पशोरपि विवेकविबर्जितस्य ।

दत्ते खले नु निखिलं खलु येन दुग्धं

नित्यं ददाति महिषी समुतापि पश्य ॥ (पञ्च० २.५५)

अब इस प्रकरण के एक अत्युपयोगी सूत्र को जिसे संक्षेपरुचि लघुकौमुदीकार ने छोड़ दिया है, यहां निर्दिष्ट कर रहे हैं—

अज्ञादी गुणवचनादेव (५.३.५८) ॥

अर्थः—पूर्वोक्त (तमप्, इष्टन्, तरप् और ईयसुंन्) चार प्रत्ययों में जो दो अजादि प्रत्यय हैं वे केवल गुणवाचकों से ही होते हैं अन्यो से नहीं । इष्टन् और ईयसुंन् ही अजादि प्रत्यय हैं वे गुणवाचकों से ही होते हैं अन्यो से नहीं । यथा—लघु और पटु शब्द गुणवाचक हैं, इन से इष्टन् और ईयसुंन् हो जायेंगे—एषामयमतिशयेन लघुः—लघिष्ठः, एषामयमतिशयेन पटुः—पटिष्ठः, अनयोरयमतिशयेन लघुः—लघीयान्, अनयोरयमतिशयेन पटुः—पटीयान् । पाचक शब्द क्रियापद है गुणवाचक नहीं अतः इससे ये न होंगे तमप् और तरप् ही होंगे । एषामयमतिशयेन पाचकः—पाचकतमः, अनयोरयमतिशयेन पाचकः—पाचकतरः । ध्यान रहे कि गुणवाचकों से अजादि प्रत्यय तो होते

१. प्रकृत उदाहरण में उदीच्य और प्राच्य यद्यपि पारस्परिक दृष्टि से दोनों विभज्य हैं तथापि यहां अतिशय्यमान विभज्य को ही उपपद में रखना उचित ठहरता है कारण कि अतिशयिता से तो प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । अत एव न्यासकार ने कहा है—यः पुनरतिशय्यमानस्तस्योपपदत्वं नातिशयितुः, ततः प्रत्यय-विधानात् । तात्पर्य यह है कि विभाग के अवधिभूत पञ्चम्यन्त को ही यहां 'विभज्य' मान कर उस के उपपद रहते अतिशयिता से आतिशायनिक प्रत्ययों का विधान किया जाता है ।

ही हैं परन्तु तमप्-तरप् भी हो जाते हैं, इन को रोकने वाला कोई सूत्र नहीं। यथा—
लघुतमः, लघुतरः। पटुतमः, पटुतरः।

अब आतिशायनिक अजादि प्रत्ययों के परे रहते 'प्रशस्य' शब्द के स्थान पर 'श्र' आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२३) प्रशस्यस्य श्रः। ५।३।६०।।

अस्य श्रादेशः स्यादजाद्योः परतः।।

अर्थः—अजादि अर्थात् इष्टन् और ईयसुन् प्रत्ययों के परे रहते 'प्रशस्य' शब्द के स्थान पर 'श्र' आदेश हो।

व्याख्या—प्रशस्यस्य। ६।१। श्रः। १।१। अजाद्योः। ७।२। (अजादी गुणवचनादेव सूत्र से 'अजादी' का अनुवर्तन कर उसे सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है)। प्रत्यययोः। ७।२। (प्रत्ययः अधिकार के विभक्ति और वचन का विपरिणाम कर लिया जाता है)। अर्थः—(प्रशस्यस्य) प्रशस्यशब्द के स्थान पर (श्रः) 'श्र' यह आदेश हो जाता है (अजाद्योः प्रत्यययोः) अजादि प्रत्ययों के परे रहते। इस आतिशायनिक प्रकरण में दो ही अजादि प्रत्यय कहे गये हैं—इष्टन् और ईयसुन्। अतः इन के परे रहते 'प्रशस्य' को 'श्र' आदेश हो जाता है। आदेश अनेकाल् है अतः अनेकाल्शित्सर्बस्य (४५) द्वारा सम्पूर्ण 'प्रशस्य' के स्थान पर आदेश हो जायेगा। उदाहरण अभिमसूत्र पर देखें।

अब 'श्र' आदेश के प्रकृतिभाव का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२४) प्रकृत्यंकाच्। ६।४।१६३।।

इष्ठादिषु एकाच् प्रकृत्या स्यात्। श्रेष्ठः। श्रेयान्॥

अर्थः—इष्टन् आदि प्रत्ययों के परे रहते एक अच् वाला भसञ्जक अङ्ग प्रकृतिभाव को प्राप्त हो।

व्याख्या—प्रकृत्या। ३।१। एकाच्। १।१। इष्टेमेयःसु। ७।३। (तुरिष्टेमेयःसु सूत्र से)। 'अङ्गस्य' और 'भस्य' दोनों अधिकृत हैं, विभक्तिविपरिणाम से 'अङ्गम् भम्' बन जाता है। एकोज्च् यस्य तद् एकाच्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(इष्टेमेयःसु) इष्टन्, इम-निच् और ईयसुन् प्रत्ययों के परे रहते (एकाच्) एक अच् वाला (भम् अङ्गम्) भसञ्जक अङ्ग (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।

यह सूत्र अल्तोपोऽनः (२४७), नस्तद्धिते (६१६), यस्येति च (२३६) और टेः (११५७) के प्रकरण में अष्टाध्यायी में पढ़ा गया है अतः उन का अपवाद है।^१

उदाहरण यथा—

अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः—श्रेष्ठः (सब से बढ़कर प्रशंसनीय, बढ़िया या उत्तम)। यहां अतिशायनविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'प्रशस्य सुं' से अतिशायने तमबिष्ठनौ

१. इसीलिये 'श्रेष्ठः, श्रेयान्' आदियों में प्रकृतिभाव के कारण गुण आदियों के करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

(१२१८) सूत्र से इष्टन् प्रत्यय हो कर 'सुंप्' का लुक् (७२१) करने से—प्रशस्य + इष्ट । अब प्रशस्यस्य अः (१२२३) सूत्र से इष्टन् के परे रहते 'प्रशस्य' को 'श्र' सर्वादेश होकर— श्र + इष्ट । यच्च भम् (१६५) से 'श्र' की भसञ्ज्ञा है अतः इष्टन् के परे रहते टैः (११५७) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक अङ्ग (अ) की टि (अ) का लोप प्राप्त होता है, इस पर प्रकृत्यैकाच् (१२२४) सूत्र से एकाच् भसञ्ज्ञक अङ्ग 'श्र' के प्रकृतिभाव को प्राप्त हो जाने से टिलोप नहीं होता । पुनः आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश कर 'विभक्ति लाने से 'श्रेष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में तमप् हो कर 'प्रशस्य-तमः' भी बनेगा । यहां इष्टन् के परे न रहने से प्रशस्य को श्र आदेश नहीं होता ।

अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान् (दो में अधिक प्रशंसनीय या बढ़िया) । यहां 'अनयोः' यह द्विवचन उपपद में है अतः अतिशायनविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'प्रशस्य सुं' से द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुंनौ (१२२२) सूत्रद्वारा ईयसुंन् प्रत्यय हो कर सुंप् का लुक् करने से—प्रशस्य + ईयस् । अब पूर्ववत् प्रशस्यस्य अः से प्रशस्य को श्र सर्वादेश हो कर टैः (११५७) द्वारा 'श्र' की टि (अ) का लोप प्राप्त होता है । इस पर प्रकृत्यैकाच् (१२२४) से प्रकृतिभाव के कारण टि का लोप नहीं होता—श्र + ईयस् । पुनः आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश हो कर 'लघीयान्, पटीयान्' की तरह विभक्तिकार्य (उगित्वानुंम्, नकार की उपधा को दीर्घ, हल्ङ्घादिलोप एवं संयोगान्त-लोप) करने से 'श्रेयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में तरप् हो कर 'प्रशस्यतरः' भी बनेगा ।

अब पक्ष में 'प्रशस्य' को 'ज्य' आदेश का भी विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२५) ज्य च ।५।३।६१॥

प्रशस्यस्य ज्यादेशः स्याद् इष्टेयसोः । ज्येष्ठः ॥

अर्थः—अजादि अर्थात् इष्टन् और ईयसुंन् प्रत्ययों के परे रहते 'प्रशस्य' शब्द के स्थान पर 'ज्य' आदेश भी हो ।

व्याख्या—ज्य इतिलुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । च इत्यव्ययपदम् । प्रशस्यस्य ।६।१। (प्रशस्यस्य अः सूत्र से) । अजाद्योः ।७।२। (अजादी गुणवचनादेव सूत्र से प्राप्त 'अजादी' पद को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है) । प्रत्यययोः ।७।३। (प्रत्ययः अधिकार के विभक्ति और वचन का विपरिणाम कर लिया जाता है) । अर्थः—(प्रशस्यस्य) प्रशस्यशब्द के स्थान पर (ज्य) 'ज्य' यह आदेश (च) भी हो जाता है

१. इष्टन् प्रत्यय अजादि है, अजादी गुणवचनादेव (५.३.५८) नियम के अनुसार यह गुणवाचकों से ही होना चाहिये । यहां 'प्रशस्य' शब्द गुणवाचक नहीं पुनः इस से इष्टन् कैसे हो जायेगा ? इस का उत्तर यह दिया जाता है कि जब आचार्य इष्टन् के परे रहते प्रशस्य को श्र आदेश का विधान करते हैं तो इस से स्पष्ट ज्ञापित हो जाता है कि वे गुणवाचक न होते हुए भी इस शब्द से परे इष्टन् का विधान मानते हैं ।

(अजाद्योः प्रत्यययोः) अजादि प्रत्ययों के परे रहते। इस प्रकरण में दो ही अजादि प्रत्यय कहे गये हैं—इष्टन् और ईयसुन्। अतः इन के परे रहते 'प्रशस्य' को 'ज्य' आदेश होता है। 'ज्य' अनेकाल् है अतः सवदिश (४५) होगा। 'च' ग्रहण के कारण पूर्वोक्त 'श्र' आदेश के साथ इस का भी समावेश समझना चाहिये।

इष्टन् में उदाहरण यथा—

सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेतेषामतिशयेन प्रशस्यः—ज्येष्ठः (सब से बढ़ कर प्रशंसनीय, बढ़िया या उत्तम)। यहां पर अतिशायनविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'प्रशस्य सुं' से पूर्ववत् इष्टन् प्रत्यय, सुंञ्जुक् तथा प्रकृत ज्य च (१२२५) सूत्र से 'प्रशस्य' को 'ज्य' सवदिश हो कर—ज्य + इष्ट। अब टेः (११५७) से प्राप्त टिलोप का प्रकृत्यैकाच् (१२२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण वारण हो जाता है। पुनः आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश कर विभक्ति लाने से 'ज्येष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में 'श्रेष्ठः' और 'प्रशस्यतमः' ये दोनों पूर्वोक्त प्रयोग भी रहेंगे।

ईयसुन् में उदाहरण यथा—

इमौ द्वावपि प्रशस्यौ, अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः—ज्यायान् (दोनों में अधिक प्रशंसनीय, अच्छा या बढ़िया)। यहां 'अनयोः' यह दो अर्थों का वाचक उपपद में है अतः अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'प्रशस्य सुं' से द्विबच्चनविभज्योपपदे तरबीयसुंनौ (१२२२) सूत्रद्वारा ईयसुन्, सुंञ्जुक् तथा प्रकृत ज्य च (१२२५) सूत्र से 'प्रशस्य' को 'ज्य' सवदिश हो कर 'ज्य + ईयस्' हुआ। अब यहां अभिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२६) ज्यावादीयसः।६।४।१६०॥

(ज्यात् परस्य ईयस आकार आदेशः स्यात्)। आदेः परस्य (७२)—ज्यायान् ॥

अर्थः—'ज्य' से परे ईयस् के ईकार को आकार आदेश हो।

व्याख्या—ज्यात् १५।१। आत् १।१। ईयसः १६।१। अर्थः—(ज्यात्) ज्य से परे (ईयसः) ईयस् के स्थान पर (आत्) आकार आदेश हो जाता है। यह आदेश अलोऽन्त्य-परिभाषा से ईयस् के सकार के स्थान पर प्राप्त होता है परन्तु आदेः परस्य (७२) परिभाषाद्वारा उसे न हो कर ईयस् के आदि वर्ण ईकार के स्थान पर हो जाता है। इस प्रकार 'ईयस्' का 'आयस्' बन जाता है।

'ज्य + ईयस्' यहां आदेः परस्य (७२) की सहायता से प्रकृत ज्यावादीयसः (१२२६) सूत्रद्वारा ईयस् के आदि वर्ण ईकार को आकार आदेश हो कर—ज्य + आयस्। अब टेः (११५७) से प्राप्त टिलोप का प्रकृत्यैकाच् (१२२४) सूत्र के द्वारा प्रकृतिभाव के कारण वारण हो कर अकः सबर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ एकादेश करने से—ज्य् आ यस् = ज्यायस्। अब 'श्रेयान्' की तरह विभक्तिकार्य करने पर 'ज्यायान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में पूर्वोक्त 'श्रेयान्' तथा 'प्रशस्यतरः' प्रयोग भी रहेंगे।

अष्टाध्यायी में ज्य च (५.३.६१) सूत्र से आगे इसीप्रकार का एक अन्य सूत्र भी पढ़ा गया है—

बृद्धस्य च (५.३.६२) ॥

अर्थः—अजादि प्रत्यय (इष्ठन् और ईयसुन्) के परे होने पर 'वृद्ध' शब्द के स्थान पर भी 'ज्य' आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

अयमेषाम् अतिशयेन वृद्धः—ज्येष्ठः (सब से अधिक आयु वाला या बूढ़ा)।
अयमनयोरतिशयेन वृद्धः—ज्यायान् (दोनों में अधिक आयु वाला या बूढ़ा)। इन की सिद्धि पूर्ववत् होती है परन्तु अर्थ में अन्तर है।

अब ईयसुन् के परे रहते बहुशब्द को विशेषकार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२७)

बहोर्लोपो भू च बहोः ।६।४।१५८॥

बहोः परयोरिभेयसोर्लोपः स्याद् बहोश्च भूरादेशः । भूमा । भूयान् ॥

अर्थः—बहुशब्द से परे इमर्निच् और ईयसुन् प्रत्ययों का लोप हो तथा बहुशब्द के स्थान पर 'भू' आदेश भी हो।

व्याख्या—बहोः ।५।१। लोपः ।१।१। भू इतिलुप्तप्रथमैकवचनान्तम्पदम् । च इत्यव्ययपदम् । बहोः ।६।१। इमेयसोः ।७।२। (तुरिष्ठेमेयस्सु सूत्र से^१) । अर्थः—(बहोः) बहुशब्द से परे (इमेयसोः) इमर्निच् और ईयसुन् प्रत्ययों का (लोपः) लोप हो जाता है तथा (बहोः) 'बहु' के स्थान पर (भू) 'भू' यह आदेश (च) भी हो जाता है ।^२

'बहु' से परे इमर्निच् और ईयसुन् का लोप कहा गया है परन्तु आगे परस्य (७२) परिभाषा के अनुसार यह लोप इन प्रत्ययों के आदिबर्ण इकार और ईकार का ही होता है। बहुशब्द के स्थान पर भू आदेश अनेकालिशस्सर्बस्य (४५) द्वारा सवदिश होता है।

इमर्निच् में उदाहरण यथा—

बहोर्भावः—भूमा (बहुतपना, बहुतायत)। यहां 'बहु इस्' से भाव में पुष्वादिभ्य इमर्निज्वा (११५५) सूत्रद्वारा इमर्निच् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा सुंप् (इस्) का भी लुक् करने से—बहु + इमन् । अब बहोर्लोपो भू च बहोः (१२२७) इस प्रकृतसूत्र से इमन् के इकार का लोप एवं बहुशब्द के स्थान पर 'भू' सवदिश हो कर—भूमन् । विभक्ति लाने पर 'राजन्' शब्द की तरह सुंभन्तप्रक्रिया करने से 'भूमा' प्रयोग सिद्ध

- यद्यपि यहां 'इष्ठेमेयस्सु' द्वारा इष्ठन्-इमर्निच्-ईयसुन् इन तीनों की अनुवृत्ति आ रही है तथापि इष्ठन् का उत्तरसूत्र में पृथक् उल्लेख के कारण यहां दो को ही सम्बद्ध किया जाता है।
- बहोरिति पुनर्ग्रहणं स्थानिबत्त्वप्रतिपत्त्यर्थम् । अन्यथा हि प्रत्ययानामेव भूभावः स्यात् । (काशिका)

हो जाता है। भूमा, भूमानौ, भूमानः। इमनिच्प्रत्ययान्त शब्द पुलिङ्ग होते हैं यह पीछे बताया जा चुका है।

ईयसुन् में उदाहरण यथा—

अयम्बहुः, अयम्बहुः, अयमनयोरतिशयेन बहुः—भूयान् (दो में अधिक विपुल या विशाल)। यहां 'अनयोः' यह द्विवचन उपपद में है अतः अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'बहु सुं' से द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ (१२२२) से ईयसुन् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं सुंप् का भी लुक् करने से—बहु + ईयस्। अब बहोर्लोपो भू च बहोः (१२२७) इस प्रकृतसूत्र से ईयस् के ईकार का लोप तथा बहुशब्द को भू सवदिश हो कर^१—भू + यस् = भूयस्।^२ अब 'श्रेयान्' की तरह विभक्तिकार्य करने से 'भूयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब बहुशब्द से परे इष्ठन् के लिये विशेष कार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१२२८) इष्ठस्य यिट् च । ६।४।१५६।।

बहोः परस्य इष्ठस्य लोपः स्याद् यिडागमश्च । भूयिष्ठः ॥

अर्थः—बहुशब्द से परे इष्ठन् का लोप हो तथा उस इष्ठन् को यिट् का आगम भी हो किञ्च बहुशब्द के स्थान पर भू आदेश भी हो।

व्याख्या—इष्ठस्य । ६।१। यिट् । १।१। च इत्यव्ययपदम् । बहोर्लोपो भू च बहोः (१२२७) इस पिछले सूत्र की अनुवृत्ति होती है। अर्थः—(बहोः) बहुशब्द से परे (इष्ठस्य) इष्ठन् प्रत्यय का (लोपः) लोप हो जाता है तथा उसे (यिट्) यिट् का आगम भी हो जाता है। किञ्च (भू च बहोः) बहु के स्थान पर 'भू' आदेश भी हो जाता है। बहुशब्द से परे इष्ठन् का लोप कहा है अतः आदेः परस्य (७२) द्वारा इष्ठन् के आदि इकार का ही लोप होगा। यिट् में टकार इत् है, 'यि' मात्र शेष रहता है। आद्यन्तौ टकितौ (८५) के अनुसार यिट् का आगम इष्ठन् का आद्यवयव बनता है। उदाहरण यथा—

अयं बहुरयं बहुरयं बहुः। अयमेषामतिशयेन बहुः—भूयिष्ठः (सब में अधिक विपुल या विशाल)। यहां अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'बहु सुं' से अतिशयाने तमबिष्ठनौ (१२१८) सूत्रद्वारा इष्ठन् प्रत्यय हो कर सुंप् का लुक् करने से 'बहु + इष्ठ' हुआ। अब प्रकृत इष्ठस्य यिट् च (१२२८) सूत्र से इष्ठन् के आदि इकार का लोप, प्रत्यय को यिट् का आगम तथा बहु के स्थान पर 'भू' सवदिश कर देने से—भू +

१. यदि यहां 'भू' इस प्रकार ह्रस्वान्त आदेश करते तो भी अकृत्साबंधात्कयोर्दीर्घः (४८३) से यकारादि प्रत्यय के परे रहते दीर्घ हो कर 'भूयस्' बन सकता था पुनः यहां दीर्घान्त आदेश क्यों किया गया है? इस का उत्तर यह है कि 'भूयस्' के सिद्ध हो जाने पर भी 'भूमन्' की सिद्धि न हो सकती थी अतः मुनि को दीर्घान्त आदेश करना पड़ा है।

२. अत्र भूभावस्य आभीयत्वेन असिद्धत्वाद् ओर्गुणः (१००५) इति गुणो न।

यिष्ठ = भूयिष्ठ । विभक्ति लाने से 'भूयिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

नोट—कुछ वैयाकरण 'इष्टन् को यिष्टं का आगम हो' इसे आदिलोप का अपवाद मानते हैं । उन के मतानुसार यिष्टं में इकार और टकार दोनों इत् हैं, इस प्रकार यिष्टं का 'य्' मात्र शेष रहता है—भू+य्इष्ट=भूयिष्ठः । महाभाष्य में दोनों पक्ष स्वीकृत हैं ।

अब इष्टन् और ईयसुन् के परे रहते मत्वर्थीय विन् और मत्तुप् प्रत्ययों के लुक् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१२२६) विन्मतोलुक् । ५।३।६५ ॥

विनो मत्तुपश्च लुक् स्यादिष्टेयसोः । अतिशयेन स्रग्वी—स्रजिष्ठः । स्रजीयान् । अतिशयेन त्वग्वान्—त्वचिष्ठः । त्वचीयान् ॥

अर्थः—इष्टन् या ईयसुन् प्रत्ययों के परे रहते विन् और मत्तुप् प्रत्ययों का लुक् हो ।

व्याख्या—विन्मतोः । ६।२। लुक् । १।१। अजाद्योः । ७।२। (अजादी शुणवचनादेव सूत्र से 'अजादी' की अनुवृत्ति ला कर उसे सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है) । विन् च मत् च विन्मतौ, तयोः = विन्मतोः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(अजाद्योः प्रत्यययोः) अजादि प्रत्ययों अर्थात् इष्टन् और ईयसुन् के परे रहते (विन्मतोः) विनिं और मत्तुप् प्रत्ययों का (लुक्) लुक् हो जाता है । विनिंप्रत्यय का विधान अस्माया-मेघाल्लजो विनिंः (११६३) आदि सूत्रों के द्वारा तथा मत्तुप् प्रत्यय का विधान तवस्या-स्त्यस्मिन्निति मत्तुप् (११८५) आदि सूत्रों से पीछे दर्शाया जा चुका है । प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-नुपः (१८६) के अनुसार लुक् पूरे प्रत्यय का ही हुआ करता है अतः अलोऽन्त्य-विधि (२१) न हो कर विन् और मत् इन पूरे प्रत्ययों का ही लुक् होगा ।

प्रथम विन् (विनिं) प्रत्यय के लुक् के उदाहरण यथा—

सर्वे इमे स्रग्विणः, अयमेषामतिशयेन स्रग्वी—स्रजिष्ठः (सब मालावालों में अधिक मालावाला) । प्रथमान्त स्रज्शब्द से मत्वर्थ में अस्-माया-मेघा-ल्लजो विनिंः (११६३) सूत्रद्वारा विनिं प्रत्यय ला कर सुंल्लुक् तथा पदान्त में किञ्चिन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) द्वारा कुत्व करने से 'स्रग्विन्' शब्द निष्पन्न होता है । अब अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'स्रग्विन् सुं' से अतिशयने तमबिष्ठनौ (१२१८) द्वारा इष्टन्प्रत्यय, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुंप् का लुक्, विन्मतोलुक् (१२२६) इस प्रकृतसूत्र से इष्टन् के परे रहते विन्प्रत्यय का भी लुक् कर निमित्तापावे नैमित्तिकस्याप्यपायः न्याय के अनुसार कुत्व के दूर हो जाने से 'स्रज् + इष्ट' हुआ । यच्च भम् (१६५) सूत्रद्वारा यहाँ 'स्रज्' की भसञ्ज्ञा है, अतः टेः (११५७) से टि (अज्) का लोप प्राप्त होता है । इस पर प्रकृत्यैकाक्ष् (१२२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण उस का वारण हो जाता है । अब भत्व के कारण कुत्व की प्रवृत्ति नहीं होती । इस प्रकार 'स्रजिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इमौ द्वावपि स्रज्विणौ, अयमनयोरतिशयेन स्रज्वी · स्रजीयान् (दो मालावान् व्यक्तियों में अधिक मालावान् व्यक्ति) । यहां द्विवचन 'अनयोः' के उपपद में रहते द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुंनौ (१२२२) सूत्र से ईयसुंन् प्रत्यय हो कर सुंन्लुक् तथा विन्मतोलुक् (१२२६) से विन् का भी लुक् हो जाता है—स्रज् + ईयस् । अब टेः (११५७) द्वारा प्राप्त टिलोप का प्रकृत्यंकाच् (१२२४) से प्रकृतिभाव के कारण वारणः हो कर—स्रजीयस् । विभक्तिकार्य करने से 'स्रजीयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

मर्तुप् प्रत्यय के लुक् के उदाहरण यथा—

सर्वे इमे त्वग्वन्तः, अयमेषामतिशयेन त्वग्वान्— त्वचिष्ठः (सब त्वचावालों में अधिक त्वचावान्) । प्रथमान्त त्वच्शब्द से तदस्यास्त्यस्मिन्निति मर्तुप् (११८५) सूत्र-द्वारा मर्तुप् प्रत्यय हो कर सुंन्लुक्, भाहुपधायारश्च मतोर्बोऽयवादिभ्यः (१०६५) से मर्तुप् के मकार को वत्व तथा चोः कुः (१०६) से कुत्वादि करने से 'त्वग्वत्' (प्रशस्त त्वचा वाला) शब्द निष्पन्न होता है । अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'त्वग्वत् सुं' से अतिशयाने तमबिष्ठनौ (१२१८) से इष्ठन्, सुंन्लुक् तथा विन्मतोलुक् (१२२६) से मर्तुप् का भी लुक् कर कुत्वादि के हट जाने से—त्वच् + इष्ठ । अब भसञ्ज्ञा के कारण टेः (११५७) द्वारा प्राप्त टिलोप का प्रकृत्यंकाच् (१२२४) से प्रकृतिभाव के कारण वारण हो कर 'त्वचिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अयमनयोरतिशयेन त्वग्वान्— त्वचीयान् । यहां द्विवचन 'अनयोः' के उपपद में रहते द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुंनौ (१२२२) द्वारा ईयसुंन् प्रत्यय करने पर विन्मतोलुक् (१२२६) से मर्तुप् का लुक् हो जाने से— त्वच् + ईयस् । अब प्रकृत्यंकाच् (१२२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण टेः (११५७) से टि का लोप नहीं होता— त्वचीयस् । विभक्तिकार्य करने से 'त्वचीयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

मतिमत्— मतिष्ठः, मतीयान् ।

धनवत्— धनिष्ठः, धनीयान् ।

मेधाविन्— मेधिष्ठः, मेधीयान् ।

बलवत्— बलिष्ठः, बलीयान् ।^१

अतिशयानिक (तुलनार्थक) प्रत्ययों के इस प्रसङ्ग में कुछ अन्य उपयोगी सूत्रों का जानना भी आरम्भिक विद्यार्थियों के लिये परम आवश्यक है । अतः उन सूत्रों का संक्षेप से कुछ विवरण यहां उपस्थित किया जा रहा है—

१. इन सब में मर्तुप् या विन् का लुक् हो जाने पर टेः (११५७) सूत्रद्वारा टि का लोप हो जाता है । एकाच् न होने से प्रकृत्यंकाच् (१२२४) से प्रकृतिभाव नहीं हांता । (शेखरकारेणात्र अन्यविधं प्रतिपादितम्, विशेषबुभुत्सुभिस्तत्तु तत्रैव द्रष्टव्यम्) ।

(१) स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः

(६.४.१५६) ॥

अर्थः—इष्टन्, इमनिच् या ईयसुन् प्रत्ययों के परे रहते स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र और क्षुद्र इन छः शब्दों के यण् से ले कर परले भाग का लोप हो जाता है किञ्च यण् से पूर्व इकार उकार के स्थान पर गुण भी हो जाता है। यथा—

स्थूल (मोटा)—स्थो + इष्टन् = स्थविष्ठः । स्थवीयान् ।

दूर (दूर)—दो + इष्टन् = दविष्ठः । दवीयान् ।

युवन् (जवान्)—यो + इष्टन् = यविष्ठः । यवीयान् ।

ह्रस्व (छोटा)—ह्रस् + इष्टन् = ह्रसिष्ठः । ह्रसीयान् ।

क्षिप्र (शीघ्र)—क्षेप् + इष्टन् = क्षेपिष्ठः । क्षेपीयान् ।

क्षुद्र (छोटा)—क्षोद् + इष्टन् = क्षोदिष्ठः । क्षोदीयान् ।^१

(२) युवालपयोः कनन्यतरस्याम् (५.३.६४) ॥

अर्थः—इष्टन् या ईयसुन् प्रत्यय के परे रहते युवन् और अल्प शब्दों के स्थान पर विकल्प से कन् सर्वादेश होता है। यथा—

युवन् (जवान्)—कन् + इष्टन् = कनिष्ठः । कनीयान् ।

पक्षे—यविष्ठः । यवीयान् । (स्थूलदूरयुव०)

अल्प (थोड़ा)—कन् + इष्टन् = कनिष्ठः । कनीयान् ।

पक्षे—अल्पिष्ठः । अल्पीयान् ।

(३) अन्तिक-बाढयोर्नेवसाधौ (५.३.६३) ॥

अर्थः—इष्टन् या ईयसुन् प्रत्यय के परे रहते अन्तिक को नेद तथा बाढ को साध आदेश होता है। यथा—

अन्तिक (निकट)—नेद + इष्टन् = नेदिष्ठः । नेदीयान् ।

बाढ (दृढ़, अच्छा)—साध + इष्टन् = साधिष्ठः । साधीयान् ।

(४) प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र-दीर्घ-वृन्दारकाणां प्र-स्थ-स्फ-वर्-बंहि-गर्-वर्षि-त्रब-द्राधि-वृन्दाः (६.४.१५७) ॥

अर्थः—इष्टन्, इमनिच् या ईयसुन् प्रत्ययों के परे रहते प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ और वृन्दारक इन दस शब्दों के स्थान पर क्रमशः प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राधि और वृन्द ये दस आदेश हो जाते हैं।^१ यथा—

१. इमनिच् में इन के उदाहरण पीछे त्वतत्पौरुषिकारः के अन्तर्गत (११५८) सूत्राद् पर दिये जा चुके हैं, वहीं देखें।

२. वर्षि-बंहि-द्राधिषु इकार उच्चारणार्थं इति नागेशः ।

प्रिय (प्यारा)—प्र + इष्ठ = प्रेष्ठः । प्रीयान् ।
 स्थिर (स्थायी)—स्थ + इष्ठ = स्थेष्ठः । स्थेयान् ।
 स्फिर (बहुत)—स्फ + इष्ठ = स्फेष्ठः । स्फेयान् ।
 उरु (विशाल)—वर् + इष्ठ = वरिष्ठः । वरीयान् ।
 बहुल (बहुत)—बंहि + इष्ठ = बंहिष्ठः । बंहियान् ।
 गुरु (भारी)—गर + इष्ठ = गरिष्ठः । गरीयान् ।
 वृद्ध (बूढ़ा)—वर्षि + इष्ठ = वर्षिष्ठः । वर्षीयान् ।
 तृप्र (सन्नुष्ट)—त्रप् = इष्ठ = त्रपिष्ठः । त्रपीयान् ।
 दीर्घ (लम्बा)—द्राधि + इष्ठ = द्राधिष्ठः । द्राधीयान् ।
 वृन्दारक (सुन्दर)^१—वृन्द + इष्ठ = वृन्दिष्ठः । वृन्दीयान् ।

(५) र ऋतो ह्लाबेर्लघोः (११५६) ॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिच् या ईयसुन् प्रत्ययों के परे रहते ह्लादि लघु ऋकार को 'र' आदेश हो जाता है। इमनिच् में उदाहरण इसी सूत्र पर पीछे दिये जा चुके हैं। इष्ठन् और ईयसुन् में उदाहरण यथा—

पृथु (विशाल, चौड़ा)—प्रथु + इष्ठन् = प्रथिष्ठः । प्रथीयान् ।
 मृदु (कोमल)—मृदु + इष्ठन् = मृदिष्ठः । मृदीयान् ।
 भृश (अधिक)—भ्रश + इष्ठन् = भ्रशिष्ठः । भ्रशीयान् ।
 कृश (कमजोर)—ऋश + इष्ठन् = ऋशिष्ठः । ऋशीयान् ।
 दृढ (मजबूत)—द्रढ + इष्ठन् = द्रढिष्ठः । द्रढीयान् ।
 परिवृढ (प्रधान, स्वामी)—परिव्रढ + इष्ठन् = परिव्रढिष्ठः । परिव्रढीयान् ।

(६) तुरिष्ठेभ्यःसु (६.४.१५४) ॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिच् या ईयसुन् प्रत्ययों के परे रहते 'तृ' का लोप हो जाता है। यहां सम्पूर्ण 'तृ' का ही लोप होता है, केवल ऋकार का नहीं, वह तो टेः (११५७) द्वारा सिद्ध था ही। उदाहरण यथा—

कर्त् (करने वाला)—कर् + इष्ठ = करिष्ठः । करीयान् ।
 विजेत् (जीतने वाला)—विजे + इष्ठ = विजयिष्ठः । विजयीयान् ।
 स्तोतृ (स्तोता)—स्तो + इष्ठ = स्तविष्ठः । स्तवीयान् ।^२

विद्यार्थियों के सुखबोध के लिये यहां आतिशायनिक (तुलनार्थक) प्रत्ययों की एक तालिका दे रहे हैं। तरप्-त्तमप् प्रत्ययान्त रूप सरल होते हैं अतः उन का यहां संग्रह नहीं किया गया। ईयसुन् और इष्ठन्प्रत्ययान्तों की ही तालिका यहां दी जा रही है—

१. वृन्दारकः सुरे पुंसि मनोऽभेष्टयोस्त्रिषु इति मेदिनी ।

२. 'तृ' का लोप हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षण के कारण धातु को गुण हो जाता है ।

शब्द Positive	दो में उत्कृष्ट Comparative	सब में उत्कृष्ट Superlative
१. पटु (चतुर)	पटीयान्	पटिष्ठः
२. लघु (छोटा)	लघीयान्	लघिष्ठः
३. प्रशस्य (प्रशंसनीय)	श्रेयान्, ज्यायान्	श्रेष्ठः, ज्येष्ठः
४. महत् (बड़ा)	महीयान्	महिष्ठः
५. बहु (बहुत)	भूयान्	भूयिष्ठः
६. स्रग्विन् (मालावाला)	स्रजीयान्	स्रजिष्ठः
७. त्वग्वत् (छालवाला)	त्वचीयान्	त्वचिष्ठः
८. स्थूल (मोटा)	स्थवीयान्	स्थविष्ठः
९. दूर (दूर)	दवीयान्	दविष्ठः
१०. युवन् (जवान)	कनीयान्, यवीयान्	कनिष्ठः, यविष्ठः
११. ह्रस्व (छोटा)	ह्रसीयान्	ह्रसिष्ठः
१२. क्षिप्र (शीघ्र)	क्षेपीयान्	क्षेपिष्ठः
१३. क्षुद्र (तुच्छ)	क्षोदीयान्	क्षोदिष्ठः
१४. अल्प (थोड़ा)	कनीयान्, अल्पीयान्	कनिष्ठः, अल्पिष्ठः
१५. अन्तिक (समीप)	नेदीयान्	नेदिष्ठः
१६. बाढ (दृढ़, अच्छा)	साधीयान्	साधिष्ठः
१७. प्रिय (प्यारा)	प्रेयान्	प्रेष्ठः
१८. स्थिर (स्थिर)	स्थेयान्	स्थेष्ठः
१९. स्फिर (बहुत)	स्फेयान्	स्फेष्ठः
२०. उरु (विशाल)	वरीयान्	वरिष्ठः
२१. बहुल (बहुत)	बंहीयान्	बंहिष्ठः
२२. गुरु (बड़ा)	गरीयान्	गरिष्ठः
२३. वृद्ध (आयु में बड़ा)	ज्यायान्, वर्षीयान्	ज्येष्ठः, वर्षिष्ठः
२४. तृप् (सन्तुष्ट)	त्रपीयान्	त्रपिष्ठः
२५. दीर्घ (लम्बा)	द्राधीयान्	द्राधिष्ठः
२६. वृन्दारक (सुन्दर)	वृन्दीयान्	वृन्दिष्ठः
२७. पृथु (विशाल, चौड़ा)	प्रथीयान्	प्रथिष्ठः
२८. मृदु (कोमल)	अदीयान्	अदिष्ठः
२९. भृश (अधिक)	भ्रशीयान्	भ्रशिष्ठः
३०. कृश (पतला, कमजोर)	ऋशीयान्	ऋशिष्ठः
३१. दृढ (मजबूत)	द्रढीयान्	द्रढिष्ठः
३२. परिवृढ (स्वामी, प्रधान)	परिव्रढीयान्	परिव्रढिष्ठः
३३. तनु (पतला)	तनीयान्	तनिष्ठः
३४. साधु (ठीक, युक्त)	साधीयान्	साधिष्ठः
३५. कर्तृ (करने वाला)	करीयान्	करिष्ठः
३६. अणु (अणु)	अणीयान्	अणिष्ठः

तुलनार्थकों के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

- (१) जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।^१
- (२) बलीयसा हीनबलो विरोधं
न भूतिकामो मनसापि बाञ्छेत् ।^२ (पञ्चतन्त्र ३.१२६)
- (३) नैगुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम् ।^३
शास्त्रिनोऽप्ये विराजन्ते लण्डयन्ते चन्दनद्रुमाः ॥ (भामिनी० १.८८)
- (४) त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तपः ।
ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः ॥^४ (किरात० ११.१०)
- (५) मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः ।
द्राघीयसा वयोऽतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना ॥^५ (किरात० ११.२)
- (६) कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे ।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥^६ (रघु० १२.३४)
- (७) विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ॥^७ (भामिनी० १.६८)
- (८) यावदर्थपवां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥^८ (माघ० २.१३)
- (९) अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत् ।^९
- (१०) यच्छ्रेयः स्यान्नश्चित्तं ब्रूहि तन्मे ।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वाम्प्रपन्नम् ॥^{१०} (गीता २.७)

१. गरीयसी = गुरुतरा । ईयसुनि गुरुशब्दस्य गर् इत्यादेशः (प्रियस्थिर०) ।
२. बलीयसा = बलवत्तरेण । विन्मतोर्लुक् (१२२६) इति मतोर्लुक् ।
३. साधीयः = साधुतरम् । ईयसुनि टेः (११५७) इति टेलोपः ।
४. वर्षीयान् = वृद्धतरः । ईयसुनि वृद्धशब्दस्य वर्ष इत्यादेशः ।
५. द्राघीयसा = दीर्घतरेण अध्वना परिक्लान्तः । ईयसुनि दीर्घशब्दस्य द्राघ् इत्यादेशः ।
६. शूर्पणखां प्रति रामस्योक्तिरियम् । कनीयांसम् = युवतरं लक्ष्मणम् ।
युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् (५.३.६४) इति युवशब्दस्य कन् इत्यादेशः ।
७. दवीयः = दूरतरम् । ईयसुनि दूरशब्दस्य यणादिपरभागस्य लोपे पूर्वस्य उकारस्य गुणे च कृतेऽवादेशः । [विद्वानों के सब कार्य वाणी से दूर अर्थात् अनिर्वचनीय होते हैं ।]
८. महीयांसः = महत्तराः । ईयसुनि महच्छब्दस्य टेलोपः ।
९. पापीयान् = पापतरः, दुष्टतरः । ईयसुनि टेलोपः ।
१०. श्रेयः = प्रशस्यतरम् । ईयसुनि प्रशस्यस्य श्रः (१२२३) इति श्रादेशः ।

- (११) कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।^१ (गीता ३.८)
- (१२) निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति । (शतपथब्राह्मणे)^२
(स्वीकार किया गया पाप कम हो जाता है ।)
- (१३) बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्यां नगापगा ॥^३ (माघ० २.१००)
- (१४) यतिर्वशिष्ठो यमिनां वरिष्ठः ।^४ (भट्टि० १.१५)
- (१५) अणोरणीयान् महतो महीयान् ।^५
आत्मास्य जन्तोर्निहितं गुहायाम् । (केन उपनिषद्)
- (१६) अश्वः पशूनाम् आशिष्ठः ।^६ (शतपथब्राह्मणे)
- (१७) वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता ।^७ (ऐतरेयब्राह्मणे)
- (१८) इयं हि—अभिरूपभूयिष्ठा परिषत् ।^८ (शाकुन्तलप्रस्तावना)
- (१९) तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गम्यते ।^९ (माघ० २.५१)
- (२०) पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः ।^{१०} (परिभाषा)
- विशेष वक्तव्य— प्रकर्षप्रत्ययान्त से पुनः दूसरा प्रकर्षप्रत्यय नहीं होता—ऐसा

१. ज्यायः = प्रशस्यतरम् । ईयसुंनि ज्य च (१२२५) इति प्रशस्यस्य ज्यादेशः ।
ज्यादावीयसः (१२२६) इति आकारादेशः ।
२. कनीयः = अल्पतरम् । ईयसुंनि युत्राल्पयोः कनन्यतरस्याम् (५.३.६४) इति अल्प-
शब्दस्य कनादेशः ।
३. क्षोदीयान् = क्षुद्रतरः । ईयसुंनि क्षुद्रशब्दस्य यणादिपरभागे लुप्ते पूर्वस्य च गुणे
रूपसिद्धिः ।
४. वरिष्ठः = उरुतमः = महत्तमः । इष्ठनि महत्पर्यायस्य उरुशब्दस्य वर् इत्यादेशः ।
५. अणीयान् = अणुतरः, सूक्ष्म इति भावः । महीयान् = महत्तरः । उभयत्र ईयसुंनि
टेलोपः ।
६. आशिष्ठः = आशुतमः = शीघ्रतमः । इष्ठनि टेलोपः (११५७) ।
७. क्षेपिष्ठा = क्षिप्रतमा । इष्ठनि क्षिप्रशब्दस्य यणादिपरभागे लुप्ते पूर्वस्य इकारस्य
च गुणे स्त्रियां टापि रूपं सिध्यति ।
८. अभिरूपाः = विद्वांसो भूयिष्ठाः = बहुतमा यस्यां सा तथोक्ता, विद्वद्बहुलेति भावः ।
बहुशब्दाद् इष्ठनि तस्यादेरिकारस्य लोपे यिडागमे बहोश्च भू इत्यादेशे च कृते
भूयिष्ठशब्दः सिध्यति (१२२८) ।
९. दवीयान् = दूरतरः । सिद्धि रक्तपूर्वा ।
१०. बलीयः = बलवत्तरम् । विन्मतोर्लुक् (१२२९) ।

अनेक वैयाकरणों का मन्तव्य है।^१ परन्तु काशिकाकार का मत है कि जब प्रकर्षवानों में भी पुनः प्रकर्ष की विवक्षा हो तो आतिशयनिकप्रत्ययान्तों से भी दूसरा प्रकर्ष-प्रत्यय आ सकता है। यथा—**देवो वः सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे** (यजुः० १.१); **युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्** (अनुपलब्धमूलम्)। यहां 'श्रेष्ठ' इस आतिशयनिकप्रत्ययान्त से दूसरा आतिशयनिक तमप् प्रत्यय किया गया है।^१ परन्तु निषेध मानने वालों का कथन है कि प्रथम उदाहरण वैदिक है। इस में अतिशयनिकप्रत्ययान्त 'श्रेष्ठ' शब्द से स्वार्थ में तमप् प्रत्यय आया है। दूसरे लौकिक उदाहरण को वे लोग असाधु मानते हैं।

अब ईषदसमाप्ति (कुछ न्यूनत्व) अर्थ में वर्त्तमान सुंबन्त और तिङन्त दोनों से कल्पप् आदि प्रत्ययों का विधान करते हैं।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३०)

ईषदसमाप्तौ कल्पद्देश्यदेशीयरः । ५।३।६७।।

(ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् सुंबन्तात्तिङन्ताच्च कल्पद्देश्य-देशीयरः प्रत्ययाः स्युः)। ईषदूनो विद्वान् विद्वत्कल्पः। विद्वद्देशीयः। पचतिकल्पम् ॥

अर्थः—कुछन्यूनताविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान सुंबन्त या तिङन्त से स्वार्थ में कल्पप्, देश्य और देशीयर् ये तद्धित प्रत्यय हों।

व्याख्या—ईषदसमाप्तौ । ७।१। कल्पद्देश्यदेशीयरः । १।३। तिङः । ५।१। (तिङश्च सूत्र से)। प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। न समाप्तिः—असमाप्तिः, नञ्त्तत्पुरुषः। ईषच्चासावसमाप्तिः—ईषदसमाप्तिः, तस्याम् = ईषदसमाप्तौ, कर्मधारयसमासः। पदार्थों की पूर्णता को समाप्ति कहा जाता है उस में कुछ कमी या न्यूनता रह गई हो तो उसे ईषदसमाप्ति कहेंगे। कल्पप् च देश्यश्च देशीयर् च कल्पद्देश्य-देशीयरः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(ईषदसमाप्तौ) कुछन्यूनताविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान (प्रातिपदिकात् = सुंबन्तात्) सुंबन्त और (तिङः = तिङन्तात्) तिङन्त से स्वार्थ में (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (कल्पद्देश्यदेशीयरः) कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय हो जाते हैं।

कल्पप्प्रत्यय का अन्त्य पकार तथा देशीयर्प्रत्यय का अन्त्य रेफ इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं। ये स्वरार्थ जोड़े गये हैं।

सुंबन्त से उदाहरण यथा—

१. आतिशयनिकप्रत्ययान्ताद् आतिशयनिको न, अनभिधानात्। 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इत्यादिकं तु छान्दसत्वात् स्वार्थे साधु। (लघुशब्देन्दुशेखरे)
२. यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशयिकान्तादपर आतिशयनिकः प्रत्ययो भवत्येव। देवो वः सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणामिति। (काशिका ५.३.५५)

ईषदूनो विद्वान्—विद्वत्कल्पः, विद्वद्देश्यः, विद्वद्देशीयो वा (कुछ कम विद्वान्, लगभग विद्वान्, विद्वान् के सदृश, विद्वत्तुल्य आदि) । यहाँ ईषद्-असमाप्तिविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'विद्वस् + सुं' इस सुबन्त से प्रकृत ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः (१२३०) सूत्रद्वारा स्वार्थ में कल्पप्, देश्य और देशीयर् ये तद्धित प्रत्यय हो जाते हैं । अब तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंपु (सुं) का लुक्, पदत्वात् वसुं-असुं-ध्वंस्वनद्धुहां वः (२६२) से सकार को दकार तथा खरि च (७४) से चर्त्वं कर विभक्ति लाने से 'विद्वत्कल्पः, विद्वद्देश्यः, विद्वद्देशीयः, ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं । अन्तिम दो में खर् परे न होने के कारण चर्त्वं नहीं होता ।'

तिङ्न्त से उदाहरण यथा—

ईषदूनं पचति—पचतिकल्पम् पचतिदेश्यं पचतिदेशीयं वा (कुछ न्यून पाकक्रिया करता है, कुछ कम पकाता है) । यहाँ 'पचति' यह तिङ्न्त ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में वर्तमान है अतः ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः (१२३०) इस प्रकृतसूत्रद्वारा कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय हो कर लोकानुसार नपुंसकलिङ्ग के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से पचतिकल्पम्, पचतिदेश्यम् तथा पचतिदेशीयम् ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

इसी प्रकार—पञ्चवर्षकल्पः, पञ्चवर्षदेश्यः, पञ्चवर्षदेशीयो वा (जो पाञ्च वर्ष से कुछ कम वयः का है, पूरे पाञ्च वर्ष का नहीं, लगभग पाञ्च वर्षों वाला) । पञ्च वर्षाणि^२ भूतः—यहाँ 'भूतः' (हो चुका) इस तद्धितार्थ की विवक्षा में 'पञ्चन् शस् + वर्षं शस्' में तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (६३६) से द्विगुसमास हो कर विभक्तियों का लुक् तथा पदान्त नकार का भी लोप कर देने से 'पञ्चवर्ष' बना । अब इस से तमघीष्टो भूतो भूतो भावी (५.१.७६)^३ सूत्रद्वारा 'भूतः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय ला

१. स्वार्षिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते (स्वार्षिकप्रत्ययान्त शब्द अपनी प्रकृति के लिङ्ग और वचनों का अनुसरण किया करते हैं) इस वचन के अनुसार 'विद्वत्कल्पः' आदि में प्रकृति (विद्वस्) के समान लिङ्ग और वचन हो जाते हैं । परन्तु कहीं कहीं इस नियम का उल्लङ्घन भी देखा जाता है । यथा—गुडकल्पा द्राक्षा, शर्कराकल्पो गुडः, तैलकल्पा प्रसन्ना (सुरा) । इन में प्रकृति का लिङ्ग न हो कर अभिधेयवत् लिङ्ग हुआ है । अत एव कहा भी है—वचञ्चित् स्वार्षिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्ते ।

२. यहाँ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (२.३.५) सूत्र से द्वितीयाविभक्ति का प्रयोग हुआ है ।

३. तमघीष्टो भूतो भूतो भावी (५.१.७६) । अर्थः—द्वितीयान्त कालवाची प्रातिपदिक से अधीष्ट (सत्कारपूर्वक प्रेरित), भूत (वेतन से खरीदा हुआ), भूत (हो चुका हुआ), भावी (होने वाला)—इन चार अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो जाता है । यथा—मासमघीष्टः—मासिकोऽप्यापकः । मासं भूतः—मासिकः कर्मकरः । मासं भूतः—मासिको व्याधिः । मासं भावी—मासिक उत्सवः । इन उदाहरणों में कालवाचक मासशब्द से कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (२.३.५) द्वारा द्वितीया विभक्ति हुई है ।

कर उस का चित्तवति नित्यम् (५.१.८८)¹ से लुक् हो जाता है—पञ्चवर्षः (पूरे पाञ्च वर्ष की वयः वाला) । अब ईषदूनः पञ्चवर्षः—पञ्चवर्षकल्पः, पञ्चवर्षदेश्यः इत्यादि प्रकृत सूत्रद्वारा सिद्ध हो जाते हैं । देवदत्तः पञ्चवर्षकल्पो न तु पञ्चवर्षः, देवदत्त लगभग पाञ्च वर्ष का है पूरे पाञ्च वर्ष का नहीं ।

कल्पप् आदि प्रत्ययों के कुछ साहित्यगत प्रयोग यथा—

[क] स पुष्यकीर्तिः शतमन्युकल्पो महेन्द्रलोकप्रतिमां समुद्रधा ।

अध्यास्त सर्वर्तुसुखामयोध्यामध्यासितां ब्रह्मभिरिन्द्रबोधिः ॥

(भट्टि० १.५)

[ख] तं राजवीध्यामधिहस्ति यान्तमाघोरणालम्बितमग्रपवेशम् ।

वद्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात् प्रक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥

(रघु० १८.३६)

[ग] ऐक्षेतामाश्रमादाराद् गिरिकल्पं पतत्रिणम् ।

तं सीताघातिनं मत्वा हन्तुं रामोऽभ्यधावत् ॥

(भट्टि० ६.४१)

[घ] वनानि तोयानि च नेत्रकल्पैः पुष्पैस्सरोजैश्च विलीनभृङ्गैः ।

परस्परं विस्मयवन्तिलक्ष्मीमालोकयाञ्चक्रुरिवादरेण ॥

(भट्टि० २.५)

[ङ] शरीरसादावसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोभ्रपाण्डुना ।

तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शबरी ॥

(रघु० ३.२)

अब इसी अर्थ में सुबन्त प्रकृति से पूर्व बहुच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३१)

विभाषा सुंपो बहुच् पुरस्तात् ॥५॥३॥६८॥

ईषदसमाप्तविशिष्टेऽर्थे सुंबन्ताद् बहुज्वा स्यात्, स च प्रागेव न तु परतः । ईषदूनः पटुः—बहुपटुः । पटुकल्पः । सुंपः किम् ? यजतिकल्पम् ॥

अर्थः—कुछ न्यूनताविशिष्ट अर्थ में वर्तमान सुंबन्त से विकल्प कर के बहुच् तद्धितप्रत्यय हो, परन्तु वह प्रत्यय प्रकृति से परे न हो कर उस से पूर्व में ही हो ।

व्याख्या—विभाषा ॥१॥ सुंपः ॥५॥११११ बहुच् ॥१॥ पुरस्तात् इत्यव्ययपदम् ।

१. चित्तवति नित्यम् (५.१.८८) । अर्थः—वर्षशब्दान्त द्विगु से अधीष्ट आदि अर्थों में हुए तद्धितप्रत्यय का नित्य लुक् हो, यदि चेतन अभिधेय हो तो ।

२. हरदत्त, दीक्षित, नागेशभट्ट आदि अनेक प्रमुख वैयाकरण 'सुंपः' को पञ्चम्यन्त न मान कर षष्ठ्यन्त ही मानते हैं । उनके अनुसार 'पुरस्तात्' के योग में षष्ठ्यन्त-सर्वप्रत्ययेन (२.३.३०) सूत्रद्वारा इस में षष्ठी हुई है । विस्तार के लिये इस स्थल पर तत्त्वबोधिनी आदि का अवलोकन करें ।

तु इत्यप्यव्ययपदम् । ईषदसमाप्तौ ।७।१। (ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः सूत्र से) । प्रत्ययः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अङ्कित हैं । अर्थः—(ईषदसमाप्तौ) कुछ न्यूनत्वविशिष्ट अर्थ में वर्तमान (सुं) सुबन्त से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (बहुच् बहुच् प्रत्यय (विभाषा) विकल्प से हो जाता है, परन्तु यह प्रत्यय (पुरस्तात्) सुबन्त से पूर्व (तु) ही प्रयुक्त होता है ।

अष्टाध्यायी में समस्त प्रत्यय प्रत्ययः (३.१.१), परश्च (३.१.२) अधिकारों के कारण प्रकृति से परे ही विधान किये जाते हैं, परन्तु प्रकृत बहुच् प्रत्यय ही अकेला एक ऐसा प्रत्यय है जो प्रकृति से पहले जोड़ा जाता है ।

बहुच्प्रत्यय का अन्त्य चकार ह्रस्वन्त्यम् (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'बहु' मात्र अवशिष्ट रहता है । चकार अनुबन्ध अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है ।

उदाहरण यथा—

ईषदूनः पटुः—बहुपटुः (कुछ कम चतुर, चतुरसदृश) । यहां ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'पटु सुं' इस सुबन्त से विभाषा सुंपो बहुच् पुरस्तात् (१२३१) इस प्रकृत सूत्र से विकल्प कर बहुच् प्रत्यय प्रकृति से पूर्व में रखने पर—बहु पटु सुं । अब अर्थबद्धधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (११६) से समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) द्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुं (सुं) का लुक् करने से—बहुपटु । अब प्रातिपदिकत्वात् विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'बहुपटुः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस पक्ष में बहुच् प्रत्यय नहीं होता वहां ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः (१२३०) इस पूर्वसूत्र से कल्पप् आदि प्रत्यय हो कर 'पटुकल्पः, पटुदेश्यः, पटुदेशीयः' ये प्रयोग भी उपपन्न हो जाते हैं ।^१

१. ध्यान रहे कि तद्धितसञ्ज्ञक बहुच् प्रत्यय प्रकृति के आदि में किया जाता है, इस से 'बहुपटु सुं' यह तद्धितान्त नहीं होता । तद्धितान्त न होने से कृत्तद्धितसमासाश्च (११७) द्वारा इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो नहीं सकती । इसलिये अर्थबद्धधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (११६) सूत्र से ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की जा रही है । इस सूत्र में भी यद्यपि प्रत्ययान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का निषेध कहा गया है तथापि यहां अन्त में स्थित सुंप्रत्यय पटु से विधान किया गया है बहुपटु से नहीं, इस तरह वह प्रत्यय समुदाय का नहीं माना जा सकता । अतः प्रत्ययान्त न होने से इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा निर्बाध हो जाती है । विशेष जिज्ञासु यहां पर बालमनोरमाटीका का अवलोकन करें ।

२. ऋषित् स्वार्थिकः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते । (प०)—स्वार्थिक प्रत्यय यद्यपि कहीं कहीं प्रकृति के लिङ्गवचनों का अतिक्रमण भी कर लिया करते हैं तथापि यह बात बहुच्प्रत्यय से जुड़े शब्दों पर लागू नहीं होती । बहुच् करने पर प्रकृति के लिङ्गवचनों का ही सदा अनुसरण करना चाहिये ऐसा भाष्यकार का मन्तव्य है । अत एव कहा भी है—

स्थायीषदसमाप्तौ तु बहुच् प्रकृतिलिङ्गता ।

इस सूत्र में 'सुंप्:' इसलिये कहा है कि यह प्रत्यय तिङन्त से न हो कर केवल सुंबन्त से ही हो। यद्यपि ङ्घाप्प्रातिपदिकात् (११६) अधिकार के कारण यह प्रत्यय स्वतः ही सुंबन्त से सिद्ध था तथापि पीछे से 'तिङः' का अनुवर्तन चले आने और आगे भी चले जाने से कहीं यह भी तिङन्त से न हो जाये इसलिए सूत्र में 'सुंप्:' का पुनः ग्रहण किया गया है। अतः यह प्रत्यय 'यजति' आदि तिङन्तों से कभी नहीं होता, वहाँ तिङश्च (१२१६) सूत्र से कल्पप् आदि तीन प्रत्यय ही होते हैं—यजतिकल्पम्, यजति-देश्यम्, यजतिदेशीयम्।

बहुच्प्रत्यय के कुछ साहित्यगत प्रयोग यथा—

(१) स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायाबुपेयुषि ।

निदर्शनमसाराणां लघुबंधुतुणं नरः ॥ (माघ० २.५०)

(२) कीर्णा रेणे साञ्जिभूमिस्समन्तादप्राणद्भिः प्राणभाजां प्रतीकैः ।

बह्वारम्भैरर्भसंयोजितैर्वा रूपैः स्रष्टुः सृष्टिकर्मन्तिशाला ॥

(माघ० १८.७६)

अब 'क' प्रत्यय का अधिकार चलाते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(१२३२) प्रागिवात् कः ।५।३।७०॥

इवे प्रतिकृतौ (५.३.६६) इत्यतः प्राक् काधिकारः ॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में इस सूत्र से ले कर इवे प्रतिकृतौ (५.३.६६) सूत्र से पूर्व 'क' प्रत्यय अधिकृत किया जाता है।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम्। इवात् ।५।१। कः ।१।१। प्रत्ययः, परश्च, ङ्घाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'इवात्' से यहाँ इवे प्रतिकृतौ (१२३८) सूत्र की ओर संकेत किया गया है। अर्थः—यहाँ से ले कर (इवात्) इवे प्रतिकृतौ सूत्र से (प्राक्) पहले (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (कः) 'क' प्रत्यय अधिकृत किया जाता है।

यह अधिकारसूत्र है। यहाँ से ले कर अष्टाध्यायी में आगे आने वाले इवे प्रतिकृतौ (५.३.६६) सूत्र से पूर्व तक जो जो सूत्र कहे जायेंगे उन में 'क' प्रत्यय का विधान समझा जायेगा। यथा—अज्ञाते (१२३४), अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से 'क' प्रत्यय हो। अज्ञातोऽश्वः—अश्वकः, गर्दभकः, उष्ट्रकः। इसीप्रकार अन्य सूत्रों में भी 'क' प्रत्यय का अधिकार समझा जायेगा।

अब इस काधिकार के अपवाद एक अन्य अधिकार का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(१२३३)

अव्ययसर्वनाम्नामकैच् प्राक्टेः ।५।३।७१॥

कापवादः। तिङ्श्चेत्यनुवर्तते ॥

अर्थः—यहाँ से ले कर इवे प्रतिकृतौ (५.३.६६) से पूर्व के सूत्रों में अव्ययों, सर्वनामों तथा तिङन्तों की टि से पूर्व तद्धितसञ्ज्ञक अकैच् प्रत्यय हो (क प्रत्यय नहीं)।

यह सूत्र पूर्वोक्त 'क' प्रत्यय का अपवाद है। यहां तिङ्शब्द सूत्र का भी पीछे से अनुवर्त्तन होता है।

व्याख्या—अव्ययसर्वनाम्नाम् ।६।३। अकञ् ।१।१। प्राक् इत्यव्ययपदम् । टेः ।५।१। प्रागिवात्कः से 'प्रागिवात्' का तथा तिङ्शब्द (१२१६) इस पूरे सूत्र का पीछे से अनुवर्त्तन होता है। प्रत्ययः, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अव्ययानि च सर्वनामानि च अव्ययसर्वनामानि, तेषाम् = अव्ययसर्वनाम्नाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः— (प्राग् इवात्) यहां से ले कर इवे प्रतिकृतौ सूत्र से पूर्व के सूत्रों में (अव्ययसर्वनाम्नाम्) अव्ययों, सर्वनामों तथा (तिङः = तिङन्तानां च) तिङन्त शब्दों की (टेः) टि^१ से (प्राक्) पूर्व (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अकञ्) अकञ् प्रत्यय हो जाता है।

पूर्वोक्त अधिकार (१२३२) के द्वारा इवे प्रतिकृतौ (५.३.६६) सूत्र से पूर्व 'क' प्रत्यय अधिकृत किया गया था उस का यह अकञ् प्रत्यय अपवाद है। क और अकञ् प्रत्ययों में स्वरूप का तो अन्तर है ही परन्तु इस के अतिरिक्त दोनों में अन्य भी दो बड़े अन्तर हैं। तथाहि—

(१) 'क' प्रत्यय प्रकृति से परे होता है परन्तु अकञ् प्रत्यय अव्यय आदि की टि से पूर्व।

(२) 'क' प्रत्यय तिङन्तों से नहीं होता किन्तु अकञ् प्रत्यय तिङन्तों से भी हो जाता है।

अकञ् प्रत्यय में अन्त्य चकार तथा उस से पूर्व वाला अकार इत्सञ्ज्ञक है, अतः इन का लोप हो कर 'अक्' मात्र शेष रहता है। चकार अनुबन्ध चितः (६.१.१५७) सूत्रद्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये तथा अकार उच्चारणार्थ जोड़ा गया है।

इस सूत्र में 'सुंपे' और 'प्रातिपदिकात्' दोनों का अनुवर्त्तन होता है।^१ अतः यह प्रत्यय प्रयोगानुसार कहीं तो सुंबन्त की टि से पूर्व और कहीं प्रातिपदिक की टि से पूर्व होता है। युष्मद् और अस्मद् शब्दों को छोड़ सर्वत्र यह प्रातिपदिक की टि से पूर्व ही होता है। युष्मद्-अस्मद् शब्दों में यह उभयविध देखा जाता है। इस की व्यवस्था अग्रिमसूत्रस्थ वार्त्तिक (वा० ६४) द्वारा करेंगे।

उदाहरणप्रदर्शन से पूर्व अब इस प्रकरण में अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३४) अज्ञाते ।५।३।७३।।

(अज्ञातविशिष्टार्थात् प्रातिपदिकात् तथैव च तिङन्तात् स्वार्थं यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्)। कस्यायमश्वोऽश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वकैः॥

१. अचोऽन्त्यादि टि (३६)। किसी शब्द के अन्त्य अच् से ले कर अग्रिम सारा भाग 'टि' कहाता है। यथा—युष्मद्, अस्मद् शब्दों में 'अद्' टि है; पचिति में 'इ' मात्र टि है, इसी प्रकार सर्व में 'अ' टि है।

२. 'सुंपे' का अनुवर्त्तन विभाषा सुंपो बह्वृच् पुरस्तात् (१२३१) सूत्र से होता है और 'प्रातिपदिकात्' तो ङ्याप्प्रातिपदिकात् (११६) द्वारा अधिकृत है ही।

अर्थः—अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से अथवा तिङन्त से यथाप्राप्त (क और अकञ्) प्रत्यय हों ।

व्याख्या—अज्ञाते ।७।१। कः ।१।१। अकञ् ।१।१। (दोनों पूर्वसूत्रों से अधिकृत हैं) । तिङश्च (१२१६) सूत्र से 'तिङः' का अनुवर्त्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, ङ्घ्याप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(अज्ञाते) अज्ञातत्व-विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिकों एवं तिङन्तों से यथाविहित (कः, अकञ्) 'क' अथवा 'अकञ्' ये (तद्धितौ) तद्धित प्रत्यय हो जाते हैं । उदाहरण यथा—

कस्यायम्^१ अश्वः—अश्वकः (जिस का स्वामी विदित नहीं ऐसा घोड़ा) । यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'अश्व सुं' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से प्राग्वीयात् कः (१२३२) के अधिकार में अज्ञाते (१२३४) सूत्रद्वारा तद्धितसञ्ज्ञक 'क' प्रत्यय हो कर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से उस के अवयव सुंप् (सुं) का लुक् हो जाता है—अश्व + क = अश्वक । अब विभक्ति लाने से 'अश्वकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अज्ञातो गर्दभः—गर्दभकः । अज्ञात उष्ट्रः—उष्ट्रकः । इत्यादि ।

अव्ययों से अज्ञात अर्थ में अकञ् यथा—

अज्ञातमुच्चैः—उच्चकैः (अज्ञात ऊँचा) । 'उच्चैस्' शब्द स्वरादिगण में पाठ के कारण स्वरादिनिपातमव्ययम् (३६७) से अव्ययसञ्ज्ञक है । अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान इस से काधिकार के अपवाद अव्ययसर्वनाम्नामकञ् प्राक् टेः (१२३३) के अधिकार में अज्ञाते (१२३४) सूत्रद्वारा टि (ऐस्) से पूर्व अकञ् प्रत्यय हो जाता है—उच्च् + अकञ् + ऐस् = उच्च् + अक् + ऐस् = उच्चकैस् । अब इस से आगे लाये गये 'सुं' का अव्ययादाप्तुंयोः (३७२) से लुक् हो कर पदान्त सकार को रैत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश (६२) करने पर 'उच्चकैः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अज्ञातं नीचैः—नीचकैः । अज्ञातं शनैः—शनकैः । इत्यादि ।

सर्वनामों से अज्ञात अर्थ में अकञ् यथा—

अज्ञाताः सर्वे—सर्वके (अज्ञात सब) । यहां 'सर्व जस्' इस प्रथमान्त सर्वनाम से अज्ञाते (१२३४) के अर्थ में अव्ययसर्वनाम्नामकञ् प्राक् टेः (१२३३) सूत्रद्वारा टि (अ) से पूर्व अकञ् प्रत्यय हो कर अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (११६) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) द्वारा सुंप् (सुं) का लुक् हो जाता है—सर्व् + अकञ् + अ = सर्व् + अक् + अ = सर्वक । अब प्रथमा के बहुवचन में जस् प्रत्यय

१. अश्व की अज्ञातता को प्रकट करने के लिये 'कस्यायम्' शब्दावली का प्रयोग किया गया है । इस का वस्तुतः विग्रह 'अज्ञातोऽश्वः—अश्वकः' इस प्रकार करना चाहिये । स्वरूपेण ज्ञात पदार्थ में जब सम्बन्धविशेष आदि की अज्ञातता रहती है तब इस प्रत्यय का प्रयोग होता है । जैसाकि काणिकाकार ने कहा है—स्वेन रूपेण ज्ञाते पदार्थे विशेषरूपेणाज्ञाते प्रत्ययविधानमेतत् ।

ला कर उसे जसः शी (१५२) से शी सर्वादेश, शकार अनुबन्ध का लोप तथा आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश करने से 'सर्वके' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—विश्वके । उभकौ । इत्यादि ।

युष्मद् और अस्मद् सर्वनामों की टि से पूर्व अकँच् करना हो तो निम्नप्रकारेण व्यवस्था समझनी चाहिये ।

[लघु०] वा०—(६४) ओकार-सकार-भकारादौ सुंपि सर्वनाम्नष्टेः
प्रागकँच्, अन्यत्र सुंबन्तस्य ॥

युष्मकाभिः । युवकयोः । त्वयका ॥

अर्थः—ओकारादि, सकारादि और भकारादि सुंब्विभक्ति के परे रहते मूल सर्वनामशब्द की टि से पूर्व अकँच् प्रत्यय होता है परन्तु अन्य सुंब्विभक्तियों में सुंबन्त सर्वनाम की ही टि से पूर्व अकँच् होता है ।^१

व्याख्या—यह वार्तिक महाभाष्य के अनुसार ऊहित किया गया है, साक्षात् महाभाष्य में पढ़ा नहीं गया । यहां सर्वनाम से केवल युष्मद्-अस्मद् शब्दों का ही ग्रहण अभीष्ट है अन्य सर्वनामों का नहीं, कारण कि महाभाष्य में इन दोनों के ही यहां उदाहरण दिये गये हैं ।^२

ओकारादि सकारादि और भकारादि सुंब्विभक्तियां ओस्, सुप्, भ्याम्, भिस् और भ्यस् ही हैं । इन के परे रहते मूल युष्मद्-अस्मद् शब्द की टि से पूर्व अकँच् होगा । अन्य विभक्तियों के विषय में विभक्त्यन्त युष्मद्-अस्मद् की टि से पूर्व अकँच् किया जायेगा ।

भकारादि सुंब्विभक्ति में उदाहरण यथा —

अज्ञातर्युष्माभिः—युष्मकाभिः (अज्ञात तुम सब से) । यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्तमान युष्मद्शब्द से भिस् विभक्ति लाई गई है—युष्मद् + भिस् । अब यहां अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टेः (१२३३) से अकँच् प्रत्यय करना है । ओकार-सकार-भकारादौ सुंपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकँच् अन्यत्र सुंबन्तस्य (वा० ६४) इस प्रकृत वार्तिक से भकारादि विभक्ति के परे रहते शुद्ध सर्वनाम की टि से पूर्व अकँच् किया जायेगा—युष्म् अकँच् अद् + भिस् = युष्म् अक् अद् + भिस् = युष्मकद् + भिस् । पुनः युष्मदस्म-होरनादेशे (३२१) सूत्र से दकार को आकार तथा अकः सबर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—युष्मकाभिस् = 'युष्मकाभिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार 'अस्म-

१. इसे प्रक्रियासर्वस्व में इस तरह श्लोकबद्ध किया गया है—

साह्योवादिभकाराविसुप्सु स्यात् प्रकृतेरकच् ।

अन्यत्र तु सुबन्तस्येत्याहुर्भाजहरादयः ॥

२. इदं वाक्यं युष्मदस्मच्छब्दमात्रविषयम्, भाष्ये तथैवोदाहरणात् । अन्येषां तु सर्वनाम्नां प्रातिपदिकटोरेव प्राग् अकँच् इति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः

काभिः' की सिद्धि जाननी चाहिये ।^१

ओकारादि सुंन्विभक्ति में उदाहरण यथा—

अज्ञातयोर्युवयोः—युवकयोः (अज्ञात तुम दो का या अज्ञात तुम दो में) । यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्तमान युष्मद् शब्द से षष्ठी या सप्तमी का द्विवचन 'ओस्' प्रत्यय लाया गया है—युष्मद् + ओस् । अब अव्ययसर्वनाम्नामकौच् प्राक् टेः (१२३३) से अकौच् प्रत्यय करना है । ओकार-सकार-भकारादौ सुंपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकौच्, अन्यत्र सुंबन्तस्य (वा० ६४) इस वार्तिक से ओकारादि सुंपि विभक्ति के परे रहते शुद्ध सर्वनाम की टि से पूर्व अकौच् किया जायेगा—युष्म् अकौच् अद् + ओस् । = युष्म् अक् अद् + ओस् = युष्मकद् + ओस् । पुनः युवावौ द्विवचने (३१४) से मग्यन्त भाग को 'युव' आदेश, अतो गुणे (२७४) से पररूप तथा योऽचि (३२०) द्वारा दकार को यकार आदेश हो कर—युवक्य् + ओस् = 'युवकयोः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी-प्रकार—अज्ञातयोरावयोः—'आवकयोः' की सिद्धि समझनी चाहिये ।^२

सकारादि सुंन्विभक्ति में उदाहरण यथा —

अज्ञातेषु युष्मासु—युष्मकासु (अज्ञात तुम सब में) । यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्तमान युष्मद् शब्द से सप्तमी का बहुवचन सुप्प्रत्यय लाया गया है—युष्मद् + सुप् = युष्मद् + सु । अब अव्ययसर्वनाम्नामकौच् प्राक्टेः (१२३३) से अकौच् प्रत्यय करना है । ओकारसकारभकारादौ० (वा० ६४) इस वार्तिक से सकारादि सुप् प्रत्यय के परे रहते शुद्ध सर्वनाम की टि (अद्) से पूर्व अकौच् किया जायेगा—युष्म् अकौच् अद् + सु = युष्म् अक् अद् + सु = युष्मकद् + सु । पुनः युष्मदस्मदोरनादेशे (३२१) से दकार को आकार कर सवर्णदीर्घ (४२) करने से 'युष्मकासु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—अज्ञातेष्वस्मासु—'अस्मकासु' की सिद्धि समझनी चाहिये ।^३

उपर्युक्त सुंन्विभक्तियों से भिन्न अन्य सुंन्विभक्तियों में सुंबन्त युष्मद्-अस्मद् की टि से पूर्व ही अकौच् होगा । यथा—अज्ञातेन त्वया—त्वयका, अज्ञातेन मया—मयका । यहां 'त्वया, मया' इन सुंबन्तों की टि (आ) से पूर्व अकौच् हो गया है—त्वय् अकौच् आ = त्वय् अक् आ = त्वयका । मय् अकौच् आ = मय् अक् आ = मयका ।

अब यहां विद्याधियों के सुखबोधार्थ अकौच्प्रत्यययुक्त युष्मद्-अस्मद् शब्दों की समग्र रूपमाला कोष्ठकों में दी जा रही है—

१. ध्यान रहे कि यदि सुंबन्त की टि से पूर्व अकौच् किया जाता तो 'युष्माभक्तिः, अस्माभक्तिः' ऐसे अनिष्ट रूप बनते । अतः इन से बचने के लिये उपर्युक्त वार्तिक की रचना की गई है ।
२. यदि यहां सुंबन्त की टि से पूर्व अकौच् किया जाता तो 'युवयोः, आवयोः' ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते । अतः इन से बचने के लिये वार्तिक बनाया गया है ।
३. यदि यहां सुंबन्त युष्मद्-अस्मद् की टि से पूर्व अकौच् किया जाता तो 'युष्मासकु, अस्मासकु' ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते । अतः इन से बचने के लिये वार्तिक बनाया गया है ।

युष्मद्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	त्वम् (त्वकम्)	युवाम् (युवकाम्)	यूयम् (यूयकम्)
द्वि०	त्वाम् (त्वकाम्)	युत्राम् (युवकाम्)	युष्मान् (युष्मकान्)
तृ०	त्वया (त्वयका)	युवाभ्याम् (युवकाभ्याम्)†	युष्माभिः (युष्मकाभिः)†
च०	तुभ्यम् (तुभ्यकम्)	युवाभ्याम् (युवकाभ्याम्)†	युष्मभ्यम् (युष्मकभ्यम्)†
प०	त्वत् (त्वकत्)	युवाभ्याम् (युवकाभ्याम्)†	युष्मत् (युष्मकत्)
ष०	तव (तवक)	युवयोः (युवकयोः)†	युष्माकम् (युष्माककम्)
स०	त्वयि (त्वयकि)	युवयोः (युवकयोः)†	युष्मासु (युष्माकासु)†

अस्मद्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	अहम् (अहकम्)	आवाम् (आवकाम्)	वयम् (वयकम्)
द्वि०	माम् (मकाम्)	आवाम् (आवकाम्)	अस्मान् (अस्मकान्)
तृ०	मया (मयका)	आवाभ्याम् (आवकाभ्याम्)†	अस्माभिः (अस्मकाभिः)†
च०	मह्यम् (मह्यकम्)	आवाभ्याम् (आवकाभ्याम्)†	अस्मभ्यम् (अस्मकभ्यम्)†
प०	मत् (मकत्)	आवाभ्याम् (आवकाभ्याम्)†	अस्मत् (अस्मकत्)
ष०	मम (ममक)	आवयोः (आवकयोः)†	अस्माकम् (अस्माककम्)
स०	मयि (मयकि)	आवयोः (आवकयोः)†	अस्मासु (अस्माकासु)†

†यहां प्रातिपदिक की टि से पूर्व अकँच् होता है, अन्यत्र संबन्त की टि से पूर्व ।

अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टेः (१२३३) सूत्र में 'तिङ्' की भी अनुवृत्ति आती है, अतः अज्ञात आदि अर्थों में तिङन्त की टि से पूर्व भी अकँच् हो जाता है । यथा—'पचति' इस तिङन्त की टि (इ) से पूर्व अकँच् प्रत्यय करने पर—पचत् अकँच् इ=पचत् अक् इ= 'पचतकि' (अज्ञात पकाता है) प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—जल्पतकि आदि ।

अब इस प्रकरण में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३५) कुत्सिते ।५।३।७४।

कुत्साविशिष्टार्थात् प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च स्वार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । कुत्सितोऽश्वः—अश्वकः ॥

अर्थः—निन्दाविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से या तिङन्त से स्वार्थ में यथाविहित (क और अकँच्) तद्धितप्रत्यय हो ।

व्याख्या—कुत्सिते ।७।१। कः ।१।१। अकँच् ।१।१। (दोनों अधिकृत हैं) । तिङ्श्च (१२१९) सूत्र से 'तिङ्' पद का अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, इषाष्वा-तिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि भी पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(कुत्सिते) निन्दाविशिष्ट

अर्थ में वर्तमान (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से तथा (तिङ् = तिङन्तात्) तिङन्त से स्वार्थ में यथाविहित (कः, अकञ्) क और अकञ् ये (तद्धितौ) तद्धितप्रत्यय हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

कुत्सितोऽश्वः—अश्वकः (निन्दित घोड़ा)^१ । यहाँ कुत्सा अर्थात् निन्दा-
त्रिशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'अश्व सुं' से प्राग्विधात् कः (१२३२) के अधिकार में
कुत्सिते (१२३५) इस प्रकृतसूत्रद्वारा 'क' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से
प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से अन्तर्वर्ती सुंप् (सुं)
का लुक् हो जाता है—अश्व + क = अश्वक । अब विभक्ति लाने से 'अश्वकः' प्रयोग
सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—कुत्सितो गर्दभः—गर्दभकः । कुत्सित उष्ट्रः—उष्ट्रकः ।

अव्ययों, सर्वनामों तथा तिङन्तों से कुत्सित अर्थ में अव्ययसर्वनाम्नामकञ्
प्राक्टेः (१२३३) सूत्रद्वारा टि से पूर्वं अकञ् हो कर पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धि होती है ।
यथा—कुत्सितमुच्चैः—उच्चकैः । कुत्सितं नीचैः—नीचकैः । कुत्सिताः सर्वे—सर्वकैः ।
कुत्सितैर्युष्माभिः—युष्मकाभिः । कुत्सितयोर्युवयोः—युवकयोः । कुत्सितेन त्वया—
त्वयका । कुत्सितं पचति—पचतिक । कुत्सितं जल्पति—जल्पतिक । इत्यादि ।

इसीप्रकरण में अल्पे (५.३.८५) और ह्रस्वे (५.३.८६) सूत्रोंद्वारा अल्पत्व-
विशिष्ट और ह्रस्वत्वविशिष्ट अर्थों में वर्तमान शब्दों से भी यही (क और अकञ्)
प्रत्यय होते हैं । यथा—अल्पं तैलम्—तैलकम् । अल्पं घृतम्—घृतकम् । अल्पं सर्वम्—
सर्वकम् । अल्पमुच्चैः—उच्चकैः । अल्पं पचति—पचतिक । इसीप्रकार—ह्रस्वो वृक्षः—
वृक्षकः । ह्रस्वः प्लक्षः—प्लक्षकः । ह्रस्वः स्तम्भः—स्तम्भकः । इत्यादि ।

अब दो में से एक के निर्धारण में डतरच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३६)

कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् । ५।३।६२॥^२

(द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्ये किम्, यद्, तद् इत्येतेभ्यो डतरच् तद्धित-
प्रत्ययः स्यात्) । अनयोः कतरो वैष्णवः । यतरः । ततरः ॥

अर्थः—दो में से एक का निर्धारण गम्य होने पर किम्, यद् और तद् इन
निर्धार्यमाण सर्वनामों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक डतरच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कियत्तदः । ५।१। निर्धारणे । ७।१। द्वयोः । ६।२। (निर्धारणे षष्ठी)^३ ।

१. धावन (दौड़ने) आदि में अयोग्य वा असमर्थ होने के कारण घोड़े को कुत्सित
कहा जाता है । इसी की अभिव्यक्ति यहाँ 'क' प्रत्यय से की जाती है ।

२. अनेक स्थानों पर यह सूत्र कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् इस प्रकार अशुद्ध
मुद्रित प्राप्त होता है ।

३. यतरच् निर्धारणम् (२.३.४१) इति षष्ठी अत्र बोध्या ।

एकस्य ।६।१। इतरच् ।१।१। प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। किम् च यच्च तच्च कियत्तत्, तस्मात् = कियत्तदः, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(द्वयोः) दो में से (एकस्य) एक के (निर्धारणे) निर्धारण के गम्य होने पर (कियत्तदः) किम्, यद् और तद् इन प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इतरच्) इतरच् प्रत्यय हो जाता है।

इतरच् में ष्टू (१२६) द्वारा डकार एवं हलन्त्यम् (१) द्वारा चकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'अतर' मात्र शेष रहता है। डकार अनुबन्ध ट्ः (२४२) सूत्रद्वारा टिलोप के लिये तथा चकार अनुबन्ध अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। यह सूत्र अव्ययसर्वनाम्नामकञ्च प्राष्टेः (१२३३) द्वारा प्राप्त होने वाले अकञ्च प्रत्यय का अपवाद है।

जब किसी समुदाय में से जाति, गुण, क्रिया या सञ्ज्ञा के द्वारा किसी एकदेश का पृथक् निर्देश किया जाता है तो उसे निर्धारण कहते हैं^१। जब दो में से किसी एक के निर्धारण का विषय हो तो निर्धार्यमाणवाची किम्, यद् और तद् सर्वनामों से इतरच् (अतर) प्रत्यय लाया जाता है। यह इस सूत्र का तात्पर्य है। उदाहरण यथा—

अनयोः को वैष्णवः—अनयोः कतरो वैष्णवः (इन दो में से कौन सा विष्णु-भक्त है)। यहां दो में से गुणद्वारा एक का निर्धारण करना है अतः 'किम् + सुं' इस निर्धार्यमाणवाची से प्रकृत कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य इतरच् (१२३६) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक इतरच् प्रत्यय, अनुबन्धों का लोप एवं तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा के कारण सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंप् (सुं) का भी लुक् कर देने से—किम् + अतर। अब प्रत्यय के डित्त्व के कारण ट्ः (२४२) सूत्रद्वारा किम् को टि (इम्) का लोप कर—क् + अतर = कतर। विभक्ति लाने से 'कतरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है^२। सर्वनामों प्रथमाद्वा (६६७) से 'वा' का अधिकार आ रहा है। अतः

१. निर्धारण में समुदायवाचकशब्द से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है। यथा—(जातिद्वारा) नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। यहां नृसमुदाय में से उस के एकदेश ब्राह्मणजाति का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया गया है अतः समुदायवाचक नृशब्द से षष्ठी या सप्तमी का प्रयोग किया गया है। (गुणद्वारा) गवां गोषु वा कृष्णा बहु-क्षीरा। (क्रियाद्वारा) गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। (सञ्ज्ञाद्वारा) छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः। इन सब का विवेचन पीछे विभक्त्यर्थपरिशिष्ट में अतरश्च निर्धारणम् (४८) सूत्राङ्क पर किया जा चुका है।

२. कतरशब्द इतरप्रत्ययान्त होने से सर्वादीनि सर्वनामानि (१५१) द्वारा सर्वनाम-सञ्ज्ञक है। कतरः, कतरी, कतरे। स्त्रीलिङ्ग में अजाहृतपठ्वाप् (१२४६) से टाप् हो कर 'कतरा' शब्द बनेगा। तब इस का उच्चारण सर्वाशब्दवत् होगा। नपुंसक-लिङ्ग में इस से परे सुं और अम् को अद्द् इतरादिभ्यः पञ्चम्यः (२४१) से अद्द् आदेश हो कर टिलोप (२४२) हो जाता है—कतरत्, कतरे, कतराणि। इन सब का विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ सुबन्तप्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है।

महाविभाषा के कारण डतरच् के अभाव में किम्शब्द का भी प्रयोग हो सकता है—
अनयोः को वैष्णवः ।

इसीप्रकार—अनयोर्योऽध्यापकः—अनयोर्यतरोऽध्यापकः (इन दो में जो अध्यापक) । अनयोः स देवदत्तः—अनयोस्ततरो देवदत्तः (इन दो में वह देवदत्त है) । यहाँ क्रमशः यद् और तद् शब्दों से डतरच्, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा डित्वात् टिलोप कर विभक्ति लाने से उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

यह प्रत्यय निर्धार्यमाण से ही लोक में प्रसिद्ध है अतः 'कयोरन्यतरो देवदत्तः, तयोरन्यतरोऽध्यापकः, ययोरन्यतरो मूर्खः' इत्यादियों में किम् आदियों से यह प्रत्यय नहीं होता । ध्यान रहे कि अन्यतर और अन्यतम शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं यह पीछे सर्वादिगण की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं ।

अब बहुतों में से एक के निर्धारण में डतमच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३७)

वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ।५।३।६३॥

बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमज्वा स्यात् । 'जातिप्रश्ने' इति प्रत्याख्यातमाकरे । कतमो भवतां कठः । यतमः । ततमः । वाग्रहणम् अकँज-
र्थम्—यकः । सकः ॥

अर्थः—बहुतों में से किसी एक के निर्धारण के गम्य होने पर किम्, यद् और तद् इन निर्धार्यमाण प्रातिपदिकों से स्वार्थ में विकल्प कर डतमच् प्रत्यय हो । जाति-
परिप्रश्ने—सूत्रगत 'जातिपरिप्रश्ने' अंश का आकर अर्थात् व्याकरणमहाभाष्य^१ में खण्डन किया गया है । सूत्र में 'वा' का ग्रहण, पक्ष में अकँच्प्रत्यय की प्रवृत्ति के लिये किया गया है ।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम् । बहूनाम् ।६।३। (निर्धारणे षष्ठी) । जातिपरि-
प्रश्ने ।७।१। डतमच् ।१।१। कियत्तदः ।५।१। (कियत्तदो निर्धारणे० सूत्र से) । पूर्वसूत्र से 'एकस्य निर्धारणे' इन पदों का भी अनुवर्तन होता है । प्रत्ययः, परश्च, उच्चात्प्राति-
पदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिष्ठत हैं । सूत्रगत 'जातिपरिप्रश्ने' इस अंश का महाभाष्य में खण्डन किया गया है अतः अर्थ करते समय इस अंश का उपयोग नहीं

१. आकरशब्द मुख्यतः खान (MINE) के अर्थ में सुप्रसिद्ध है—खनिः स्त्रियामाकरः स्यादित्यमरः । प्रयोग यथा—दिलीपसूनुर्भणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ (रघु० ३.१८), आकरे पत्तरागाणां जन्म काश्मणेः कुतः ? (हितोप० प्रस्तावना) । जिस से कोई वस्तु उत्पन्न हो उसे भी लाक्षणिकदृष्ट्या उस वस्तु का 'आकर' कह दिया जाता है, यथा—रत्नाकरः (समुद्रः) । व्याकरण के समस्त सिद्धान्त व्यक्त या अव्यक्तरीत्या महाभाष्य से ही प्रसूत होते हैं अतः पातञ्जल महाभाष्य को व्याकरणशास्त्र का आकरग्रन्थ कहा जाता है ।

करना चाहिये—ऐसा कौमुदीकार का कथन है^१ । अर्थः—(बहूनाम् एकस्य निर्धारणे) बहुतों में से एक के निर्धारण के गम्य होने पर (क्रियत्तदः) किम्, यद् और तद् सर्वनामों से स्वार्थ में (वा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इतमच्) इतमच् प्रत्यय हो जाता है ।

इतमच्प्रत्यय में भी डकार और चकार पूर्ववत् इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'अतम' मात्र शेष रहता है । डकार अनुबन्ध का प्रयोजन टेः (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप करना तथा चकार अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है ।

यह प्रत्यय विकल्प से किया जाता है । अतः पक्ष में अर्कच्प्रत्यय भी हो जाता है^२ । उदाहरण यथा—

को भवतां कठः^३— कतमो भवतां कठः (आप लोगों में कौन वैदिककठशाखा का अध्येता है ?) । यहां बहुतों में से एक के निर्धारण का विषय है अतः निर्धार्यमाण 'किम् सुं' से प्रकृत वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने इतमच् (१२३७) सूत्रद्वारा विकल्प से इतमच् प्रत्यय, अनुबन्ध डकार और चकार का लोप, सुंलुक् तथा प्रत्यय के डित्व के

१. अभिप्राय यह है कि इस के द्वारा प्रतिपादित इतमच् प्रत्यय केवल जातिपरिप्रश्न में ही नहीं अपितु अन्यत्र भी देखा जाता है । अतः 'जातिपरिप्रश्ने' अंश को छोड़कर सामान्यतः ही इस सूत्र की प्रवृत्ति समझनी चाहिये । चाहे जातिपरिप्रश्न का विषय हो या न हो, बहुतों में से एक के निर्धारण में इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है ।

२. यदि यह कहा जाये कि यहां समर्थानां प्रथमाद्वा (९९७) इस सूत्रोक्त महाविभाषा के कारण 'वा' तो उपलब्ध था ही पुनः 'वा' का ग्रहण क्यों किया गया है ? तो इस का उत्तर यह है कि महाविभाषा वाला विकल्प उत्सर्ग और अपवाद प्रत्ययों के लिये नहीं हुआ करता, वह तो तद्धित के अभाव में वाक्यप्रयोग के लिये हुआ करता है । अतः यहां सूत्र में 'वा' के ग्रहण से प्रकृत इतमच्प्रत्यय के अभावपक्ष में उत्सर्ग अर्कच्प्रत्यय भी हो जायेगा । हां ! महाविभाषा से वाक्य भी बना रहेगा जैसाकि उदाहरण के विग्रह में दर्शाया गया है ।

३. कठेन प्रोक्तमधीते इति कठः (कठऋषिप्रोक्त वेदशाखा को पढ़ने वाला) । यहां ऋषिवाचक 'कठ' शब्द से तेन प्रोक्तम् (११०८) के अर्थ में कलापि-वैशम्पायना-म्लेवासिन्म्यश्च (४.३.१०४) सूत्र से णिनिप्रत्यय हो कर कठचरकाल्लुक् (४.३.१०७) से उस का लुक् हो जाता है । कठ अर्थात् कठऋषिप्रोक्तवेदशाखा । पुनः इसी कठशब्द से तदधीते के अर्थ में तदधीते तद्बे (१०५३) द्वारा अण्प्रत्यय करने पर प्रोक्ताल्लुक् (४.२.६३) से उस का लुक् हो जाता है । अब 'कठ' शब्द का अर्थ हो गया—कठऋषिप्रोक्त वैदिकशाखाविशेष का अध्ययन करने वाला । गोत्रं च चरपैः सह (१२६९ सूत्र पर उद्धृत कारिका) के अनुसार 'कठ' यह जातिवाचक प्रातिपदिक है ।

कारण टैः (२४२) सूत्र से भसञ्जक टि (इम्) का भी लोप हो जाने से—क् + अतम = कतम । विभक्ति ला कर 'कतमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस पक्ष में डतमच् नहीं होगा वहां मूल किम्शब्द की टि से पूर्व अब्ययसर्वनाम्नामकञ् प्राक् टैः (१२३३) सूत्रद्वारा अर्कञ् प्रत्यय हो कर—क् अक् इम् = ककिम् । अब इस से परे सुविभक्ति ला कर किमः कः (२७१) द्वारा अर्कञ्सहित किम् के स्थान पर 'क' आदेश हो कर^१ सकार को स्त्व-विसर्ग करने से 'कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^२

इसीप्रकार—यो भवतां पटुः—यतमो भवतां पटुः (आप लोगों में जो चतुर) । स भवतां पटुः—ततमो भवतां पटुः (आप लोगों में वह चतुर) । यहां यद् और तद् सर्वनामों से पूर्ववत् डतमच् प्रत्यय हो कर डित्त्व के कारण भसञ्जक टि (अद्) का लोप करने से—य् + अतम = यतम = यतमः । त् + अतम = ततमः । डतमच्के अभावपक्ष में यद् और तद् की टि से पूर्व अब्ययसर्वनाम्नामकञ् प्राक् टैः (१२३३) से अर्कञ् प्रत्यय हो कर—य् अक् अद् = यकद्, त् अक् अद् = तकद् । अब सुविभक्ति ला कर त्यदाद्यत्व (१६३) और पररूप (२७४) करने से 'यकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'तकद् + सुं' में भी त्यदाद्यत्व और पररूप करने के बाद तदोः सः सावनन्त्ययोः (३१०) से सकार को सकार हो कर 'सकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^३ यको भवतां पटुः, सकः

१. किमः कः (२७१) । अर्थः—विभक्ति परे रहते किम् के स्थान पर 'क' आदेश हो । इस सूत्र के महाभाष्य में अर्कञ्सहित किम् को भी 'क' आदेश करने का विधान किया गया है—कादेशः खल्वप्यवश्यं साकञ्कार्यो वक्तव्यः (महाभाष्य ७.२.१०२) ।
२. अर्कञ् के करने का यहां यद्यपि कुछ भी फल दिखाई नहीं पड़ता, तथापि आगे यद् और तद् में इसे स्पष्ट देखा जा सकेगा ।
३. यहां पर एक शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि तद्शब्द से डतर या डतम प्रत्ययों के करने पर 'ततरः, ततमः' में तदोः सः सावनन्त्ययोः (३१०) से तकार को सकार आदेश नहीं होता परन्तु तद्शब्द से अर्कञ् प्रत्यय करने पर 'सकः' में उस की प्रवृत्ति हो जाती है, इस प्रक्रियाभेद का क्या कारण है ? इस का समाधान यह है कि तदोः सः (३१०) सूत्र में सूं के परे रहते त्यदादियों के अनन्त्य तकार दकार को सकार आदेश करने का विधान किया गया है । डतर-डतम करने पर त्यदादि अर्थात् तद्शब्द ही नहीं रहता, डतर-डतमप्रत्ययान्त नया शब्द आ जाता है जिस का पाठ त्यदादियों में नहीं अतः यहां तदोः सः (३१०) की प्रवृत्ति नहीं होती । परन्तु अर्कञ् प्रत्यय तद्शब्द की टि से पूर्व अर्थात् तद्शब्द के मध्य में होता है, अतः तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते (किसी शब्द के बीच यदि कोई आ जाये तो उस के ग्रहण से उस का भी ग्रहण हो जाता है) इस परिभाषाद्वारा उसे भी तद्शब्द ही माना जाता है । इस से यहां तदोः सः (३१०) द्वारा सत्व करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती ।

इहागच्छतु (जो आप में चतुर है वह यहां आये)। महाविभाषा के कारण उपर्युक्त वाक्य भी रहेगा।

यहां पर एक अन्य सूत्र का जानना भी छात्रों के लिये बहुत सरल तथा उपयोगी रहेगा—

एकाच्च प्राचाम् (५.३.६४)

अर्थ:—‘एक’ शब्द से भी पूर्वोक्तसूत्रद्वय के विषय में क्रमशः इतरच् और इतमच् प्रत्यय विकल्प से हो जाते हैं। यथा—अनयोरेको देवदत्तः, अनयोरेकतरो देवदत्तः (इन दोनों में एक देवदत्त है)। एषामेको देवदत्तः—एषामेकतमो देवदत्तः (इन सब में एक देवदत्त है)।

अभ्यास [१५]

(१) निम्नस्थ सूत्रों की उदाहरण दशति हुए व्याख्या करें—

१. ईषदसमाप्तौ० । २. बहोर्लोपो भू च बहोः । ३. अतिशायने तम-
बिष्टनौ । ४. तिङ्श्च । ५. किमेत्तिङ्ब्ययघादाम्ब्रव्यप्रकर्षे ।
६. ज्यादादीयसः । ७. प्रकृत्यैकाच् । ८. अव्ययसर्वनाम्नामकञ् प्राक्टेः ।
९. इष्टस्य यिट् च । १०. विन्मतोर्लुक् । ११. क्रियत्तदो निर्धारणे
द्वयोरेकस्य इतरच् । १२. वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने इतमच् । १३.
अज्ञाते । १४. कुत्सिते । १५. अज्ञादी गुणवचनादेव ।

(२) विग्रह दशति हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. पचतकि । २. कतरः । ३. कतमः । ४. सकः । ५. गुष्मकाभिः ।
६. त्वयका । ७. बहुपटुः । ८. विद्वत्कल्पः । ९. त्वचीयान् । १०.
भूयिष्ठः । ११. ज्यायान् । १२. श्रेष्ठः । १३. ज्येष्ठः । १४. श्रेयान् ।
१५. पचतितमाम् । १६. उच्चैस्तराम् । १७. लघुतमः । १८. लधि-
ष्ठः । १९. आढ्यतमः । २०. किन्तमाम् । २१. अतितराम् । २२.
एकतमः । २३. अश्वकः । २४. यकः ।

(३) क्या पाणिनीयव्याकरण में ऐसा भी कोई प्रत्यय है जो प्रकृति से परे न हो कर उस से पूर्व में किया जाता हो ? यदि है तो उस का सप्रमाण सोदाहरण विवेचन करें ।

(४) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप लिखिये—

१. कुत्सित उष्टुः ।	७. अयमेषामतिशयेन वृद्धः ।
२. अज्ञाताः सर्वे ।	८. अयमनयोरतिशयेन बलवान् ।
३. ईषदूनं जल्पति ।	९. अयमनयोरतिशयेन पटुः ।
४. अज्ञातमुच्चैः ।	१०. अयमनयोरतिशयेन साधुः ।
५. ह्रस्वो वृक्षः ।	११. बहोर्भावः ।
६. अल्पं तैलम् ।	१२. अज्ञातो गर्दभः ।

(५) अन्यतर और अन्यतम शब्द क्या इतर-इतमप्रत्ययान्त हैं ? विवेचन कीजिये ।

- (६) द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुंनौ सूत्र की व्याख्या करते हुए 'विभज्य' का अभिप्राय खोल कर अपने शब्दों में प्रस्तुत करें।
- (७) अधोलिखित वचनों की व्याख्या करें।
- [क] वाग्रहणमकैजर्थम् ।
 [ख] जातिपरिप्रश्ने इति प्रतिख्यातमाकरे ।
 [ग] ओकारसकारभकारादौ सुंपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकैच्, अन्यत्र सुंबन्तस्य ।
 [घ] द्रव्यप्रकर्षे तु उच्चैस्तमस्तरः ।
 [ङ] सुंपः किम् ? यर्जातिकल्पम् ।
 [च] स्वाधिकः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते ।
 [छ] क्वचित्स्वाधिकः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्तेऽपि ।
 [ज] आतिशायनिकप्रत्ययान्ताद् आतिशायनिको न, अनभिधानात् ।
 [झ] यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपर आतिशायनिकः प्रत्ययो भवत्येव ।
 [ञ] कादेशः खल्वप्यवश्यं साकञ्कार्थो वक्तव्यः ।
 [ट] अबाधकान्यपि निपातनानि ।
- (८) ईयसुंन् और इष्टन् प्रत्ययों के परे रहते किस अङ्ग को प्रकृतिभाव हो जाता है और इस से रूपसिद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है? सोदाहरण स्पष्ट करें।
- (९) निम्नस्थ प्रयोगों का विग्रह दशति हुए प्रकृति, प्रत्यय और अर्थ का विवेचन कीजिये—
१. यविष्ठः । २. बंहिष्ठः । ३. स्थेष्ठः । ४. ऋशीयान् । ५. प्रथीयान् ।
 ६. भूमा । ७. अदिष्ठः । ८. द्रढीयान् । ९. क्षोदिष्ठः । १०. कनीयान् ।
 ११. करिष्ठः । १२. तनीयान् ।
- (१०) अजादि आतिशायनिक प्रत्ययों के परे रहते किस किस प्रकृति के स्थान पर ये आदेश होते हैं—
- ज्य । श्र । भू । वर्षि । त्रप् । द्राघि । स्थ । प्र ।
- (११) अजादि आतिशायनिक प्रत्ययों के परे रहते निम्नस्थ शब्दों के स्थान पर क्या क्या आदेश होते हैं—
- वृन्दारक । गुरु । उरु । स्फिर । बहु । वृद्ध । बहुल । प्रिय ।
- (१२) ईयसुंन् और इष्टन् प्रत्ययों के परे रहते निम्नस्थ शब्दों के रूप लिखें—
१. पृथु । २. मृदु । ३. भृश । ४. कृश । ५. दृढ । ६. परिवृढ । ७. दूर ।
 ८. क्षुद्र । ९. ह्रस्व । १०. युवन् । ११. अल्प । १२. अन्तिक । १३. बाढ । १४. क्षिप्र । १५. स्थूल । १६. कर्तृ । १७. महत् ।
- (१३) पञ्चवर्षः और पञ्चवर्षकल्पः का अन्तर व्याकरणरीत्या स्पष्ट करें ।

- (१४) सर्वनामों में अकञ् प्रत्यय कहां प्रकृति की टि से पूर्व और कहां सुबन्त की टि से पूर्व होता है ? सोदाहरण विवेचन करें—
- (१५) अकञ्प्रत्यययुक्त युष्मद्-अस्मद् शब्दों की सातों विभक्तियों में रूप-माला लिखें ।
- (१६) लघुकौमुदीस्य प्रागिवीयप्रकरण के कोई से दस प्रत्यय ससूत्र निर्दिष्ट करें ।
- (१७) समुचित उत्तर दीजिये—
 [क] भूयान् में ओर्मुष्णः द्वारा गुण क्यों नहीं होता ?
 [ख] 'ब' किसे कहते हैं ? इस का उपयोग कहां होता है ?
 [ग] इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय प्रत्येक शब्द से क्यों नहीं होते ?
 [घ] आर्मु में उकार अनुबन्ध का क्या प्रयोजन है ?
 [ङ] निर्घारण किसे कहते हैं ? जिस समुदाय से निर्घारण किया जाये उस में कौन सी विभक्ति होती है ?
- (१८) टिप्पणी करें ।
 १. यिट् में अनुबन्धविषयक मतभेद । २. प्रागिवीय का नामकरण ।
 ३. श्रेष्ठतमः का शुद्धाशुद्धत्व । ४. अतिशयन और अतिशायन ।
- (१९) बहोर्लोपो भू च बहोः सूत्र में 'भू' ही कह देते अकृत्साबंधात्कयोर्दोषः से दीर्घ हो जाता ?
- (२०) अकञ्प्रत्यय युक्त किम्शब्द की पुं० में सातों विभक्तियों में रूपमाला लिखें ।
- (२१) बहुचप्रत्यय करने पर शब्द तद्धितान्त नहीं होता तब कृत्तद्धितसमासा-श्च द्वारा उस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कैसे हो सकती है ? विवेचन करें ।
- (२२) जैसे 'सकः' में सत्व की प्रवृत्ति होती है वैसे 'ततरः, ततमः' में क्यों नहीं होती ?

[लघु०]

इति प्रागिवीयाः ॥

(यहां पर प्रागिवीयप्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)

—:०:—

अथ स्वार्थिकाः

अब कुछ अन्य स्वार्थिक तद्धितप्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३८) इवे प्रतिकृतौ ।५।३।६६॥

कन् स्यात् । अश्व इव प्रतिकृतिरश्वकः ॥

अर्थः—'इव' के अर्थ अर्थात् सादृश्य में वर्तमान प्रातिपदिक से परे स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक कन् प्रत्यय हो, यदि वह सदृश वस्तु प्रतिकृति (प्रतिमा, मूर्ति) हो तो ।

व्याख्या— इवे ।७।१। प्रतिकृतौ ।७।१। कन् ।१।१। (अवक्षेपणे कन् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, ङष्ठाप्प्रातिपदिकात्; तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(इवे) 'इव' के अर्थ में वर्तमान (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (कन्) कन् प्रत्यय हो जाता है (प्रतिकृतौ) यदि वह सदृश वस्तु प्रतिकृति हो तो ।

घास-फूस-चर्म-काष्ठादि से निर्मित प्रतिमा (मूर्त्ति) को 'प्रतिकृति' कहते हैं । ये प्रतिकृतियां जानवरों पक्षियों मनुष्यों या देवी-देवता आदियों की बनाई जाती हैं । इस प्रकार की वाच्यता में प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति होती है । 'इव' का अर्थ है सादृश्य या उपमानत्व । उस उपमानत्व में वर्तमान अश्व आदि प्रातिपदिकों से प्रतिकृति अर्थात् उपमेय के अभिधेय होने पर कन् प्रत्यय किया जाता है । तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु की प्रतिकृति (प्रतिमा) हो तद्वाचक शब्द से कन् प्रत्यय ला कर ऐसा शब्द निष्पन्न हो जाता है जो उस की प्रतिकृति का वाचक होता है । यथा—अश्व की प्रतिकृति कहनी अभीष्ट हो तो अश्वशब्द से कन् प्रत्यय ला कर नकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण विभक्ति लाने से 'अश्वकः' (अश्व इव प्रतिकृतिः, घोड़े के समान प्रतिमा) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^१ यहाँ तद्धित-वृत्ति में अश्वशब्द 'अश्व इव प्रतिकृतिः' के अर्थ में साक्षणिक है । कन्प्रत्यय के द्वारा यह अर्थ व्यक्त किया जाता है अतः प्रत्यय स्वार्थ में हुआ माना जाता है ।

इसीप्रकार—

उष्ट्र इव प्रतिकृतिः—उष्ट्रकः (ऊँट की प्रतिमा) ।

गर्दभ इव प्रतिकृतिः—गर्दभकः (गधे की प्रतिमा) ।

प्रतिकृति अभिधेय न होने पर यह कन् नहीं होता । यथा—गौरिव गवयः (गौ के समान गवय होता है) । यहाँ इव का अर्थ सादृश्य या उपमानत्व तो है परन्तु प्रतिकृति अभिधेय नहीं अतः यह प्रत्यय नहीं हुआ ।

विशेष बक्ष्य—यदि कोई प्रतिमा जीविका के अर्जन के लिये बनाई गई हो परन्तु प्रतिमा को बेचा न जा रहा हो तो ऐसी अवस्था में प्रकृतसूत्रद्वारा होने वाले कन् प्रत्यय का जीविकार्थ ङष्पण्ये (५.३.६६) सूत्र से लुप् हो जाता है ।^३ जैसे कोई देवल (देवोपजीवी भिक्षुक) व्यक्ति राम, लक्ष्मण, सीता, शिव, वासुदेव आदि की मूर्त्ति को ले कर घर घर घूमता हुआ जीविका का अर्जन तो करता है परन्तु उन मूर्त्तियों को

१. ध्यान रहे कि अश्वकः (अश्व की प्रतिकृति) में अश्व उपमान है और उस की प्रतिकृति उपमेय । उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम् । उपमातुं योग्यमुपमेयम् ।

२. 'अश्वकः' विशेषण है । इस का विशेष्य है—प्रतिकृतिः । प्रतिकृतिशब्द स्त्रीलिङ्ग है, परन्तु 'अश्वकः' शब्द स्त्रीलिङ्ग को धारण नहीं करता । इस का कारण वही पूर्वोक्त परिभाषा है—स्वाधिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते ।

३. जीविकार्थे ङष्पण्ये (५.३.६६) । अर्थः—जो प्रतिकृति जीविकार्थ तो हो परन्तु बेची न जा रही हो तो उस की वाच्यता में कन् प्रत्यय का लुप् हो जाता है ।

बेचता नहीं है तो इन मूर्त्तियों की वाच्यता में कन् प्रत्यय का लुप् हो जायेगा । तब— राम इव प्रतिकृतिः रामः, सीतेव प्रतिकृतिः सीता, लक्ष्मण इव प्रतिकृतिर्लक्ष्मणः, शिव इव प्रतिकृतिः शिवः, वासुदेव इव प्रतिकृतिर्वासुदेवः । यहां राम आदि से इवे प्रतिकृतौ (१२३८) द्वारा होने वाले कन् प्रत्यय का जीविकार्थे चाऽप्ये (५.३.६६) से लुप् हो कर विभक्ति लाने से 'रामः, लक्ष्मणः, सीता, शिवः, वासुदेवः' आदि बनेंगे । परन्तु यदि उन मूर्त्तियों को बेच कर जीविका-अर्जन की जायेगी तो कन् का लुप् न होगा । तब इन प्रतिमाओं को रामकः, लक्ष्मणकः, सीतकः^१, शिवकः, वासुदेवकः आदि कहा जायेगा । इस पर एक सुभाषित बहुत प्रसिद्ध है —

रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे
विष्कीणीते यो नरस्तं च धिग् धिक् ।
अस्मिन् पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति
व्यर्थप्रश्नं पण्डितं तं च धिग्धिक् ॥^१

यहां प्रतिमाओं को जीविकार्थ बेचा जाता है अतः कन् का लुप् नहीं होना चाहिये । 'रामकं सीतकं लक्ष्मणकम्' इस प्रकार प्रयोग करना चाहिये था—यही इस में अपशब्दता या अशुद्धि है ।

अब एक अन्यविध अत्यन्तस्वार्थिक कन् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(६५) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् ॥

अश्वकः ॥

अर्थः—प्रत्येक प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक कन् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में कहीं पढ़ा नहीं गया, परन्तु पाणिनीय न साम्बिबचने (५.४.५) सूत्र पर काशिका में ऊहित किया गया है ।^३ यहां अत्यन्त स्वार्थ में कन् प्रत्यय का विधान किया गया है अतः इस प्रत्यय के करने पर प्रत्येक प्रातिपदिक का अर्थ वही रहता है जो प्रत्यय करने से पहले होता है । उदाहरणार्थ यथा—

१. अत्र केऽजः (७.४.१३) इति ह्रस्वत्वं बोध्यम् ।

२. अर्थात् जो व्यक्ति जीविका के लिये राम, लक्ष्मण और सीता की मूर्त्तियों को बेचता है उसे बार बार धिक्कार है । परन्तु इस पद्यार्थ में जो अपशब्द को न पहचान सके ऐसे व्यर्थबुद्धि पण्डित को भी बार-बार लानत है ।

३. न साम्बिबचने (५.४.५) । अर्थः—सामि (अर्घ) वाचक उपपद होने पर क्तान्त से कन् प्रत्यय नहीं होता । उदाहरण यथा—सामिकृतम्, अर्घकृतम्, नेमकृतम् । यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन उदाहरणों में किसी पूर्वसूत्रद्वारा कन् प्रत्यय तो प्राप्त था नहीं पुनः निषेध कैसा ? इस का उत्तर यही दिया जाता है कि यह सूत्र पूर्वोक्त कन् का निषेधक नहीं अपितु प्रातिपदिक मात्र से होने वाले अत्यन्तस्वार्थिक कन् प्रत्यय का निषेध करता है । इस से वैयाकरणों ने उपर्युक्त वार्त्तिक का ऊहन कर लिया है ।

अश्व एव अश्वकः (घोड़ा ही 'अश्वक' कहाएगा) । यहां अश्वप्रातिपदिक से अत्यन्त स्वार्थ में प्रकृत वार्तिक से कन् प्रत्यय, नकार अनुबन्ध का लोप तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'अश्वकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—बहुतरमेव बहुतरकम् । सुकरतरमेव सुकरतरकम् ।

नोट—कुछ लोग इस वार्तिक का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते । उन का कथन है कि उपर्युक्त उदाहरण यावादियों के आकृतिगण होने से याबादिभ्यः कन् (५.४.२६) द्वारा ही सिद्ध हो सकते हैं । इन के लिये प्रत्येक प्रातिपदिक से कन् की कल्पना करना अयुक्त है ।

अब प्राचुर्यद्योतक मयट् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३६) तत्प्रकृतवचने मयट् । ५।४।२१ ॥

प्राचुर्येण प्रस्तुतम् प्रकृतम्, तस्य वचनम् = प्रतिपादनम् । भावे, अधि-करणे वा ल्युट् । आद्ये—प्रकृतमन्नम् अन्नमयम् । अपूपमयम् । द्वितीये तु—अन्नमयो यज्ञः । अपूपमयं पर्व ॥

अर्थः—इस सूत्र का द्विविध अर्थ होता है—

(१) प्राचुर्य (आधिक्य) से विद्यमान वस्तु के वाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक मयट् प्रत्यय हो ।

(२) प्राचुर्य से विद्यमान वस्तु के वाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से अधिकरण की वाच्यता में तद्धितसञ्ज्ञक मयट् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत् । ५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण तद्शब्द से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । प्रकृतवचने । ७।१। मयट् । १।१। प्रत्ययः, परश्च, ङष्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । इस सूत्र में 'वचन' शब्द की द्विविध व्युत्पत्ति के कारण सूत्र के दो अर्थ हो जाते हैं । दोनों ही अर्थ वैयाकरणों को सदा से मान्य रहे हैं । 'वचन' शब्द की पहली व्याख्या—वचनशब्द वच्धातु से ल्युट् च (८७१) सूत्र-द्वारा भाव में ल्युट् प्रत्यय करने से बना है । इस तरह इस का अर्थ होगा—वचनम् = कथनम् = प्रतिपादनम् । दूसरी व्याख्या—वचनशब्द करणाधिकरणयोश्च (३.३.११७) द्वारा अधिकरण में ल्युट् करने से बना है, उच्यतेऽस्मिन् इति वचनम्, जिस में कहा जाये वह । प्राचुर्येण कृतम् = प्रस्तुतम् प्रकृतम् (अधिकता से प्रस्तुत) । जो वस्तु बहुतायत से प्रस्तुत या विद्यमान रहे उसे यहां 'प्रकृत' कहा गया है । प्रकृतस्य वचनं प्रकृतवचनम् तस्मिन् = प्रकृतवचने, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रथम अर्थ—(प्रकृतवचने) प्रचुरता से प्रस्तुत या विद्यमान वस्तु के कथन में (तत् = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय हो जाता है । मयट् में टकार इत् है जो टिड्ढाणम्० (१२५१) द्वारा स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय करने के लिये जोड़ा गया है । प्रथम अर्थ का उदाहरण यथा—

१. द्वयमपि प्रमाणमभयथा सूत्रप्रणयनात् (काशिका ५.४.२१) ।

प्रकृतम् (प्राचुर्येण प्रस्तुतम्) अन्नम्— अन्नमयम् (अधिकता से विद्यमान अन्न) ।
 यहां प्रचुरता से विद्यमान उपाधि से विशिष्ट अर्थ में वर्तमान 'अन्नं सुं' इस प्रथमान्त
 प्रातिपदिक से तत्प्रकृतवचने मयट् (१२३६) सूत्रद्वारा मयट् प्रत्यय होकर टकार अनु-
 बन्ध का लोप तथा तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण उस के अवयव
 सुंप् (सुं) का भी सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से लुक् कर देने पर = अन्न + मय =
 अन्नमय । अब स्वार्थिक प्रत्ययान्त होने से प्रकृति (अन्न) के अनुसार^१ विभक्तिवचन लाने
 से 'अन्नमयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । अत्रान्नमयं वर्तते—यहां अन्न की प्रचुरता है ।
 इसीप्रकार—प्रकृताः (प्राचुर्येण प्रस्तुताः) अपूपाः अपूपमयम् (अधिकता से विद्यमान
 मालपूप) । यहां 'अपूप जस्' से मयट् ला कर सुंप् का लुक् करने से प्रयोग की सिद्धि
 होती है । यहां प्रकृति (अपूप) के पुलिङ्ग होने पर भी पुंस्त्व नहीं हुआ कारणकि स्वा-
 र्थिकों में कहीं कहीं प्रकृति के लिङ्ग और वचनों का अतिक्रमण भी देखा जाता है—
 क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्तेऽपि (५०) ।

द्वितीय अर्थ—(प्रकृतवचने—प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन्निति प्रकृतवचनम्, तस्मिन्)
 प्रचुरता से विद्यमान वस्तु जिस में कही या पाई जाये उस अधिकरण की वाच्यता में
 (तत् = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट्
 प्रत्यय हो जाता है । यथा—प्रकृतम् (प्राचुर्येण विद्यमानम्) अन्नं यस्मिन् सोऽन्नमयो
 यज्ञः । जिस में अन्न की बहुतायत हो ऐसा यज्ञ । यहां 'अन्नं सुं' से अधिकरण में
 मयट् प्रत्यय ला कर सुंप् का लुक् करने से—अन्नमय । अब विशेष्यानुसार लिङ्ग
 विभक्ति और वचन लाने पर 'अन्नमयो यज्ञः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^२ इसीप्रकार
 —प्रकृता अपूपा यस्मिन् तद् अपूपमयं पर्व । जिस में मालपुओं का प्राचुर्य हो ऐसा
 उत्सव या त्यौहार । ध्यान रहे कि मयट् प्रत्यय टिट् है अतः विशेष्य के स्त्रीत्व की
 विवक्षा में टिङ्ङाणञ्० (१२५१) से डीप् प्रत्यय लाकर यत्थेतिचलोप एवं विभक्ति-
 कार्य करने से—अन्नमयी यात्रा, अपूपमयी रथ्या आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

सार यह है कि प्रथम अर्थ में केवल प्राचुर्यविशिष्ट वस्तु का बोध होता है
 परन्तु दूसरे अर्थ में प्राचुर्यविशिष्ट वस्तु जिस में पाई जाती है उस अधिकरण का ।
 बस इन दोनों अर्थों में यही अन्तर है ।

अब स्वार्थ में अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४०) प्रज्ञादिभ्यश्च । ५।४।३८॥

अण् स्यात् । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । प्राज्ञी स्त्री । दैवतः । बान्धवः ॥

१. स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते (५०) ।

२. इस अर्थ में मयट् प्रत्यय स्वार्थिक नहीं होता । प्राचुर्ययुक्त वस्तु प्रकृत्यर्थ तथा
 उस का अधिकरण प्रत्ययार्थ होता है । अतः स्वार्थिका प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनु-
 वर्तन्ते वाला नियम यहां लागू नहीं होता, विशेष्य के अनुसार ही लिङ्ग, विभक्ति
 और वचन होंगे ।

अर्थः—प्रज्ञ आदि प्रातिपदिकों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—प्रज्ञादिभ्यः । ५।३। च इत्यव्ययपदम् । अण् । १।१। (तद्युक्तात् कर्म-
णोऽण् सूत्र से) । प्रत्ययः, परश्च, इधाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत
हैं । प्रज्ञः (प्रज्ञशब्दः) आदिर्वेषान्ते प्रज्ञादयः, तेभ्यः=प्रज्ञादिभ्यः^१, तद्गुणसंविज्ञान-
बहुव्रीहिसमासः । अर्थः— (प्रज्ञादिभ्यः) प्रज्ञ आदिगणपठित प्रातिपदिकों से स्वार्थ में
(तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

अण् में णकार इत् है जो आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

प्रज्ञ^१ एव प्राज्ञः (जानकार, बुद्धिमान्, ज्ञाता) । यहां 'प्रज्ञ' प्रातिपदिक से स्वार्थ
में प्रज्ञादिभ्यश्च (१२४०) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय, णकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितेष्व-
च्चात्मावेः (६३८) से आदिवृद्धि एवं यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप
करने से—प्राज्ञ । अब विभक्ति ला कर प्रथमैकवचन में 'प्राज्ञः' प्रयोग सिद्ध हो जाता
है । स्त्रीत्व की विवक्षा में अण्प्रत्ययान्त होने के कारण टिड्ढाणञ् (१२५१) द्वारा
ङीप् प्रत्यय ला कर यस्येतिचलोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'प्राज्ञी' (जानकार
औरत) प्रयोग बनेगा ।^२

१. प्रज्ञादिगण यथा—

प्रज्ञ । वणिज् । उशिज् । उष्णिह् । प्रत्यक्ष । विद्वस् । विदन् । षोडश । षोडश ।
विद्या । मनस् । श्रोत्र शारीरे (गणसूत्रम्) । जुह्वत् । कृष्ण मृगे (गणसूत्रम्) ।
चिकीर्षत् । चोर । शतृ । योध । वक्षस् । चक्षुस् । धूर्त् । वसु । एत् । मरुत् ।
क्रुञ्च् । राजा । सत्वन्तु । दशार्ह । वयस् । आतुर । असुर । रक्षस् । पिशाच ।
अशनि । कार्षापण । देवता । बन्धु । आकृतिगणोऽयम् ॥

२. प्रजानातीति प्रज्ञः । आतश्चोपसर्गे (७८८) इति कप्रत्यये आतो लोप इटि च
(४८६) इत्यातो लोपे च कृते 'प्रज्ञः' इति । स्त्रियाम् अजाद्यतष्टाप् (१२४६)
इति टापि 'प्रज्ञा' इति ।

३. 'प्राज्ञा' रूप भी बनता है उस की सिद्धि इस तरह से समझनी चाहिये—

प्रज्ञानं प्रज्ञा (जानना), यद्वा प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा (जिस से जाना जाता है
अर्थात् बुद्धि) । यहां प्रपूर्वक ज्ञा अबबोधने (ऋचा० परस्मै०) धातु से भाव
अथवा करण में आतश्चोपसर्गे (३.३.१०६) से अङ्प्रत्यय होकर आकारलोप
एवं स्त्रीत्व में टाप् करने से 'प्रज्ञा' शब्द सिद्ध होता है । प्रज्ञाऽस्त्यस्य इस विग्रह में
'प्रज्ञा-अद्वाऽर्चान्यो ञः' (५.२.१०१) से मत्वर्थ में ण (अ) प्रत्यय ला कर आदि-
वृद्धि तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप करने से 'प्राज्ञः'
(बुद्धिमान्) प्रयोग बनता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में अण्प्रत्ययान्त न होने के
कारण इस से ङीप् (१२५१) न हो कर अजाद्यतष्टाप् (१२४६) से टाप् ही
होगा । इस प्रकार 'प्राज्ञा' बनेगा । अत एव अमरकोष में कहा है—प्रज्ञा तु
आज्ञी, प्राज्ञा तु धीमती ।

देवता एव दैवतः (देवता) । देवताप्रातिपदिक से प्रज्ञादियों में पाठ के कारण प्रज्ञादिभ्यश्च (१२४०) द्वारा स्वार्थ में अण् प्रत्यय ला कर आदिवृद्धि एवं यस्येतिचलोप द्वारा आकार का लोप करने से— दैवत् + अ = दैवत । विभक्ति ला कर प्रथमा के एक-वचन में 'दैवतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । दैवतशब्द नपुंसकलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है— दैवतम् । बन्दारका दैवतानि पुंसि वा देवताः स्त्रियाम् इत्यमरः ।

बन्धुरेव बान्धवः (बन्धु, सम्बन्धी) । बन्धुप्रातिपदिक से स्वार्थ में प्रज्ञादिभ्यश्च (१२४०) द्वारा अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि (६३८), ओर्गुणः (१००५) से भसञ्जक उकार को ओकार गुण तथा एचोऽयच्चायावः (२२) से ओकार को अच् आदेश कर विभक्तिकार्य करने से 'बान्धवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रज्ञादियों से अण् के कुछ अन्य उदाहरण यथा —

१. (चोर) चोर एव चौरः [चोर] ।
२. (वणिज्) वणिग् एव वाणिजः [बनिया] ।
३. (योध) योध एव यौधः [योधा, लड़ाकू] ।
४. (शत्रु) शत्रुरेव शात्रवः [शत्रु, दुश्मन] ।
५. (मनस्) मन एव मानसम् [मन] ।
६. (रक्षस्) रक्ष एव राक्षसः [राक्षस] ।
७. (पिशाच) पिशाच एव पैशाचः [पिशाच] ।
८. (असुर) असुर एव आसुरः [दैत्य] ।
९. (मरुत्) मरुद् एव मारुतः [वायु] ।
१०. (वयस्) वय एव वायसः [कौवा] ।
११. (ऋञ्च्) ऋडेव क्रीञ्चः [क्रीञ्च पक्षी] ।

प्रज्ञादि के आकृतिगण होने के कारण —

१२. (चर) चर एव चारः [गुप्तचर] ।
१३. (कुतूहल) कुतूहलमेव कौतूहलम् [उत्सुकता] ।
१४. (चरित्र) चरित्रमेव चारित्रम् [चरित्र] ।
१५. (चण्डाल) चण्डाल एव चाण्डालः [चण्डाल] ।
१६. (जेतृ) जेतैव जैत्रः [जीतने वाला] ।

अब स्वार्थिक शस् तद्धितप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४१)

बह्वल्पार्थञ्चस् कारकादन्यतरस्याम् । ५।४।४२॥

(बह्वर्थाद् अल्पार्थञ्च कारकाभिधायिनः प्रातिपदिकात् स्वार्थं तद्धितः शस् प्रत्ययः स्यादन्यतरस्याम्) । बहूनि ददाति - बहुशः । अल्पशः ॥

अर्थः— बह्वर्थ और अल्पार्थ कारकाभिधायी प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धित-सञ्जक शस् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—बह्वल्पार्थात् १५।१। शस् ११।१। कारकात् १५।१। अन्यतरस्याम् १७।१। प्रत्ययः, परश्च, इशाप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि अधिकृत हैं। समासः— बहुश्च अल्पश्च बह्वल्पी, बह्वल्पी अथौ यस्य तद् बह्वल्पार्थम् (प्रातिपदिकम्), तस्मात् = बह्वल्पार्थात्। द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। अर्थः— (बह्वल्पार्थात्) 'बहुत' अर्थ वाले तथा 'थोड़ा' अर्थ वाले (कारकात्) कारकसञ्ज्ञक (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (शस्) शस् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में वाक्य ही रहेगा।^१

बहु, भूरि, प्रभूत आदि बह्वर्थ एवम् अल्प, स्तोक, कतिपय आदि अल्पार्थ प्रातिपदिक हैं। कारके (१.४.२३) के अधिकार में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छः कारक होते हैं। जब बह्वर्थ या अल्पार्थ प्रातिपदिक कारकरूपेण कहा जा रहा हो तो उस से स्वार्थ में शस् प्रत्यय हो जाता है।

शस् में शकार की लशब्धतद्धिते (१३६) से इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, क्योंकि सूत्र में 'अतद्धिते' कहा गया है। सकार की भी प्रयोजनाभाव से हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। पूरा शस् प्रत्यय अविकल रहता है।

बह्वर्थ प्रातिपदिकों से शस् का उदाहरण यथा—

बहूनि (धनानि) ददाति—बहुशो ददाति (बहुत धन देता है)। यहां 'बहूनि' की जगह 'बहुशः' इस तद्धितान्त शब्द का प्रयोग हुआ है। बहुशब्द बह्वर्थ है, यहां यह दाघातु का कर्मकारक भी है, अतः प्रकृत बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् (१२४१) सूत्रद्वारा स्वार्थ में इस से परे तद्धित शस् प्रत्यय आ कर सुंप् का लुक् कर देने से बहु + शस् = बहुशस्। अब तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः (३६८) से इस की अव्ययसञ्ज्ञा हो जाने के कारण इस से परे आये औत्सर्गिक सुंप्रत्यय का अव्ययाबासुंप् (३७२) से लुक् हो कर पदान्त सकार को ह्रस्व-विसर्ग करने से 'बहुशः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी तरह प्रभूत, भूरि आदि शब्दों से भी शस् प्रत्यय समझ लेना चाहिये—प्रभूतशो ददाति, भूरिशो ददाति। कर्म के अतिरिक्त अन्य कारकों से भी इसी तरह प्रक्रिया होती है—(करणे) बहुभिर्ददाति, बहुशो ददाति। (सम्प्रदाने) बहुभ्यो ददाति, बहुशो ददाति। (अधिकरणे) बहुषु ददाति, बहुशो ददाति। इत्यादि।

अल्पार्थ प्रातिपदिकों से शस् का उदाहरण यथा—

अल्पानि (धनानि) ददाति—अल्पशो ददाति (थोड़ा धन देता है)। यहां भी पूर्ववत् कर्मकारक 'अल्प' प्रातिपदिक से स्वार्थ में प्रकृतसूत्र से शस् प्रत्यय हो कर

१. यहां 'अन्यतरस्याम्' का ग्रहण किसी अन्य प्रत्यय के संग्रहार्थ नहीं किया गया। पक्ष में वाक्य ही रहे—इतना मात्र ही इस से अभिप्रेत है। परन्तु यह सब तो महा-विभाषा (समर्थानां प्रथमाद्वा ६६७) से ही सिद्ध था पुनः इस के लिये 'अन्यतरस्याम्' की क्या आवश्यकता? इस का उत्तर यह है कि प्रकृतसूत्र से पूर्वस्थ विधि को नित्य ज्ञापित करने के लिये यहां विकल्प कहा गया है। विशेषजिज्ञासु इसे समझने के लिये काशिका का अवलोकन करें।

अव्यय से परे औत्सर्गिक सुं प्रत्यय का लुक् हो जाता है। इसीतरह स्तोत्र आदि प्रातिपदिकों से भी समझ लेना चाहिये—स्तोकानि ददाति। स्तोत्रो ददाति। स्तोकेभ्यो ददाति। स्तोत्रो ददाति। इत्यादि।

कारकादिति किम्? बहूनां स्वामी। अल्पानां स्वामी। यहां सम्बन्ध में षष्ठी हुई है। सम्बन्ध कारक नहीं होता अतः यहां 'बहु' और 'अल्प' से शस् न होगा।

बह्वल्पायादिति किम्? गां ददाति। अश्वं ददाति। यहां 'गो' और 'अश्व' कर्मकारक तो हैं परन्तु बह्वर्थ या अल्पार्थ प्रातिपदिक नहीं, अतः इन से शस् नहीं होता।

विशेष बक्षस्य—बह्वल्पायात् मङ्गलाऽमङ्गलबचनम् (वा०)। वार्त्तिककार का कथन है कि बह्वर्थों से तभी शस् होता है जब मङ्गल गम्य हो और अल्पार्थों से तभी शस् होता है जब अमङ्गल गम्य हो, अन्यथा शस् नहीं होता। यथा—बहूनि ददाति श्राद्धेषु। यहां श्राद्ध अमङ्गल है अतः बह्वर्थ बहुशब्द से शस् नहीं होता। इसीतरह—अल्पं ददाति आभ्युदयिकेषु। यहां आभ्युदयिक कार्यं मङ्गल है अतः अल्पार्थ अल्पशब्द से शस् नहीं होता। कुछ व्याख्याकार इस वार्त्तिक को प्रायिक मानते हैं क्योंकि आचार्य पाणिनि ने स्वयम् इस का पालन न करते हुए अपेतापोडमुक्तपतिताप-त्रस्तैरल्पशः (२.१.३७) सूत्र में 'अल्पा पञ्चमी' के अर्थ में 'अल्पशः' का प्रयोग किया है—अल्पा पञ्चमी समस्यते—अल्पशः समस्यते।

अब सुप्रसिद्ध सार्वविभक्तिक तसिं तद्धितप्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(६६) आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् ॥

आदौ—आदितः। मध्यतः। अन्ततः। पार्श्वतः। आकृतिगणो-
ऽयम्। स्वरेण—स्वरतः। वर्णतः ॥

अर्थः—'आदि' शब्द जिस के आदि में है ऐसे गणपठित सुबन्तों से स्वार्थ में तसिं प्रत्यय का विकल्प से उपसंख्यान करना चाहिये।

व्याख्या—आद्यादिभ्यः १५।३। तसेः १६।१। उपसंख्यानम् ११।१। प्रत्ययः, परश्च, इषाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः, वा इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। आदिशब्द आदिर्ये-
षान्ते आद्यादयः, तेभ्यः = आद्यादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। यह वार्त्तिक प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः (५.४.४४) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। यह प्रत्यय प्रत्येक विभक्त्यन्त प्रातिपदिक से परे हो सकता है अतः इसे सार्वविभक्तिक तसिं कहा जाता है। समर्थानां प्रथमाद्वा (६६७) इस महाविभाषा के कारण यह प्रत्यय विकल्प से होता है अतः पक्ष में सविभक्तिक रूप भी रहता है।

तसिं में अनुनासिक इकार इत्सञ्जक हो कर (२८) लुप्त हो जाता है, 'तस्' मात्र शेष रहता है। इकार अनुबन्ध सकार को इत् से बचाने के लिये जोड़ा गया है। तसिंप्रत्ययान्त शब्दों की तद्धितरचासार्वविभक्तिः (३६८)से अव्ययसंज्ञा हो जाती है, अतः इन से परे उत्पन्न विभक्ति का अव्ययादायुषः (३७२) से लुक् हो जाता है।

उदाहरण यथा—

आदौ—आदितः (आदि में) । यहां 'आदि डि' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से परे स्वार्थ में प्रकृत आद्यादिभ्यस्तसेरुपसङ्ख्यानम् (वा० ६६) वार्त्तिकाद्वारा तसिं-प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुंपु (डि) का लुक् करने से—आदि + तस् = आदितस् । अब प्रातिपदिकत्वात् उत्पन्न औत्सर्गिक सुंविभक्ति का अभ्ययादाप्सुंपः (३७२) से लुक् होकर सकार को रूत्व तथा पदान्त रेफ को अवसान में विसर्ग आदेश करने से 'आदितः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में सुंबन्तप्रक्रिया हो कर 'आदौ' का प्रयोग हो सकता है । यहां सप्तम्यन्त से तसिं का प्रयोग दर्शाया गया है, अन्यविभक्त्यन्तों से भी यह हो सकता है । यथा—आदेः—आदितः । इत्यादि ।

इसीप्रकार—मध्ये = मध्यतः (बीच में) । अन्ते = अन्ततः (अन्त में) । पार्श्वे = पार्श्वतः (पास में) । पृष्ठे = पृष्ठतः (पिछाड़ी में) ।

आद्यादि आकृतिगण है । अतः गणपठित उपर्युक्त पाञ्च शब्दों के अतिरिक्त अन्यत्र भी शिष्टप्रयोगों में जहां जहां सार्वविभक्तिक तसिं देखा जाये उसे आद्यादि-गणान्तगंत समझ लेना चाहिये ।

शिष्टप्रयोगों में इस के कुछ उदाहरण यथा—

[१] तस्यादित उवात्तमर्षं ह्रस्वम् (१.२.३२) ।

इस पाणिनीयसूत्र में 'आदौ' के स्थान पर 'आदितः' का प्रयोग किया गया है ।

[२] बुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा

निध्याप्रयुक्तो न तन्मर्थमाह ॥ (महाभाष्य पस्पशा.)

यहां स्वरेण = स्वरतः, वर्णेन = वर्णतः । इस प्रकार तृतीयान्त से तसिं किया गया है ।

[३] स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते । (प०)

प्रकृतेः = प्रकृतितः । यहां षष्ठ्यन्त से तसिं का प्रयोग किया गया है ।

[४] नाम च धातुजमाह निरुक्ते

व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।

यन्न पदार्थविशेषसमुत्थम्

प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तद्वृत्त्यम् ॥ (महाभाष्य ३.३.१)

प्रत्ययात् = प्रत्ययतः । यहां पञ्चम्यन्त से तसिं का प्रयोग किया गया है ।

[५] विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां च वीर्यतः ।

वैश्यानां धान्यघनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ (मनु० २.१५५)

ज्ञानेन = ज्ञानतः । वीर्येण = वीर्यतः । धान्यघनैः = धान्यघनतः । जन्मना = जन्मतः । इन सब में निमित्ततृतीयान्त से तसिं का प्रयोग किया गया है ।

[६] शिक्षितोऽस्मि सारथ्ये तीर्थतः पुरुषर्षभ । (महाभारत विराट० ४५.१६)

तीर्थेन (गुरुणा) = तीर्थतः । तृतीयान्त से तसिं हुआ है ।

[७] यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि । (शाकुन्तल० ७)

नाम्ना = नामतः । तृतीयान्त से तसिं हुआ है ।

[८] वित्तेन क्षीणो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः । (महाभारत वन०)

वृत्तेन = वृत्ततः । तृतीयान्त से तसिं हुआ है ।

[९] रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् । (मनु० ४.७३)

यहां दूरशब्द से द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी या सप्तमी विभक्तियों में से किसी भी विभक्ति से परे तसिं का प्रयोग माना जा सकता है ।

[१०] यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्यतो गौरवम् ॥ (मालतीमाधव १)

अर्थ = अर्थतः । सप्तम्यन्त से तसिं हुआ है ।

अब सुप्रसिद्ध चि्वं प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४२)

कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि चि्वं: ।५।४।५०॥

वा०—(९७) अभूततद्भावे इति वक्तव्यम् ॥

विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्त्तमानाद् विकारशब्दात् स्वार्थे चि्वंवा स्यात् करोत्यादिभिर्योगे ॥

अर्थ:—अभूततद्भावे^१ गम्य होने पर यह सूत्र प्रवृत्त होता है—ऐसा कहना चाहिये (वा०) । विकार को प्राप्त हो रही प्रकृति के अर्थ में वर्त्तमान जो विकार-वाचक शब्द उस से परे स्वार्थ में विकल्प कर के तद्धितसञ्ज्ञक चि्वंप्रत्यय हो यदि उस का कृ, भू या अस् घातु के साथ योग हो तो ।

व्याख्या—कृभ्वस्तियोगे ।७।१। सम्पद्यकर्तरि ।७।१। चि्वं: ।१।१। प्रत्ययः, परश्च, उष्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । कृ, भू, अस्ति—इत्येतेषामितरेतरद्वन्द्वः कृभ्वस्तयः, तैर्योगः = कृभ्वस्तियोगः, तस्मिन् = कृभ्वस्तियोगे, तृतीयातत्पुरुषसंसासः । सम्पदनं सम्पद्यः^२, तस्य कर्ता सम्पद्यकर्ता, तस्मिन् = सम्पद्य-

१. जो वस्तु पहले जिस रूप में न हो और बाद में वह उस रूप को प्राप्त कर ले तो इसे अभूततद्भाव कहते हैं । जैसे—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति—शुक्लो करोति (अशुक्ल शुक्ल हो जाता है—इस प्रकार करता है । अर्थात् अशुक्ल या मलिन को शुक्ल करता है) । यहां पहले जो वस्तु शुक्ल न थी वह अब शुक्लरूप को प्राप्त करती है । इस तरह यहां अभूत का तद्भाव कहा गया है । इस प्रकार के कथन में अभूतवस्तु प्रकृति या समवायिकारण होती है और उस का तद्भाव विकृति या कार्य होता है । दोनों में कारणकार्यभाव सम्बन्ध होता है ।

२. अस्मादेव निपातनाद् भावे कृत्सञ्ज्ञः शप्रत्ययः । दिवादित्वात् श्यन् । कुछ लोग निपातनद्वारा कर्ता में शप्रत्यय मान कर 'सम्पद्य' (सम्पन्न होने वाला) शब्द निष्पन्न करते हैं । उन के मतानुसार 'सम्पद्यश्चासौ कर्ता सम्पद्यकर्ता, तस्मिन् = सम्पद्यकर्तरि' इसप्रकार विशेषणसमास समझा जायेगा ।

कर्त्तरि, षष्ठीतत्पुरुषसमासः । अर्थः—(सम्पद्य-कर्त्तरि) 'सम्पद्य' धातु के कर्त्ता अर्थ में वर्त्तमान (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (चि्वं) चि्वं प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है (कृभ्वस्तियोगे) यदि उस प्रातिपदिक का कृ, भू या अस् धातु के साथ योग हो तो । इस सूत्र के अर्थ में वार्त्तिककार ने एक बात और जोड़ दी है—

अभूततद्भावे इति वक्तव्यम् (वा०) । अर्थात् इस सूत्र की प्रवृत्ति तभी होती है जब अभूततद्भाव गम्य हो । अभूतस्य = कार्यरूपेण अपरिणतस्य तद्भावः—तेन कार्यरूपेण भावोऽभूततद्भावः । तस्मिन् गम्ये इत्यर्थः । ध्यान रहे कि केवल न हो कर होने को अभूततद्भाव नहीं कहते, इसीलिये तो तद्शब्द का ग्रहण किया है । अब सूत्र का अर्थ इस प्रकार हो जाता है—अभूततद्भाव अर्थात् कार्यरूप में अपरिणत कारण की जब कार्यरूप में परिणति गम्य हो तो सम्पद्यते (बनता है, होता है) का कर्त्ता जो प्रातिपदिक, उस से स्वार्थ में विकल्प से चि्वंप्रत्यय हो जाता है यदि उस प्रातिपदिक का कृ, भू या अस् किसी धातु के साथ योग हो तो । इस अर्थ का उदाहरण में समन्वय यथा—

अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोतीति शुक्ली करोति । यहां जो वस्तु पहले शुक्ल नहीं अब वह शुक्ल की गई है अतः अभूततद्भाव तो स्पष्ट है ही । यहां सम्पद्य के दो कर्त्ता हैं—अशुक्लः और शुक्लः । परन्तु वक्ता को प्रमुखरूप से विकारवाचक 'शुक्लः' ही कर्तृत्वरूपेण कहना अभीष्ट है, किञ्च इस का कृधातु के साथ योग भी है क्योंकि यह उस का कर्म है । अतः शुक्लप्रातिपदिक से चि्वंप्रत्यय हो कर वक्ष्यमाण प्रक्रिया के अनुसार 'शुक्ली' बन जाता है । इसीप्रकार—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानो भवतीति शुक्ली भवति । यहां सम्पद्य के कर्त्ता शुक्ल का भूधातु के साथ योग है । अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानः स्याद् इति शुक्ली स्यात् । यहां सम्पद्य के कर्त्ता शुक्ल का अस् धातु के साथ योग है ।

कौमुदीकार ने उपर्युक्त सम्पूर्ण सूत्रार्थ को आत्मसात् कर सरल शब्दों में इस का अर्थ इस प्रकार व्यक्त किया है—विकार को प्राप्त हो रही प्रकृति के अर्थ में वर्त्तमान जो विकारवाचक प्रातिपदिक, उस से परे स्वार्थ में विकल्प कर के चि्वंप्रत्यय हो यदि उस प्रातिपदिक का कृ, भू या अस् धातु के साथ योग हो तो । पक्ष में वाक्य भी रहेगा । इस अर्थ का उदाहरण में समन्वय यथा—

अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोतीति शुक्ली करोति ।^१ इस में अशुक्ल प्रकृति है वह शुक्लरूप विकार को प्राप्त हो रही है । कारणकार्य के अभेद के विवक्षित होने से विकारशब्द प्रकृति के अर्थ में वर्त्तमान है, इस का कृधातु के साथ योग भी है अतः इसी विकारवाचक शुक्लप्रातिपदिक से ही चि्वं की उत्पत्ति होती है ।

१. कुछ लोग इस का विग्रह इस प्रकार भी करते हैं —

अशुक्लं शुक्लं सम्पद्यमानं करोतीति शुक्ली करोति । यहां भी सम्पद्यधातु का कर्त्ता शुक्ल ही रहता है चाहे वह अब कृधातु का कर्म क्यों न बन गया हो ।

सार यह है कि च्विप्रत्यय के करने में निम्नस्थ तीन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये—

(१) अभूततद्भाव में ही च्वि होता है, इस के विना च्वि नहीं किया जाता। यथा—शुक्लं करोति, शुक्लो भवति, शुक्लः स्यात् इत्यादियों में कृ-भू-अस् का योग होने पर भी अभूततद्भाव के न होने से च्वि नहीं होता।

(२) विकारवाचक प्रातिपदिक से ही च्वि हुआ करता है प्रकृतिवाचक से नहीं। यथा—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति—शुक्ली करोति। यहां अशुक्ल प्रकृतिवाचक तथा शुक्ल विकारवाचक प्रातिपदिक है। च्विप्रत्यय विकारवाचक शुक्ल-प्रातिपदिक से ही होगा।

(३) विकारवाचक प्रातिपदिक का योग कृ-भू-अस् धातुओं के साथ होना आवश्यक है तभी च्वि होगा अन्यथा नहीं। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति—शुक्ली करोति। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानो भवति—शुक्ली भवति। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानः स्यात्। इन में विकारवाचक प्रातिपदिक 'शुक्ल' का क्रमशः कृ, भू और अस् के साथ योग है अतः च्वि हुआ है। 'अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानो जायते' यहां जन्धातु के योग में नहीं होता।

च्विप्रत्यय का आदि वर्ण चकार षट् (१२६) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। यह चित्तः (६-१-१५७) सूत्रद्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। अन्त में इकार अनुबन्ध उच्चारणार्थ है। इस प्रकार च्वि का 'व्' मात्र ही शेष रहता है। इस वकार का भी षेरपुस्तस्य (३०३) से लोप हो जाता है। इस तरह च्वि का सर्वापहारलोप होता है।

अब च्वि के उदाहरणों के लिये प्रक्रिया दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४३) अस्य च्वौ ।७।४।३२॥

अवर्णस्य ईत् स्याच्च्वौ । वेलोपः । च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम् ।^१ अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति—कृष्णी करोति । ब्रह्मी भवति । गङ्गी स्यात् ॥

अर्थः—च्वि परे रहते अवर्ण के स्थान पर ईकार आदेश हो ।

व्याख्या—अस्य ।६।१। च्वौ ।७।१। ईत् ।१।१। (ईं घ्राष्मोः सूत्र से) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । 'अस्य' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अवर्णान्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है । अर्थः—(च्वौ) च्वि प्रत्यय के परे रहते (अस्य = अवर्णान्तस्य) अवर्णान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (ईत्) ईकार आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल् = अवर्ण के स्थान

१. प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१.४.५६) इत्यधिकारे ऊर्गादि-च्वि-डाचश्च (६५०) इति निपातत्वे स्वरादिनिपातमव्ययम् (३६७) इत्यव्ययत्वमित्यर्थः । अथवा—तद्धित-श्चाऽसर्वविभक्तिः (३६८) इत्यत्र 'शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः' इति परिगणितेष्वन्तर्भावादव्ययत्वमिति बोध्यम् ।

पर ही ईकार आदेश होगा। उदाहरण यथा—

अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति^१—कृष्णी करोति (जो कृष्ण नहीं उसे कृष्ण करता है)।^१ यहाँ अकृष्ण प्रकृति तथा कृष्ण उस का विकार है। कारणकार्य में अभेद-विवक्षा के कारण कृष्णशब्द प्रकृति (अकृष्ण) में वर्तमान है, किञ्च इस का कृघातु के साथ योग भी है (क्योंकि यह कृघातु का कर्म है)। अतः विकारवाचक 'कृष्ण अम्' से अभूततद्भाव इति वक्तव्यम् (वा० ६७) इस वार्तिक की सहायता से कृष्णस्तिबोर्णे सम्पद्यकर्तरि चिबैः (१२४२) सूत्रद्वारा चिं तद्धितप्रत्यय हो जाता है। चिं के चकार की च्चु (१२६) तथा इकार की उपदेशेऽजनुनासिक इत् (२८) से इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप एवम् अवशिष्ट वकार का भी वेरपूक्तस्य (३०३) से लोप करने पर—कृष्ण अम् (करोति)। पुनः चिंप्रत्ययान्तों की कृत्तद्धितसमासाश्च (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुंपो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) सूत्रद्वारा उस के अवयव सुंप् (अम्) का लुक् हो जाता है—कृष्ण (करोति)। अब प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१६०) द्वारा चिं को परे मान कर अस्य च्चौ (१२४३) से अकार को ईकार आदेश करने पर—कृष्णी (करोति)। यहाँ 'कृष्णी' शब्द चिंप्रत्ययान्त है, अतः ऊर्यादिचिबिंडाश्च (६५०) से इस की गतिसञ्ज्ञा, प्रागरीश्वरान्निपाताः (१.४.५६) से निपातसञ्ज्ञा तथा स्वरादिनिपातमव्ययम् (३६७) से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है। अव्ययत्व के कारण इस से परे उत्पन्न औत्सर्गिक सुंविभक्ति का अव्ययादाप्सुंप् (३७२) से लुक् हो कर 'कृष्णी करोति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।^३

ध्यान रहे कि 'कृष्णी' और 'करोति' पदों का समास नहीं होता क्योंकि लोक में सुंबन्त का तिङन्त के साथ समास वर्जित है (६०६)। अतः इन दोनों को पृथक् पृथक् लिखना चाहिये मिला कर नहीं। हां यदि कृघातु क्त्वान्त होगी तो कु-गति-प्रादयः (६४६) से गतिसमास होकर क्त्वा को समासेऽजन्पूर्व क्त्वो ल्यप् (८८४) से ल्यप् आदेश भी हो जायेगा—कृष्णीकृत्य। इसीप्रकार कृदन्त कृघातु के साथ भी समास हो जाता है—कृष्णीकृतः, कृष्णीकृतवान्, कृष्णीकर्तुम् आदि।

भू के साथ योग का उदाहरण यथा—

अब्रह्म ब्रह्म सम्पद्यमानं भवति—ब्रह्मी भवति (जो ब्रह्म नहीं वह ब्रह्म सम्पन्न

१. अथवा—'अकृष्णं कृष्णं सम्पद्यमानं करोति' इस तरह विग्रह रखना चाहिये। कुछ लोग त्वरावश 'अकृष्णं कृष्णं करोति' इस प्रकार भी विग्रह प्रदर्शित करते हैं जो ठीक नहीं होता।
२. रासलीला या नाटक आदियों में अकृष्ण को कृष्ण बनाया जाता है। अथवा—जो काला नहीं उसे काफ़ा करता है यह अभिप्राय यहाँ समझना चाहिये।
३. ध्यान रहे कि 'कृष्णी करोति' प्रयोग को 'करोति कृष्णी' नहीं कहा जा सकता। कारणकि च्यन्त 'कृष्णी' की गतिसञ्ज्ञा (६५०) है, ते प्राग्घातोः (४१६) से गतिसञ्ज्ञक और उपसर्ग लोक में घातु से पूर्व ही प्रयुक्त करने चाहियें।

ल० प० (२६)

होता है) । यहां अब्रह्म प्रकृति तथा ब्रह्म उस का विकार है । कारणकार्य के अभेद के कारण ब्रह्मशब्द अपनी प्रकृति (अब्रह्मन्) में वर्तमान है, किञ्च इस का भूधातु के साथ योग भी है । अतः 'ब्रह्मन् सुं' से अभूततद्भाव में कृम्बस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्चिः (१२४२) से तद्धितसञ्ज्ञक च्चिं प्रत्यय ला कर उस का सर्वापहारलोप, सुंब्लुक् एवम् अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को मान पदत्व के कारण न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०) से पदान्त नकार का भी लोप हो अस्य ष्वौ (१२४३) से अकार को ईकार आदेश करने पर—ब्रह्मी (भवति) ।' अब अव्ययसञ्ज्ञा के कारण इस से परे आई सुंविभक्ति का अव्ययाबाप्सुपः (३७२) से लुक् हो जाने से 'ब्रह्मी भवति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अस् धातु के साथ योग का उदाहरण यथा—

अगङ्गा गङ्गा सम्पद्यमाना स्याद्—गङ्गी स्यात् (जो गङ्गा नहीं वह गङ्गा हो जाये) । यहां अगङ्गा प्रकृति तथा गङ्गा उस का विकार है । कारणकार्य की अभेदविवक्षा के कारण विकारवाचक गङ्गाशब्द अपनी प्रकृति (अगङ्गा) में वर्तमान है, किञ्च इस का अस्धातु के साथ योग भी है । अतः 'गङ्गा सुं' से अभूततद्भाव में कृम्बस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्चिः (१२४२) सूत्रद्वारा च्चिंप्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुंब्लुक्, अस्य ष्वौ (१२४३) से आकार को ईकार आदेश तथा अन्त में प्रातिपदिक से परे उत्पन्न औत्सर्गिक सुंविभक्ति का अव्ययाबाप्सुपः (३७२) से लुक् करने पर 'गङ्गी स्यात्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।^२

अब च्चिं के परे रहते अव्ययों के अवर्ण को ईकार आदेश करने का निषेध करते हैं—

[लघु०] वा०—(६८) अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम् ॥

दोषाभूतमहः । दिवाभूता रात्रिः ॥

१. यहां नकार का नैपादिक लोप पूर्वत्रासिद्धम् (३१) से असिद्ध होता हुआ भी ईत्व करने में बाधक नहीं होता । कारणकि नलोपः सुंस्वरसञ्ज्ञातुविबधिवु कृति (२८२) द्वारा परिगणित विधियों में ही वह असिद्ध होता है अन्यत्र नहीं । अतः नकारलोप के सिद्ध होने से ईत्व निर्बाध हो जाता है ।

२. कृ और भू धातुओं का योग तो उदाहरणों में लैट् के द्वारा प्रदर्शित किया गया है । जैसे—कृष्णी करोति, ब्रह्मी भवति आदि । परन्तु अस् (होना) धातु के योग को लैट् लकार के द्वारा प्रदर्शित न कर विधिलिङ् के द्वारा क्यों प्रदर्शित किया गया है ? इस पर सब व्याख्याकार मौन धारण किये हुए हैं । केवल हरि-नामामृतव्याकरण की बासतोषिणी व्याख्या में इस का समाधान इस तरह प्रस्तुत किया गया है—

अस्तेविध्यन्तस्यैव प्रयोयेऽभूततद्भावप्रतीतिः शब्दशक्तिस्वभावादिति सर्वशास्त्र-सम्मतमित्यतो विध्यन्तमुदाहृतम् ॥

अर्थः— च्चिप्रत्यय के परे रहते अव्यय के अवर्ण के स्थान पर ईकार आदेश न हो—ऐसा कहना चाहिये ।

व्याख्या—अव्ययस्य ।६।१। च्चौ ।७।१। ईत्वम् ।१।१। न इत्यव्ययपदम् । इति इत्यप्यव्ययपदम् । वाच्यम् ।१।१। अर्थः—(च्चौ) च्चि परे रहते (अव्ययस्य अस्य) अव्यय के अवर्ण के स्थान पर (ईत्वम्) ईकार आदेश (न) न हो (इति वाच्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

यह वार्तिक महाभाष्य में कहीं पढ़ा नहीं गया । परन्तु अद्ययीभावश्च (१.१.४०) सूत्र के भाष्य में इस की ओर संकेत पाया जाता है । अतः कौमुदीकार ने इसे वार्तिकरूप से प्रस्तुत किया है । जिस प्रातिपदिक से च्चि प्रत्यय किया जाये यदि वह प्रातिपदिक अव्यय हो तो उस के अन्त्य अवर्ण को अस्य च्चौ (१२४३) द्वारा ईत्व नहीं होता—यह इस वार्तिक का तात्पर्य है । उदाहरण यथा—

अदोषा दोषा सम्पद्यमानं भूतम्—दोषाभूतम् अहः (जो रात्रि न था परन्तु रात्रि हो गया ऐसा दिन) ।^१ यहां 'दोषा' यह विकारवाचक प्रातिपदिक अपनी प्रकृति (अदोषा) के अर्थ में वर्तमान है । इस का भू घातु (भूतम्) के साथ योग भी है । अतः अभूततद्भाव में दोषा अव्यय से कृम्बस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्चिः (१२४२) सूत्रद्वारा च्चि प्रत्यय कर—दोषा च्चि (भूतम्) । अब च्चि का सर्वापहारलोप हो कर अस्य च्चौ (१२४३) से दोषा के आकार को ईकार प्राप्त होता है । इस पर प्रकृत वार्तिक अव्ययस्य च्चौ ईत्वं नेति वाच्यम् (वा० ६८) से उस का निषेध हो जाता है क्योंकि दोषाशब्द अव्यय है—दोषा (भूतम्) । पुनः च्यन्त होने से गतिसञ्ज्ञा के कारण दोषा और भूत में गतिसमास हो कर दोषाभूतम् (अहः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अदिवा दिवा सम्पद्यमाना भूता—दिवाभूता रात्रिः (जो दिन नहीं थी पर दिन बन गई ऐसी रात) ।^२ यहां भी पूर्ववत् अभूततद्भाव अर्थ में 'दिवा' अव्यय से च्चि, उस का सर्वापहारलोप, ईत्वनिषेध तथा अन्त में गतिसमास हो जाता है ।

सावधान—कई लोग—'अनेकत्र एकत्र सम्पद्यमानं भवति—एकत्री भवति । अनेकत्र एकत्र सम्पद्यमानं करोति—एकत्री करोति' इस प्रकार के प्रयोग किया करते हैं, ये सब सर्वथा अशुद्ध हैं । पहली बात तो यह है कि 'एकत्र' शब्द सम्पद्यघातु का कर्त्ता नहीं अपितु अधिकरण है, अतः इस से परे च्चि प्रत्यय प्राप्त ही नहीं होता ।

१. जब दिन में घने बादलों या कोहरा आदि के आ जाने से प्रकाश का अभाव हो कर अन्धकार छा जाता है तब इस प्रकार की उक्ति कही जाती है—दोषाभूतमहः अर्थात् दिन भी यह रात हो गया है । दोषा अव्यय रात्रिवाचक है, इस का विवेचन पीछे अव्ययप्रकरण में किया जा चुका है ।

२. जब पूर्णचन्द्र आदि के कारण प्रकाशाधिक्य से रात भी दिन की तरह प्रकाशित हो उठती है तब इस प्रकार की उक्ति कही जाती है । यहां 'दिवा' अव्यय दिन का वाचक है, इस का विवेचन भी पीछे अव्ययप्रकरण में किया जा चुका है ।

दूसरी बात यह है कि यदि च्चिं कर भी लें तो अव्यय होने से ईत्व न होगा (वा० ६८) । इसलिये ऐसे प्रयोग सर्वथा हेय हैं ।

अब च्च्यर्थ में सातिप्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४४)

विभाषा सातिं कात्स्न्ये ।५।४।५२।।

च्चिंविषये सातिंवा स्यात् साकल्ये ॥

अर्थः—च्चिं के विषय में विकल्प से सातिं प्रत्यय हो यदि सम्पूर्णता गम्य हो तो ।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। सातिं इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । कात्स्न्ये ।७।१। अभूततद्भावे, कृष्णस्तियोगे, सम्पद्यकर्तरि इन पदों का पीछे से अनुवर्तन होता है । प्रथयः, परश्च, ङघाप्रतिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । कृत्स्नस्य (सम्पूर्णस्य) भावः कात्स्न्यम्, भावे ष्यञ् । अर्थः—(अभूततद्भावे) अभूततद्भाव में (कृष्णस्तियोगे) कृ, भू अथवा अस् घातु का योग होने पर (सम्पद्यकर्तरि) सम्पद्यघातु के कर्ता में वर्तमान प्रतिपदिक से (विभाषा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (सातिं) सातिं प्रत्यय हो जाता है (कात्स्न्ये) कृत्स्नता = सम्पूर्णता गम्य हो तो ।

सात्पर्य यह है कि यदि कात्स्न्यं अर्थात् सम्पूर्ण प्रकृति का विकाररूप में परिणत होना गम्य हो तो च्चिं के विषय में सातिं प्रत्यय विकल्प से प्रवृत्त हो जाता है । पक्ष में च्चिं भी हो जायेगा । महाविभाषा के अधिकार के कारण वाक्य भी रहेगा ।

सातिप्रत्यय का अन्त्य इकार अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक (२८) हो कर लुप्त हो जाता है । यह अनुबन्ध, तकार को इत् होने से बचाने के लिये जोड़ा गया है । सातिप्रत्ययान्त शब्द तद्धितश्चाऽसर्बविभक्तिः (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं ।

उदाहरण यथा—

कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते—अग्निंसाद् भवति शस्त्रम् (सम्पूर्णं शस्त्रं जो अग्नि नहीं आग हो जाता है अर्थात् जल जाता है) । यहां सम्पूर्णं शस्त्रं जो अनग्नि है अग्निरूप विकार में परिणत हो रहा है अतः अभूततद्भाव की सम्पूर्णता में 'सम्पद्यते' के कर्ता विकारवाचक 'अग्निं सुं' से विभाषा सातिं कात्स्न्ये (१२४४) इस प्रकृतसूत्र-द्वारा सातिं तद्धितप्रत्यय हो कर इकार अनुबन्ध का लोप तथा सुंपो घातुप्रतिपदिकयोः (७२१) से सुंप् का भी लुक् कर देने से—अग्निंसाद् (भवति) । अब तद्धितश्चाऽसर्ब-विभक्तिः (३६८) से सातिप्रत्ययान्त के अव्ययसञ्ज्ञक हो जाने के कारण इस से परे उत्पन्न औत्सर्गिक सुंविभक्ति का अव्ययाबाधसुंप्ः (३७२) से लुक् हो कर झलां जशोऽन्ते (६७) से जश्त्वेन तकार को दकार करने से 'अग्निंसाद् भवति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में कृष्णस्तियोगे० (१२४२) से च्चिं ला कर उस का सर्वापहारलोप, सुंभ्युक् तथा वक्ष्यमाण च्चौ च् (१२४६) से इकार को दीर्घ कर विभक्तिकार्य करने से 'अग्नी भवति' प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—कृत्स्नं लवणमुदकं सम्पद्यते—उदकसाद् भवति लवणं वर्षासु (बरसात में सारा नमक पानी बन जाता है) । पक्ष में 'उदकी भवति' भी बनेगा । कृत्स्नं गृहं भस्म सम्पद्यते—भस्मसाद् भवति गृहम्, (पक्षे) भस्मी भवति गृहम् (सारा घर राख हो रहा है) । यषैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुक्षतेर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुक्षते तथा (गीता ४.३७) । स भस्मसात्कारारारिन् (भट्टि० १४.८०) ।

'अग्निसात्' प्रयोग में 'सात्' प्रत्यय है, इस का अवयव सकार अपदान्त है और इण्प्रत्याहार से परे भी विद्यमान है अतः आदेशप्रत्यययोः (१५०) से इसे मूर्धन्य अर्थात् षकार होना चाहिये था जो नहीं हुआ, इस का क्या कारण है ? इस शङ्का के समाधान के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४५) सात्पदाद्योः । ८।३।१११॥

सस्य षत्वं न स्यात् । दधि सिञ्चति । कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते—अग्निसाद् भवति ॥

अर्थः—सातिप्रत्यय के सकार को तथा पद के आदि में स्थित सकार को मूर्धन्य (षकार) आदेश न हो ।

व्याख्या—सात्पदाद्योः । ६।२। सः । ६।१। (सहेः साढः सः सूत्र से) । मूर्धन्यः ११।१। (अपदान्तस्य मूर्धन्यः सूत्र से) । न इत्यव्ययपदम् (न रपरसुषिसृजि० सूत्र से) । पदस्य आदिः पदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः । सात् च पदादिश्च सात्पदादी, तयोः = सात्पदाद्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(सात्पदाद्योः) सात् के तथा पदादि के (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धन्य षकार आदेश (न) नहीं होता । यह आदेशप्रत्यययोः (१५०) सूत्र का अपवाद है ।

पदादि सकार के स्थान पर षकार न होने का उदाहरण यथा—

दधि सिञ्चति (दही छिड़कता है) । यहां 'सिञ्चति' यह षिच क्षरणे (तुदा० उभय०) धातु के लँट लकार के प्रथमपुरुष का एकवचनान्त रूप है । यहां शे मुच्चादीनाम् (६५४) सूत्र से नुंम् का आगम तथा धात्वावेः षः सः (२५५) से धातु के आदि षकार के स्थान पर सकार आदेश हुआ है । आदेशरूप सकार होने से ('दधि' के इकार = इण् से परे) इसे आदेशप्रत्यययोः (१५०) से षत्व प्राप्त होता था जो अब सात्पदाद्योः (१२४५) इस प्रकृत निषेध के कारण नहीं हुआ । इसीप्रकार—वारि सिञ्चति, मधु सेवते आदि में समझ लेना चाहिये ।

सात् में षत्वनिषेध का प्रकृत उदाहरण यथा—

कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते—अग्निसाद् भवति । यहां 'अग्निसात्' में प्रत्यय का अवयव सकार विद्यमान है, यह इण् से परे भी है अतः आदेशप्रत्यययोः (१५०) से षत्व की प्राप्ति होती है उस का प्रकृत सात्पदाद्योः (१२४५) सूत्र से निषेध हो जाता है—अग्निसात् । इसीप्रकार 'मधुसात्' आदि में जानना चाहिये ।

सातिप्रत्यय के अभाव में च्विप्रत्यय (१२४२) होता है । च्विं का सर्वापहार-

लोप आदि करने पर 'अग्नि (भवति)' इस दशा में दीर्घविधान करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४६) च्चौ च ।७।४।२६॥

च्चौ च परे पूर्वस्य दीर्घः स्यात् । अग्नी भवति ॥

अर्थः—च्च् के परे रहते भी पूर्व को दीर्घ हो ।

व्याख्या— च्चौ ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । दीर्घः । १।१। (अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः सूत्र से) । अङ्गस्य । (यह अधिकृत है) । अचः । ६।१। (अचश्च इस परिभाषा-सूत्रद्वारा) । 'अचः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अजन्तस्याङ्गस्य' बन जाता है । अर्थः—(च्चौ) च्च् परे होने पर (च) भी^१ (अचः= अजन्तस्य) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषाद्वारा यह आदेश अजन्त अङ्ग के अन्त्य अल्=अच् के स्थान पर हो जाता है । अचों में अवर्ण के विषय में इस के अपवाद अस्य च्चौ (१२४३) सूत्र की प्रवृत्ति हो कर ईत्व हो जाता है । ऋकार के विषय में इस के अपवाद रीङ् ऋतः (१०४५) से रीङ् आदेश हो जाता है ।^२ अतः इन दोनों को छोड़ कर शेष अचों के विषय में इस की प्रवृत्ति होती है । परन्तु ए, ऐ, ओ, औ तो स्वयं दीर्घ हैं ही, इसलिये परिशेष्यात् इकार और उकार के विषय में ही इस सूत्र की फलोन्मुखी प्रवृत्ति देखी जा सकती है । उदाहरण यथा—

अग्नि (भवति)—यहां सार्ति के अभावपक्ष में च्च् के सर्वापहारलोप हो चुका है । प्रत्ययलक्षणद्वारा च्च् के परे मान कर प्रकृत च्चौ च (१२४६) सूत्र से दीर्घ करने पर—अग्नी भवति । अब च्यन्त की गति और निपातसञ्ज्ञा (६५०) तथा निपातत्वात् अव्ययसञ्ज्ञा (३६७) कर अव्ययादाप्सुः (३७२) से सुंविभक्ति का लुक् कर देने से 'अग्नी भवति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी तरह—अशुचिः शुचिः सम्पद्यते तं करोति—शुची करोति । शुची भवति । शुची स्यात् । अपटुः पटुः सम्पद्यते तं करोति—पटू करोति । पटू भवति । पटू स्यात् । इत्यादि ।

च्यन्तों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) अस्वं स्वं सम्पद्यमानं करोति—स्वी करोति । स्वी भवति । स्वी स्यात् ।

१. अष्टाध्यायी में इस से पूर्व अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (७.४.२५) सूत्रद्वारा दीर्घ का विधान किया गया है । पुनः च्च् के परे रहते भी दीर्घ के समुच्चय के लिये यहां 'च' का ग्रहण किया गया है ।

२. रीङ् ऋतः (१०४५) । अर्थः—अकृत्कारेऽसार्वधातुके यकारे च्चौ च परे ऋदन्तस्याङ्गस्य रीङ् आदेशः स्यात् । यथा—अपितरं पितरं सम्पद्यमानं करोति—पित्री करोति ।

(२) अनुन्मुखम् उन्मुखं सम्पद्यमानं करोति—उन्मुखी करोति । उन्मुखी भवति । उन्मुखी स्यात् ।

(३) अषटं घटं सम्पद्यमानं करोति—घटी करोति मूदं कुम्भकारः । घटी भवति । घटी स्यात् ।

(४) अराजानं राजानं सम्पद्यमानं करोति—राजी करोति । राजी भवति । राजी स्यात् ।

(५) अपितरं पितरं सम्पद्यमानं करोति—पित्री करोति । पित्री भवति । पित्री स्यात् । (रीङ् ऋतः १०४५) ।

(६) अमलिना बुद्धयो मलिनाः सम्पद्यमाना भवन्ति—मलिनी भवन्ति । प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिनी भवन्ति (हितोप० १.२८) ।

अब अव्यक्तध्वनि के अनुकरण से स्वार्थ में डाच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१२४७)

अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवराधादिनितौ डाच् ।५।४।५७।।

द्व्यज्वेव अवरं न्यूनं न तु ततो न्यूनम् अनेकाजिति यावत्, तादृशम् अर्धं यस्य तस्माद् डाच् स्यात् कृभ्वस्तियोगे ॥

अर्थः—(द्वित्व कर चुकने पर)^१ जिस के आधे भाग में कम से कम दो अच् पाये जायें ऐसे अव्यक्तानुकरण से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक डाच् प्रत्यय हो, यदि कृ, भू या अस् घातु का योग हो तो । परन्तु यह प्रत्यय 'इति' शब्द के परे रहते नहीं होता ।

व्याख्या—अव्यक्तानुकरणात् ।५।१। द्व्यजवराधात् ।५।१। अनितौ ।७।१। डाच् ।१।१। कृभ्वस्तियोगे ।७।१। (कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य० सूत्र से मण्डूकप्लुतिद्वारा) । प्रत्ययः, परश्च, इच्चाप्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । यत्र ध्वनौ अकारादयो वर्णविशेषा न व्यज्यन्ते सोऽव्यक्तो ध्वनिः । तस्यानुकरणम्—अव्यक्तानुकरणम्, तस्मात् = अव्यक्तानुकरणात् । षष्ठीतत्पुरुषः । द्वयोरचोः समाहारो द्व्यच्, द्व्यच् एव अवरम् = न्यूनान्यूनं न ततो न्यूनं द्व्यजवरम्, कर्मधारयसमासः । द्व्यजवरम् अर्धम् (अर्धभागः) यस्य तत् = द्व्यजवराधम्, तस्माद् = द्व्यजवराधात्, बहुव्रीहिसमासः । न इतिः— अनितिः, तस्मिन् = अनितौ, नञ्तत्पुरुषः । अर्थः— (द्व्यजवराधात्) जिस का आधा भाग कम से कम दो अचों वाला हो ऐसे (अव्यक्तानुकरणात्) अव्यक्तध्वनि के अनुकरण प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (डाच्) डाच् प्रत्यय हो जाता है यदि (कृभ्वस्तियोगे) कृ, भू या अस् घातु का योग हो तो (अनितौ) परन्तु 'इति' शब्द के परे होने पर यह प्रत्यय नहीं होता ।

१. डाच् की विवक्षा होते ही डाच्चि च द्वे बहुसम् (वा० ६६) इस अग्रिम वार्तिक से अव्यक्तानुकरण को सर्वप्रथम द्वित्व हो जाता है । द्वित्व के बाद ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, अत एव यहां पर 'द्वित्व कर चुकने पर' ऐसा कहा गया है ।

डाच् में चकार अनुबन्ध लोहितादिडाञ्ज्यः क्यच् (३.१.१३) सूत्र में विशेषणार्थं जोड़ा गया है^१ तथा डकार टेः (२४२) द्वारा टि का लोप करने के लिये लगाया गया है। दोनों अनुबन्धों का लोप कर डाच् का 'आ' मात्र शेष रहता है।

जब कोई पदार्थ घड़ाम से गिरता हुआ या अन्य किसी प्रकार से एकदम शब्द करता है तो उस अव्यक्तध्वनि का लोक में पटत्, दमत्, खरटत्, श्रत् आदि शब्दों से अनुकरण किया जाता है। उस अनुकरण को प्रकट करने के लिये उस से डाच् प्रत्यय किया जाता है। परन्तु अनुकरण से डाच् तभी होता है जब उस अनुकरण को द्वित्व करने पर उस के आधे भाग में कम से कम दो अच् पाये जाते हों। यथा—'पटत्' इस अव्यक्तानुकरण को द्वित्व कर 'पटत् पटत्' बनेगा। अब इस के आधे भाग 'पटत्' में दो अच् हैं। अतः कृ, भू, अस् घातुओं का योग होते ही इस से डाच् प्रत्यय हो जायेगा। कम से कम दो अचों का होना इसलिये कहा है कि दो से अधिक अच् होने पर भी इस की प्रवृत्ति हो जाये। यथा—'खरटत् खरटत्'। परन्तु जिस का अर्ध भाग एक अच् वाला होगा उस से डाच् न होगा। यथा—'श्रत् श्रत्' में डाच् नहीं होता।

अब डाच् की विवक्षा में सब से प्रथम द्वित्व का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(६६) डाचि च द्वे बहुलम् ॥

इति डाचि विवक्षिते द्वित्वम् ॥

अर्थः—डाच् की विवक्षा होने पर अव्यक्तानुकरण को बहुल से द्वित्व हो।

व्याख्या—यह वार्तिक सर्वस्य द्वे (८.१.१) के प्रकरण में महाभाष्यस्य (८.१.१२) सूत्र पर पढ़ा गया है। 'डाचि' में विषयसप्तमी है। अर्थः—(डाचि) डाच् के विषय में (बहुलम्) बहुल कर के अव्यक्तानुकरण के स्थान पर (द्वे) दो शब्दस्वरूप हो जाते हैं। यह द्वित्व डाच् की विवक्षामात्र में अर्थात् डाच् करने से पूर्व ही हो जाता है। इस द्वित्व करने के बाद ही पूर्वसूत्र (१२४७) से डाच् की प्रवृत्ति होती है।

उदाहरण यथा—

'पटत्' एवं शब्दं करोति—पटपटा करोति ('पटत्' इस तरह की अव्यक्तध्वनि करता है)। यहां 'पटत्' यह किसी अव्यक्तध्वनि का अनुकरण है। इस से परे 'इति' शब्द नहीं है किञ्च इस का कृघातु के साथ कर्मत्वेन योग भी स्पष्ट है अतः डाच् की विवक्षा में डाच् के लाने से पूर्व ही डाचि च द्वे बहुलम् (वा० ६६) से 'पटत् अम्' को द्वित्व कर बाद में अव्यक्तानुकरणाद् द्वयजवरार्धादितौ डाच् (१२४७) सूत्र से डाच् प्रत्यय एवम् उस के अनुबन्धों का लोप करने से—पटत् अम् पटत् अम् आ (करोति)। अब डाजन्त समग्र समुदाय के तद्धितान्त होने से कृत्तद्धितसमासारच (११७) द्वारा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुंपो घातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से उस के अवयव दोनों

१. डाचिचित्त्वं लोहितादिडाञ्ज्यः क्यच् (३.१.१३) इति विशेषणार्थम्। तेन 'नाभा पृथिव्याः' इत्यादी डेड्दिशे निष्पन्नस्य अनुकरणे पटपटायतीत्यादाविव नाभा इति भवति इत्यर्थे क्यच्चारणायेति भाष्यस्वरसः। (इति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः)

अम्प्रत्ययों का लुक् करने पर 'पटत् पटत् आ (करोति)' बना। अब इस स्थिति में अभिमवार्तिक से पररूप एकादेश का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(१००) नित्यमाञ्जेडिते डाचीति वक्षतध्यम् ॥

डाच्परं यद् आञ्जेडितं तस्मिन् परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात् । इति तकारपकारयोः पकारः । पटपटा करोति ॥

अर्थः—डाच् है परे जिस के ऐसा जो आञ्जेडित, उस के परे रहते पूर्व और पर दोनों वर्णों के स्थान पर पररूप एकादेश हो ।

व्याख्या—यह वार्तिक एकः पूर्वपरयोः (६.१.८१) के अधिकार में पररूप-प्रकरण में पड़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये । अर्थः—(डाचि) डाच् के परे रहते जो (आञ्जेडिते) आञ्जेडित, उस के परे रहते (पूर्वपरयोः) पूर्व वर्ण तथा पर वर्ण दोनों के स्थान पर (नित्यम्) नित्य (पररूपम्) पररूप एकादेश हो जाता है ।

द्वित्व का परला रूप आञ्जेडित होता है—यह पीछे तस्य परमाञ्जेडितम् (६६) सूत्र पर बताया जा चुका है । पटत् पटत् आ (करोति)—यहां डाच् (आ) के परे रहते दूसरा पटत् शब्द आञ्जेडित है अतः नित्यमाञ्जेडिते डाचीति वक्षतध्यम् (वा० १००) इस प्रकृत वार्तिक से आञ्जेडित के परे रहते पूर्ववर्ण (प्रथम पटत् का तकार) और उस से पर वर्ण (दूसरे पटत् का पकार) इन दोनों के स्थान पर पररूप पकार एकादेश हो जाता है—पट प् अटत् आ (करोति) = पटपटत् आ (करोति) । डाच् के परे रहते यच्चि भम् (१६५) सूत्र से पूर्व की भसञ्ज्ञा कर टः (२४२) सूत्र से भसञ्ज्ञक टि (अत्) का लोप हो जाता है—पटपट् आ (करोति) = पटपटा (करोति) । अब 'पटपटा' की अव्ययसञ्ज्ञा होकर^१ इस से परे आई औत्सर्गिक सुंविभक्ति का अव्ययावाप्सुंषः (३७२) से लुक् करने पर 'पटपटा करोति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—'दमत् एवं शब्दं करोति—दमदमा करोति । 'खटत्' एवं शब्दं करोति—खटखटा करोति । अस् और भू धातुओं के योग में भी इसीतरह स्वार्थ में डाच् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरणार्थ यथा—पटपटा भवति, पटपटा स्यात् । दमदमा भवति, दमदमा स्यात् । इत्यादि ।

अब अव्यक्तानुकरणाद् (१२४७) सूत्र के विषय को प्रत्युदाहरणों द्वारा और अधिक स्पष्ट करते हैं—

[लघु०] अव्यक्तानुकरणात् किम् ? ईषत्करोति ।

द्वयजवराधात् किम् ? श्रत् करोति ।

१. 'पटपटा' शब्द डाजन्त है अतः ऊर्थादि-चिबि-डाचश्च (६५०) से इस की गति और निपात दोनों सञ्ज्ञाएं हो जाती हैं । गतिसञ्ज्ञा के कारण से प्राग्घातोः (४१६) द्वारा इस का धातु से पूर्व ही प्रयोग होता है—पटपटा करोति । 'करोति पटपटा' प्रयोग करना अशुद्ध है । निपातसञ्ज्ञा के कारण स्वरादिनिपातमव्ययम् (३६७) से इस की अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है ।

अवरोति किम् ? खरटखरटा करोति ।

अनितौ किम् ? पटिति करोति ॥

व्याख्या—अव्यक्तानुकरणात् किम् ? ईषत्करोति । अव्यक्तानुकरणात् द्वषज-
वरार्धादिनितौ डाच् (१२४७) सूत्र में 'अव्यक्तानुकरणात्' कह कर अव्यक्तध्वनि के
अनुकरण से ही डाच् का विधान किया गया है । यदि यह न कहते तो 'ईषत् करोति'
(थोड़ा करता है) यहां भी डाच् होने लगता । 'ईषत्' शब्द 'थोड़ा' अर्थ में अव्यय है, यह
किसी ध्वनि का अनुकरण नहीं, अतः इस से डाच् नहीं हुआ । डाच् के न होने से
तन्मूलक द्वित्व आदि भी नहीं हुए ।

द्वषजवरार्धादिति किम् ? श्त् करोति ।

डाज्विधायकसूत्र (१२४७) में यह कहा गया है कि ऐसे अव्यक्तानुकरण से
डाच् प्रत्यय होता है द्वित्व करने पर जिस के अर्ध भाग में कम से कम दो अच् रहते
हों । यदि ऐसा न कहते तो 'श्त् करोति' (श्त् इस तरह अव्यक्तध्वनि करता है) यहां
एकाच् वाले स्थानों पर भी डाच् हो जाता जो अनिष्ट था ।

अवरोति किम् ? खरटखरटा करोति ।

डाज्विधायकसूत्र (१२४७) में 'अवर' (न्यून=कम से कम) शब्द का प्रयोग
किया गया है । उस का अभिप्राय यह है कि द्वित्व करने पर जिस के अर्धभाग में कम
से कम दो अच् विद्यमान हों तो उस से डाच् हो जाता है । इसप्रकार के कथन से दो से
अधिक अर्चों वाले अनुकरणों से भी डाच् हो जाता है । यथा—खरटखरटा करोति
(खरटत् इस तरह अव्यक्तध्वनि करता है) । यहां द्वित्व करने पर अर्धभाग खरटत्शब्द
में तीन अच् पाये जाते हैं । अतः यहां भी डाच् प्रत्यय निर्बाध हो जाता है । यदि 'द्वष-
जवर' (कम से कम दो अर्चों वाला) न कह कर 'द्वषच्' (दो अर्चों वाला) इतना मात्र
कहते तो दो से अधिक अर्चों की अवस्था में डाच् न हो सकता ।'

अनितौ किम् ? पटिति करोति ।

डाज्विधायकसूत्र में 'अनितौ' इसलिये कहा गया है कि 'इति' शब्द के परे
रहते डाच् न हो । डाच् न होगा तो तन्मूलक द्वित्व भी न होगा । यथा—'पटत् + इति'
यहां 'इति' शब्द परे है अतः अव्यक्तानुकरणात् द्वषजवरार्धादिनितौ डाच् (१२४७) से

१. वस्तुतः 'द्वषजवरार्धात्' के स्थान पर यदि सूत्रकार 'अनेकाचः' कह देते तो अच्छा
होता, अनेक शब्दों से छुटकारा मिल जाता तथा प्रक्रिया भी बहुत सरल हो
जाती । तब डाच् की विवक्षा में पहले द्वित्व कर फिर उस के अर्धभाग में कम से
कम दो अर्चों को देखने आदि की आवश्यकता ही न होती । सीधा जो अनेकाच्
होता उस से डाच् और डाच् के परे रहते द्वित्व हो जाता । सम्भवतः आचार्य ने
यहां किसी पूर्वव्याकरण का आश्रय लिया होगा । पाणिनीयव्याकरण के सूत्रपाठ
को वेदाङ्ग मानने वाले वैयाकरण ऐसे स्थलों को प्रायः अदृष्टार्थ ही माना करते
हैं ।

डाच् न होगा। अब यहां अब्यक्तानुकरणस्यात् इतौ (६.१.६५)^१ सूत्र से 'पटत्' के 'अत्' तथा 'इति' के आदि 'इ' के स्थान पर पररूप (इ) एकादेश हो कर—पट् इति = 'पटिति करोति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—घमत् + इति = घमिति करोति। खरटत् + इति = खरटिति करोति।

अभ्यास [१६]

(१) निम्नस्थ प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—

१. अन्नमयम् । २. अश्वकः । ३. अन्नमयो यज्ञः । ४. प्राज्ञः । ५. आदितः । ६. कृष्णी करोति । ७. ब्रह्मी भवति । ८. दोषाभूतमहः । ९. अम्नी भवति । १०. पटपटा करोति । ११. चौरः । १२. अग्निसाद् भवति । १३. गङ्गी स्यात् । १४. भस्मसात् कुष्ठे । १५. स्वी चकार । १६. शुची भवति । १७. दमदमा भवति । १८. कौतूहलम् । १९. राक्षसः । २०. अल्पशो ददाति ।

(२) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप सिद्ध करें—

१. स्वरेण । २. मध्ये । ३. बहूनि ददाति । ४. अश्व एव । ५. कृत्स्नं गृहं भस्म भवति । ६. खरटत् एवं शब्दं करोति । ७. अपटुः पटुः सम्पद्यते तं करोति । ८. अदिवा दिवा सम्पद्यमाना भूता । ९. कृत्स्नं लवणमुदकं सम्पद्यते । १०. अपितरं पितरं सम्पद्यमानं करोति । ११. चर एव । १२. अशुकलं शुकलं सम्पद्यमानं करोति । १३. प्राचुर्येण प्रस्तुता अपूपा यस्मिन् ।

(३) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. तत्प्रकृतवचने मयट् । २. इवे प्रतिकृतौ । ३. कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः । ४. बहुल्यार्थात् शस् कारकादन्यतरस्याम् । ५. अब्यक्तानुकरणाद् द्व्यजबराघादिनिती डाच् । ६. विभाषा सार्ति कात्स्न्ये । ७. सात्पदाद्योः । ८. जीविकार्थे चाऽपण्ये । ९. अब्यक्तानुकरणस्यात् इतौ । १०. अस्य च्वौ ।

१. अब्यक्तानुकरणस्यात् इतौ (६.१.६५) । अर्थः—अब्यक्तानुकरण के 'अत्' तथा उस से परे इतिशब्द के आदि इकार के स्थान पर पररूप एकादेश हो जाता है। यथा—घटत् + इति = घटिति । छमत् + इति = छमिति । झटत् + इति = झटिति । [पटिति को प्रत्युदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने वाले लघुकौमुदीकार को यहां यह सूत्र अवश्य देना चाहिये था। अथवा—लघुकौमुदीकार ने शायद यह समझ लिया होगा कि इस का निर्वाह तो 'पतत् + अञ्जलि = पतञ्जलिः' की तरह शकन्त्वादिषु पररूपं वाच्यम् (वा० ८) वार्तिक से ही कर लिया जायेगा क्योंकि शकन्त्वादियों को आकृतिगण तो माना ही हुआ है।]

(४) निम्नस्थ वार्तिकों वा वचनों की व्याख्या करें—

१. अव्ययस्य ञ्वावीत्वं नेति वाच्यम् ।
२. डाधि च द्वे बहुलम् ।
३. नित्यमाग्नेडिते डाचीति वक्तव्यम् ।
४. आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् ।
५. सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् ।
६. बहुल्यार्थान्मङ्गलाऽमङ्गलवचनम् ।
७. ञ्यन्तत्वादव्ययत्वम् ।
८. अवरेति किम् ? खरटन्वरटा करोति ।

(५) रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे

बिचीणीते यो नरस्तं च घिग्घिक् ।
अस्मिन् पद्ये घोऽपशब्दं न वेत्ति
व्यर्थप्रसंगं पण्डितं तं च घिग्घिक् ॥

इस पद्य में कौन कौन से अपशब्द हैं, उन का सप्रमाण विवेचन करें ।

- (६) 'पटपटा करोति' को 'करोति पटपटा' क्यों नहीं लिखा जा सकता ? क्या इन दोनों में कोई समास हुआ है ?
- (७) 'एकत्री भवन्ति' प्रयोग के शुद्धाशुद्धत्व का विवेचन करें ।
- (८) प्रज्ञादियों से स्वार्थे अण् के चार उदाहरण दीजिये ।
- (९) च्वि के प्रसङ्ग में अस् घातु के विघिलिङ् का ही क्यों उदाहरण दिया जाता है, अन्य लकारों का क्यों नहीं ?
- (१०) 'पटिति' में किस सूत्र से किस प्रकार की सन्धि होती है ? यहाँ डाच् की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?
- (११) प्रज्ञा, प्राज्ञा, प्राज्ञी—तीनों की मसूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें ।
- (१२) च्वि के परे रहते अवर्ण, इवर्ण, उवर्ण और ऋवर्ण के स्थान पर क्या क्या आदेश होते हैं ? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें ।
- (१३) 'द्व्यजववाराघात्' का अभिप्राय अपने शब्दों में स्पष्ट कीजिये ।
- (१४) 'तत्प्रकृतवचने मयट्' सूत्र की द्विविध व्याख्या कैसे और किस आधार पर की जाती है ?
- (१५) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—
[क] 'प्रतिकृति' से यहाँ क्या अभिप्रेत है ?
[ख] 'अग्निसाद्भवति' में सकार को षत्व क्यों नहीं हुआ ?
[ग] 'दधि सिञ्चति' में षत्व हो या न हो ?
[घ] 'अत् करोति' में डाच् की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

- [ङ] सार्वविभक्तिक तसिं किसे कहते हैं ?
 [च] च्विं का सर्वापहारलोप किस प्रकार हो जाता है ?
 [छ] देवता एव दैवतः—यहां प्रकृतिलिङ्गता क्यों नहीं होती ?
 [ज] अभूततद्भाव का क्या आशय है ?
 [झ] अव्यक्तानुकरण से क्या अभिप्रेत है ?

[लघु०]

इति स्वार्थिकाः ॥

इति तद्धितप्रकरणम् ॥

- [यहां पर स्वार्थिक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।]
 [तद्धितप्रकरण का भी विवेचन यहां समाप्त होता है ।]

इति भूतपूर्वाऽऽषडभारतान्तगंत-सिन्धुतटवर्ति-डेराइस्माईल-खाना-
 ख्य-नगरवास्तव्य - भाटियावंशावतंस-स्वगंत - श्रीमग्रामचन्द्र-
 वर्मसूनुना एम्० ए० साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधिभुता
 वैद्येन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां लघुसिद्धान्त-
 कौमुद्या भैमीव्याख्यायां तद्धित-
 प्रकरणाख्योऽयम् पञ्चमो
 भागः पूर्तिमगात् ॥

वसु-वेद-नभो-नेत्रे वैक्रमे शुभवत्सरे ।
 वारे शुके तृतीयायां ज्येष्ठमासाऽसिते दले ॥
 चिरात्प्रतीक्षितो भागो भैमीव्याख्याविभूषितः ।
 तद्धितान् विषयीकृत्य पञ्चमः पूर्तिमगात् ॥

ज्येष्ठ कृष्णपक्ष

(३१.५.१९६१ ई०)

तृतीया, सं० २०४८ वि०

अथ परिशिष्टानि

(१) परिशिष्ट—विशेष स्मरणीय पद्य वा वचन

[भैमीव्याख्या के इस तद्धितप्रकरण में उद्धृत सैंकड़ों वचनों में से कुछ विशेष स्मरणीय पद्य या वचन यहां संगृहीत किये गये हैं ।]

- (१) तेभ्यः (प्रयोगेभ्यः) हिताः—तद्धिताः । (पृष्ठ २)
- (२) संगच्छ पौंस्त्रिंस्त्रैणं मां युवानं तरुणी शुभे ।
राघवः प्रोष्य-पापीयान् जहीहि तमकिञ्चनम् ॥ (पृष्ठ १७)
- (३) सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः ।
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः ॥ (पृष्ठ ३१)
- (४) त्यजस्व कोपं कुलकीर्तिनाशनं भजस्व धर्मं कुलकीर्तिवर्धनम् ।
प्रसीद जीवेम सवान्धवा वयं प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥ (पृष्ठ ३१)
- (५) सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके ।
सूत्रं योनिरिहार्यानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम् ॥ (पृष्ठ ३५)
- (६) शुभ्रादित्वेन गाङ्गेयो गाङ्गाश्चापि शिवाद्यणि ।
गाङ्गायनिस्तिकादित्वादिति गङ्गा त्रिरूपिणी ॥ (पृष्ठ ३८)
- (७) नक्षत्रगामिन्यणि तिष्यपुष्ययोश्छे इथां च लोपोऽयमगस्त्यसूर्ययोः ।
इधामेव मत्स्यस्य भवेद्वितीरणाद् व्यनाशि सूत्रं प्रविभज्य वार्तिके ॥ (पृष्ठ ६४)
- (८) सिद्धे यस्येतिलोपेन किमर्थं य-यतौ द्वितौ ।
ग्रहणं माऽतदर्थं भूद् वामदेव्यस्य नऽस्वरे ॥ (पृष्ठ ६८)
- (९) एकरश्च बलवजो बन्धनेऽसमर्थः, तत्समुदायरश्च रज्जुः समर्था भवति । (पृष्ठ ६४)
- (१०) शेषिकान्मत्तुबर्धोयाच्छेषिको मत्तुबर्धकः ।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान् सनिष्यते ॥ (पृष्ठ १०६)
- (११) अमेह-भव-तसि-त्रेभ्यस्त्वच्चिधिर्योऽभ्ययात् स्मृतः ।
निनिर्म्यां प्रुवगत्योरश्च प्रवेशो नियमे तथा ॥ (पृष्ठ ११६)
- (१२) गता देवविद्या गतं धर्मशास्त्रं गतं रे गतं रे गतं न्यायसूत्रम् ।
इबानीन्तनानां जनानां प्रवृत्तिः सुबन्ते तिङन्ते कदाचित् कृदन्ते ॥ (पृष्ठ १३६)
- (१३) नहि देववत्सः क्षुञ्जे सन्निधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रे सन्निधीयते ।
युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात् । (पृष्ठ १३६)
- (१४) प्रायशब्दः साकल्यस्य किञ्चिन्न्यूनतामाह । (पृष्ठ १४१)

- (१५) कारणे कार्यसदभावपक्षात् सम्भूततोच्यते ।
विकारे वाच्यमेभ्या ढम् कोशाच्चेत्याह भाष्यकृत् ॥ (पृष्ठ १४४)
- (१६) प्राण्योषधितरुम्यस्तु विकारावयवार्थयोः ।
अन्येभ्यस्तु विकारेऽर्थे प्रत्ययाः स्युरतः परम् ॥ (पृष्ठ १७३)
- (१७) इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽपिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥ (पृष्ठ १६२)
- (१८) ग्रामात्क्रोशे निवस्तव्यं भिक्षुणेति विधीयते ।
तावद् निकाटबासेऽयं विधिर्नैकटिको यतिः ॥ (पृष्ठ १६८)
- (१९) अंशभूतं किलानाम्यमिति वृत्तावुदीरितम् ।
मूलद्रव्याङ्गभूतत्वात्लाभस्यात्रास्ति मूल्यता ॥ (पृष्ठ २०७)
- (२०) वैतण्डिकः प्रयतते निजपक्षसिद्ध्यै ताञ्चैष वेद परपक्षनिषधलन्याम् ।
(पृष्ठ २११)
- (२१) अन्यच्छब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम् ॥ (पृष्ठ २४२)
- (२२) पृथुं मृतुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च ।
परिपूर्वं दृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत् ॥ (पृष्ठ २४६)
- (२३) अघः पश्यसि किं दृढे ! पतितं तव किं भुवि ।
रे रे मूढ ! न जानासि गतं तारुण्यमौषितकम् ॥ (पृष्ठ २५४)
- (२४) एतदव्यस्य कापेयं यदकंमुपतिष्ठति ॥ (पृष्ठ २५८)
- (२५) एष प्राबुषिजाम्भोवनादी भ्राता विरौति ते ।
ज्ञातेयं कुरु सौमित्रे ! भयात् त्रायस्व राघवम् ॥ (पृष्ठ २५६)
- (२६) यव-गोधूम-धान्यानि तिलाः कङ्गु-कुलत्थकाः ।
भाषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः श्याम-सर्षपाः ॥
गवेधुकाश्च नीवारा आढक्यश्च सतीनकाः ।
चणकाश्चीणकाश्चैव धान्यान्यष्टावशैव तु ॥ (पृष्ठ २६३)
- (२७) बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते ।
न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवाजंय निष्फला गुणाः ॥ (पृष्ठ २६७)
- (२८) प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतो मम ॥ (पृष्ठ २६६)
- (२९) कियन्मात्रं जलं विप्र ! जानुवध्नं नराधिप ।
तथापीयमवस्था ते, न हि सर्वे भवादृशाः ॥ (पृष्ठ २६६)
- (३०) उदितवति परस्मिन् प्रत्यये शास्त्रयोनी
गतवति विलयं च प्राक्तेऽपि प्रपञ्चे ।
सपदि पदमुदीते केवलः प्रत्ययो यत्
तदियदिति मिमीते को हृवा पण्डितोऽपि ॥ (पृष्ठ २७३)
- (३१) भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशयाने ।
सम्बन्धेऽस्तिविषयायां भवन्ति मनुबावयः ॥ (पृष्ठ ३०२)

- (३२) गुणे शुकलादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति ॥ (पृष्ठ ३०६)
- (३३) एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ ॥ (पृष्ठ ३१४)
- (३४) नहि व्यञ्जनपरस्य एकस्यानेकस्य वा अवर्णं प्रति विशेषोऽस्ति ।
(पृष्ठ ३१६)
- (३५) यो हि सम्यग्बहु भाषते वाग्मीत्येव भवति ॥ (पृष्ठ ३१६)
- (३६) न कर्मधारयान्मस्वर्थायो बहुव्रीहिर्येसत्तवर्षप्रतिपत्तिकरः ॥ (पृष्ठ ३२३)
- (३७) अनिर्विष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति ॥ (पृष्ठ ३२५)
- (३८) किशब्दाद् द्वेषादिवर्जाश्च सर्वनाम्नो बहोरपि ।
प्राग्बिभ्रशः प्रत्यया ज्ञेया नाऽपरेभ्यो भवन्त्यमी ॥ (पृष्ठ ३२७)
- (३९) अहृदभयतोऽर्धरात्रमेवोऽद्यतनः कालः ॥ (पृष्ठ ३४२)
- (४०) बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामप्यातिशायनिकाः ॥ (पृष्ठ ३५७)
- (४१) यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपर
आतिशायनिकः प्रत्ययो भवत्येव ॥ (पृष्ठ ३७१)
- (४२) आतिशायनिकप्रत्ययान्ताद् आतिशायनिको न अनभिधानात् ॥
(पृष्ठ ३७१)
- (४३) स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गबनान्यनुवर्तन्ते ॥ (पृष्ठ ३७२)
- (४४) क्वचित्स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गबनान्यतिवर्तन्तेऽपि ॥ (पृष्ठ ३७२)
- (४५) स्यादीवदसमाप्तौ तु बहुच् प्रकृतिलिङ्गता ॥ (पृष्ठ ३७४)
- (४६) साद्योदाविभकारादिसुप्सु स्यात्प्रकृतेरकच् ।
अन्यत्र तु सुबन्तस्येत्याहुर्भोजहरादयः ॥ (पृष्ठ ३७८)
- (४७) कादेशः सत्वप्यवश्यं साकञ्कार्थो वक्तव्यः ॥ (पृष्ठ ३८५)
- (४८) रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थं
विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग्धिक् ।
अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति
व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिग्धिक् ॥ (पृष्ठ ३९०)
- (४९) बुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ॥ (पृष्ठ ३९७)
- (५०) नाम च घातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च लोकम् ।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥
(पृष्ठ ३९७)

(२) परिशिष्ट-तद्धितप्रकरणगताष्टाध्यायीसूत्रतालिका

[इस परिशिष्ट में तद्धितप्रकरण में व्याख्यात अष्टाध्यायीसूत्रों की अकारादि-क्रम से तालिका दी जा रही है। मूलोक्त सूत्र स्थूल टाइप में तथा व्याख्योक्त सूत्रम टाइप में मुद्रित किये गये हैं। सूत्रों के आगे इस ग्रन्थ की पृष्ठसंख्या दी गई है।]

[अ]		अस्मायामेधा०	३१६	[आ]		[ऋ]	
अखित्तहस्ति०	८४	अस्य च्वाँ	४००	आ च्त्वात्	२४४	ऋतष्ठम्	१५६
अचोऽन्त्यादि०	३७६	अहंशुभमोर्युस्	३२२	आत्मन्विश्व०	२२०	ऋष्यन्धक०	३६
अजादी गुण०	३५०	अह्लष्टखोरेव	८३	आत्माध्वानौ ल्हे	२२१	[ए]	
अज्ञाते	३७६	[आ]		आपत्यस्य च्	५७	एको गोत्रे	२१
अत इम्	३०	आयनेयीनीयियः०	२८	आहार्द्वगोपुच्छ०	२२६	एतदः	३४३
अत इनिँठनौ	३१३	[इ]				एतेतौ रयोः	३४०
अतिशायने०	३४६	इगन्ताच्च०	२५०			[ऐ]	
अदूरभवश्च	६५	इभश्च	१६४			ऐवमोह्यः०	१३८
अधिकृत्य कृते०	१६१	इतराम्योऽपि०	३३५			[ओ]	
अध्वनो यत्षी	२२१	इदम इश्	३२६			ओर्गुणः	१६
अनद्यतने हिल०	३४२	इदमस्थसुं:	३४५			[क]	
अनुदात्तम्पदमेक०	२७७	इदमोहिल्	३४०			कठचरकाल्लुक्	३८४
अनुदात्तादेरञ्	८६	इदमो हः	३३३			कथादिभ्यष्ठक्	२११
अनुदात्ती सुंप्पितौ	१४१	इदंकिमोरीशकी	२७२			कन्यायाः कनीन०	४३
अनुशतिकादीनां०	१४६	इदन्प्यनपत्ये	८०			कपिज्ञात्योर्०	२५८
अनुशतिकादीनां०	२२७	इद्वे प्रतिकृतौ	३८८			कम्बोजल्लुक्	५८
अनुष्यानन्तर्ये०	३५	इष्टादिभ्यश्च	२६६			कलापिवैशम्पा०	३८४
अन् ४६, ३२६		इष्टस्य यिट् च	३६३			कालाट्टम्	१३१
अन्तिकबाढयोर्०	३६६	इसुसुस्तान्तात्कः	८४			कालाध्वनो०	३७२
अपत्यं पौत्र०	२०	[ई]				किति च	१२
अभिनिष्क्रामति०	१६०	ईषदसमाप्तौ०	३७१			किमश्च	३४६
अर्शादिभ्योऽञ्	३१६	[उ]				किमिदम्भ्यां०	२७१
अवयवे च प्रा०	१७२	उगवादिभ्यो यत्	२१५			किमेतिङ्ग्रय०	३५२
अवारपारा०	११२	उञ्छति	१६०			किमोऽत्	३३४
अव्यक्तानुकरणस्या०	४११	उत्सादिभ्योऽञ्	१३			कियत्तदो०	३८१
अव्यक्तानुकरणाद०	४०७	उदात्तादनुदा०	२७७			किसर्बनाम०	३२६
अव्ययसर्बना०	३७५	उभादुदात्तो०	२७६			कु तिहोः	३२८
अव्ययास्यप्	११८					कुत्सिते	३८०
अशब्दे यत्खा०	१५३					कुमुदनङ्०	१००
अश्वपत्यादि०	५					कुरुनादिभ्यो०	५३
असमासे निष्का०	२२६					कुलत्यकोपघा०	१८६
असिद्धवदत्रा०	२८०					कृते ग्रन्थे	१६३

कृष्णस्तियोगे०	३६८	[ट]	ति चिह्नतेर्०	२८०
केकयमित्रयु०	५०	टेः	तीर्थे ये	२१२
केसाहोभ्य०	३११	[ठ]	तुरिष्ठेभ्यःसु	३६७
कोशाद् डम्	१४३	ठगायस्थाने०	तै तत्राजाः	५५
ऋतूक्यादि०	८६	ठस्येकः	तेन क्रीतम्	३२५
ऋमादिभ्यो धुन्	६०	[त]	तेन तुल्यं क्रिया०	२३७
बधाति	३३४	तत आगतः	तेन बोध्यति०	१८३
भस्त्राद् घः	४७	तत्प्रकृतवचने०	तेन निर्बृत्तम्	६४
[ख]		तत्र जातः	तेन निर्बृत्तम्	२३५
खः सर्वधुरात्	२०३	तत्र तस्येब	तेन प्रोक्तम्	१६३
[ग]		तत्र भवः	तेन रक्तं रागात्	६१
गर्गादिभ्यो यञ्	२१	तत्र विदित०	त्यवादीनि च	१२१
गहादिभ्यश्च	१२३	तत्र साधुः	त्रैः सम्प्रसारणं च	२८४
गुडादिभ्यष्ठञ्	२११	तत्रोद्धृत०	[ड]	
गुणवचन०	२५५	तदधीते०	दक्षिणापरश्चात्०	११५
गोत्रादयूत्य०	२६	तद्वर्हति	दण्डादिभ्यो यत्	२३३
गोपयसोयत्	१७६	तदस्मिन्नस्ती०	दन्त उन्नत०	३११
गोपुच्छाट्टम्	१८७	तदस्य पण्यम्	दन्तशिखात्०	१०५
गोरश्च पुरीषे	१७८	तदस्य संजातं०	दिगादिभ्यो यत्	१४५
ग्रामजनबन्धु०	८१	तदस्यास्त्य०	दित्यदित्यादित्य०	७
ग्रामाद्यस्यौ	११३	तद् गच्छति०	दुष्टं साम	६७
[घ]		तत्राजस्य बहुषु०	द्वारादीनां च	४६
घकालतनेषु०	३५३	तद्बृहति रथ०	द्विगोलुंगनपत्ये	६२
[च]		तमघीष्टो०	द्वित्रिभ्यां०	२७५
चरति	१८७	तरति	द्विवचनविभज्यो०	३५५
चितः	२७७	तरप्तमपौ घः	द्वैस्तीयः	२८३
चित्तवति नित्यम्	३७३	तवकममका०	द्वयञ्मगध०	५४
क्यौ च	४०६	तसिलादिष्वा०	दुप्रागपानु०	११६
[छ]		तसौ मत्वर्थे	[घ]	
छत्रादिभ्यो णः	१६८	तस्मिन्नणि च०	धर्मपथ्यर्थ०	२१०
[ज]		तस्मै हितम्	धर्मं चरति	१६३
जनपदशब्दात्०	४६	तस्य निवासः	धान्यानां भवने०	२६२
जनपदे लुप्	६७	तस्य पूरणे ङट्	धुरो यङ्ङकौ	२०२
जिह्वामूलाङ्गु०	१५१	तस्य भावस्त्व०	[न]	
जीवति तु वश्ये०	२५	तस्य विकारः	नक्षत्रेण युक्तः०	६२
ज्य च	३६०	तस्य समूहः	नङशादाङ्०	१०४
ज्यावादीयसः	३६१	तस्यापत्यम्	नद्यादिभ्यो ङक्	११४
[झ]		तस्येवम्	न भकुर्ङुराम्	२०३
झयः	१०१	तस्येश्वरः	न ष्वाभ्यां०	८७
[ञ]		तिङ्शच	नान्तादसंख्यावेर्०	२७६
ञ्जिनत्यादिनित्यम्	६०	तिट्स्वरितम्	निकटे वसति	१६८

नित्यं बद्धं	१७६
नीद्वेषचष्टन्	१८८
नीवयोधर्मं	२०४
(प)	
पङ्क्तिविशति	२२८
पञ्चदशशती	२२९
पञ्चम्यास्तसिंल	३२७
पस्थन्तपुरोहिता	२५९
पथ्यतिथिवसति	२११
परिवृत्तो रथः	६९
परिषदो ण्यः	२११
पर्पादिभ्यः	१८८
पर्यभिन्मां च	३३१
पलाशादिभ्यो	१७४
पितुर्यञ्च	१५६
पितृव्यमातुल	७६
पुंत्वत्कर्मधारय	४२
पूर्वादिनिः	२९३
पृश्वादिभ्यः	२४७
प्रकारवचने	३४४
प्रकृत्यकाश्	३५९
प्रज्ञादिभ्यश्च	३९२
प्रतिजनादिभ्यः	२१०
प्रत्ययोत्तर	१२९
प्रभवति	१५८
प्रमाणे द्वयसञ्	२६८
प्रशस्यस्य अः	३५९
प्रहरणम्	१९५
प्राक्कीतोच्छः	२१४
प्रागिवात्कः	३७५
प्राग्विज्ञाद्यत्	२००
प्राग्विशो	३२५
प्राग्वीव्यतोऽण्	७
प्राग्वहतेष्ठञ्	२२४
प्राग्वहतेष्ठक्	१८२
प्राणिरजतादि	१७३
प्राणिस्थावातो	३०६
प्रायभवः	१४१
प्रवृष एष्यः	१३४
प्रावृषष्टप्	१४०
प्रियस्थिर	२५१

प्रोक्ताल्लुक्	३८४
(ब)	
बहोर्लोपो भू	३६२
बह्वल्पार्था	३९४
बाह्यादिभ्यश्च	३२
बिल्वादिभ्योण्	१७४
(भ)	
भवतष्टक्छसौ	१२३
भिक्षादिभ्योऽण्	७८
भुवः प्रभवः	१५९
(म)	
मध्यान्मः	१३१
मज्ज् च	१५७
मयद् वैत	१७४
मातृवत्संख्या	४०
मातृपद्याश्च	१०२
मुद्ब्यादण्	१८९
मृदस्तिक्	१७२
(य)	
यज्जोश्च	२३
यज्जिजोश्च	२७
यतोऽनावः	२०१
यत्तदेतेभ्यः	२७०
यवयवक	२६४
युवाल्पयोः कन	२६६
युष्मदस्मदो	१२५
यै चाभाव	४५
(र)	
र ऋतो	२४८
रक्षति	१९१
राजश्वशुराद्यत्	४४
राष्ट्राचार	११०
रीड् ऋतः	७५
रेवत्यादिभ्यष्टक्	४७
(स)	
लवणाल्लुक्	९९
लुपि युक्तवद्	९८
लुबविशेषे	६५
लोमादिपामा	३०८
(व)	
वरणादिभ्यश्च	९९

वर्गान्ताश्च	१५२
वर्णद्वयादिभ्यः	२५२
वशं गतः	२१०
वाचो गिर्निः	३१८
वा बहूनां जाति	३८३
वामदेवाड्	६७
वाय्वृतुपित्रुषसो	७५
विद्यायोनि	१५५
विन्मतोर्लुक्	३६४
विभाषा गुणे	१५६
विभाषा तिल	२६४
विभाषा साति	४०४
विभाषा सुंपो	३७३
विभाषोदरे	२१२
विशत्यादिभ्य	२८५
वृद्धाच्छः	१२२
वृद्धिनिमित्तस्व	५२
वृद्धियस्याच्चाभा	१२०
वोपसर्जनस्य	२१३
व्रीहिशाल्यो	२६३
व्रीह्यादिभ्यश्च	३१५
(श)	
शकटादण्	२१०
शताच्च ठन्यता	२३३
शतादिमासार्ध	२८५
शब्दवर्दुरं	१९२
शरीरावयवाश्च	१४६
शरीरावयवाद्यत्	२१९
शिक्षाया बलञ्	१०५
शिल्पम्	१९४
शिवादिभ्योऽण्	३७
शीलम्	१९७
शुक्राद् घन्	७३
शेषे	१०७
श्रोत्रियशब्दो	२९२
(ष)	
षट्कतिकतिपय	२८१
षष्ट्यादेश्चा	२८५
षष्ठ्यतसर्ष	३७३
(स)	
सह्युयः	२५७

सन्धिवेला०	१३५	सास्य देवता	७२	स्त्रीपुंसाभ्यां०	१६
सपूर्वाच्च	२६४	सिति च	३२२	स्त्रीभ्यो ङक्	४२
सप्तम्यास्त्रल्	३३२	सूर्यतिथ्या०	६४	स्थूलदूरयुव०	२५२
सभाया यः	२०६	सोदराद्यः	२१२	स्वागतादीनां च	१८८
समर्चनां प्रथमाद्वा	२	सोमाद् द्यम्	७४	(ह)	
समानतीर्षे वासी	२१२	सोस्य निवासः	१६२	हलसीराट्ठक्	१७०
समानोदरे०	२१२	संख्याया अवयवे०	२७४	हलो यमां यमि०	६
सर्बस्य सोऽप्य०	३३६	सन्भूते	१४२	हेतुमनुष्येभ्यो०	१५६
सर्वकान्य०	३३८	संलुष्टे	१८८	हेतो	१५६
सात्पदाद्योः	४०५	संस्कृतम्	१८५	हैयङ्गवीनं०	२६४
सायंश्चिरं०	१३५	संस्कृतं भक्षाः	७१	ह्रस्वात्तादौ०	२४६

(३) परिशिष्ट—तद्धितप्रकरणान्तर्गतवात्तिकालिका

[इस परिशिष्ट में तद्धितप्रकरणान्तर्गत वात्तिकों, गणसूत्रों, न्यायों, परिभाषाओं एवं महत्त्वपूर्ण भाष्यादिवचनों की अकाराबिक्रम से सूचा दी जा रही है। इन के आगे इस ग्रन्थ की पृष्ठसंख्या दी गई है।] संकेत—वा० = वात्तिक, ग. सू. = गणसूत्र, का. = काशिका, प० = परिभाषा, भाष्य = महाभाष्य इत्यादि।

[अ]	[आ]		
अङ्गात्कल्याणे (ग. सू.)	३०६	आचार्यादिणत्वं च (वा०)	२२२
अघर्माच्चैति वक्तव्यम् (वा०)	१६३	आद्यादिभ्यस्तसेरुप० (वा०)	३६६
अध्यात्मादेष्टत्रिष्यते (वा०)	१४७	[ई]	
अनिदिष्टार्थाः प्रत्ययाः० (प०)	३२५	ईकक् च (वा०)	१२
अन्यच्छब्दानां व्युत्पत्ति०	२४२	[ऊ]	
अन्येभ्योऽपि दृश्यते (वा०)	३१२	ऊघसो नङ् च (ग. सू.)	२१७
अपवादविषयेऽपि क्वचिदुप० (प०)	१८१	[ए]	
अबाधकान्यपि निपातनानि (प०)	३४६	एकाक्षरात्कृतो जातेः० (वा०)	३१४
अभूतनद्भाव इति वक्तव्यम् (वा०)	३६८	एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति (वा०)	१८०
अमेहव्रतसिंत्रेभ्य एव (वा०)	११८	एतदोऽपि वाच्यः (वा०)	३४६
अर्णसो लोपश्च (वा०)	३१३	[ओ]	
अवारपाराद्विगृहीतादपि० (वा०)	१११	ओकारसकारभकारादौ० (वा०)	३७८
अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति० (वा०)	४०२	[क]	
अव्ययानां च सायंप्राति० (वा०)	१३३	कम्बोजादिभ्य इति० (वा०)	५८
अव्ययानां भमात्रे टिलोपः (वा०)	१३३	कर्मधारयादेवेष्यते (का.)	२२१
अश्मनो विकारे टिलोपो० (वा०)	१७१	कुग्जनस्य परस्य च (ग. सू.)	१६८
अहरुभयतोऽर्धरात्रम्० (का०)	३४२	क्तस्येन्विषयस्य० (वा०)	२६६
अह्नः ख्रुः क्रतौ (वा०)	८३	क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं० (का.)	२६३

क्वचित्स्वार्थिकाः प्रकृतितो० (प०)	३७२
क्षत्रियसमानशब्दाङ्० (वा०)	५०
[ग]	
गजसहायाभ्यां चेति० (वा०)	८२
गुणवचनेभ्यो मर्तुपो लुगिष्टः (वा०)	३०५
गुणे शुक्लादयः पुंसि० (अमर०)	३०६
गोरजादिप्रसङ्गे यत् (वा०)	१२
ग्रहणवता प्रातिपदिकेन० (प०)	१६३
[ख]	
चतुरश्रयतावाद्यक्षर० (वा०)	२८३
चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे० (वा०)	१७८
चरतिरासेवायां नानुष्ठानमात्रे (का.)	१६३
चिरपरस्परारिभ्यस्तनो० (वा०)	१३७
[ज]	
जनपरयोः कुंक् च (ग. सू.)	१२५
[ड]	
डाचि च द्वे बहुलम् (वा०)	४०८
[त]	
तद्धितप्रिया हि दाक्षिणात्याः (भाष्य)	११६
त्यम्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम् (वा०)	१२०
तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन० (प०)	३८५
तलन्तः (लिङ्गानु०)	२४३
तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि० (वा०)	६४
त्रिवेणी त्रिवर्णं च (ग. सू.)	३६
त्वष्यवौ तद्धितौ (लिङ्गानु०)	२४३
[व]	
देवाद्यनवौ (वा०)	१०
देवानांप्रिय इति च (वा०)	३३७
[न]	
न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो०	३२३
नस् नासिकाया यत्सं० (वा०)	२१६
नहि व्यञ्जनपरस्य० (भाष्य)	३१६
नानर्थकेऽनोन्त्यविधि० (प०)	२८०
नाभि नभं च (ग. सू.)	२१६

नित्यमात्रेद्धिटे ङाचीति० (वा०)	४०६
नित्यभेकमनेकानुगतं०	२४२
निमित्तापाये नैमित्तिकं० (न्याय)	१७
निरनुबन्धकग्रहणे न सानु० (प०)	३५२
[प]	
पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः (न्याय)	८
पाण्डोर्दंघण् (वा०)	५२
पादस्य पच्च (ग. सू.)	१८८
पितृमातृभ्यां भ्रातरि० (वा०)	७७
पूरोरण् वक्तव्यः (वा०)	५१
पृथु-मृदु-भृश-कृश० (वा०)	२४६
प्रत्ययात् पूर्वं क्रियत इति प्रकृतिः	६८
[ब]	
बहिषष्टिलोपो यञ् च (वा०)	११
बहुग्रहणे संख्याग्रहणम् (वा०)	३२७
[भ]	
भ्रम्याढे तद्धिते (वा०)	७६
भूमनिन्दाप्रशंसासु० (भाष्य)	३०२
[म]	
मातरि षिच्च (वा०)	७७
मातृपितृभ्यां पितरि० (वा०)	७७
[य]	
यः शिष्यते स लुप्यमाना०	६७
[र]	
राजाऽसे (ग. सू.)	३२१
राज्ञो जातावेवेति वाच्यम् (वा०)	४४
[ल]	
लक्ष्म्या अच्च (ग. सू.)	३१०
लुबाख्यायिकाभ्यो० (वा०)	१६२
लोम्नोऽपत्येषु० (वा०)	३३
[व]	
वर्णात् (ग. सू.)	३२१
वा नामधेयस्य वृद्धं० (वा०)	१२३
वार्णादाङ्गं बलीयः (प०)	३३५

विधिरयं कियत्तदन्येभ्य० (भोज)	३४२	सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे० (वा०)	३६०
[स]		सर्वाण्णो वेति वक्तव्यः (वा०)	२२३
शिखादिभ्य इनिर्वाच्य० (का.)	३१५	सर्वोभयार्थाभ्यामेव (वा०)	३३१
शुनः सम्प्रसारणं वा च० (ग. सू.)	२१७	सामान्ये नपुंसकम्	२६३
[स]		स्तनकेसवती स्त्री० (भाष्य)	३०६
सतो गुणाधानं संस्कारः (का.)	१८५	स्वस्य च (ग. सू.)	१२५
सत्त्वप्रधानानि नामानि (निरुक्त)	१८४	स्वाङ्गादीनात् (ग. सू.)	३२१
सर्वजनाट्ठञ् खश्च (वा०)	२२२	स्वायिकाः प्रकृतितो लिङ्ग० (प०)	३७२

(४) परिशिष्ट—मूलतद्धितप्रकरणगतोदाहरणतालिका

लघुसिद्धान्तकोमुदी के तद्धितप्रकरण में पठित समस्त उदाहरणों की अकारा-
बिन्धु से यहां अनुक्रमणी दी जा रही है। इस के आगे तत्सङ्घों के लिट्स्थल की पृष्ठ-
संख्या अंकित की गई है। ध्यान रहे कि यहां मूलोक्त उदाहरणों की ही सूची दी गई
है, भैमीव्याख्योक्त संकड़ों अन्य उदाहरण इस में संगृहीत नहीं।

[अ]		अर्शासः	३२०
अग्निसाद् (भवति)	४०५	अल्पशः	३६५
अग्नी (भवति)	४०६	अवारपारीणः	१११, १४०
अग्रघः	२०८	अवारीणः	११२
अङ्गना	३०६	अशीतिः	२३०
अङ्गाः	६८	अश्ममयम्	१७५
अङ्गुलीयम्	१५२	अश्वकः	३८१, ३८६, ३६१
अतः	३३०	अस्मदीयः	१२६
अघीती	२६७	अहंयुः	३२२
अन्ततः	३६७	अहीनः	८३
अन्नमयम्	३६२	[आ]	
अन्नमयः (यज्ञः)	३६२	आक्षिकः	१८४
अन्यदा	३३६	आढ्यतमः	३५०
अषाध्यम्	११७	आत्मनीनम्	२२०
अपूपमयम्	३६२	आदितः	३६७
अभितः	३३९	आबित्यः	८
अमात्यः	११८	आधर्मिकः	१६४
अमुतः	३३०	आधिदैविकम्	१५०
अर्घ्यः	२३४	आधिभौतिकम्	१५०
अर्णवः	३१३	आध्यात्मिकम्	१४८

आपूपिकः	१६७
आभ्रमयम्	१७६
आशमनम्	१७६
आशमः	१७१
आश्वपतम्	६
आश्वपतः	२०
आसिकः	१६६
आल्लिकम्	२३५

[इ]

इक्ष्वाकवः	५७
इतः	३२६
इत्यम्	३४६
इयान्	२७२
इष्टी	२६६
इह	३३३
इहत्यः	११८

[उ]

उच्चकैः	३७७
उच्चैस्तमः (तरुः)	३५५
उच्चैस्तमाम्	३५४
उडुलोमाः	३४
उदीच्यम्	११७
उभयम्	२७७
उषस्यम्	७६

[ऊ]

ऊरुदघ्नम्	२६८
ऊरुद्वयसम्	२६८
ऊरुमात्रम्	२६८

[ऋ]

ऋतव्यम्	७५
---------	----

[ए]

एकादशः	२७८, २८०
एतर्हि	३४१, ३४३
एतावान्	२७०

[ऐ]

ऐन्द्रम् (हविः)	७२
ऐहलौकिकम्	१५१

[औ]

औडुपिकः	१८६
औडुलोमिः	३२
औत्सः	१४, १४०, १४४
औदुम्बरः	६३
औपगवम्	१६५
औपगवः	१६
औपनिषदः	१०८
औपाध्यायकः	१५५

[क]

कण्ठघम्	२१६, १४७
कतमः	३८४
कतरः	३८२
कतिथः	२८२
कतिपयथः	२८२
कथम्	३४७
कदा	३३६, ३४२
कम्बोजः, कम्बोजी	५८
कर्मण्यः	२०६
कर्हि	३४२
कलिङ्गाः	६८
कवर्गीयम्	१५२
काकम्	७७
कानीनः	४३
कापेयम्	२५८
कार्पासम्	१७६
कालिकम्	१३२
काषायम्	६१
किन्तमाम्	३५३
कियान्	२७२
कुतः	३२८

कुत्र	३३२	गाभिणम्	७६
कुमुद्धान्	१०१	गोता	२४३
कुरवः	६८	गोत्वम्	२४३
कृतपूर्वी	२६५	गोमयम्	१७८
कृष्णः (पटः)	३०६	गोमान्	३०१
कृष्णी (करोति)	४०१	ग्रामता	८२
केरलः	५८	ग्रामीणः	११३
केशवः	३१२	ग्राम्यः	११३
केशवान्	३१२		
केशिकः	३१२	[क]	
केशी	३१२	चतुर्थः	२८३
कौरव्यः	५३	चत्वारिंशत्	२३०
कौशाम्बी	६४	चाक्षुषम् (रूपम्)	१०७
कौशेयम्	१४३	चातुरम् (शकटम्)	१०८
क्रमकः	६०	चातुर्दशम् (रक्षः)	१०८
क्व	३३४	चिरन्तनः	१३७
क्वत्यः	११८	चूडालः	३०७
क्षत्रियः	४७	चूडावान्	३०७
क्षात्रिः	४७	चैत्रवत्	२४०
		चोलः	५८
[ख]		[ज]	
खरटखरटा (करोति)	४०२	जनता	८२
[ग]		जाड्यम्	२५६
गङ्गी (स्यात्)	४०२	जिह्वामूलीयम्	१५२
गजता	८२	जातेयम्	२५८
गहत्मान्	३०४	ज्यायान्	३६१
गर्गाः	२४	ज्येष्ठः	३६०
गब्यम्	१३, १७६, २१६		
गहीयः	१२४	[त]	
गाङ्गः	३८	ततमः	३८४
गाङ्गायनिः	३८	ततरः	३८२
गाङ्गेयः	३८	ततस्त्यः	११६
गाणपतम्	७	ततो भवन्तम्	३३६
गार्ग्यः	२२	ततो भवान्	३३६
गार्ग्यायणः	२८	तत्र	३३३
		तत्रत्यः	११६

तत्रभवन्तम्	३३६
तत्रभवान्	३३६
तथा	३४४
तदा	३४० ३४२
तदीयः	१२२
तर्हि	३४२
तारकितम् (नभः)	२६६
तावकः	१२८
तावकीनः	१२८
तावान्	२७०
तुल्यम्	२०८
तृतीयः	२८४
त्रयम्	२७६
त्रितयम्	२७६
त्रिंशत्	२२६
त्वचिष्ठः	३६५
त्वचीयान्	३६५
त्वदीयः	१२६
त्वयका	३७६

[ब]

दण्डिकः	३१४
दण्डी	३१४
दण्डघ्नः	२३३
दन्तुरः	३११
दन्त्यम्	२१६
दाक्षायणः	२६
दाक्षिः	३०
दाक्षिणात्यः	११६
दाधिकम्	१८५
दाधिकः	१८८
दाढ्यम्	२५४
दार्दुरिकः	१६२
दार्षदाः (सक्तवः)	१०८
दिवाभूता (रात्रिः)	४०३
दिव्यम्	११७

दिश्यम्	१४५
देवदत्तमयम्	१५८
देवदत्तरूप्यम्	१५७
देवदत्तीयः	१२३
दैत्यः	८
दैवतः	३६४
दैवदत्तम्	१५७
दैवदत्तः	१२३
दैवम्	१०
दैव्यम्	१०
दोषातनम्	१३८
दोषाभूतम् (अहः)	४०३
दौहित्रः	३७
द्रुडिमा	२५४
द्वयम्	२७५
द्वितयम्	२७५
द्वितीयः	२८३
द्वैमातुरः	४१

[घ]

धर्म्यम्	२०६
धानुष्कः	१६६
धार्मिकः	१६३
धुर्यः	२०३
धनुकम्	८५
धोरियः	२०३

[न]

नड्वलः	१०५
नड्वान्	१०२
नभ्यम् (अञ्जनम्)	२१७
नभ्यः (अक्षः)	२१६
नवतिः	२३०
नस्यम्	२१६
नाकुलः	४०
नादेयम्	११४
नाव्यम्	२०५

नित्यः	१२०
नीचकैः	३७७
नैकटिकः (भिक्षुः)	१६८
नैषध्यः	५४
[प]	
पङ्क्तिः	२२८
पञ्चतिकल्पम्	३७२
पञ्चतितमाम्	३५४
पञ्चतिदेशीयम्	३७२
पञ्चतिदेश्यम्	३७२
पञ्चतयम्	२७४
पञ्चमः	२७६
पञ्चालाः	५५, ६८
पञ्चाशत्	२३०
पटपटा करोति	४०८
पटिति करोति	४१०
पटीयांसः	३५६
बहुकल्पः	३७४
पटुतराः	३५६
पण्डितः	२६७
पदकः	६०
पयस्यम्	१८०
परितः	३३०
पाञ्चालः	४६, ५१
पाणिनीयम्	१६३
पाण्ड्यः	५२
पामनः	३०६
पामवान्	३०६
पारसीकिकम्	१५१
पारावारीणः	११२
पारीणः	११२
पार्श्वम्	२५०
पार्श्वः	२२७
पार्श्वतः	३६७
पानुपतम्	७३

पाश्चात्यः	११६
पिच्छवान्	३१०
पिच्छिलः	३१०
पितामहः	७७
पितृव्यः	७७
पित्र्यम्	७६
पुष्यः (अद्य)	६६
पुस्ता	२४६
पुस्त्वम्	२४६
पूर्वी	२६३
पैतामहकः	१५५
पैपलम्	१७३
पौत्रः, पौत्रो, पौत्राः	३७
पौनःपुनिकः	१३४
पौरवः	५१
पौरस्त्यः	११६
पौरोहित्यम्	२५६
पौषम् (अहः)	६५
पौस्नः	१७
पौस्नम्	२४६
प्रगेतनः	१३८
प्रतीच्यम्	११७
प्रथिमा	२४६
प्राच्यम्	११७
प्राजापत्यः	१०
प्राज्ञः	३६३
प्राज्ञी	३६३
प्रावृषिकः	१४१
प्रावृषेभ्यः	१३५
प्रासङ्ग्यः	२०२
प्रास्थिकम्	२२५
प्राह्वेतनः	१३७
प्राह्वेतमाम्	३५३
[ब]	
बन्धुता	८२

बहुतः	३३०
बहुत्र	३३२
बहुपटुः	३७४
बहुशः	३६५
बादरिकः	१६०
बान्धवः	३६४
बार्हस्पत्यम्	७३
बाह्विः	३२
बाहीकः	१२
बाह्यः	११
बिदाः	३६
बैदः	३६
बैदी	३६
ब्राह्मणवत् (अधीते)	२३७
ब्राह्मण्यम्	२५६
ब्रह्मी (भवति)	४०१

[भ]

भाद्रमातुरः	४२
भास्मनः	१७१
भूमा	३६२
भूयान्	३६२
भूयिष्ठः	३६३
भैक्षम्	७६
भ्राष्ट्राः	७२

[म]

मणिबः	३१३
मथुरावत्	२४०
मदीयः	१२६
मध्यतः	३६७
मध्यमः	१३१
संतामहः	७७
संतुलः	७७
मातृभोगीणः	२२२
सामकः	१२८

ममकीनः	१२८
मायावी	३१७
माम्यूरः	१७३
मारीचिकम्	१८५
मात्तिकः	१७२
मार्दवम्	२५१
मार्दङ्गिकः	१६४
मालीयः	१२२
मासिकम्	१३२
माहेयम्	११५
मीमांसकः	६०
मूल्यम्	२०६
मूल्यः	२०७
मेधावान्	३०७
मेधावी	३१८
मौढ्यम्	२५६
मौद्गः	१७५
मौद्गीनम्	२६३
मौर्वम्	१७३
म्रदिमा	२५१

[य]

यकः	३८५
यतमः	३८५
यतरः	३८३
यतः	३३०
यत्र	३३२
यथा	३४४
यदा	३४०, ३४२
यवनः	५८
यहि	३४२
यज्ञस्वान	३१७
यज्ञस्वी	३१७
यावान्	२७०
युग्यः	२०१
युवकयोः	३७६

युष्मकाभिः	१७८	वायव्यम्	७५
युष्मदीयः	१२६	वाराणसेयम्	११५
यौवतम्	८०	वासिष्ठम् (साम)	६७
यौवनम्	८०	वासिष्ठः	४०
यौष्माकः	१२७	वासुदेवः	४०
यौष्माकीणः	१२७	वास्त्रः (रथः)	६६

[र]

रथ्यः	२०१	विदुष्मान्	३०४
राजनः	४६	विद्वत्कल्पः	३७२
राजन्यः	४५	विद्वद्देशीयः	३७२
राष्ट्रियः	१११, १४०, १४४	विद्वद्देश्यः	३७२
रैवतिकः	४८	विश्वजनीनम्	२२१
रोमवान्	३०६	विषमीयम्	१५७
रोमशः	३०६	विष्यः	२०६

[ल]

लक्ष्मणः	३१०	विशः	२८०
लघिष्ठः	३५१	विशतिः	२२६
लघीयान्	३५६	व्रीहिकः	३१५
लघुतमः	३५१	व्रीही	३१५
लघुतरः	३५६	वेतस्वान्	१०४
लोमवान्	३०८	वैदिसम्	६६
लोमशः	३०६	वैनतेयः	४३

[य]

वङ्गाः	६८	वैयाकरणः	८८
वत्साः	२४	वैश्वामित्रः	४०
वत्सीयः	२१८	व्रीहेयम्	२६४
वध्यः	२३४	शकः	५८
वयस्यः	२०५	शङ्कव्यम्	२१५
वरणाः	१००	शतम्	२३०
वर्ष्यम्	१४५	शरभ्यः	२०६
वर्णतः	३६७	शरमयम्	१७७
शाम्भी	३१६	शात्रुलः	१०५
शास्त्यः	२२	शाब्दिकः	१६२
शामवेभ्यम्	६८	शारावः (ओदनः)	७०
		शारीरकीयः	१६१
		शास्त्रीयः	१२२

[श]

(५) परिशिष्ट-तद्धितप्रत्ययानुक्रमणिका

[लघुकौमुदीस्य तद्धितप्रकरणे में लगभग एक सौ तद्धित प्रत्यय पाये जाते हैं, उन की अकारादिक्रम से यहां तालिका प्रस्तुत की जा रही है। प्रत्ययों के आगे कोष्ठकों में तत्प्रत्ययों का अनुबन्धरहित शुद्ध रूप तथा उस प्रत्यय के विधायक किसी एक सूत्र का कौमुदीगत संख्याङ्क दिया गया है। प्रत्येक प्रत्यय के अन्त में छात्रों के सुलावबोधार्थ एक एक उदाहरण भी निदिष्ट कर दिया गया है।]

अ । (वा० ७१) । उडुलोमाः ।
 अर्कच् (अक्) । (१२३३) । त्वयका ।
 अच् (अ) । (११६५) । अर्शसः ।
 अन् (अ) । (१००२) । औत्सः ।
 अण् (अ) । (१०१७) । शैवः ।
 अत् (अ) । (१२०६) । क्व ।
 आर्मु (आम्) । (१२२१) । किन्तमाम् ।
 इब् (इ) । (१०१४) । दाक्षिः ।
 इतच् (इत) । (११६७) । तारकितं नभः ।
 इनिं (इन्) । (११६१) । दण्डी ।
 इमनिच् (इमन्) । (११५५) । प्रथिमा ।
 इलच् (इल) । (११८८) । पिच्छिलः ।
 इष्ठन् (इष्ठ) । (१२१८) । लघिष्ठः ।
 ईकक् (ईक) । (वा० ६६) । बाहीकः ।
 ईयसुन् (ईयस्) । (१२२२) । लघीयान् ।
 उरच् (उर) । (११८६) । दन्तुरः ।
 एष्य । (१०८५) । प्रावृषेष््यः ।
 क । (१२३२) । अश्वकः ।
 कन् (क) । (१२३८) । अश्वकः ।
 कल्पप् (कल्प) । (१२३०) । विद्वत्कल्पः ।
 ख (ख = ईन) । (११४१) । विश्वजनीनम् ।
 खब् (ख = ईन) । (११६४) । मौद्गीनम् ।
 गिमिनिं (गिमन्) । (११६४) । वाग्मी ।
 घ (घ = इय) । (१०२५) । क्षत्रियः ।
 घन् (घ = इय) । (१०४२) । शुक्रियम् ।
 च्चिं (×) । (१२४२) । कृष्णी करोति ।
 छ (छ = ईय) । (१०७७) । मासीयः ।
 टघण् (य) । (१०४३) । सौम्यम् ।

टघु (यु = तन) । (१०८६) । सायन्तनम् ।
 टघल् (यु = तन) । (१०८६) । चिरन्तनम् ।
 ठक् (ठ = इक) । (१०२६) । रैवतिकः ।
 ठब् (ठ, इक) । (वा० ८६) । आध्यात्मिकम् ।
 ठन् (ठ = इक) । (११६१) । दण्डिकः ।
 ठप् (ठ = इक) । (१०८८) । प्रावृषिकः ।
 डट् (अ) । (११७५) । एकादशः ।
 डतमच् (अतम) । (१२३७) । कतमः ।
 डतरच् (अतर) । (१२३६) । कतरः ।
 डाच् (आ) । (१२४७) । पटपटा करोति ।
 ड्मतुंप् (मत्) । (१०६३) । कुमुद्धान् ।
 डघ (य) । (१०३७) । वामदेव्यम् ।
 डघण् (य) । (वा० ७५) । पाण्ड्यः ।
 डघत् (य) । (१०३७) । वामदेव्यम् ।
 ड्वलच् (वल) । (१०६६) । नड्वलः ।
 ढक् (ढ = एय) । (११६२) । कापेयम् ।
 ढब् (ढ = एय) । (१०६१) । कौशेयम् ।
 ष्य (य) । (१०२६) । कौरव्यः ।
 तमप् (तम) । (१२१८) । लघुतमः ।
 तयप् (तय) । (११७२) । पञ्चतयम् ।
 तरप् (तर) । (१२२२) । लघुतरः ।
 तल् (त) । (११५३) । गोता ।
 तसिं (तस्) । (वा० ६६) । आदितः ।
 तसिंल् (तस्) । (११६६) । कुतः ।
 तीय । (११७६) । द्वितीयः ।
 त्यक् (त्य) । (१०७२) । दाक्षिणात्यः ।
 त्यप् (त्य) । (१०७४) । अमात्यः ।
 त्रल् (त्र) । (१२०४) । तत्र ।

त्व । (११५३) । गोत्वम् ।
 थम् (थम्) । (१२१६) । इत्थम् ।
 थाल् (था) । (१२१५) । यथा ।
 दध्न्च् (दध्न्) । (११६८) । ऊरुदध्न्म् ।
 दा । (१२१०) । सदा, सर्वदा ।
 देशीयर् (देशीय) । (१२३०) । विद्वद्देशीयः ।
 देश्य । (१२३०) । विद्वद्देश्यः ।
 द्वयसच् (द्वयस) । (११६८) । ऊरुद्वयसम् ।
 न । (११८८) । पामनः ।
 नब् (न) । (१००३) । स्त्रैषः ।
 फक् (फ = आयन) । (१०१२) । गार्ग्यायणः
 बहुच् (बहु) । (१२३१) । बहुपटुः ।
 म । (१०८३) । मध्यमः ।
 मत्तुप् (मत्) । (११८५) । गोमान् ।
 मयट् (मय) । (१११२) । अश्ममयम् ।
 मात्रच् (मात्र) । (११६८) । ऊरुमात्रम् ।
 य । (११३६) । सम्यः ।
 यक् (य) । (११६३) । सैनापत्यम् ।

यब् (य) । (१००६) । मार्ग्यः ।
 यत् (य) । (१११५) । गव्यम् ।
 युस् (यु) । (११६६) । अहंयुः ।
 व । (११६०) । केशवः ।
 वतिं (वत्) । (११५१) । ब्राह्मणवदधीते ।
 वतुंप् (वत्) । (११६६) । यावान् ।
 वलच् (वल) । (१०६७) । शिखावलः ।
 विनिं (विन्) । (११६३) । यशस्वी ।
 वुब् (वु, अक) । (११००) । औपाध्यायकः
 वुन् (वु = अक) । (१०५५) । क्रमकः ।
 रूप्य । (११०१) । संमरूप्यम् ।
 हिल् (हि) । (१२१३) । कहि ।
 लच् (लं) । (११८७) । चूडालः ।
 श । (११८८) । लोमशः ।
 शस् । (१२४१) । बहुशो ददाति ।
 ध्यब् (य) । (११६०) । जाड्यम् ।
 सार्तिं (सात्) । (१२४४) । अग्निसाद्भवति
 स्नब् (स्न) । (१००३) । पौस्नः ।
 ह । (१२०५) । इह ।

नोट—आचार्यं ने कुछ तद्धितान्तशब्द निपातन के द्वारा भी सिद्ध किये हैं ।

यथा—पितृव्य, मातुल, मातामह, पितामह, पङ्क्ति, विशति, त्रिशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति, शतम् आदि ।

(६) परिशिष्ट—विशेष—द्रष्टव्य-स्थल-तालिका

[इस तालिका में इस व्याख्या के कतिपय द्रष्टव्यस्थलों का निवेश किया गया है । आगे पृष्ठसंख्या दी गई है ।]

तद्धितप्रकरण का महत्त्व	(१)	'बैद' की रूपमाला	(३६)
प्राग्दीव्यतीय अर्थों का संकलन	(६)	त्रिरूपिणी गङ्गा	(३८)
'गाणपत्यो मन्त्रः' का असाधुत्व	(७)	'द्वैमातुरः' का विवेचन	(४१)
'आदित्यः' पर टिप्पणी	(६)	ठस्येकः—वर्णं वा संघातपक्ष	(४८)
प्रातिपदिकांश में ही कृतसन्धित्व	(१६)	'पाञ्चाल' शब्द की रूपमाला	(५६)
तद्धितवृद्धि की बलवत्ता	(१६)	वेणीसंहार में 'कौरव्याः' प्रयोग	(५७)
'गार्ग्य' की रूपमाला	(२४)	रघुवंश में 'पाण्ड्याः' प्रयोग	(५७)
अपत्यत्रैविध्यज्ञापक कोष्ठक	(२६)	रघु० और माघ के पाठ उचित	(५६)
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली	(३१)	उत्तररामचरित का पाठ असाधु	(६२)
'ओडुलोमि' की रूपमाला	(३४)	नक्षत्रों का विवेचन	(६२)

नक्षत्रों के साथ काल का योग	(६२)	वर्षान्ति आदि की व्याख्याविशेष	(२२८)
वृष्युत्सवकाल	(६३)	'वर्षान्ति' के दो वर्ष	(२३२)
इषत् और इष का विकरण	(६८)	'उद्दहति' के दस उद्दहरण	(२३२)
वैश्वानर Versus वैश्वतम्	(८१)	तत्र तस्वेव—बन्धे प्रयोग	(२४१)
'वहीनः' का विवेचन	(८२)	प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारों का	(२४२)
उद्दहति उद्दे में दो 'उद्'	(८६)	त्वन्त् के दस उद्दहरण	(२४३)
'वायुर्षिकाः' की व्युत्पत्ति	(८२)	पौन्यम्—बन्धे प्रकारका	(२४६)
कोशाम्बी की स्थिति	(८४)	इवर्निच् के चौदह उद्दहरण	(२४१)
विद्यात्मनं नवरम् की स्थिति	(१०१)	बन्धेद्वयविशेष के २३ "	(२४४)
शैफिकान्तुवर्षीयात्० विवेचन	(१०६)	बन्धेद्वयविशेष के १२ "	(२४६)
पाश्चात्तः Versus पाश्चात्तः	(११६)	द्वैतवर्षीय के वर्षों में कथनेद	(२६१)
कुण्ड-अस्वत् से खन्-अस्वत्	(१३०)	तारकादि-इत्त् के २० उद्दहरण	(२६७)
बन्धनानां भवान्० पर विशेष	(१३३)	दन्त् के प्रयोग पर सुधाकिन	(२६६)
'सायंप्रातिकः' में टष्-टष्णु न्हीं	(१३४)	उत्सवान् में कौण् वा प्रत्यय ?	(२६६)
एष्य में षत्त्व क्यों ?	(१३५)	इत्त् पर मुन्दर सुधाकिन	(२७३)
सुधनवर की स्थिति	(१३६)	पूरणप्रत्ययान्तों का इत्त्क	(२८६)
रेष्य की उत्पत्ति का विवेचन	(१४३)	मत्त्वप्रकरण में 'इत्ति' का इत्त्क	(३०१)
बन्धनानादिष्व् के नाना प्रयोग	(१४६)	जुमन्दिन्० करिकः की व्याख्या	(३०२)
'इहोके' पर टिप्पणविशेष	(१५१)	मत्त्वर्षीयों पर विशेष बन्धन	(३०२)
शैफिकीय वृष्युत्सव-सोषन	(१६६)	दन्तुः का उभिप्राय	(३११)
बन्धनानां के वर्षों में प्रान्ति	(१७४)	एकाक्षरान्तुतो वाक्ते—व्याख्या	(३१४)
'वोष्य पुरीषे' की प्रकरणासंबन्धि	(१७८)	वाग्मी Versus वाग्मी	(३१६)
वृष्यवत् Versus वृष्यवत्	(१८२)	बन्धेद्वयविशेष के बन्धे उद्दहरण	(३२०)
दीवत्यादि में संख्यादि बिविधसहित	(१८४)	न कर्माक्षरान्तमत्त्वर्षीयो—	(३२३)
यारीचिकम् के विग्रह में मत्वेद	(१८५)	'वर्षानां' 'प्रथमत्' की निवृत्ति	(३२६)
'संस्कृत' और 'संनृत्' में अन्तर	(१८६)	स भवान्, तत्रभवान् की स्पष्टता	(३२६)
'ददुर' पर टिप्पणविशेष	(१८७)	'देवानांप्रिभः' के वर्षों का विवेचन	(३३७)
'भार्द्विकः' पर टिप्पणविशेष	(१८८)	तत्रभवान् आदि में संयुक्तता	(३३८)
'नैकटिको मिस्रः' पर वर्षभेद	(१८९)	वृत्तिभवन Versus वृत्तिभवन	(३४६)
नौकषोद्यमं० सूत्र पर कोष्ठक	(२०१)	द्विवचनकाल का उभिप्राय	(३४७)
मूलेनानाम्बम्—टिप्पणविशेष	(२०६)	वात्तिभवनिकों का एक कोष्ठक	(३६८)
मूलेन समः—टिप्पणविशेष	(२०७)	वक्रचक्रान्त कुण्ड-अस्वत् रूपवाता	(३७०)
सौनवा समितम्—टिप्पणविशेष	(२०७)	जीविकार्थे चाप्ये पर सुधाकिन	(३६०)
तुलया समितम्—टिप्पणविशेष	(२०८)	बन्धनानां पर विशेष बन्धन	(३६६)
मानभोषीषः—में षत्त्व	(२२२)	सायंप्रतिवृत्तित्तर्षि के १० उद्दा०	(३६८)
वोषुचिकः—टिप्पणविशेष	(२२५)	'एकत्री वर्षति' का बन्धन	(४०३)

❀ भैमी प्रकाशन के ग्रन्थों की नवीन सूची ❀

(१) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (प्रथम भाग)

यह भाग पञ्च-सन्धि-षडलिङ्ग-अव्ययप्रकरणात्मक है। यह द्वितीय बार मुद्रित हुआ है। इस नवीनतम संस्करण में लेखक ने अनेक नये संशोधन वा परिवर्धन किये हैं। विषय को परिमार्जित तथा स्पष्ट करने के लिये सैकड़ों नये उदाहरण तथा दो सौ से अधिक नये शोधपूर्ण फुटनोट तथा टिप्पण दिये गये हैं। अव्ययप्रकरण को पहले से लगभग दुगना कर दिया है। इस प्रकार प्रायः दो सौ पृष्ठों की ठोस सामग्री पूर्वापेक्षया इस संस्करण में अधिक संगृहीत है। अन्य भागों की तरह इस भाग को भी समानरूप में परिणत किया गया है। चार प्रकार के नवीन आधुनिक टाइपों के द्वारा सुन्दर शुद्धतम छपाई, अंग्रेजी पक्की सिलाई, स्कीनप्रिंटेड आकर्षक मजबूत जिल्द। (२३ × ३६) ÷ १६ साइज के लगभग साढ़े छः सौ पृष्ठों का मूल्य केवल एक सौ पचास रुपये (Rs. 150/-)।

(२) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (द्वितीय भाग)

इस भाग में दस गण और एकादश प्रक्रियाओं की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है। तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Backbone) समझा जाता है। क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है। अतः इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है। प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य वैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूप-माला सिद्धिसहित दिखाई गई है। चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिये विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हजार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान इस में दिये गये हैं। अनुवादादि के सौकर्य के लिये छात्रोपयोगी गिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिये गये हैं। अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छह प्रकार के परिशिष्ट दिये गये हैं। सुन्दर, बढ़िया, जिल्द तथा पक्की सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है। यह भाग (२३ × ३६) ÷ १६ आकार के ७५० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। मूल्य केवल दो सौ रुपये (Rs. 200/-)।

(३) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (तृतीय भाग)

इस भाग में कृदन्त और कारक प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सुप्रसिद्ध कृतप्रत्ययों के लिये कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्र-

टिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिनमें अढ़ाई हजार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है। प्रायः प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है। कारकप्रकरण लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टतः बहुत अपर्याप्त है। भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्तिकों की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाहित हुआ है। पूर्ववत् अङ्ग्रेजी पक्की सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिङ आकर्षक जिल्द। मूल्य केवल एक सौ बीस रुपये (Rs. 120/-)।

(४) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (चतुर्थ भाग)

भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग में समासप्रकरण का अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग तीन सौ पृष्ठों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थगत प्रत्येक प्रयोग के लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट कर उस की सूत्रों द्वारा अविकल साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है। मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त संकड़ों अन्य नवीन उदाहरणों को विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन-चुन कर इस व्याख्या में गुम्फित किया गया है। इस प्रकार इस व्याख्या में बारह सौ से अधिक समासोदाहरण संगृहीत किये गये हैं। साहित्यिक उदाहरणों के स्थलनिर्देश भी यथासम्भव दे दिये गये हैं। प्रबुद्ध विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली दो सौ से अधिक शङ्काओं का भी इस में यथास्थान समाधान किया गया है। जगह जगह उपयोगी पादटिप्पण (फूटनोट्स) दिये गये हैं। मूलगत सूत्रवार्तिक आदियों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी कई अन्य सूत्रवार्तिक आदियों का भी इसमें सोदाहरण व्याख्यान किया गया है। लघुकौमुदी के अशुद्ध या भ्रष्ट पाठों पर भी अनेक टिप्पण दिये गये हैं। व्याख्याकार की सूक्ष्मेक्षिका, स्वाध्याय-निपुणता तथा कठिन से कठिन विषय को भी नपे-तुले शब्दों में समझा देने की अपूर्व क्षमता इस व्याख्या में पदे पदे परिलक्षित होती है। समासप्रकरण पर इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक लिखी ही नहीं गई। इस से विद्यार्थिवर्ग और अध्यापकवृन्द दोनों जहाँ लाभान्वित होंगे वहाँ अनुसन्धानप्रेमियों को भी प्रचुर अनुसन्धानसामग्री प्राप्त होगी। विद्वान् लेखक ने सततोत्थायी हो कर दो वर्षों के कठोर परिश्रम से संकड़ों ग्रन्थों का मन्थन कर इस भाग को तैयार किया है। अन्त में विविध परिशिष्टों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया गया है। व्याख्यागत बरह सौ उदाहरणों की समासनामनिर्देशसहित बनी वर्णानुक्रमणी इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताओं में एक समझी जायेगी। इस के सहारे सम्पूर्ण समासप्रकरण की आवृत्ति करने में विद्यार्थियों को महती सुविधा रहेगी। ग्रन्थ में यथास्थान अनेक अभ्यास दिये गये हैं। समीक्षकों का कहना है कि यदि इन अभ्यासों को सुचारु रूप में हल कर लिया जाये तो विद्या-

थियों को सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में समासप्रकरण को समझने का स्वतः सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है। $(23 \times 36) \div 16$ साइज के लगभग तीन सौ पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है। साफ सुथरी शुद्ध छपाई, पक्की सिलाई तथा सुन्दर स्कीन प्रिंटिड जिल्ड से यह ग्रन्थ और भी अधिक आकर्षक बन गया है। मूल्य एक सौ बीस रुपये मात्र (Rs. 120/-)।

(५) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (पञ्चम भाग)

इस भाग में लघुसिद्धान्तकौमुदी के तद्धितप्रकरण की अतीव सरल ढंग से सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के बाद हर एक उदाहरण का विग्रह, अर्थ तथा विशद सिद्धि इस में दर्शाई गई है। मूलगत उदाहरणों के अतिरिक्त साहित्यगत विविध उदाहरणों से भी यह ग्रन्थ विभूषित है। पठन-पाठन में उठने वाली प्रत्येक शङ्का का इस में समाधान किया गया है। मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त भी छात्रोपयोगी अनेक सूत्रों की इस में व्याख्या दर्शाई गई है। यत्र-तत्र यत्न से अभ्यास निबद्ध किये गये हैं जिन की सहायता से सारा प्रकरण दोहराया जा सकता है। अन्त में अनेक परिशिष्टों के अतिरिक्त उदाहरणसूची वाला परिशिष्ट इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है। मूल्य दो सौ पचास रुपए।

(६) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (षष्ठ भाग)

इस भाग में लघुकौमुदी के स्त्रीप्रत्ययप्रकरण की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रत्येक सूत्र की विशद व्याख्या के अनन्तर तद्गत प्रत्येक प्रयोग की विस्तृत सिद्धि तथा अनेकविध उदाहरण-प्रत्युदाहरणों एवं शङ्कासमाधानों से यह भाग विभूषित है। मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र और वार्तिक इस में सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं। जगह जगह साहित्यिक उदाहरण ढूँढ ढूँढ कर संकलित किये गये हैं। 'स्वाङ्ग' और 'जाति' सरीखे पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य कठिन स्थलों की सरलभाषा में विस्तार के साथ विवेचना की गई है। दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का कोई भी व्याख्येयांश विना व्याख्या के अछूता छोड़ा नहीं गया। पठितविषय की आवृत्ति के लिये यत्र-तत्र अनेक अभ्यास दिये गये हैं। नानाविध सूचीपरिशिष्टों विशेषतः प्रत्ययनिर्देशसहित दी गई उदाहरणसूची से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। अन्त में स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी एक सौ से अधिक पद्यबद्ध अशुद्धियों का सहेतुक शोधन दर्शा कर लक्ष्यों के प्रति विद्यार्थियों की जागरूकता को प्रबुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुसन्धानप्रेमी जनों के लिये भी दर्जनों महत्त्वपूर्ण टिप्पण जहाँ तहाँ दिये गये हैं। कई स्थानों पर पाणिनीतरव्याकरणों का आश्रय ले कर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः इतनी विशद सर्वाङ्गीण व्याख्या स्त्रीप्रत्ययप्रकरण पर पहली बार प्रकाशित हुई है। $(23 \times 36) \div 16$ साइज के डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है। सुन्दर शुद्ध छपाई, बँढ़िया स्कीन-प्रिंटिड जिल्ड तथा पक्की सिलाई से यह ग्रन्थ और भी चमत्कृत हो उठा है। मूल्य

साठ रुपये मात्र (Rs. 60/-) ।

नोट—जब सचुकोमुदी श्रीगीष्वास्वामी के सब ग्रन्थ मुद्रित हो चुके हैं ।

(७) बन्धनप्रकरणम् । सचुकोमुदी का बन्धनप्रकरण श्रीगीष्वास्वामिद्वारा मुद्रित वृत्त भी छपाया गया है । इस में सबभय तथा पाञ्च सौ बन्धनों का लोकोद्धार साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक बन्धन पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से बनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है । कठिन सूक्तियों का वर्ष भी साथ में दे दिया गया है । बाब तक इतना शोधपूर्ण परिचय इस प्रकरण पर पढ़ती बार देखने में आया है । साहित्यप्रेमी विद्याधियों तथा शोध में नये विज्ञानियों के लिये यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है । सुन्दर बंग्रेजी सिद्धाई, वाक्यक वित् । मूल्य केवल पच्चीस रुपये । (Rs. 25/-)

(८) व्याकरण-वृत्तसार (प्रत्ययनिर्णय) श्रीगीष्वास्व । इस हिन्दी भाष्य से इस ग्रन्थ की दुष्टता समाप्त हो गई है । अब परीक्षा में वृत्तसार की पंक्तियों को रटने की कोई आवश्यकता नहीं रही । सरल भाषा में लिये इस ग्रन्थ का एक बार पाराम्भ करना ही पर्याप्त है । देश-विदेश में समानरूप से बाढ़त यह ग्रन्थ विद्वत्समाज में अपना शौरवपूर्ण स्थान पा चुका है । सबित् मूल्य एक सौ बीस रुपये (Rs. 120/-) ।

(९) वासनोरज-प्रान्ति-विश्वरंभ । यह निरन्तर विद्वत्समाज की बांछों को खोलने वाला विसमय शोधग्रन्थ है । एक बार पढ़ जाइये, ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ बाप का मनोरञ्जन भी होगा । मूल्य केवल दस रुपये । (Rs. 10/-)

(१०) प्रथाहारणुओं का निर्वाता कौन ? इति बहेश्वरायि सुभाषि—के बन्धविश्वासरूप तिमिर से मुक्त होने के लिये यह शोधग्रन्थ प्रत्येक विज्ञानु के लिये संहर्षणीय, मननीय तथा बन्धननीय है । बन्धुपूर्ण बनेक प्रथाओं के बाबोके में निश्चय ही क्यों से छाया इस विषय का अज्ञान मिट जायेगा । मूल्य केवल पच्चीस रुपये (Rs. 25/-) ।

(११) व्याकरण-वृत्तसार । यह ग्रन्थ व्याकरणसम्बन्धी संकटों बन्धुपूर्ण विषयों का बाधार है । इस प्रकार का शोधपूर्ण प्रथम व्याकरणविषय पर प्रथम बार प्रकाशित हुआ है । इस के नियमवार वैदिकत्व के लिये पुस्तकनुची देखें । स्पष्ट मिट्टि सुन्दर वित्, पक्की बङ्ग्रेजी सिद्धाई । मूल्य केवल एक सौ पचास रुपये (Rs. 150/-) ।

विद्याधियों तथा अग्रजनों को विशेष छूट दिया जाता है ।

इस छूट का साथ उठाने के लिये जवाबी पोस्ट ऑर्डर लियें—



श्री श्री प्रकाश
१३७, सायबतराय बाकर्ट,
दिल्ली-११०००६



U. C. BERKELEY LIBRARIES



C043110129



AM 0116672 Code I-SAN-1697 Vol 5

03 UNIVERSITY OF CALIFORNIA [BERK.]